

प्रकाशक  
विनोदचन्द्र पाण्डेय  
निदेशक,  
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,  
लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९८३

प्रतियाँ १६००

मूल्य . रु० २७००

मुद्रक  
भार्गव भूषण प्रेस,  
त्रिलोचन, वाराणसी

७/११-८२



## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server



## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server

## प्रकाशकीय

भारतीय औषधियों नामक प्रस्तुत ग्रथ कर्नल सर आर० एन० चौपडा लिखित 'इण्डिजेनस इग्स ऑफ इण्डिया-देयर मेडिकल एण्ड एकानॉमिक आस्पेक्ट्स' नामक ग्रथ के द्वितीय सस्करण का अनुवाद है जो हिन्दी में प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इस ग्रथ का श्रीगणेश पटना विश्वविद्यालय में १९२९-३० में सुखराज राय रीडरशिप व्याख्यान माला के अन्तर्गत प्रकृति विज्ञान पर दिए गए डॉ० चौपडा के व्याख्यानों से हो जाना था, पर पुस्तक रूप में इसके प्रथम सस्करण का प्रकाशन स्कूल ऑफ ट्रॉफिकल मेडिसिन, कलकत्ता के अन्तर्गत नवम्बर, १९३२ में हुआ। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही चिकित्सीय तथा भैपजिक वृत्ति वालों, शोधकर्ताओं, भेपज निर्माताओं तथा साधारण जनता ने इसका इतना अधिक स्वागत किया कि अल्पकाल में ही इस सस्करण की सब प्रतियाँ बिक गयी। इसके हिन्दी अनुवाद करने की मांग तभी से प्रारंभ हो गयी थी। भारतीय औषधियों के प्रभाव को देखकर पाइचात्य देशों के चिकित्सक भी इसमें रुचि लेने लगे थे और रातलिक्या सर्वेष्टाइना (सर्पगन्धा) जैसे भेपजों की विशेष चर्चा होने लगी थी। स्वयं हमारे देश में ही भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिपद, भारतीय कृषि अनुसवान परिपद तथा वैज्ञानिक एवं अधीरोगिक अनुसन्धान परिपद जैसे सघटनों के प्रोत्साहन से इसे विशेष गति मिली, फिर भी इसके हूँसरे सस्करण के प्रकाशन में २५-२६ वर्ष लग गए और इग रिसर्च लेबोरेटरी जम्मू-कश्मीर के विशेष सहयोग से अप्रैल, १९५८ में इसका प्रकाशन संभव हो पाया। इसमें भाग ४ जो भारतीय मैटोरिया मेडिका से सम्बन्धित है, फिर से लिखा गया और उसमें कई नये अव्याय जौड़े गए। यह कर्नल आर० एन० चौपडा और उनके सहयोगियों के ४० वर्षों के अध्ययन और अध्यवसाय का प्रतिफल है, जिसमें प्रमुख यन्त्रानी तथा आयुर्वेदिक चिकित्सकों, सुप्रसिद्ध भैपज निर्माताओं और शोधकर्ताओं का बहुमूल्य योगदान है। आयुर्वेद के तथा अन्य द्रव्यों का इसमें विस्तृत विवेचन है।

अष्टाग आयुर्वेद के अतर्गत सुश्रुत-शल्यविज्ञान और चरक-चिकित्सा विज्ञान की बहुमूल्य उपलब्धियों ने विश्व के चिकित्सकों को विशेष आकर्षित किया। बारह अध्यायों में द्रव्य-गुण शास्त्र (Materia Medica) का विलक्षण वर्णन और औषधियों की सेवन विधियों का वैविध्य भी कम विस्मयकारी नहीं था। चरक ने केवल एकल औषधियों को ५० वर्गों में विभाजित किया है। उस समय भी इजेक्शन द्वारा औषधि प्रवेश करने का विधान पर्याय जाना कम कौतूहलपूर्ण नहीं था। सवेदनाहारी द्रव्यों

(Aesthesiatics) का भी ज्ञान किसी रूप में पाया जाता है, भोज प्रबन्ध (१० वीं सदी) में ऐसे द्रव्यों का उल्लेख है। उससे भी पूर्व बौद्ध काल में सम्मोहिनी नामक द्रव्य का प्रयोग विशेष चर्चित है।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद फार्मास्यूटिक्स विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्वी प्रीफेसर एवं विभागाध्यक्ष, डॉ० सकठा प्रसाद के अध्ययन और अध्यवसाय का प्रतिफल है। उन्होंने जब अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया था उस समय चिकित्सा सम्बन्धी कोई मानक शब्दावली उपलब्ध नहीं थी, अतएव प्रारम्भ में उन्हे डॉ० रघुवीर के अप्रेजी हिन्दी कोष का आधार लेना पड़ा। बाद में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत तथा प्रकाशित विज्ञान शब्दावली (१९६४ई०) तथा आयुर्विज्ञान शब्दावली (१९६७ई०) उपलब्ध हो जाने पर समस्त पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण करना पड़ा जिससे उसको अन्तिम रूप देने में अनावश्यक विलम्ब हो गया। इस रूप में भी यह हिन्दी अनुवाद ३१-५-७५ को समिति को प्राप्त हो गया था पर प्रभादवश अभी तक पड़ा रहा। यद्यपि इस बीच इस क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण अनुसधान हो चुके हैं पर उनकी प्रतीक्षा में इस बहुमूल्य ज्ञानराशि से चिकित्सकों, भेषज निर्माताओं और प्रबुद्ध शोधार्थियों को वचित रखना सामाजिक हित और वैज्ञानिक अध्ययन दोनों के हक में हानिकारक है। अतएव क्षमा याचना सहित यह विनम्र प्रयास देश-विदेश व चिकित्सा प्रेमियों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्वत्जनों और प्रयोगकर्ताओं के सुझावों का पूरा लाभ अगले सस्करण में समाहित करने का प्रयत्न किया जायगा। हिन्दी संस्थान डॉ० सकठा प्रसाद के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ, उनके द्वारा अगले सस्करण को पूर्ण समृद्ध और समसामयिक बना सकते के प्रति आशान्वित है।

शिव मगल सिंह 'सुमन'  
उपाध्यक्ष

## **समर्पण**

**प्रोफेसर एम० एस० थैकर**

**को**

**भारत की औपधीय वनस्पतियों के प्रति उनकी  
विशेष अभिलेख के लिए**

**-आर० एन० चोपडा**

TIN 08051602286

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी  
प्लाट न 1, आलाना सास्थानिक क्षेत्र, जयपुर-4

Phone 0141-2711129, Fax 0141-2710341  
Web Site [www.rajlga.org](http://www.rajlga.org)

नकद पत्र संख्या : 319

नाम

**नकद पत्र पुस्तक प्रदर्शनी**

दिनांक : 25/11/2005

मात्रा :	पुस्तक का नाम	दर	राशि	अकादमी अन्य विवरण
0		पिछला शेष	0 00	
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 1 अक 1 जुलाई 1971	6 00	6 00	R-RHPT
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 1 जुलाई 1972	6 00	6 00	R-RHPT
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 1 जुलाई 1972	6 00	6 00	R-RHPT
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 2 दिसंबर 1972	6 00	6 00	R-RHPT
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 3 अक 1 जुलाई 1973	6 00	6 00	R-RHPT

5

0 % या सकल राशि की पूर्णता हेतु छूट की राशि	30 00
शुद्ध राशि	0 00
	<u>30 00</u>

नोट - बेची हुई पुस्तके वापिस नहीं होगी।  
भूल-चूक लेनी देनी।

—कृष्ण अंतर्माल—  
जाच कर्ता

प्रभारी

Page 1 of 1

## द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

‘इण्डिजैनस इंग्लिश आफ इण्डिया—देयर मेडिकल एण्ड इकॉनॉमिक शास्येन्ट्रस’ के प्रथम संस्करण का चिकित्सीय तथा भेषजिक वृत्ति वालो, शोधकर्ता, भेपज निर्माता और साधारण जनता ने इतना अधिक स्वागत किया कि थोड़े ही समय में इस संस्करण को सब प्रतियाँ चुक गयी। फिर भी इस ग्रन्थ को माँग बराबर वनी रही और सुझाव दिया गया कि इसे इसी रूप में पुन विप्राणित किया जाय। कुछ लोगों ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति भी चाही जिससे देशी चिकित्सक-वृन्द तथा इस विषय में रुचि रखने वाले दूसरे लोग इसका उपयोग कर सकें। इन दोनो प्रस्तावो पर विचार किया गया पर इन्हे स्वीकार नही किया जा सका, क्योंकि कालान्तराल के कारण प्रथम संस्करण की विषय सामग्री पुरानी हो गयी थी। पहले संस्करण के विप्राणित होने के बाद से लगभग चौथाई शताब्दी की अवधि में लोगों की अभिरुचि इस विषय में बढ़ गयी थी और देश तथा विदेश में बहुत शोध कार्य किया जा चुका था। स्वय हमारे देश में ही ‘भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान-परिपद्’, ‘भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिपद्’, तथा ‘वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान-परिपद्’ जैसे सगठनों ने इस विषय पर अनुसन्धान कार्य करने के लिए बहुत प्रोत्साहन दिया था। अन्य लोगो ने भी इस विषय में रुचि रखनेवाले शोधकर्ताओं को प्रयोगिक अनुसन्धान के लिए उदार अनुदान दिया था। विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों की प्रयोगशालाओं में पर्याप्त भौलिक शोध हुए थे और भेपजों के रासायनिक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य किये गये थे। लव्ध-प्रतिष्ठ चिकित्सकों द्वारा रोगियों पर परीक्षण करके ऐसी कई औषधियों का पता लगाया गया था जो रोग-भ्रस्त मनुष्यों के कष्ट निवारण में लाभप्रद सिद्ध हो सकती थी। पाइचात्य देशों के चिकित्सक भी इस विषय में रुचि लेने लगे थे और राजतिक्या सर्पेण्टाइना जैसे भेपज की बहुत चर्चा होने लगी थी और उससे निर्मित योगों की माँग बहुत बढ़ गयी थी।

इन सब कार्यों के परिणामस्वरूप अत्यधिक सद्या में शोध-पत्र, विनिवन्ध और पुस्तकों विप्राणित हुईं। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि इन सबको पढ़कर जो आवश्यक सूचना उपलब्ध हो उसका समावेश द्वितीय संस्करण में कर लिया जाय।

यह कार्य एक दशक पूर्व आरम्भ किया गया और वरिष्ठ लेखक ने जम्मू एवं कश्मीर स्थित ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी के अपने सहयोगियों को सहायता से आवश्यक सामग्री इकट्ठा करना आरम्भ कर दिया जिससे इस विषय पर व्यापक तथा अद्यतन समीक्षा प्रस्तुत की जा सके। वर्तमान लेखकों का यह प्रयास रहा है कि यह नया संस्करण भली-भांति सशोधित हो और इस विषय पर जो कुछ भी अद्यावधि ( शोध ) कार्य भारतवर्ष में तथा विदेशों में हुआ हो उन सबको इसमें समाविष्ट किया जाय। इसी कारण इस द्वितीय संस्करण को निकालने में इतना विलम्ब हुआ।

सामान्यतया भारत के औपधीय पादपों पर और विशेषकर भारतीय औषधियों पर शोध-कार्य में सक्रिय रूप से लगे रहने से प्रस्तुत ग्रन्थकारों को उपरोक्त कार्य में बड़ी सुगमता मिली। वस्तुत ऐसा अन्वेषण कार्य वरिष्ठ ग्रन्थकार ने कलकत्ता के 'स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' में ही आरम्भ कर दिया था जिसे उसने बिना व्यवधान के जम्मू एवं कश्मीर स्थित 'ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी' में न केवल चालू ही रखा, बल्कि इसके निदेशक के रूप में उसका विस्तार करने में तथा त्वरितगति से कार्यान्वित करने में सफलता प्राप्त की। जम्मू एवं कश्मीर राज्य में सभी प्रकार के औपधीय पादप विशेषकर प्रचुरता से उगते हैं, इसलिए शोध कार्य के लिए वे सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थकार भेषज सम्बन्धी शोध कार्य के अद्यतन स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे।

इस संस्करण में जो विषय-सूची को पाँच बड़े भागों में विभाजित रहने दिया गया है। प्राय प्रत्येक भाग और खण्ड का सशोधन करके उसमें पर्याप्त वृद्धि की गयी है, और वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित जो भी जानकारी ग्रन्थों और शोध पत्रिकाओं से उपलब्ध हुई है उसे इसमें समाविष्ट किया गया है। भारतीय भेषज कोश को बनाने के सम्बन्ध में तथा पौधों के रासायनिक संघटन और शरीरक्रियात्मक गुणों का उनके बानस्पतिक वर्गीकरण से जो सह-सम्बन्ध है उसके विषय में कुछ नये अध्याय भाग १ में जोड़े गये हैं।

भाग २ में भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषजों का वर्णन किया गया है तथा उनके आर्थिक पक्ष का भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

भाग ३ में उन सब औषधियों का वर्णन किया गया है जो देशी चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं। बानस्पतिक स्रोतों से उपलब्ध भेषजों से सम्बन्धित खण्ड का बहुत विस्तार कर दिया गया है और इसमें भेषजों की संख्या प्रथम संस्करण में वर्णित भेषजों की संख्या से लगभग दुगुनी कर दी गयी है। इस खण्ड में जो जानकारी दी गयी है वह भारतवर्ष में किये गये शोध कार्यों पर मुख्यत आधारित है, पर विदेशों में की गयी

गवेषणा को भी समाविष्ट किया गया है। इसमें भेषजों का रासायनिक संघटन, उनसे पृथक्कृत सक्रिय तत्त्वों का गुण-कर्म तथा रोगियों पर परीक्षणों के परिणाम दिये गये हैं। तामान्य वूटियों की कृषि तथा उपयोग ( विदोहन ) से सम्बन्धित आर्थिक पक्ष का भी विवेचन सक्रियता रूप से किया गया है। भेषजों के प्राय सभी नाम जो भारत के विभिन्न भागों में वहाँ की स्थानीय भाषाओं में व्यवहृत होते हैं, दिये गये हैं, जबकि प्रथम सस्करण में केवल महत्वपूर्ण नाम ही दिये गये थे। खनिज स्रोत से उपलब्ध अनेक औपचियों का जो देशी चिकित्सा में साधारणतः प्रयुक्त होती है, वर्णन छलग खण्ड में दिया गया है। अभक-भस्म, वज्ञ-भस्म, लौह-भस्म, स्वर्ण-भस्म तथा रोप्य भस्म जैसे प्रमुख खनिज भस्मों का विस्तृत वर्णन उनके तंयार करने और शोधन की विधियों और प्रयोग के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी है। इसी भाग में जान्तव स्रोत से उपलब्ध औपचियों का भी वर्णन किया गया है।

भाग ४ जो भारतीय मैटीरिया मेडिका से सम्बन्धित है, फिर से लिखा गया है और उम्मे कई नये अध्याय जोड़े गये हैं। यद्यपि खण्ड १ के अध्याय 'अ' में वानस्पतिक उत्ताद शब्दावली के अन्तर्गत भेषजों की सम्प्रकाशन कर दी गयी है, तथापि देशी चिकित्सा में साधारणत, व्यवहृत भेषजों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी दी गयी है। इस सूची को तंयार करने में प्रमुख आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सकों, सुप्रमिद्द भेषज-निर्माताओं और शोधकर्ताओं से परामर्श लिया गया है। साधारण रूप से व्यवहृत भेषजों के देशी भाषाओं में नाम यथामन्त्रव दिये गये हैं। इससे इन स्थानीय नामों से परिचित पाठकों को किसी भी पौधे को पहचानने में सुविधा होगी तथा पौधों के सक्रिय तत्त्वों, चिकित्सीय उपयोगों और उनके उत्पत्ति-स्थानों के सम्बन्ध में सक्षिप्त जानकारी मिलेगी। चिकित्सीय पौधों से सम्बन्धित जो भी महत्वपूर्ण सदर्भ भारत, यूरोप एवं अमेरिका में १९५७ ई० तक प्रकाशित हुए हैं, इसमें दिये गये हैं, जिससे ऐसी आशा है कि इस ग्रन्थ की उपयोगिता „शोधकर्ताओं के लिए बहुत बढ़ जायगी।

खण्ड २ में पांच नये अध्याय जोड़े गये हैं जिनमें क्रमशः ऐसे पौधों का वर्णन है जो विपैले गुण वाले माने जाते हैं, जो त्वक्-सोभ पैदा कर सकते हैं, जो गर्भस्रावक तथा आर्तवजनक के रूप में प्रसिद्ध हैं, जो कीटनाशी एवं कीटनिवारक हैं तथा जो मत्स्यनाशी हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में शब्दावली ( ग्लॉसरी ) दी गयी है। खण्ड ३ में चार नये अध्याय जोड़े गये हैं जिनमें ऐसे पौधों की सूची दी गयी है जिन्हें क्रमशः पूतिरोधी, यक्षमारोधी तथा अतिसाररोधी गुणों के कारण ख्याति प्राप्त है। हैजा तथा दीर्घकालिक ज्वर के उपचार में जिन भेषजों को देशी चिकित्सा में लाभप्रद

माना जाता है उनकी सूची भी दी गयी है। खण्ड ४ में चार नये अध्याय दिये गये हैं जिनमें सुरभि तथा वाष्पशील तैल वाले पौधों, लाइकेन एवं फर्न के चिकित्सीय तथा अन्य उपयोगों का वर्णन किया गया है; भारत में साधारणतौर से उगने वाले खाद्य मासल कवकों तथा विषैले छत्रकों का भी सक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है।

भारतवर्ष के वनस्पति-समूह में सुरभि तथा वाष्पशील तैल वाले पादपों का एक महत्वपूर्ण वर्ग है जिसमें कई देशी चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं। मनुष्यों के भिन्न-भिन्न क्रिया-कलाप में सम्बन्ध अथवा वाष्पशील तैल की उपयोगिता बहुत अधिक है और देश की अर्थ-व्यवस्था में इस उद्योग का महत्वपूर्ण योगदान है। इसलिए इस खण्ड में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न पादपों का तथा उनके उन भागों का जिनसे तेल निकाला जाता है, और उनके उपयोगों के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है।

भाग ५ में उन भेषजों का वर्णन किया गया है जो भारत के बाजारों में साधारण तौर से पाये जाते हैं। उनको नवीनतम नाम-पद्धति के अनुसार पुन व्यवस्थित किया गया है तथा कुछ भेषजों के पर्याय उनके अन्त सन्दर्भ के साथ दिये गये हैं।

ग्रन्थ के अन्त में ( द्रव्यों के ) वैज्ञानिक नामों की वर्णानुक्रमणिका और भारताय भाषाओं में व्यवहृत साधारण तथा लोकप्रिय नामों की वर्णानुक्रमणिका के अतिरिक्त रासायनिक सघटकों की वर्णानुक्रमणिका अलग से दी गयी है जिससे ग्रन्थ में उनको हँड निकालने में सुविधा हो।

इस ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण वरिष्ठ ग्रन्थकार के इस विषय पर ४० वर्षों के सूक्ष्म अध्ययन और प्रयोगात्मक कार्यों पर आधारित है। देशी भेषजों से सम्बन्धित पूरे विषय का सर्वतोमुखी तथा साथ ही सक्षिप्त वर्णन, आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में इसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए, करने का प्रयास किया गया है। लेखकों को पूर्ण आशा है कि जिस उद्देश्य को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है उसकी पूर्ति में यह सक्षम होगा, अर्थात् इन भेषजों के द्वारा मनुष्यों का कष्ट निवारण होगा और देश में उगने वाले औषधीय पादपों के समुपयोजन से आर्थिक लाभ होगा। हम आशा करते हैं कि इस सस्करण का प्रथम सस्करण जैसा ही स्वागत किया जायेगा।

हम डा० आई० बी० वोस के प्रति उनकी बहुमूल्य सहायता के लिए आभार प्रगट करते हैं। उन्होंने पाण्डुलिपि तथा सन्दर्भों का अन्तिम निरीक्षण, प्रूफ पढ़ने तथा ग्रन्थ के प्रकाशित होने तक का सारा भार सम्हाला। प्रूफ संशोधन में जो सतर्कता उन्होंने वरती तथा इस ग्रन्थ की प्रगति में हर समय जो बहुमूल्य सुझाव दिये उससे इस ग्रन्थ की अनेक दोषों से रक्षा हो पायी। हम उनकी इस अमूल्य सहायता और सुझाव के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हैं। प्रूफ पढ़ने तथा बहुमूल्य सुझाव देने के लिए हम

श्री एस. एन. सोद्धी तथा श्री वाल्मीण के आभारी हैं। भारत के बाजारों में साषारण तौर से जो भेषज पाये जाते हैं उनका वर्णन जिस खण्ड (भाग ५) में दिया गया है उसके निरीक्षण में तथा भेषजों के नामों की जाँच में जो सहायता श्री आर० एल० वधवार ने दी है उसके लिए हम उनका आभार मानते हैं। वर्णनु-क्रमणिका तथ्यार करने में श्री वी. पी. अग्रोल को जो कठोर परिश्रम करना पड़ा उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। कलकत्ता के वी वसु मुद्रण-कार्यालय के मुद्रकों के उनकी पर्याप्त तत्परता से ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग के लिए हम ऋणी हैं तथा कलकत्ता के यू एन घर ऐण्ड सन्स लिमिटेड के प्रति हम कृतज्ञता जापित करते हैं, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है।

आर. एन. चौपड़ा

आइ. सी. चौपड़ा

के. एल. हाण्डा

एल. डॉ. कपूर

इग रिमर्च लैबोरेटरी

जम्मू-कश्मीर

ब्रेंड, १९५८

## प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

भारतीय औषधियों से सम्बन्धित कई पुस्तकों गत वर्षों में प्रकाशित हुई हैं, फिर भी इस नवीन ग्रन्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में क्षमा-याचना की कोई आवश्यकता नहीं है। विषय पुराना है, फिर भी लोगों की अभिरुचि इसमें कम नहीं हुई है। बल्कि ऐसा विश्वास करने का कारण है कि चिकित्सकों तथा साधारण जनता का ध्यान इस और और भी बढ़ रहा है। ऐसा समझा जाता है कि देशी चिकित्सा-पद्धति के द्रव्य-गुण-शास्त्र से अन्वेषण और शोध द्वारा ऐसी अनेक औषधियों को वैज्ञानिक समुदाय को उपलब्ध कराया जा सकता है जिनसे मनुष्यों का कष्ट दूर हो सके। यद्यपि भारतीय भेषजों पर क्रमबद्ध अध्ययन लगभग एक शताब्दी पूर्व आरम्भ हो गया था और उस समय के यूरोपीय तथा भारतीय शोधकर्ताओं द्वारा सराहनीय प्रयास भी किये गये थे, पर प्रगति धीमी रही। इसका कारण हुँ ढने दूर नहीं जाना है। पौधों के रासायनिक अन्वेषण की वैज्ञानिक विधियाँ लगभग ३० वर्षों से ही ज्ञात हुई हैं। शरीरक्रियात्मक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी परीक्षणों के लिए समुचित उपकरणयुक्त प्रयोगशालाएँ भारत में अभी कुछ वर्षों पूर्व तक नहीं थीं तथा औषधियों का चिकित्सीय मूल्याकन करने के लिए उपयुक्त शोध अस्पताल भी नहीं थे। कलकत्ता के 'ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन' में फार्मार्कालोजी के प्राध्यापक के रूप में तथा 'कार्मार्फेल अस्पताल' में ट्रॉपिकल डिजीजेज (उष्ण-कटिबन्धीय रौगो) के चिकित्सक के रूप में मेरा सौभाग्य था कि मेरे आधीन न केवल उपकरण-सम्पन्न रासायनिक तथा फार्मार्कालोजीय प्रयोगशालाएँ थीं, बल्कि रोगियों पर परीक्षण करने की पूरी सुविधा उपलब्ध थी। उपरोक्त स्कूल में मेरे सहयोगियों की सहकारिता तथा चिकित्सा के विभिन्न महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विशेषज्ञों का योगदान मिलने से मेरे कार्य में अपेक्षाकृत कम कठिनाई हुई। भारतीय रिसर्च फण्ड एसोसिएशन का उदार अनुदान प्राप्त होने से मैं इन भेषजों का अध्ययन सभी स्तरों पर करने में सफल रहा।

इस ग्रन्थ में अनुसन्धान-अध्ययन के इन्हीं परिणामों को चिकित्सकों, शोधकों, भैषजिक रसायनज्ञों और भेषज-निर्माताओं के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में समाविष्ट सामग्री मुख्यतः उन सब शोध कार्यों पर आधारित है जिन्हें मैंने तथा मेरे सहयोगियों ने फार्मार्कालोजी तथा रसायन विभाग में सम्पादित किया था, फिर भी भारतीय औषधियों पर जो कुछ भी अनुसन्धान हाल में हुआ है उन सबका सारांश पाठकों की सुविधा के लिए इसमें दिया गया है।

इस ग्रन्थ को ५ भागों में विभाजित किया गया है। देशी औपधियों के विस्तृत क्षेत्र में शोध की जो आवश्यकता है उसके सम्बन्ध में सामान्य विवेचन तथा इस कार्यक्रम में जिन समस्याओं का सामना मुझे करना पड़ा, उन सब बातों का समावेश प्रथम भाग में किया गया है। 'भारतीय औपधियाँ' पद का प्रयोग व्यापक रूप में किया गया है, और इसके अन्तर्गत न केवल वे भेषज आते हैं जो मूलत भारतीय हैं, अपितु वे सब भेषज भी समाविष्ट हैं जो विदेशों से लाकर यहाँ निसी समय कृपि द्वारा उगाये गये हैं और अब पूर्णत यहाँ की जलवायु तथा मिट्टी के अनुकूल हो गये हैं। इस भाग में यह स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि शोधकर्ता को किस दिशा में प्रयास करना चाहिये जिससे लाभप्रद परिणाम उपलब्ध हो। मित्रविद्यिता किस प्रकार लायी जाये जिससे भारत की गरीब जनता को उसके साधन के भीतर रोग-उपचार सुलभ हो सके और परिष्कृत तथा तैयार औपधियों के स्थान पर अपरिष्कृत भेषजों का जो अपेक्षाकृत सस्ते हैं, प्रयोग कर्तों वालनीय है, इन बातों का विवेचन किया गया है। महत्त्वपूर्ण औपधीय पादपों की कृपि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है। ऐसी आशा है कि उन मन लोगों को जो भारत के औपधीय पादपों के अध्ययन में रुचि रखते हैं तथा देश को औपधि-क्षेत्र में आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं, इस भाग के अनुशीलन से प्रभूत जानकारी मिलेगी।

द्वितीय भाग में भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषजों का वर्णन किया गया है। इस भाग में इन भेषजों के वानस्पतिक, रासायनिक, गुण-कर्म सम्बन्धी तथा चिकित्सीय जानकारी विस्तृत रूप से नहीं दी गयी हैं जो तत्सम्बन्धी किसी भी मानक ग्रन्थ में उपलब्ध है। इस भाग में पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करने का मेरा सतत् प्रयास रहा है कि भारत में इन औपधियों के सम्बन्ध में अत्यधिक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं और यदि इन्हें समुचित ढंग से उपयोग में लाया जाय तो देश आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभान्वित हो सकेगा। देशी औपधियों से सम्बन्धित समस्या के इस पक्ष पर देश के चिकित्सकों और भेषजज्ञों का ध्यान बहुत कम या विलकुल ही नहीं गया है।

तृतीय भाग देशी चिकित्सा में व्यवहृत औपधियों के सम्बन्ध में है। पाठकों के समक्ष इन भेषजों का रासायनिक सघटन, गुण-कर्म तथा चिकित्सीय उपयोगिता का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहा है। ऐसी आशा की जाती है कि इस जानकारी से चिकित्सकों तथा अन्य लोगों को जो इसमें अभिरुचि रखते हैं, किसी भेषज के गुण-दोष का विवेचन करने में तथा उसके प्रयोग में लाने या न लाने का निर्णय करने में सहायता मिलेगी। इस भाग में उन सब बातों की जानकारी देने का

प्रयास नहीं किया गया है जो पुराने ग्रन्थों में उपलब्ध है। इस जानकारी के लिए पाठक डाइमाक का 'फार्मेकोग्रैफिया इण्डिका', वाट की 'डिक्शनरी आँफ दि इकॉनॉमिक प्रॉडक्ट्स आँफ इण्डिया', कीर्तिकर एवं वसु का 'इण्डियन मेडिसिनल प्लैट्ट्स आँफ इण्डिया' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करें। वर्गीकरण वनस्पतिविज्ञान और भेषज-अभिज्ञान के क्षेत्र में अधिक ज्ञान उपलब्ध कराना इसका उद्देश्य नहीं रहा है, अपितु वनस्पतिविज्ञान तथा स्वरूप सम्बन्धी उतनी ही जानकारी जो सामान्य प्रयोजन के लिए नितान्त आवश्यक है, दी गयी है।

भाग ४ में भारत में उगनेवाली सभी औषधीय पादपों की शब्दावली दी गयी है। अब तक जितनी सूचियाँ बनायी गयी हैं उन सबमें यह सर्वाधिक पूर्ण सूची है और इसके अन्तर्गत दो हजार से भी अधिक पौधे दिये गये हैं। उन पौधों में निहित सक्रिय तत्त्वों तथा देशी चिकित्सा में उनके प्रयोगों के सम्बन्ध में सक्षिप्त जानकारी दी गयी है। अकाशित सन्दर्भों का उल्लेख भी किया गया है। इस भाग में औषधीय पादपों के अतिरिक्त, जान्तव तथा खनिज स्रोतों से उपलब्ध औषधियों का जो देशी चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं, वर्णन है। विषेले तत्त्व वाले पौधों एवं सर्प-दंश और वृहिचक-दंश की चिकित्सा में प्रयुक्त पौधों की भी सूची दी गयी है।

भाग ५ में बाजार में मिलने वाली सामान्य औषधियों का सक्षिप्त वर्णन और भारतीय भाषाओं में उनके प्रमुख नाम तथा प्रसिद्ध प्रयोगों का उल्लेख किया गया है। चत्पश्चात् भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त नामों की वर्णानुक्रमणिका दी गयी है। इससे पाठक को जिस किसी भी भारतीय भाषा में किसी भेषज के नाम की जानकारी हो, उसे खोजने में उसे सुविधा होगी।

इस ग्रन्थ के श्री गणेश का श्रेय पटना विश्वविद्यालय को है जिसने १९२९-३०ई० में सुखराज राय रीडरशिप व्याख्यान-माला के अन्तर्गत प्रकृति-विज्ञान में व्याख्यान देने को मुझे आमन्त्रित किया। इन व्याख्यानों का विषय भारत के कुछ औषधीय पादपों के चिकित्सीय तथा आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित था। इससे इस विषय में लोगों की अभिरुचि कितनी बढ़ गयी वह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि भारत के सभी भागों से वनों और पूछताछ की भरमार होती जा रही है। इसी कारण यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस विषय को और बढ़ाकर ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाय। पर कुछ काल तक इस विचार को क्रियान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि भारत के बाजारों में बिकने वाली औषधियों के गुणों का पता लगाने के लिए भारत सरकार ने जो 'औषधि जात्र समिति' (ड्रग्स एन्चार्यरी कमेटी) बनायी उसका मुझे अध्यक्ष प्रतिनियुक्त किया गया। इस कार्य में मुझे पूरे भारत का दौरा करना पड़ा और चिकित्सा तथा

भेषजी वृत्तिवालों के निजी सम्पर्क में आना पड़ा, जिससे इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में मेरी धारणा और प्रबल हो गयी। इसलिए पटना के व्याख्यानों को केन्द्र बनाकर इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस ग्रन्थ की सामान्य रूपरेखा तथा विन्यास मूलत उन व्याख्यानों से बहुत कुछ साम्य रखता है, पर इसमें प्रचुर नयी सामग्री का भी समावेश किया गया है। मैं इस अवसर पर पटना विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ।

इस ग्रन्थ को लिखने में जो सहायता मुझे अपने पुराने शिष्य और अब फार्म-कॉलोजी विभाग मेरे सहायक डा० वी० मुकर्जी से तथा रसायन विभाग के प्राच्यापक डा० एस० घोष से मिली है उसके लिए उनका आभार प्रगट करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। यदि इन दोनों विभागों के कर्मचारियों की सहायता मुझे न प्राप्त होती तो इतने अल्पकाल में इस ग्रन्थ को पूरा करना मेरे लिए सम्भव न हो पाता। उन्होंने देशी औषधियों की सूची के सकलन, सन्दर्भों के सचयन तथा वर्णनिक्रमणिका को तैयार करने में मेरी सहायता की है। यह बड़ा कलान्तिकर तथा ध्रमसाध्य कार्य रहा है। डॉ० आई० बोस ने अन्त में इन सन्दर्भों की जांच, प्रूफ का सशोधन तथा प्रेस में छपाई तक सारा कार्य सम्भाल कर मुझे बहुमूल्य सहायता प्रदान की है। इन सब कार्यकर्ताओं का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मैं डॉ० एल० ई० नेपियर तथा लेफिटनेन्ट-कर्नल आर० नाउल्स का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ जिन्होंने प्रूफ को सतर्कता पूर्वक पढ़ा और बहुमूल्य सुझाव दिये, जिससे ग्रन्थ की अनेक दोषों से रक्षा हो पायी। स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन के निदेशक लेफिटनेन्ट-कर्नल एच० डब्ल्यू० ऐकटन, सी०, आइ० ई०, आइ० एम० एस० का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे शोध कार्य में लगाया जिसका परिणाम प्रस्तुत ग्रन्थ है। उनकी सलाह इस ग्रन्थ के हर स्तर पर अमूल्य रही है। इण्डियन रिसर्च फराड ऐसोसिएशन के शासी-निकाय, स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन के भूतपूर्व निदेशक मेजर-जेनेरल जे० डब्ल्यू० डी० मेगा, सी० आइ० ई०, के० एच० पी०, आइ० एम० एस० जो अब भारतीय चिकित्सा सेवा के महानिदेशक (डाइरेक्टर-जेनेरल) हैं, तथा ऐसोसिएशन के मन्त्री मेजर-जेनेरल जे० डी० ग्राहम, सी० वी०, सी० आइ० ई०, के० एच० एस०, आइ० एम० एस० का आभार मानता हूँ जिन्होंने भारतीय औषधियों के अध्ययन के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। देशी औषधियों से सम्बन्धित मेरे अधिकाश शोध-पत्र 'इण्डियन मेडिकल गजट' तथा 'इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च' में प्रकाशित हुए हैं, इन दोनों पत्रिकाओं के सम्पादकों ने उन शोध-पत्रों का इस ग्रन्थ में उपयोग करने की जो अनुमति दी है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। जो लोग इस शोध कार्य को विस्तार पूर्वक जानना

- १० -

चाहते हैं वे उन मौलिक शोध-पत्रों का अध्ययन करें जिनके सन्दर्भ में इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। आर्ट प्रेस के श्री एन० मुकर्जी तथा कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ के मुद्रण तथा प्रकाशन में जो सावधानी दिखायी उसके लिये मैं उन लोगों का आभारी हूँ।

स्कूल ऑफ ट्रॉफिकल मेडिसिन

आर० एन० चोपड़ा

कलकत्ता

नवम्बर, १९३२

## दो शब्द

स्व० कर्नल सर आर० एन० चौपडा एवं उनके सहयोगियों द्वारा रचित 'इण्डिजेनम इंग्लिश बॉफ इण्डिया' के द्वितीय सस्करण का हिन्दी अनुवाद 'भारतीय औषधियाँ' पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। जिस समय यह अनुवाद कार्य आरम्भ किया गया, उस समय कोई मानक शब्दावली नहीं उपलब्ध थी। इसलिए अप्रेजी वैज्ञानिक शब्दों का अनुवाद स्व० डॉ० रघुवीर के 'अप्रेजी-हिन्दी शब्दकोश' तथा भारत सरकार द्वारा छोटे-छोटे खण्डों में प्रकाशित अलग-अलग विज्ञान के तकनीकी शब्दों के कोश के आधार पर किया गया। पर जब भारत सरकार द्वारा स्वीकृत तथा प्रकाशित 'विज्ञान शब्दावली' (१९६४ ई०) तथा 'आयुर्विज्ञान शब्दावली' (१९६७ ई०) उपलब्ध हुईं तो बहुत से वैज्ञानिक शब्दों के अनुवाद में परिवर्तन करना पड़ा और पाण्डुलिपि का पुनरोक्तण आवश्यक हो गया। इसी कारण पाण्डुलिपि को तैयार करने में विलम्ब हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक में वैज्ञानिक शब्दों के अनुवाद में उपर्युक्त दोनों शब्दावलियों का उपयोग किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए आवश्यक स्थानों पर, हिन्दी के शब्दों के साथ अंग्रेजी के रूपान्तरित या मूलशब्द कोष्ठाकित हैं। कुछ आवश्यक सूचनाएँ यथास्थान टिप्पणी, फुटनोट या कोष्ठ में दी गयी हैं। भेषजों के विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित नाम यथास्थान दिये गये हैं। अत आवश्यक स्थानों को छोड़कर इनकी सर्वप्र पुनरावृत्ति नहीं की गयी है।

बासा है, इस पुस्तक से भारतीय औषधियों का जन-फल्याण में उपयोग होगा तथा उनका प्रचार-प्रसार भी बढ़ेगा। इसके हिन्दी सस्करण का अभाव दीर्घकाल से खटक रहा था, जिसका अनुभव वरिष्ठ मूल ग्रन्थकार ने भी किया था। इस सस्करण द्वारा इस अभाव की पूर्ति होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

३१-५-७५

काशी

सकठा प्रसाद

अनुवादक



# विषय-सूची

## भाग-१

	पृष्ठ
भारत के देशीय भेषजों का चिकित्सीय एवं आर्थिक पक्ष	१-६८
ऐतिहासिक तथा सामान्य	१
भारतीय द्रव्य-गुण शास्त्र की प्राचीनता	१
वर्तमान भारतीय भेषजों का विकास	४
भारतीय आयुर्विज्ञान का हास, ४, अरब तथा पाश्चात्य	
चिकित्सा-विज्ञान का आगमन	६
देशीय चिकित्सा-पद्धतियों के पुनरुत्थान के प्रयत्न	७
भारतीय भेषजों पर अनुसंधान की आवश्यकता	९
भारतीय भेषजों पर अनुसंधान का महत्व	११
ज्ञात देशीय भेषजों का पुनरनुसंधान	१४
देशीय भेषजों के अनुसंधान का ऐतिहासिक सर्वेक्षण	१६
समस्या के तीन प्रमुख पक्ष	२३
भेषजकोशीय एवं सम्बद्ध द्रव्य	२३
भारतवर्ष का विदेशों से मेषज व्यापार	२६
भारतीय चिकित्सा-पद्धति में व्यवहृत होनेवाले भेषज	२८
देशीय जड़ी-बूटियों की पहचान	३०
भेषजों में अपमिश्रण	३०
देशीय चिकित्सापद्धतियों में व्यवहृत होनेवाले भेषज	३२
चिकित्सा को अल्पव्यय साध्य तथा सुलभ बनाना	३४
कुछ विशिष्ट औषधियों के बनाने की भैषजिक उद्योगों की क्षमता एवं	
उत्पादन सम्बन्धी विवरण	३५
गैलेनिकल, टिकियार्थीयाधिस्वामिक, ऐल्केलॉयड, जैविकी, विटामिन आदि	३५-३६
सशिलप्ट औषधियाँ	३७
प्रतिजैविक औषधियाँ	३८
आधिस्वामिक औषधियाँ	३८

अपरिलकृत भेषजों का उपयोग	३९
सहायक उद्योगों का विकास	४१
औषधीय पादपों की कृषि	४३
वन संसाधनों का उपयोग	४३
विदेशों में भेषजीय वनस्पतियों की कृषि	४७
भारत में भेषज कृषि	४८
अतीत की उपलब्धियों का सिहावलोकन	५२
भारतीय भेषजकोश का निर्माण	५५
औषधीय पौधों के रासायनिक घटक	५७
शारीर-क्रिया एवं विषालुता को प्रभावित करनेवाले कारक पादपों के वानस्पतिक वर्गीकरण, उनके रासायनिक संघटन एवं शारीरक्रियात्मक गुणों से सह-सम्बन्ध	५९
सक्रिय तत्व एवं नवीन वर्गीकरण	६०
रासायनिक संघटक	६१
सहसम्बन्ध के उदाहरण	६२
भेषजीय गवेषणा में नव्यतर प्रवृत्तियाँ और उसका भविष्य	६५
औद्धिक पदार्थों पर मौलिक गवेषणा	६५
भारतीय भेषजों के अनुसंधान का भविष्य	६५
भेषज अनुसंधान में नव अभिविन्यास के प्रयोजन	६५
भारतीय भेषजानुसंधान का भविष्य	६६

## भाग-२

	पृष्ठ
भारत में भेषजों के संभाव्य संसाधन	६१-४२२
भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषज	६९
भारत में पैदा होने वाले ब्रिटिश एवं भारतीय औषधकोशीय भेषज एकोनिटम्	६९
भारत के वाणिज्यिक एकोनाइट प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार	७६
भारत के वाणिज्यिक एकोनाइट नवीन वर्गीकरण के अनुसार	७९
औषधियों में सामान्यतया व्यवहृत होनेवाले भारतीय एकोनाइट, उनका	

वितरण, उनके सक्रिय तत्व और उपयोग-७९, भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइटो का मानकीकरण रासायनिक आमापत-८४, जैविकी आमापन-८४, भारतीय बाजार के ऐकोनाइट-८५ ।

**एलोवेरा**

९२

रासायनिक सरचना-८८, देशीय चिकित्सा-पद्धति में उपयोग-९०  
ऐराकिस हाइपोजिया

९५

मूँगफली की खली-९३

**आर्टिमिसिया मैरिटाइमा**

९८

आर्टिमिसिया की रसी स्पीशीज-९५, आर्टिमिसिया की भारतीय स्पीशीज-९६, अन्य स्पीशीज-९७, भारतीय आर्टिमिसिया में सैण्टोनिन की मात्रा-९८, भारतीय तथा रसी सैण्टोनिन की तुलना-९९, कृषि-१०१, आर्थिक सम्भावनाएँ-१०३ ।

**एड्रोपा ऐक्यूमिनेटा**

१०६

कृषि-११०, बीज-अकुरण-११०, मूल कर्तन-१११, प्ररोह कर्तन-१११, सिंचाई-११२, धास-निराई-११२, सग्रह और सुखाना-११२, उपज-११३, हानिकारक कीट-११३, ऐल्केलॉयड की मात्रा-११४, सकर स्पीशीज-११५, निर्यात व्यापार-११६ ।

**कैमेलिया साइनेसिस और कॉफिया अरेंबिका**

११७

चाय और कॉफी का पेय के रूप में समावेश-११८, कैफीन का आध्यात्मिक उपयोग-१२०, चाय और कहवा के भारतीय सासाधन-१२१, आर्थिक पक्ष-१२२, भारत में कैफीन-निर्माण की सम्भावनाएँ-१२३ ।

**कैनाबिस सटाइवा**

१२६

हेम्प के पौधे की स्वतं एव वन्य उत्पत्ति-१२८, हेम्प के पौधे की खेती-१२८, रासायनिक सघटन-१२९, सुखाभास के उद्देश्य से हेम्प मेपज का उपयोग-१३०, धूम्रपान के लिए व्यवहृत पदार्थ-१३१, गांजे का धूम्रपान-१३२, चरस-१३३, भाँग-१३४, मनोवैज्ञानिक प्रभाव-१३७, गुण तथा उपयोग-१३८, उत्पादन और व्यापार-१३८, भारत में हेम्प भेजन का उत्पादन एव उपभोग-१३८ ।

**कैरम कार्बों**

१३९

तेल की उपलब्धि-१४०, कृषि-१४१ ।

<b>कैरम कॉन्ट्रिक्स और क्यूमिनम साइमिनम</b>	१४२
कृषि—१४५, आर्थिक पक्ष—१४६ ।	
<b>कैसिया अंगुस्टिकोलिया</b>	१४९
तिन्नेवेली सेन्ना—१४९, कृषि—१५०, सघटक—१५१ ।	
<b>कीनोपोडियम एम्ब्रोसियोडिस</b>	१५२
रासायनिक सरचना एवं गुण—१५४, कीनोपोडियम के अन्य, स्रोत—१५५, भारतीय कीनोपोडियम—१५५, भारतीय तथा अमेरिकी तेल—१५८, आर्थिक पक्ष—१५९, सुधार के तरीके—१६० ।	
<b>क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम</b>	१६२
कश्मीर से उत्पादन—१६३, कृषि—१६३, रासायनिक सरचना—१६६ । त्वचा पर विषालु प्रभाव और गुण-कर्म—१६८, सशिलष्ट कीटनाशी यौगिक—१६९—१७०, निर्याति—१७० ।	
<b>सिनकोना कॉर्टेक्स</b>	१७५
कृषि—१७३, प्रवर्धन—१७४, सग्रहण—१७७, छाल का सुखाना—१७७; स्थानापन्न द्रव्य—१७७, भारत के किवनीन के सम्मरण स्रोत—१७८, भारत में किवनीन ( कुनैन ) की आवश्यकता—१७८, किवनीन के अतिरिक्त सिनकोना छाल से प्राप्त होनेवाले अन्य ऐल्फेलॉयड—१७९, सिनकोना छाल का रसायन—१८०, सिनकोना छाल के कुल ऐल्केलॉयड सिनकोना फेनिप्शूज—१८३; अन्य ऐल्केलॉयडो का प्रभाव—१८३, मात्रा १८५ ।	
<b>सिन्नामोमम कैम्फोरा</b>	१८६
कृषि—१८६, कपूर तैयार करने की प्रणाली—१८८, भारत में उगाये जाने वाले कपूर वृक्ष के विभिन्न अगो में कपूर की मात्रा— १८९, भारत में कपूर का उत्पादन—१८९, कपूर के अन्य सम्बन्ध स्रोत—१८९, व्यापार—१९१ ।	
<b>सिन्नामोमम तमाला</b>	१९२
<b>सिन्नामोमम जीलैनिकम</b>	१९४
रासायनिक सरचना तथा आर्थिक पक्ष	१९५
<b>सिङ्हुलस कोलोसिसिन्थिस</b>	१९७
रासायनिक सघटन—१९९ ।	

सिद्धस और निशाकोनिया	२००
सिद्धस लिमन	२००
कृषि-२०१।	
कॉलिंचकम ल्यूटियम	२०२
कृषि-२०३, कॉलिंचसीन का गुण-कर्म-२०५।	
डाटूरा स्ट्रैमोनियम	२०६
कृषि-२०७, डाटूरा स्ट्रैमोनियम एवं डाटूरा मीटल का रसायन और उपयोग-२०८, अधिक पक्ष-२१०।	
डिजिटैलिस लैनेटा	२१०
सघटक-२११, उपयोग-२१२।	
डिजिटैलिस परप्यूरिया	२१२
भारत में डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती-२१४, पत्तियों का सचयन- २१५, मुख्याना एवं सुखाना-२१६, भण्डारण-२१६, भारतीय पत्तियों की शारीरकियात्मक एवं चिकित्सीय सक्रियता-२१७, उष्ण कटिबंधी प्रदेशों में डिजिटैलिस से निर्मित औषधियों की शक्ति में विभिन्नता- २१८, उपयोग-२१९, सघटक-२२०।	
इलेक्ट्रिया कार्ड्सोमम	२२५
किस्मे-२२२, वितरण-२२३, उपयोग-२२३, उत्पादन-२२४।	
एफेड्रा जिराडिआना और सबद्ध स्पीशीज	२२९
कृषि-२२८, एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन की रासायनिक सरचना- २२९, एफेड्रा का निर्यात-२३१, भारतीय एफेड्रा के वितरण स्थान-२३२, स्पीशीज की विभिन्नता के कारण एल्केलायड़ की मात्रा में अन्तर-२३६, ऊँचाई का प्रभाव-२४०, वर्षा का प्रभाव-२४१, क्रृतु का प्रभाव-२४२, भडारण का प्रभाव-२४२, अन्य भारतीय पौधों में एफेड्रीन-२४३, भारतीय एफेड्रा से उपलब्ध एफेड्रीन तथा स्यूडोएफेड्रीन का गुणकर्म-२४४, एफेड्रीन और स्यूडो- एफेड्रीन के गुण-कर्म में अन्तर-२४६, भारतीय एफेड्रा का चिकित्सीय उपयोग-२४७, दमा के उपचार में एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन का व्यवहार-२४७, भारतीय एफेड्रा से तैयार किया गया एल्कोहॉली सार अथवा टिक्कर-२४९, एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन का हृदयोदीपक प्रभाव-२४९, जानपदिक जलशोफ-२५०, अन्य हृद-विकार-२५०।	

एरिथ्रोविसलम कोका	२५१
कोका की खेती—२५२, कोका की स्पीशीज—२५४, एरिथ्रोविसलम कोका का सुखाभास के लिए उपयोग—२५४, भारत में कोकेन सेवन की आदत—२५५, भारत में कोकेन-व्यसन का प्रसार—२५८, कोकेन व्यवन का प्रभाव—२६०।	
यूकेलिप्टस ग्लोबुलस	२६१
भारत में परीक्षणात्मक कार्य—२६३, कृषि—२६४, भारतीय तथा आस्ट्रलियाई तेल—२६५-२६७।	
यूजिनिआ कैरिओफिलस-लौंग (लवंग)	२६६
खेती—२७१	
यूआॅनिमस टिन्जेन्स (कुग्कु)	२७२
फेल्ला नाथेंवस-हींग (असाफोटिडा)	२७३
घटक—२७५	
फोनिकुलम वल्गोरी-सौंफ	२७६
खेती—२७८, सौंफ का तेल—२७९	
गॉल्थीरिआ फँग्रैष्टिसिमा-भारतीय विण्टरथीन	२८१
आर्थिक पक्ष—२८२	
जेन्शिअना कुर्ल-भारतीय जेन्शिअन-कुटकी	२८४
पिक्रोराइज्जा कुर्लआ-कुटकी	२८४
गिलसिराइज्जा ग्लेन्ना-मुलेठी (यष्टीमध्य)	२८८
पौधे (वाणिज्यिक महत्व वाले)—२८८, उत्पादन और व्यापार—२८९, उपयोग—२८९, कृषि—२९०, घटक—२९२, स्थानापन्न द्रव्य तथा अप-मिश्रक—२९२, मुलेठी का गुण-कर्म—२९३	
हेमीडेस्मस इण्डिकस	२९४
भारतीय सारसापारिला	२९४
हाइओसायमस म्यूटिकस-खुरासानी अजवायन	२९७
कृषि—२९८, घटक—२९८	
हाइओसायमस नाइजर-खुरासानी अजवायन (पारसीक यवानी)	२९९
भारत में कृषि—३०१, उपज—३०३, बीज—३०४, भेषज में ऐल्केलायड की मात्रा—३०४	

आइपोमिअ हेडेरेसिया-कालादाना (फुलणबीज)	३०५
आइपोमिअ ट्यॉयम-निशोय (त्रिवृत)	३०६
जूनिपेरस कार्म्म्यनिस-आरार	३०७
विभिन्न देशों से प्राप्त तेलों की विशेषताएँ—३०८	
मेन्या आर्बेन्सिस—पुदीना (मिन्ट तेल)	३०९
मेन्या की विभिन्न जातियाँ—३०९, कृषि—३११, उत्पादन—३१२, आर्थिक पक्ष—३१३, घटक—३१३	
मिरिस्टिका फ्रैंग्रेन्स-जायफल	३१७
मिरिस्टिका मलार्विका-बन्धई का जायफल	३१७
कृषि—३१८, सघटन—३१९	
पैयेवर सॉम्मिनफेरम	३१९
अफीम अथवा श्वेत अहिपुण्य	३१९
पोस्ते के सम्पुटों का बीपधीय उपयोग—३२१, पोस्ते के सम्पुटों का सुखाभास के लिए उपयोग—३२२, सघटन—३२३, अफीम—३२४, देशी चिकित्सापद्धति में अफीम—३२५, भारत में अफीम का उत्पादन—३२७, पोस्ते की कृषि में हास—३२९, रासायनिक सघटन—३३०, अफीम पर भरकारी नियन्त्रण—३३३, स्थिर-शर्करा तथा ऐल्बुमिनभेह पर अफीम का प्रभाव—३३६, अफीम सेवन के व्यसन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—३३७, नाकोंटीन—३३७, नाकोंटीन का रसायन तथा भौतिक गुण—३३८, नाकोंटीन का गुण-कर्म—३३९, चिकित्सीय उपयोग—३४०, मलेरिया में अफीम—३४०, मलेरिया में नाकोंटीन—३४१, जार्थिक पक्ष—३४२।	
पूस्तिहेनम ग्रीविओलेन्स	३४५
सोवा-भारतीय डिल (ऐनिथम सोवा)	३४५
सोवा (डिल) का तेल—३४५, तेल का भौतिक गुण—३४६।	
पिक्राज्मा वर्चसिअॉइडिस (वर्चसिअा काण्ठ)	३४७
पिक्रीना एक्सेल्सा	३४८
घटक—३४९, उपयोग- ३४९, भारती (भार्गी)—३५०।	
पिम्पिनेला ऐनिसम (ऐनिसीड, ऐनिसीक्लूट)	३५४
कृषि—३५१, तेल की उपलब्धि—३५२, सघटक—३५२, स्टार ऐनिसी	

(इलिसियम वीरम) का तेल-३५३, भौतिक स्थिराक-३५४, आर्थिक पक्ष-३५४ ।	
<b>पाइनस लॉड्ज़ फोलिया-चीड़ पाइन (सरल, चीड़)</b>	<b>३५५</b>
अमेरिकी, फ्रासीसी तथा भारतीय चीड़-३५६, आर्थिक पक्ष-३५७; तारपीन तेल तथा कोलोफोनी (राल) के संघटक और उपयोग-३५८-३५९ ।	
<b>पाइपर क्युबेवा (कवावचीनी)</b>	<b>३५९</b>
पोडोफिलम हेक्सैण्डम (पोडोफिलम इमोडी)	३६२
भारतीय पोडोफिलम (पाप्रा, गिरिपर्पट)	३६२
पोडोफिलम से उपलब्ध रेजिन-३६२, सघटक-३६४, आर्थिक पक्ष-३६५, गुण-कर्म-३६६ ।	
<b>सिकोट्रिया इपीकैकुआन्हा (इपीकाक)</b>	<b>३६८</b>
सेफेलिस इपीकैकुआन्हा	३६८
इपीकैकुआन्हा का भारतीय स्थानापन्न-३६८, कृषि-३७१, सघटक-३७३, गुण-कर्म-३७४ ।	
<b>रीभम इमोडी (भारतीय रेवदचीनी)</b>	<b>३७१</b>
कृषि-३७७, सघटक-३७७, वाणिज्य-३७८ ।	
<b>रिसिनस कॉम्प्यूनिस (एरण्ड बीज)</b>	<b>३७९</b>
कृषि-३८०, तेल निकालने की प्रक्रिया-३८०, एरण्ड तेल का रसायन-३८१, आर्थिक पक्ष-३८२, उत्पादन एव व्यापार-३८३ ।	
<b>रोंजा डैमेस्टिना (गुलाब)</b>	<b>३८४</b>
यूरोप में गुलाब की कृषि-३८५, भारतवर्ष में गुलाब की कृषि-३८५, तेल की उपलब्धि तथा सघटक-३८७-३८८ ।	
<b>सण्टेलम ऐल्वम चन्दन-काठ (सैन्डलवुड)</b>	<b>३८९</b>
कृषि तथा उत्पादन क्षेत्र-३८९-३९०, वाणिज्योपयोगी क्षेत्र चन्दन तेल-३९१, रसायन-३९१, अपमिश्रक-३९२, चिकित्सीय उपयोग-३९२, आर्थिक सभावनाये-३९३, नियर्ति-३९४, आन्द्रेलियाई तेल-३९५ ।	
<b>स्ट्रोकेन्स</b>	<b>४९७</b>
कृषि-३९९, सघटक-३९९ ।	

स्ट्रॉक्नांस नक्स-बोमिका-नक्स बोमिका (कुचला)	४००
उपयोग-४००-४०१, सघटक-४०१, निर्यात्-४०२ स्ट्रॉक्नीन का निर्माण-४०२	
स्वशिया चिराता (चिरायता)	४०३
अजिंनिया इण्डिका	४०५
भारतीय स्विवल (जगली प्याज)	४०५
चिकित्सीय उपयोग-४०६, सक्रिय ग्लाइकोमाइड-४०७ ।	
वैलेरियाना चालिचाइ (ध्वारतीय तगर)	४०९
कृषि-४११, सगन्ध तेल-४१२ ।	
जिजिवर आॅफिसिनेल (अदरक)	४१३
रामायनिक गधन-४१५, आर्थिक पक्ष-४१६, वाणिज्यिक किस्मे-४१६, निर्यात्-४१७-४१८ ।	



## संकेत

- अ० — अग्रेजी  
अ०, अर० — अरबी  
अफ० — अफगानी  
अस० — असमिया  
इरा० — ईरानी  
उ०, उडि० — उडिया  
उ० प्र० — उत्तर प्रदेश  
कश० — कश्मीर  
क०, कश्मी० — कश्मीरी  
कु० — कुमायू  
गु० — गुजराती  
त० — तमिल  
ते० — तेलुगू  
ने० — नेपाली  
प० — पञाबी  
फा० — फारसी  
ब० — बगला  
बम्ब० — बम्बई  
म० — मराठी  
मल० — मलयालम  
यू० — यूनानी  
स० — संस्कृत  
सिं — सिन्धी  
हि० — हिन्दी

## भाग १

### भारत के देशीय भेषजों का चिकित्सीय एवं आर्थिक पक्ष ( १ )

ऐतिहासिक तथा सामान्य :—

प्रारम्भ में ही यह बतला देना उचित जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में 'भारतीय औषधिया या भारतीय भेषज' पद का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है ताकि इसकी परिधि के अन्दर न केवल वे भेषज आयें जो मूलतः भारतीय हैं, बल्कि वे भी आ सकें जो बाहर से लाये गये हैं और अब पूर्णतः देशज बन गये हैं। ऐसे भेषजों को भी, जिनका उत्पादन कृपि द्वारा भारतवर्ष में होता है, चाहे उनका उपयोग देशीय चिकित्सा-प्रणाली में या विभिन्न पाश्चात्य देशों की मान्य भेषजकोशों (Pharmacopoeias) में होता हो, इन शब्दों की सीमा के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

आर्थिक एवं व्यवसायिक दोनों ही दृष्टि से भारतवर्ष के देशीय भेषजों का बड़ा महत्व है। चिकित्सा एक बहुत प्राचीन कला है, और भेषजों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है, उस प्राचीन काल से, जहाँ तक इतिहास हमको ले जा सकता है। यह सौचना असम्भव है कि औषधि का उपचार से कोई संबंध नहीं है और मनुष्य के स्मृति-काल के आरम्भ से ही भेषज उपचार का अभिन्न अग बन गया है।

#### भारतीय द्रव्यगुण-शास्त्र की प्राचीनता

भारतवर्ष में आयुर्विज्ञान का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वनस्पतियों का औषध रूप में उपयोग किये जाने का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है जो अत्यन्त प्राचीन है और यदि अत्यन्त प्राचीन नहीं तो कम से कम मनुष्य के ज्ञान का प्राचीनतम सप्तहागार है, जो ईसा से लगभग ४५०० से १६०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ में 'सोम' वनस्पति एवं मानव पर उसके प्रभाव का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में, जो ऋग्वेद के पश्चात् लिखा गया, भेषजों की अनेक विभिन्न उपयोगिताओं का वर्णन किया गया है। भेषजों के सुनिश्चित गुणों एवं उपयोगों का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ आयुर्वेद में ही हुआ है जिसे उपवेद माना जाता है।

(या अनुपूरक मन्त्र, जो मानव जाति के विस्तृत अनुदेश के लिए लिखे गये हैं)। वास्तव में आयुर्वेद भारत के प्राचीन चिकित्सा-विज्ञान की आधारशिला है। इसके आठ अंग हैं जिनमें आयुर्विज्ञान एवं चिकित्सा के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। इसका रचना-काल विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ईसा से २५०० से ६०० वर्ष पूर्व के अस पास माना गया है। अष्टाग्र आयुर्वेद के बाद दो ग्रन्थ सुश्रुत एवं चरक लिखे गये। सुश्रुत के रचनाकाल के विषय में बहुत वडी अनिवितता है, फिर भी यह ईसा से १००० वर्ष पूर्व ही लिखा गया होगा। इस ग्रन्थ में शल्य-विज्ञान का विस्तार-पूर्वक वर्णन है, परन्तु एक स्थान ( उत्तर तत्त्व—अनु० ) में चिकित्सा ( Therapeutics ) का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। चरक में जो लगभग इसी काल में लिखा गया, चिकित्सा-विज्ञान का अपेक्षाकृत विशद वर्णन है। और इसके सातवें स्थान ( कल्पस्थान—अनु० ) में केवल रेचक एवं वमनकारक द्रव्यों का ही विस्तृत विवेचन है। इस स्थान के बारह अध्यायों में द्रव्य-गुण-शास्त्र ( Materia Medica ) का विलक्षण वर्णन, जितना उस समय के भारतीयों को ज्ञात था, पाया जाता है। चरक ने केवल एकल औषधियों को पेतालीस ( पचास-अनु० ) वर्गों में व्यवस्थित किया है। इसमें औपधियों की सेवन विधियों का पूर्ण रूप से वर्णन है जो आज की प्रचलित विधियों से आश्चर्यजनक सामग्री रखती है। यहाँ तक कि विभिन्न रोगों में इन्जेक्शन द्वारा औपधि प्रवेश कराने की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है। सुश्रुत और चरक से ही विभिन्न चिकित्सापद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ। डा० वाईज ( Dr Wise, १८४५ ) ने हिन्दू शल्य-विज्ञान की दो, चिकित्सा विज्ञान की नी, द्रव्य-गुण-शास्त्र ( Materia Medica ) की तीन, मात्रा-विज्ञान ( Posology ) की एक, औपधि-निर्माण की एक और केवल रस ( Metallic ) औषधियों की तीन पद्धतियों का वर्णन किया है। इन तथ्यों से प्राचीन भारत के विज्ञान की प्रौढता और विज्ञालता का अनुमान, विशेषकर कार्बनिक ( Organic ) एवं अकार्बनिक ( Inorganic ) स्रोतों से प्राप्य चिकित्सीय भेपजों के सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। सबेदनाहारी द्रव्यों ( Anaesthetics ) का भी ज्ञान किसी न किसी रूप में था। 'भोज प्रवृव' नामक ग्रन्थ में जो ९८० ई० के लगभग लिखा गया, ऐसे द्रव्यों का उल्लेख मिलता है जो शल्य-क्रिया के पूर्व निष्पात द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे। एक निरचेतक न्यून जिसे 'सम्मोहनी' कहते थे, बीद्र काल में उपयोग में लाया जाता था।

इस काल से लेकर मुसलमानों के भारत पर आक्रमण होने तक भारतीय आयु-विज्ञान की अभिवृद्धि होती रही, जिसे सक्रिय रूप से चार चरणों ( stages ) में

दर्शाया जा सकता है—अर्थात् ( १ ) वैदिक काल, ( २ ) वह काल जिसमें मौलिक शोध हुए और शास्त्रीय ग्रथ रचे गये, ( ३ ) सकलन कर्त्ताश्रो, तत्रो और सिद्धो, रसायनज्ञ चिकित्सकों का काल और ( ४ ) ह्यास एवं पुनः सकलन काल। इस प्रगति के द्वितीय और तृतीय काल में प्रत्येक दृष्टिकोण से असाधारण उन्नति हुई और आयुर्वेद उस समय अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस अवधि के अन्तिम काल में आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार भारतवर्ष की सीमाओं को लाघ कर सुदूर देशों में होने लगा था। तत्कालीन सभ्य संसार के राष्ट्र भारतीयों से चिकित्सीय ज्ञान की जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहा करते थे। भारतीय आयुर्विज्ञान का प्रभाव मिस्र, यूनान और रोम आदि सुदूर देशों में फैला और उसने यूनानी एवं रोमन चिकित्सापद्धतियों पर व्यापक प्रभाव डाला तथा यूनानी चिकित्सापद्धति के द्वारा अरबों के आयुर्विज्ञान को भी प्रभावित किया। जैकोलियो ( Jacolliot ) का यह कथन कितना ठीक और युक्तिसंगत है कि, “हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये की भारतवर्ष, जो प्राचीन काल में एक बृहत् एवं प्रज्ज्वलित ( ज्ञान का ) केन्द्र था, एशिया के सभी देशों से निरतर सर्पक स्थापित किये हुए था तथा पुरातन काल के सभी दार्शनिक और संत वर्हा आयुर्विज्ञान के अध्ययनार्थ जाते रहते थे।” भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का यूनानी तथा रोमन चिकित्साविज्ञान पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके अस-दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। सिकन्दर महान् को विजय द्वारा यूनानी सभ्यता भारतीय सभ्यता के घनिष्ठ सर्पक में आयी। इम समय भारतीय चिकित्साविज्ञान अपने उत्कर्ष की चरमसीमा पर था और भारतीय चिकित्सकों की भेषज एवं विप-विज्ञान संबंधी ज्ञानकारी अन्य देशों की अपेक्षा अत्यधिक समुन्नत थी। भूमि से उत्पन्न प्रत्येक ( खनिज ) पदार्थ के गुणों का उन्होंने गहन अध्ययन किया था और रोग तथा भेषजों की सहायता से उनके उपचार की दिशा में विधिपूर्वक अध्ययन और अनुसधान किया था।

यूनानी सैनिकों को सर्पदश तथा अन्य व्याधियों से विमुक्त करने में जिस कौंगल का परिचय इन भारतीय चिकित्सकों ने दिया था वह उनके एतद् सम्बन्धी ज्ञानश्रेष्ठता का साक्षी है। इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं कि यूनानी चिकित्सा-विज्ञान ने भारतीय आयुर्विज्ञान को पर्याप्त मात्रा में आत्मसात् कर लिया था और इससे अपने द्रव्य-गुण-शास्त्र को सुसम्पन्न बना लिया था। इस बात के विश्वास के पर्याप्त प्रमाण हैं कि पार्सेल्सस ( Parcelsus ), हिपोक्रेटिस ( Hippocrates ) और पाइथागोरस ( Pythagoras ) जैसे अनेकों यूनानी दार्शनिकों ने वस्तुतः पूर्वी देशों का अभ्यास किया था और अपने अपने देशों में भारतीय सस्कृति के प्रचार में सहायता की थी।

प्रेष्यात् चिकित्सक डायस्कोरॉयडेस ( *Dioscorides* ) का ग्रन्थ स्पष्ट बतलाता है कि पाञ्चात्य देशों के लोग अपने चिकित्सा विज्ञान के लिए भारत तथा पूर्वीय देशों के कितने ऋणी हैं। उसके प्रथम ग्रन्थ में अनेक भारतीय वनस्पतियों का उल्लेख है, विशेषत सुरभिन्वर्ग के द्रव्यों ( aromatic group of drugs ) का, जिसके लिए भारतवर्ष सदा से विख्यात रहा है। श्वास रोग ( दमा ) में धूतूरे का धूम्रपान, पक्षाधात तथा अग्निमान्द्र में कुचले ( *muix vomica* ) का प्रयोग और रेचक के रूप में जमालगोटे ( *croton* ) का व्यवहार निश्चय ही प्रकट करते हैं कि इनका उद्भव प्राचीन भारतवर्ष से है। धूतूरे के अत्यधिक धूम्रपान के प्रभाव को और भी उनका ध्यान आकृपित हुआ था।

रोमन लोग भी भारतीय भेषणों में अत्यधिक रुचि रखते थे। इस बात का यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि अनेकों शताब्दी पूर्व भारतवर्ष और रोम के बीच भारतीय भेषजों का विस्तृत व्यापार सम्बन्ध बना हुआ था। यह देश जलवायु की विपुल विभिन्नताओं एवं हिमालय जैसे पहाड़ों की शृंखलाओं के कारण, अतीतकाल से ही वानन्पत्तिक द्रव्यों की सुसम्पन्न 'सवधिनी' के रूप में मान्य रहा है। प्लिनी ( *Pliny* ) के समय में इस भेषज व्यापार की इतनी वृद्धि हो गयी थी कि भारतीय वहमूल्य भेषजों और ममालों के क्रय में रोम की जो स्वर्ण-राशि व्यय हो रही थी उसके विशद उद्घोते परिवाद किया था। इस सबध में प्राच्य साहित्य के एक व्रिटिश विद्वान के लेख से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य है। कैप्टेन जानस्टन सेन्ट ने अपने एक अभिभावण में, शाल्य एवं चिकित्सा-विज्ञान में भारत की असाधारण उन्नति का उल्लेख करते हुए, जो उस काल में हुई थी जिस समय यूरोपीय सभ्यता यूनान में अपनी शैशवावस्था में ज्ञान के प्रकाश के लिए इधर-उधर भटक रही थी, कहा है कि "यदि हमे शाल्य-विज्ञान में भारत की इतनी देन मिली तो चिकित्सा-विज्ञान में हमें उस महान् उर्वर देश से, जो वानस्पतिक द्रव्यों का आदर्ग विश्वकोश है, क्या नहीं पास हो सकता? प्राचीन भारतीयों का द्रव्य-गुण-शास्त्र ( *Materia Medica* ) आश्चर्यजनक है जिससे यूनानी और रोमन लोगों ने मुक्त स्प से सभी कुछ ग्रहण किया।"

### वर्तमान भारतीय भेषजों का विकास

**भारतीय आयुर्विज्ञान का ह्लास :**

तत्रों और सिद्धोंके काल के पश्चात् भारतीय आयुर्विज्ञान की ज्योति शीघ्र ही धुंधली और मन्द पड़ गयी। भारत पर यूनानियों, शकों और मुसलमानों के लगातार होने वाले

आक्रमण काल में किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई और भारतीय आयुर्विज्ञान का हास धीरे-धीरे आरम्भ हो गया। इन आक्रमणों के कारण जो अराजकता और अशान्ति फैली उसके फलस्वरूप तत्कालीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में से अधिकांश छिन्न-भिन्न या लुप्त हो गये और सर्वत्र पतन के चिह्न दृष्टिशोचर होने लगे। आयुर्विज्ञान की विभिन्न ग्राहाएँ पुजारियों और पुरोहितों के हाथों में चली गयी और भेपज और बूटियों के स्थान पर तथ्र-मन्त्र के प्रयोग होने लगे। स्वयं चिकित्सकवृन्द ग्राहणों की, जिनका ज्ञान-विज्ञान पर प्रमुख अधिकार था, एक उपजाति बन गये। उनमें से एक बड़ा वर्ग सोचने लगा कि आयुर्विज्ञान, विशेषकर शल्य-विज्ञान का अध्ययन और अभ्यास, दूषित और भ्रष्ट करनेवाला है। मृत शरीर का स्पर्श अपवित्र समझा जाने लगा। अत शवच्छेदन ( dissection ) बन्द हो जाने से शारीरीय ( anatomical ) एवं शल्य-ज्ञान का स्वाभाविक रूप से हास होने लगा। बुद्ध-प्रतिपादित अहिंसा का भी व्यापक प्रभाव इम दिग्गा में पड़ा। यद्यपि बुद्ध-काल में शल्य-विज्ञान का हास प्रचुर परिमाण में हुआ किर भी चिकित्साविज्ञान में पुन तीव्र प्रगति हुई। इसी काल में अनेकों बहुमूल्य वानस्पतिक औषधियों का समावेश भारतीय निघटुओं में किया गया जो पहले से ही सुसम्पन्न और समृद्ध थे तथा इन औषधियों की विधिपूर्वक कृपि और अध्ययन आरम्भ किया गया। बौद्धधर्म की अवनति के साथ-ही-साथ शल्य और चिकित्साविज्ञान के अनुशीलन, शिक्षा एवं वृत्ति में चतुर्दिक पतन आरम्भ हो गया और मुसलमानों के आक्रमण काल तक पतन को यह प्रक्रिया और भी बढ़ गयी।

मुस्लिम विजेताओं के आगमन के साथ-ही अवनति की गति तीव्रतर हो गयी। ये आक्रमक अपनी चिकित्सा-प्रणाली भी साथ ले आये जो उस समय के लिए पर्याप्त उन्नत दशा में थीं और जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया तो प्राचीन भारतीय या आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणालों की अत्यन्त उपेक्षा की गयी। इस प्रकार अरबों की चिकित्सापद्धति इस देश में आयी और राजकीय चिकित्सा-प्रणाली बन गयी। रॅयन कालेज ऑफ फिजीशियन्स के समक्ष जो भापण प्राच्यापक ज्ञातन वे हिंदा था उसमें उन्होंने यह बतलाया था कि इसा की प्रारम्भिक शताव्दियों में अरबों का आयुर्विज्ञान यूनानी आयुर्विज्ञान से कितना अधिक प्रभावित था। यद्यपि रसायनज्ञों की प्रमुख खोज का विषय इस समय पारस्पर पत्थर और अमृत तत्त्व ( Elixir of life ) था, किर भी उन्होंने कई मौलिक आविष्कार किये। इनमें से अनेक खोजों का श्रेय अरब लोगों को है जैसा कि ऐल्कोहॉल, अलेम्बिक आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट हैं जो अभी भी प्रचलित हैं। निसदेह अरब लोगों की वैज्ञानिक देन जिसे उन्होंने यूनानियों

से प्राप्त किया, रसायन और द्रव्य-गुण-शास्त्र के क्षेत्र में सबसे अधिक है। लेक्लर्क ( Leclerc ) ने अपने ग्रन्थ 'Histoire de la Medicine Arabe' में उल्लेख किया है कि अरबों के मिस्र पर विजय प्राप्त करने के एक शताब्दी पूर्व से ही यूनानी आयुर्विज्ञान को आत्मसात करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। अरब आयुर्विज्ञान पर फारस के जुण्डी शापर स्कूल ( Jundi-Shapor School ) का भी प्रभाव पड़ा, जो फारस में ५वीं शताब्दी में उन्नत दशा में था। इसका प्रमाण विशेष-कर अरब लोगों के द्रव्यगुणशास्त्र में उल्लिखित भेपजों की कतिपय नामावलियों में पाया जाता है जिनकी व्युत्पत्ति फारसी भाषा के शब्दों से है। आठवीं शताब्दी के मध्य काल में जिस समय बगदाद नगर की नवीन नीव डाली गयी थी, मुसलिम जगत् में प्राचीन ज्ञान की धारा प्रवाहित होने लगी और उसे अरबी वेशभूषा में पुनः सुसज्जित किया जाने लगा। इस प्रकार इस देश में मुसलिम चिकित्सा-प्रणाली अपने साथ-साथ औषधिविज्ञान का एक समृद्ध कोष भी लायी, जो इस देश को सर्वथा अज्ञात था।

### अरब तथा पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान का आगमन

अरबों या मुसलमानों की चिकित्सा-प्रणाली, जो पठानों और मुगलों के राज्यकाल में प्रचलित थी, दुर्भाग्यवश इस देश में अधिक उन्नति महो कर सकी। मुगलों के पतन के साथ ही साथ इस चिकित्सा-प्रणाली का भी शोध ही ह्रास हो गया। प्राचीन भारतीय तथा अरबों की चिकित्सापद्धतियों में घनिष्ठ मम्पक जो कई शताब्दियों तक बना रहा उससे इनमें परस्पर यथेष्ट सम्मिश्रण हुआ और प्रत्येक ने दूसरे के द्रव्यगुण-शास्त्र का समुचित उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि दोनों पद्धतियाँ अवनति दशा को प्राप्त हुई थीं फिर भी इनका सयुक्त द्रव्यगुणशास्त्र अत्यन्त समृद्ध बना रहा। यूरोपवासियों के आगमन के साथ-साथ—सर्वप्रथम पूर्तगालवासी, फिर फ्रान्सीसी और अन्त में अँग्रेजों के आने पर—इन चिकित्सापद्धतियों की अवनति और भी तीव्र हो गयी।

जब अँग्रेजों राज्य की स्थापना हुई तो पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का प्रवेश इस देश में हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य था इस देश के शासकों का रोग-शमन। उस समय किसी समुचित चिकित्सापद्धति का व्यवहार सर्वसाधारण में न होने के कारण, इस नवीन पाश्चात्य पद्धति का प्रवेश साधारण जनता में हुआ और इसका स्वागत किया गया। इसकी प्रशसा और सांग समूचे देश में फैल गयी, विजेत्कर इसकी शाल्य-क्रिया सम्बन्धी सफलताओं की ओर जन-रुचि बहुत बढ़ गयी और इनसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए। पाश्चात्य चिकित्सापद्धति अपने साथ-साथ अपने द्रव्यगुणशास्त्र को

भी लायी। इसमें देशीय चिकित्सापद्धतियों का सम्मिश्रण हुआ और देश में अनेक नयी वनस्पति औपचियों का भमावेश हो गया।

भारतीय औपचियों के विकास की यह सक्षिप्त कथा है। इन तीनों चिकित्सा-पद्धतियों में प्रयुक्त औपचियों को 'भारतीय औपचियों' की सज्जा दी गयी है, जिनसे सम्प्रति हमारा सम्बन्ध है।

—o—

(३)

### देशीय चिकित्सापद्धतियों के पुनरुत्थान के प्रयत्न

प्राच्य विद्या में अभिरुचि रखने वाले अनेक विद्वानों ने भारतीय चिकित्सापद्धतियों को ज्ञान का समृद्ध आगार कहा है जिससे अनेक उपयोगी चीजें ढूँढ निकाली जा सकती हैं। कहा गया है कि भारतीय आर्योवज्ञान निरोक्षण तथा प्रयोग, सामान्यानुमान तथा विशेषानुमान (Induction and deduction) द्वारा प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन के लिए और उसके आधार पर एक तर्क-संगत चिकित्सापद्धति के निर्माण के लिए वैज्ञानिक चेतना से अनुप्राणित हुआ था। दूसरी ओर विरोधी विचार धाराओं का भी अभाव नहीं है जिनके अनुसार उन प्राचीन पद्धतियों के अध्ययन से कोई लाभ नहीं, जो विज्ञान की अपेक्षा मुख्यतः अनुभव पर आधारित है। परन्तु इस विचार का कोई तर्क-संगत आधार नहीं है। उम पद्धति को जो इतनी लम्बी अवधि तक काल की विनाश लीलाओं से बचती चली आ रही है, अवैज्ञानिक कह कर तिलाजिल नहीं दी जा सकती। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के लोक स्वास्थ्य सेवा विभाग के भूतपूर्व महाशत्य चिकित्सक डा० ह्यूग एस० क्यूमिंग का विचार इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि किसी भी चिकित्सापद्धति अथवा किसी भी प्राचीन प्रथा या रुदि की, जो कई पीढ़ियों तक जनता द्वारा अपना ली गयी हो, लोक प्रियता के मूल में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य है, भले ही उसका समर्थन आधुनिक विज्ञान द्वारा न्यून मात्रा में होता हो। उनके कथनानुसार शिकार में मारे हुए जानवर के मास का बैंडवारा करते समय, अमेरिका के रेड इण्डियन शिकारी सदा उसके यकृत को और श्वेताग पुरुष उसके मास को लेना प्रसन्न करता था। इस तथ्य को अमेरिका के इण्डियनों की अनभिज्ञता एवं उनकी अल्प विकसित सभ्यता के प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता था, परन्तु यकृत की प्रचुर पोषण शक्ति को अब मान्यता प्राप्त हो गयी है और रक्तक्षीणता के उपचार में उसका महत्व सुनिश्चित हो गया है। इन सब तर्थों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन पद्धतियों को बिल्कुल अनुपयोगी और निष्प्रयोज्य

ठहराकर सर्वथा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, वरन् वे अनुसंधान और छानबीन के लिए उपयुक्त विषय हैं।

कुछ समय से भारतवासियों के हृदय में इन प्राचीन पद्धतियों में गवेषणा और अनुसंधान के लिए स्पष्ट स्वप्न से चेतना जागृत हो गयी है। देश के अनेक भागों में इन प्राच्य चिकित्सापद्धतियों के पुनरुत्थान के लिए भारतीयों की बलवती इच्छा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। इसके परिणाम स्वरूप जनता तथा चिकित्सकों ने रोगों के उपचार के लिए देशीय औषधियों के व्यवहार के प्रति पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। वस्तुत यह तर्क उपस्थित किया गया है कि आर्थिक दृष्टि से सस्ती होने के साथ ही ये औषधियाँ देश की जलवायु तथा यहाँ के निवासियों की प्रकृति के अधिक अनुकूल हैं। भारतीय संघ के विभिन्न प्रान्तीय विद्यान मण्डलों में देशीय चिकित्सापद्धतियों के पुनर्जीवीकरण और विकास पर पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका है। यह भी तर्क दिया गया है कि आज भी इस विशाल देश की २० प्रतिशत से अधिक जनता को पाठ्यात्मक चिकित्सा नहीं सुलभ हो पा रही है और शेष लोग प्राच्य चिकित्सापद्धति पर ही किसी-न-किसी रूप में अवलम्बित हैं। यह बात सम्बद्ध अधिकारियों द्वारा भी मान ली गयी है। एक बार लार्ड हार्डिंग ने अपने भाषण में कहा था, “जब में इस बात का स्मरण करता हूँ कि भारत सरकार द्वारा दी जाने वाली ऐलोपैथिक चिकित्सा का लाभ यहाँ की करोड़ों जनता को नहीं मिल पाता है, और जो लोग योग्य डाक्टरों की सलाह और सहायता पाने में समर्थ भी हैं, उनमें से अधिकांश लोग देशीय चिकित्सापद्धतियों और औषधियों को ही पसन्द करते हैं, तब मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि चिकित्सा विज्ञान की इस शाखा के विकास तथा उत्कर्ष की किसी योजना को हतोत्सहित करना एक भूल होगा।”

इन ( देशीय ) चिकित्सापद्धतियों के पूर्ण उत्थान एवं विकास में पर्याप्त कठिनाईयाँ हैं जिन्हें इन पद्धतियों के विद्वान् समर्थकों ने भी स्वीकार किया है। आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति पन्द्रह सौ वर्षों से प्राय प्रगतिहीन रही है और ससार की प्रगति के साथ इसके ज्ञान में अभिवृद्धि का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसी परिस्थिति में दो हजार वर्ष के पुराने सिद्धान्तों का आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति के साथ समन्वय स्थापित करने में किसी को भी कठिनाई होगी, भले ही वे पुराने सिद्धान्त कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न समझे जायें। आयुर्वेद के विद्यार्थियों को आधुनिक शरीर-क्षिणविज्ञान, जीवाणुविज्ञान, विज्ञतिविज्ञान इत्यादि की जिक्षा देने के बाद उनसे कफ, पित्त और वायु के सिद्धान्तों पर चलने को कहना और इन सिद्धान्तों के आधार पर व्याधि के कारण को समझाना लाभप्रद नहीं होगा। सम्भवत उनको इसमें विश्वास

नहीं होगा और उनके मन में विभ्रम और मतभेद पैदा होगा। इस चिकित्सापद्धति के आदीन प्रशिक्षित विद्यार्थी भ्रमब्रन दोनों प्रणालियों में से किसी में भी दक्ष न होगे। यही बात यूनानी चिकित्सापद्धति के सम्बन्ध में भी लागू होती है। अत आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सापद्धतियों को इनके वर्तमान रूप में पुनर्जीवित करने के प्रयासों का असफल होना अवश्यम्भावी है।

—○—

(४)

### भारतीय भेषजों पर अनुसंधान की आवश्यकता

यद्यपि हमारा उद्देश्य यहाँ पर इन चिकित्सा पद्धतियों के पुनर्जीवित की उपयुक्ता के सम्बन्ध में विचार करना नहीं है, तथापि इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वहुस्थायक भेषजों में से जिनका उपयोग कविराज और हकीम शताव्दियों से करते चले आये हैं और आज भी करते हैं, कई ऐसे हैं जिन्हे उनकी निरोग क्षमता के कारण स्थाति मिली है। इतिहास से पता लगता है कि हमारे मान्य भेषजकोश में उल्लिखित अनेक ऐसे महत्वपूर्ण भेषज हैं जिनका उपयोग हम किसी न किसी रूप में उस समय से करते चले आये हैं जब पादचात्य चिकित्सा प्रणाली में उनका प्रब्रेश तक नहीं था, और न जिनके सम्बन्ध में कोई विज्ञान सम्मत शोध कार्य ही हुआ था। साथ ही नि सन्देह रूप से कई ऐसे भेषज भी पाये जाते हैं जिनका चैरिटिसक मूल्याकन ( Therapeutic value ) अत्यन्त अल्प है, पर उनका प्रयोग केवल इसलिए किया जाता रहा है कि उनका उल्लेख किसी पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ में किया गया है और किसी ने भी अब तक इन कथनों की सत्यता की जाँच के लिए कोई कट्ट नहीं किया है। अतएव यह आवश्यक है कि अच्छे भेषजों को अनुपयोगी भेषजों से अलग छाँट लिया जाय और उनके सम्बन्ध में क्रमब्रद्ध अनुसंधान किया जाय। आयुर्विज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है, उसके प्रत्येक विभाग में अनुभववाद का स्थान युक्ति-मागत अनुसंधान ले रहा है और यह बात और क्षेत्रों के मुकाबले में भेषज-गुणविज्ञान ( Pharmacology ) और चिकित्सा-शास्त्र ( Therapeutics ) में विशेष रूप से स्पष्ट है।

इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि सराका इण्डिका ( अशोक ) के सदृश भेषज अत्यार्त्तव ( menorrhagia ) में, या सिफैलैन्ड्रा इण्डिका ( तेलाकुचा ) मधुमेह में या बोएर्हीविया डिप्टूज़ा ( पुनर्नवा ) जलगोथ में बड़ा लाभ पहुँचता है, तब चिकित्सक वर्ग इस बात को स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि ये सब लक्षण और सकेत मात्र हैं, रोग नहीं। वास्तव में हम जानना तो यह चाहेगे कि विविध परिस्थितियों

में इनके क्या विशेष गुण हैं और ये किस प्रकार ऊतक को उनकी सामान्य स्थिति में ला सकते हैं। वैज्ञानिक मन के बल कथन मात्र से सतुर्प नहीं होता, चाहे वह किसी भी खोत से प्राप्त हुआ हो, जब तक कि उसकी सत्यता वी पुष्टि रोगी पर जाँच और प्रायोगिक परीक्षणों द्वारा न हो जाय, और यह है भावधानी के साथ अम-साध्य कार्य, जिसके लिए समय भी चाहिये और विस्तृत अध्ययन भी। उन सक्रिय तत्त्वों को जिनके कारण रोग दूर होते हैं, विलग करना पड़ता है और फिर उन पर अनुसंधान करना पड़ता है। किस तरह वे अपना कार्य करते हैं और किस प्रकार उनका शरीर के मुख्य अवयवों पर प्रभाव पड़ता है, यह भव जानवरों पर परीक्षण करके निश्चित करना पड़ता है। इसके पश्चात् यह प्रदूष प्रमुख रूप से सामने आता है कि किस विधि ने उनका उपयुक्त निर्माण एवं परिवर्तन किया जाय जिससे जलवायु और ऋतु-जन्य परिवर्तन का इनकी अवित पर कोई प्रभाव न पड़े। रासायनिक तथा जैविक विधियों द्वारा भेषजों तथा उनसे निर्मित औषधियों का मानकीकरण, शोध का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसके द्वारा चैकित्सक एकरूपता लायी जाती है, ताकि औषधि के प्रत्येक मात्रा के सक्रिय तत्त्वों में अन्तर न आ नके। कहना न होगा कि ऐसे अन्तर का होना अत्यन्त अवाक्षीणीय है और इनसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है, विशेष-कर जब शक्तिवान भेषजों का उपयोग किया जा रहा हो। ताजा रस और चवाय भले ही प्रभावी सिद्ध हो, पर समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए इनकी उपयोगिता अवश्यमेव सीमित हो जाती है। अतएव जब तक इन भेषजों के सम्बन्ध में युक्तियुक्त अनुसंधान न कर लिया जाय, चैकित्सकों द्वारा इनका उपयोग भारत में नियन्त्रित रूप से किया जाना चाहिये। जहाँ तक अन्य देशों का सम्बन्ध है जो इन परम्पराओं के कायल नहीं हैं, ऐसे भेषजों का उपयोग वे तभी करेंगे जब उन्हें इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध हो जायेंगे।

अत्यन्त परिवर्तित बातावरण में प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली को पूर्ण-हृषेण पुनर्जीवित करने की अपेक्षा, देशी भेषजों का भलीर्भाति अध्ययन करके उन्हे अपने देशवासियों के लिए वास्तविक रूप में उपयोगी बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। सक्रिय और उपयोगी भेषजों को निश्क्रिय और महत्वहीन भेषजों से विलग कर देना चाहिये और उन्हे इस देश के विशाल जन समुदाय के कट्ट निवारण और उपचार के काम में लाना चाहिये। हमारे देश में लोगों की आर्थिक स्थिति इतनी निम्न है कि वे पाश्चात्य प्रणाली द्वारा निर्मित मूल्यवान औषधियों को, जो विदेशों से यहाँ नियात होती है खरीदने में प्राय असमर्थ हैं। परिणाम यह होता है कि अधिकांश जनता या तो ऐसी औषधियों से लाभ नहीं उठा पाती, या फिर उन्हे बाजार में प्राप्त

चन अपरिष्कृत औषधियों पर निर्भर होना पड़ता है जिनमें से कुछ सक्रिय और कुछ चिकित्सीय गुणों से रहित होते हैं।

—○—

( ५ )

### भारतीय भेषजों पर अनुसंधान का महत्व

दूसरे प्रगति जा तकता है कि भारतीय भेषजों पर अनुसंधान का यथा महत्व है। इधर कुछ वर्षों के अन्दर रसायन ने द्रुत गति में उन्नति की है और सिलिंग रसायन के क्षेत्र में तो अनावारण प्रगति ही है। प्रांटोजुवाजनित व्याधियों के उपचार के लिए रसायनज्ञों ने बड़ी शक्तिशाली और प्रभावी औषधियों का नश्लेषण किया है, जैसे कि आमेनिकीय एवं मलेरियागेंधी यौगिक। जीवाणु-जनित रोगों के उपशामन के लिए उन्होंने सल्कोनामाइट वर्ग के यौगिकों का नश्लेषण किया है। प्रतिजीविक (Antibiotic) औषधियों ने जीवाणु-जनित एवं रिकेट्सिया-जनित (Rickettsial) रोगों के उपचार में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है और कई वाइरल रोगों में भी इनलाल उपयोग किया जा रहा है। कुछ ही नमय पूर्व जो रोग असाध्य माने जाते थे वे अब इन औषधियों की नहायता से सरलता पूर्वक दूर किये जा रहे हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रश्न यह उठता है कि यथा देशीय औषधियों के ऊपर अनुसंधान करने की कोई आवश्यकता है और क्या उससे कोई लाभ होगा? तथा इस प्रकार के ज्ययसाध्य और दीर्घकालिक शोष कार्य ने यथा कोई महत्पूर्ण फल की उपलब्धि हो सकेगी? इन प्रश्नों का उत्तर कुछ ही समय पूर्व व्यावहारिक चिकित्सा-विज्ञान की विन्ध्यात एवं प्रमुख पत्रिका "प्रेक्टिशनर" के १९५० ई० के दिसम्बर अंक के सम्पादकीय स्तम्भों में दिया गया है। "इण्डियन हर्डर्स" शोषक के अन्तर्गत उन्हें लिया है कि "वृद्धिमान एवं अनुभवी चिकित्सक वयो-वृद्ध गृहिणी की वातों का निरस्कार तथा तक कदापि नहीं करता, जब तक कि उसको ऐसा करने का पर्याप्त प्रमाण न मिले। लोक परम्परा पीढ़ियों नहीं, शताव्दियों के अनुभव के आधार पर निर्मित होती चली आयी है, तथा वह सामग्री जिन पर वह आधारित होती है मानव प्राण के ऐसे मूल्य पर प्राप्त की गयी है जिसकी कत्पना आवृत्तिक अन्वेषक स्वप्न में भी नहीं कर सकता। इस समय समार में भेषज निर्माण करने वाली कम्पनियाँ निरतर नई नई सिलिंग औषधियों का उत्पादन कर रही हैं। यही उपयुक्त समय है जब कि एतदेशीय तथा अन्य देशीय जड़ी वृष्टियों से उपलब्ध होने वाली सम्भाव्य औषधियों की ओर ध्यान दिया जाय। इस प्रकार के अन्वेषण के चार सफल उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। पूर्वी

भूमध्य सागरीय देशों तथा अरब में स्थानीय चिकित्सक वर्ग अम्मी विस्नागा (*Ammanisnaga*) नामक पादप के सूखे बीजों का व्याय, भूत्रल के रूप में एवं वृक्कगूल में शामक के रूप में बहुधा देते हैं। काहिरा में जो वी ऐन्रेप तथा उनके सहयोगियों के अन्वेषण से पता चला है (*Brit Heart J* 1946, 8, 171) कि इन दीजो में खेलिन (*Khellin*) नामक एक सक्रिय तरंव है जिसे उन्होंने प्रभावी वाहिकाविस्फारक (*Vasodilator*) पाया तथा जिसकी विशिष्ट क्रिया हृद्दगत घमनियों पर होती है। बाद में रोगियों पर परीक्षण द्वारा हृदगूल (*Angina pectoris*) की चिकित्सा में खेलिन की उपयोगिता सिद्ध हुई। प्राचीन काल से सर्पगन्धा (*Rauwolfia serpentina*) नाम के देशीय पौधों के मूल का विस्तृत प्रयोग भारत वर्ष और मलाया में सर्पदंश तथा कोट्टदंश के उपचार के लिए प्रतिविष (*antidote*) के रूप में होता रहा है। इन देशों में इसका उपयोग ज्वर शामक तथा गर्भाशय सकोचन की वृद्धि के लिए एवं शामक के रूप में भी होता रहा है। आर. जे वकील ने अन्वेषण करके इसे अतिरक्तदाव के उपचार के लिए, रक्तदाव कम करने में बड़ा उपयोगी पाया (*Brit. Heart J* 1949, 11, 350)।

“यक्षमा की प्रचलित रसायन चिकित्सा में भी देशीय बनस्पतियाँ लाभदायक सिद्ध हो रही हैं। उदाहरण स्वरूप, जापानी वैज्ञानिकों ने स्टेफैनिया सिफेरेन्था (*Stephania cephaelanthus*) नामक लता से एवं स्टेफैनिया ससाकी (*S. sasakii*) से जो विस्टेरिया (*Wisteria*) की तरह का पौधा है, सिफेरेन्थिन ऐल्केलॉयड निकाला है जिसका जापान में यक्षमा की चिकित्सा तथा उसके रोधन (*Prophylaxis*) के लिए प्रयोग किया जा रहा है (*Jap. J Exp Med*, 1949, 20, 69)। चीनी वैज्ञानिक स्थानीय बनस्पतियों से यक्षमारोधक ऐसे अनेक तत्वों को निकालने के लिए अनुसधान कर रहे हैं, और वजिनिया वाग (*Virginia Wang*) ने कॉप्टिस चाइनेन्सिस (*Coptis chinensis*) के सत्त्व (*extract*) में यक्षमारोधक गुण विशेष रूप से पाया है (*Chinese Med J*, 1950, 68, 169), यह सक्रियता स्पष्टत इसके ऐल्केलॉयड वर्बेरिन सल्फेट में निहित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देशीय औषधियों के सूक्ष्म अध्ययन से बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करना अभी शेष रह गया है। इस सम्बन्ध में चीन, भारत और पाकिस्तान जैसे देश बहुत कुछ कर सकते हैं। पाश्चात्य देशों को चाहिये कि वे इन्हे इस सम्बन्ध में उत्साह प्रदान करते रहें। हम पाश्चात्यों ने पूर्व की प्राचीन स्कृति से बहुत कुछ सीखा है। क्या यह सम्भव नहीं है कि पूर्व एक अन्य क्षेत्र अर्थात् चिकित्सा के क्षेत्र में भी, अभी मूल्यवान योग दान दे ?”

मा ह्वांग (Ma Huang) नामक चीनी भेपज से उपलब्ध एफेड्रिन का जब से पता चला है, तब से चीन के औपधनियों (मैटोरिया मेडिका) की ओर पाश्चात्य वैज्ञानिकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। साथ ही चीनी वैज्ञानिकों ने भी इस ओर जतना ही ध्यान दिया है जैसा कि इस देश में देशीय भेपजों के अनुसधान की ओर दिया जा रहा है। पर्याप्त और शाधार्द में इस प्रकार के अध्ययन के लिए दो स्कूल हैं जो उन अनेक चीनी भेपजों का वैज्ञानिक मूल्याकान करने में सलग्न हैं जिनमें चिकित्सीय गुणों की सम्भावना है। थोटोकिन और चर्क<sup>१</sup> के अनुसार चागशान नामक भेपज प्रायः जतना ही मलेरियारोधी सिद्ध हुआ है जितना कि कुनैन। द्वितीय युद्ध के समय जब चीन का सासार के अन्य देशों से सम्पर्क टूट गया था, तब इसी औपधि का वहाँ पर्याप्त तकलीत के साथ प्रयोग किया गया था।

अम्मी विस्तारा (Amni vis'ṭāra) से मिलते-जुलते एक अन्य भेपज, अम्मी मेजस (Amni majas) के फल का उपयोग ल्यूकोडर्मा (एकेतकुछ) के उपचार में मिल में वहूत काल से होता चला आया है। अनुसधान से यह ज्ञात हुआ है कि इस भेपज के सत्त्व को खाने और उसके पश्चात् इवेत दाग वाले अगों को धूप में खुला रखने से इवेत दाग मिट जाते हैं। इस भेपज से अमौयडिन नामक एक सक्रिय क्रिस्टलीय पदार्थ भी निकाला गया है।

रुटिन (Rutin) नामक ग्लाइकोसाइड जिसको सर्वप्रथम रुटा ग्रेवियोलेन्स (Ruta graveolens) से प्राप्त किया गया था, ४० विभिन्न जाति की वनस्पतियों में पाया गया है। इन वनस्पतियों में बुद्ध (Buckwheat), तम्हाकू, एल्डर और फॉर्सिथिया (Forsythia) भी शामिल हैं। सन् १९४२ तक तो यह प्रयोगशाला की ही अनुसधान की वस्तु थी, परन्तु अब इसका अधिकाधिक प्रयोग केशिकाओं की भगुरता की चिकित्सा में होने लगा है। अभी हाल ही में भेपज-गुण विज्ञानियों के एक दल को अचानक ही इस वात का पता लगा कि रुटिन का महत्वपूर्ण उपयोग परमाणवीय विकिरण से होने वाले उत्तरवर्ती दुष्प्रभावों को दूर करने में भी किया जा सकता है।<sup>२</sup> ऐसे कई और अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

सश्लेष्यात्मक प्रक्रियाओं के लिए रसायनज्ञ की उच्चतम ताप और दबाव की आवश्यकता पड़ती है, पर प्रकृति द्वारा वनस्पतियों में ये कियाएँ साधारण ताप-मान

(1) Tonkin and Work, 'A New Antimalarial Drug,' *Nature*  
Lond 1945, 156, 630

(2) Knowlton, et al, *Jour Am Med Assoc*, 1949, 141, 239.

और दवाव की अवस्थाओं में सम्पादित होती रहती है। रसायनज्ञ कुनैन जैसे ऐल्कोलॉयड को अर्द्ध शताब्दी से अधिक परिश्रम करके सिलिष्ट कर पाये, जब कि सिनकोना पादप डने विना किसी कठिनाई के प्रति दिन सश्लेषित करता रहता है। बनस्पतियों में तो अनेक सक्रिय एण्टिबायोटिक (Antibiotics) पाये जाते हैं, फिर भी अभी इस दिशा में और अधिक अनुसधान अपेक्षित है। चास्तव में हम अभी बनस्पतियों के विश्लेषण और अनुसंधान कार्य की देहली पर ही पहुँच पाये हैं। आगे चल कर क्या मिलने वाला है इसे प्रकृति को छोड़कर कोई नहीं जानता। अतएव इन भेपजों के सम्बन्ध में अनुसधान कार्य लोक-कल्याण को भावना से चलते ही रहना चाहिए। ग्रेट निटेन, स्टिटजर लैण्ड, और अमेरिका में भी भारतीय भेपजो पर अध्ययन कार्य उनके अनेक अनुसधान केन्द्रों में जोरो से चल रहा है।

### ज्ञात देशीय भेपजो का पुनरनुसधान।

इस कार्य का दूसरा पहलू सुविदित वानस्पतिक भेपजों पर पुनरनुसधान करना है। यद्यपि इनमें से कई भेपजों के विषय में जानकारी पहले से प्राप्त है, पर अभी तक इनके सम्बन्ध में अन्तिम वात कहना शोप ही है। यह तथ्य बहुत दिनों से ज्ञात है कि पोडोफिलम (*Podophyllum*) और उसका रेजिन इलेज्म-कला पर और त्वचा पर भी क्षोभ पैदा करते हैं। संभवत इसी तथ्य को जानकारी के कारण पोडोफिलम रेजिन का प्रयोग मसा और कॉन्डिलोमेटा (*Condylomata*) को विनष्ट करने में किया जाने लगा। खनिज तेल में इस रेजिन का २५ प्रतिशत निलम्बन तैयार करके रति रोग जन्य मसो पर लगाने से सफल परिणाम मिले हैं। यह अनुसन्धान अमेरिकी पोडोफिलम *pelatum* (*Podophyllum peltatum*) पर किया गया था, किन्तु भारतीय पोडोफिलम हेक्सेण्ड्रम (*P. hexandrum*) में अमेरिकी पोडोफिलम की अपेक्षा रेजिन और पोडोफिलोटॉक्सिन (*Podophyllotoxin*) ज्यादा है, पर अल्फा और बीटा पेल्टेटिन की विद्यमानता की सम्पुष्टि नहीं की जा सकी है।<sup>३</sup>

दूसरा वैज्ञानिकों ने अभी हाल में बताया है कि आमाशय-न्ऱणों पर मुलेनी (*Liquorice*) के सत्व का प्रभाव लाभकारी सिद्ध हुआ है। उन्होंने यह भी कहा है कि चिकित्सा के दौरान करीब २० प्रतिशत रोगियों को हृदजन्यश्वास (*Cardiac asthma*) हो गया और अनुसधान करने पर यह भी पता लगा कि इसके सत्त्व

( 3 ) Mukerji, B., Indigenous Drugs Research—Present and Future, I C M R., 1953.

को खाने से वही असर होता है जो डिओॉक्सीकॉर्टोन ( deoxycortone ) के इन्जेक्शन का होता है, जिसके परिणाम स्वरूप सोडियम तो शरीर के अन्दर बना रहता है किन्तु पोटाशियम निकल जाता है। वे बताते हैं कि ऐडिसन व्याधि ( Addison's disease ) में इसके सत्व के सेवन से लाभकारी प्रभाव होता है। मुलेठी के संघटकों में ग्लिसरेटिक अम्ल भी हैं जो पॉलीटर्पीन हैं जिसका संचारना सूत्र साइक्लोपेन्टैनोफिनैथ्रिन स्टिरॉयड से आश्चर्यजनक साम्य रखता है।

डिजिटैलिस पर किये जाने वाले अभी हाल के अध्ययन से एक और ध्यान देने योग्य बात यह सामने आयी है कि इसके हृदयिक ( Cardiotoxic ) गुणों की अपेक्षा, इसके हृदवल्य ( Cardiotonic ) गुणोंको अधिक महत्व दिया गया है, और डिजिकोरिन ( Digitalinum ) नामक एक नये ग्लाइकोसाइड का पता लगा है। इस ग्लाइकोसाइड में विषालुता ( Toxicity ) न्यून है और इसके सम्बन्ध में यह दावा किया गया है कि इसमें डिजिटैलिस के उपचारी गुण वर्तमान हैं जबकि अन्य ग्लाइकोसाइड का जो इससे अधिक विष्वात हैं हृदय पर विषाक्त प्रभाव पड़ता है। डिजिकोरिन डिजिटैलिस पुरपुरिया ( *D. purpurea* ) तथा डिजिटैलिस लैनेटा ( *D. lanata* ) की पत्तियों से निकाला जाता है।

"विरेचक औषधियों में ऐन्थ्राकिनोन ( Anthraquinone ) वर्ग के ऊपर जो हाल में अनुसन्धान कार्य हुआ है, उससे इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है कि अपरिष्कृत भेषजों में ये ऐन्थ्राकिनोन किस रूप में वर्तमान है। इनके रसायनिक एवं जैविक आमापन की जो सन्तोषपूर्ण विधियाँ विकसित हुई हैं, उनसे पता चलता है कि ऐन्थ्रैनॉल ग्लाइकोसाइड के रूप में ऐन्थ्रैसिन घुत्पन्ना ( Anthracene derivatives ) बहुत ही सक्रिय होते हैं, पर मुक्त ऐन्थ्रैनॉल के रूप में कम और मुक्त ऐन्थ्राकिनोन के रूप में और भी कम सक्रिय होते हैं। इन्हीं दिशाओं में जो अनु-सन्धान सनाय, रेवदचीनी ( Rhubarb ), कैस्कारा ( Cascara ) और ऐलो ( Aloes ) पर किये गये हैं उनसे इन भेषजों में पाये जाने वाले सक्रिय सघटकों ( Ingredients ) के रूप का ठीक ठीक पता चलता है। अब इससे चिकित्सा के लिए शक्तिशाली और स्थायी औषधियाँ तैयार की जा सकती हैं जो पहले सम्भव नहीं था।"

"अमेरिकी विरेट्रम, विरेट्रम विरडी ( *Veratrum viride* ) पर हाल में जो अनु-सन्धान कार्य हुआ है उससे पता लगा है कि अतिरक्तदाव ( Hypertension ) की चिकित्सा के लिए यह बड़ा उपयोगी है और यह बहुत सम्भव है कि यूरोपीय विरेट्रम या श्वेत हेलीबोर ( White Hellebore ) को क्रिया भी उसी प्रकार की होती हो।

विरेट्रम की जटिल रसायनिक संरचना के कारण जन्मुओं तथा रोगियों में इसके गुणों का मूल्याकान करने में वडी वादा पड़ी है। अब तक १५ ऐल्कोलॉयड पाये जाने की सूचना मिल चुकी है और इनपर कुछ अनुसन्धान कार्य भी किया जा चुका है। आगे अनुसन्धान करने से सम्भव है कि इनके स्वरूप और गुण-कर्म के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश पड़े।”

“पर्णहरिम व्युत्पन्नो (Chlorophyll derivatives) के दुर्गन्धहारी गुणों के सम्बन्ध में जो अनुकूल सूचनाएँ मिली हैं उनके बारे में कोई निष्पक्ष राय बताना कठिन है, क्योंकि प्रकृति के सम्बन्ध से उपलब्ध इस आश्चर्यजनक पदार्थ के बारे में व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के बड़े-बड़े दावे आरहे हैं। जो भी हो, विश्वसनीय अनुसन्धान कार्यकर्त्ताओं द्वारा जो निष्कर्ष निकले हैं उसमें इस बात पर आश्चर्यजनक साम्य है कि पर्णहरिम व्युत्पन्नों में दुर्गन्धहारी गुण वर्तमान हैं, और युद्धजन्य वृणों को भरने में बड़े प्रभावी हैं।”

भारतीय भेषजों के अनुसन्धान के बारे में उपर्युक्त प्रकार की विचारधारा चल रही है। उपरोक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कि व्याविग्रस्त मानवता के कल्याण के लिए वनस्पतियों पर अनुसन्धान का खेत्र किसी विस्तृत होता जा रहा है।

( ६ )

### देशीय भेषजों के अनुसन्धान का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

हमने इसके पहले ही देशी भेषजों के उद्विकास का अनुरेखण, वैदिक काल से आद्यभक्त, भारत में पाश्चात्य औपचियों के प्रवेश पर्यन्त किया है। अब हम क्षण भर के लिए प्राचीन संस्कृत द्रव्य-गुण-शास्त्र पर जो अरब चिकित्सापद्धति के आगमन के पूर्व प्रचलित था, दृष्टिपात करेंगे। कुछ प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में वानस्पतिक भेषजों का वर्गीकरण किया गया है तथा १४ या १५ शताब्दी पूर्व के हिन्दू चिकित्सकों के द्वारा उन भेषजों के जिन अंग-उपागों का प्रयोग औपचियों में किया जाता था, इनका वर्णन उनमें किया गया है, उन ग्रन्थों का अध्ययन अत्यत सुन्दर है। ‘कल्पस्तानम्’ जैसे ग्रन्थ (सम्भवत् सहिताओं के ‘कल्प स्थान’-अनु०) में तो भेषजों और औषधीय वनस्पतियों का वर्गीकरण विस्तार पूर्वक किया गया है। उसमें इन वनस्पतियों का भिन्न-भिन्न शीर्षकों में विभाजन कर दिया गया है, जैसे कन्दिल मूल, शलकोय मूल, जडों की छाल, वृक्षों की छालें जिनमें विशेष प्रकार की गंध हो, पत्ते, फूल, बीज, नीक्षण तथा कपाय वनस्पति, क्षीरीणि

तथा वे पीधे जिनमें गोद और रेजिन पाये जाते हैं, इत्यादि। उसी ग्रन्थ में बानस्पतिक भूगोल, विभिन्न वनस्पतियों के उत्पत्ति स्थान तथा उनको जलवायु, बानस्पतिक भेषजों के लिए उपयुक्त भूमि तथा संग्रह काल, उनके गुणवर्णों की अवधि, सरक्षण विधि तथा चिकित्सन प्रकार के माप तौल जो भेषजी में प्रयुक्त होते हैं, इत्यादि का अति प्राचीन वर्णन मिलता है। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि दोषकाल के प्रथम चरण में चिकित्सकों की, भेषज और जड़ी वृटियों सवारी माग पूरी करने के लिए इन सबके बाग बगीचे लगाये जाते थे। हन ग्रन्थों में भेषजों के दक्ष प्रयोग (manipulation) के विस्तृत निर्देश दिये गये हैं और उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो वर्तमान प्रचलित विधियों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। इनमें प्रत्येक विचारणीय बातों की जानकारी दी गयी है जैसे भेषजों का संग्रह काल, इनके संग्रह योग्य भाग, इनसे औषधि निर्माण आदि। इनमें इन बातों की भी जानकारी दी गयी है कि एक वर्षोंय वनस्पतियों को बीज की परिपक्वावस्था से पूर्व संग्रह करना चाहिये और द्विवर्षीय को दसत में तथा त्रिवर्षीय को शारद में, टहनियों का संग्रह एक वर्ष का होने पर, मूलों का संग्रह शीतकाल में, पत्रों का ग्रीष्म में और छाल तथा काष्ठ का वर्षी में किया जाना चाहिये। कम से कम २६ प्रकार के कल्पों (preparations) का वर्णन मिलता है जैसे जल एवं क्षोर निमित्त व्याथ और फाट, भिरप, स्वरस, आसव, चूर्ण, सत्व, चिकित्सीय तंल तथा किण्वन-उत्पाद (fermentation products) आदि। यद्यपि पुरातन भारतीय चिकित्सकों को बानस्पतिक वृटियों का विस्तृत ज्ञान था और उनका इव्य गुण-शास्त्र भी वृहद् था, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने पर्वत और मैदानों की कुछ असाधारण शक्तिशाली सक्रिय तत्त्व वाली वृटियों को तो चुना, किन्तु कुछ वही पास पास पैदा होने वाली उतनी ही गुणकारी शक्तिशाली अन्य वृटियों को अछूता छोड़ दिया। उदाहरण स्वरूप वैलाडीना, एफेड्रा, आर्टिमीसिया आदि, जो हिमालय के अधिकाश भाग में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, किन्तु उनकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इन्हीं भेषजों में से कुछ को तो चीन और अरब के समकालीन चिकित्सकों द्वारा बड़ी सफलता के साथ उपयोग में लाया गया, पर भारतीय चिकित्सकों ने इनका उपयोग क्यों नहीं किया, यह समझना कठिन है। अवनति काल के आरभ हो जाने पर नये भेषजों की ओर उनकी वहूत कम रुचि रही। आयुर्वेद तथा तत्सम अन्य ग्रन्थों में निहित ज्ञान अपीरपेय समझा जाने लगा और उसकी अभिवृद्धि मानवीय बुद्धि के लिए आगम्य समझी जाने लगी। परिणामस्वरूप तत्कालीन ज्ञान १५ शताब्दियों तक न केवल प्रगतिहीन बना रहा वल्कि धीरे-धीरे वहूत कुछ लुप्त हो गया।

मुसलमानों के आठवीं और नवीं शताब्दी के चिकित्सा विषयक ज्ञान का हम उल्लेख

कर चुके हैं। एडोल्फ फोनान (Adolf Fonahn) ने अपनी 'Zur Quellenkunde der Persischen Medizin' नामक पुस्तक में ४०० फारसी पुस्तकों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ ही का प्रकाशन हुआ है जिनका पूर्णत वा अशात् सम्बन्ध चिकित्सा से रहा है। इनमें से दो पुस्तकों विस्तार हैं—एक अबू मसूर मुवफ़क की मैटेरियामेडिका जो ९५० ई० में रची गयी तथा दूसरी जिसिराये खारिजमशाही ('Dhalhira-i-khworazmshahi') जिसमें एक चिकित्सा-पद्धति का वर्णन किया गया है और जो बारहवीं शताब्दी में लिखी गयी। इन पुस्तकों में द्रव्य-गुण-शास्त्र का तीन भागों में विभाजन किया गया है। पहला जिसमें प्राणीय उत्पादों का वर्णन है, दूसरा जिसमें साधारण वानस्पतिक द्रव्यों का वर्णन है और तीसरा जिसमें योगों का वर्णन है। इनमें से कुछ पुस्तकों में उन औषधियों का उल्लेख किया गया है जो शल्य क्रिया में सबेदना-हरण का कार्य करती है। 'शाहनामा' नामक ग्रन्थ में जिसकी रचना ११ वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में हुई थी, भिजैरियन शल्य क्रिया का जिक्र मिलता है जो रस्तम की मा ददावा के ऊपर की गयी थी, उसमें सबेदनाहरण के लिए मद का प्रयोग किया गया था। इस तरह अरबी चिकित्सापद्धति अपने साथ एक समृद्ध द्रव्य-गुण-शास्त्र (मैटेरिया मेडिका) लायी और उसके हिमायतियों ने देशी भेषजों की ओर बहुत कम ध्यान दिया। पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का आगमन होने पर प्राच्य विद्वानों की गवेषणात्मक वुद्धि ने भारत के औषधीय पादपों के रहस्यों का छानबीन करना शुरू किया।

भारतीय भेषजों का अध्ययन सर्वप्रथम गत शताब्दी के पूर्वार्ध में शुरू हुआ। उस समय यह कार्य विभिन्न औषधीय पादपों के सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी को संग्रहीत करने तक ही सीमित था। इस दिशा में सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने लेख लिखे। उन्होंने 'बोटैनिकल ऑवर्जर्वेशन्स ऑन सिलेक्ट प्लैन्ट्स' शीर्षक से एक विवरण ग्रन्थ लिखा। इसके बाद १८१० ई० में जान फ्लैमिंग ने 'कैटेलग ऑफ इन्डियन मेडिसिनल प्लैन्ट्स ऐण्ड ड्रग्स', १८१३ में एनस्लोज (Ainslies) ने 'मैटिरिया मेडिका ऑफ हिन्दुस्तान' तथा १८७४ में रॉक्स वर्ग ने 'फ्लोरा इन्डिका' नामक पुस्तकों की रचना की। वालिच, रॉयल और बाद में मुवा तथा मैकनामारा (Mouat and Macnamara) ने इस देश की विस्तृत वनस्पति सामग्री के सम्बन्ध में व्याप्त अव्यवस्था को कुछ हद तक दूर कर वैज्ञानिक ढंग से इस दिशा में बहुत कुछ कार्य किया। इसके बाद १८४१ में गो 'शाउघेसी (O'Shaughnessy) द्वारा 'दो बगाल डिस्पेन्सेटरी ऐण्ड फार्माकोपिया' का निर्माण हुआ जो अपने ढंग की पहली पुस्तक थी, जिसमें बगाल में व्यवहृत वनस्पतियों के गुण और प्रयोग का वर्णन मिलता है। १८६८ में वारिंग

( Wacing ) के योग्य सपादन में 'फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इससे भारतीय भेषजों के महत्व निर्धारण और मूल्याकान की दिशा में एक नये युग का आरम्भ हुआ। अधिक महत्वपूर्ण भेषजों को राजकीय स्तर पर मान्यता दी गयी ताकि उन्हे ट्रिटिश फार्माकोपिया में शामिल किया जा सके। बहुत से भेषजों पर विशेषत जिनका स्थानीय उपयोग होता था, इस पुस्तक में कोई अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया गया। इसलिए अगले वर्ष मोहिदीन शेरीफ ने 'सालिमेन्ट टुदी फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया' नामक अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया जिससे श्री वार्सिंग की पुस्तक की उपयोगिता काफी बढ़ गयी। उसी लेखक के द्वारा 'मैटेरिया मेडिका ऑफ मद्रास' नामक पुस्तक लिखी गयी जिसका सपादन और प्रकाशन श्री हूपर ने लेखक की मृत्यु के बाद किया। इस पुस्तक में मद्रास प्रदेश में उत्पन्न होने वाले तथा प्रयोग में लाये जाने वाले भेषजों का वर्णन है। श्री यू० सी० दत्त द्वारा तैयार किये गये, सस्त डेटिरिया मेडिका के अनुवाद से हिन्दू दैद्यों द्वारा व्यवहृत होने वाले भेषजों को प्रमुखता मिली। फलुकिंगर और हेनबरी की 'फार्मेको-फ्रैफिया' दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक थी जिसमें देशीय औषध उत्पादों से सवध रखने वाली महत्वपूर्ण सामग्री का सकलन है। कुछ अन्य पुस्तकें जो अपेक्षाकृत नवीन हैं उनमें डाइमाक द्वारा रचित 'वेजिटेबुल मैटिरिया मेडिका ऑफ वेस्टर्न इण्डिया' नामक पुस्तक का प्रकाशन १८८३ में हुआ। उसके बाद ही भारतीय भेषजों पर एक व्यापक ग्रन्थ 'फार्मेकोग्राफिया इण्डिका' नाम से १८९०-९३ में डाइमाक, वार्डेन तथा हूपर के सम्मुक्त सपादन में प्रकाशित हुआ। यह बहुत ही सावधानी से तैयार किया गया एक उपयोगी सकलन है, जिसमें पाश्चात्य एवं पूर्वीय देशों की चिकित्सापद्धति में व्यवहृत किये जाने वाले भारतीय औषधियों के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है। सर्वाधिक विस्तृत ग्रन्थ 'ए डिक्शनरी ऑफ दी इकॉनॉमिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया' है जिसका प्रकाशन १८८९-१९०४ की अवधि में हुआ। इसके रचयिता सर जार्ज वाट भारत सरकार के इकॉनॉमिक प्रॉडक्ट्स के रिपोर्टर थे। यह बृहद ग्रन्थ न केवल औपचार्य वनस्पति पर लिखे गये पूर्व के सभी ग्रन्थों का सारांश देता है, बल्कि इसका प्रत्येक पृष्ठ विभिन्न प्रकार के त्वक, मूल, पुष्प, पत्र तथा काष्ठ के उपयोग सवधी जानकारी से भरा है। अनेक भेषजों के कृपि के बारे में टिप्पणियाँ दी गयी हैं। उसमें यह भी वर्णित है कि आन्तरिक एवं नियर्ति व्यापार में इनका कितना आर्थिक महत्व है; यहाँ पैदा होने वाले भेषजों के गुण क्या हैं, देश के किस भाग में वे उत्पन्न होते हैं, और विभिन्न चिकित्सा अधिकारियों द्वारा किये गये रोगियों पर परीक्षणों का परिणाम उनके सम्बन्ध में क्या रहा, यह सब सावधानी से बताया गया है।

कन्हाई लाल डे की 'इण्डिजेनस ड्रग्स आँफ इण्डिया' तथा कीर्तिकार एवं बनु के 'इण्डियन मेडिनिनल प्लॉट्ट्स' नामक ग्रन्थों में, जो उसके बाद प्रकाशित हुए थे, अधिकाशत उपरोक्त ग्रन्थ का भाराश नकलित किया गया है। 'इण्डियन मेडिसिनल प्लॉट्ट्स' में अनेक महत्वपूर्ण औपधीय जड़ी-बूटियों के चित्र दिये गये हैं जिनसे अनुसंधानकर्ताओं को औपधीय वनस्पतियों का विभेद करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ के अलावा इस विषय पर इधर हाल में १९४६-५३ में एक अन्य बहुत व्यापक ग्रन्थ 'दि वेल्य आँफ इण्डिया' रचा गया है जिसका प्रकाशन 'कारन्सिल आफ साइण्टिफिक ऐण्ट इण्डिस्ट्रियल रिसर्च' के तत्त्वावधान में हो रहा है। यह पुस्तक वस्तुत १८८६-१९०४ में प्रकाशित 'ए छिगनरी आफ इकानामिक प्रॉडवट्स आँफ इण्डिया' का नया सक्करण है जिसमें अद्यतन सामग्री दे दी गयी है। यह करीब १० छण्डों में प्रकाशित किया जायगा। पहले ५ राण (अब तक ९ राण-अनु०) प्रकाशित हो चुके हैं और इसके सपादक मण्डल ने प्रशसनीय कार्य किया है। बहुत से भेषजों पर उपरोक्त तरीके से जो अनुसंधान किये गये हैं उनके परिणाम इन पुस्तकों में दिये गये हैं। इन तरह यह स्पष्ट है कि भारतीय भेषजों पर गवेषणा का कार्य अब समुचित वैज्ञानिक आधार पर चलने लगा है।

उपरोक्त साहित्य बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इसमें न केवल आयुर्वेदिक तथा तिब्बी भेषजों के बारे में जानकारी दी गयी है बल्कि उनके कुछ लेखकों के व्यक्तिगत निरोक्षणों और अनुभवों के परिणाम भी दिये गये हैं। इसमें नदेह नहीं कि भेषजों के वैज्ञानिक नामों के बारे में पर्याप्त अनुसंधान हुआ है, फिर भी बहुत से ऐसे भेषज हैं जिनके सबध में वानस्पतिक स्रोत तथा अन्य कई बातों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना शेष है। नये भेषजों का, जो पहले के अनुसंधानकर्ताओं की दृष्टि में नहीं आये, विस्तार पूर्वक समन्वेषण होना चाहिये। बाढ़न तथा हूपर ने अनेक महत्वपूर्ण भेषजों की रसायनिक सरचना के बारे में बहुत परिश्रम से अध्ययन किया है। "दि इण्डिजेनस ड्रग्स कमेटी" ने बहुत उपयोगी कार्य किया है। प्रयोग सिद्ध औपधियों के प्रामाणिक नमूने को प्राप्त करने, मानक औपधियों का निर्माण करने तथा देशभर की विभिन्न राजकीय संस्थाओं में उनके उपयोग को प्रोत्साहन देने का क्षेय इस कमेटी को है। इन प्रयोगों के अतिरिक्त बहुत से कार्यकर्ताओं ने समय-समय पर व्यक्तिगत रूप से कुछ भेषजों पर कार्य किया, और गवेषणा के आधुनिक तरीकों से उनका भेषजीय गुण-क्रम निर्धारित करने की कोशिश की, किन्तु इन कार्यकर्ताओं को, समुचित रूप से उपकरण-सम्पन्न प्रयोगशालाओं के अभाव के कारण बड़ी अड़चन रही। यद्यपि

ये सारे प्रबल प्रमाणनीय रहे हैं, किंतु भी अधिकाश भेदजो के गुण-कर्म की इनशें  
जरने का क्षेत्र प्राय लट्टूचा ही रहा है। इसका कारण जानना कठिन नहीं है। इस  
प्रयार के अनुसधान दावों के लिए पर्याप्त धनराशि की जावश्वरता ही नहीं है, जिसे  
उपकारण-न्यून रामायनिक तथा भेदज-गुण-विज्ञान सबथी प्रयोगशालाओं की स्वायता  
में लगाया जा सके। इनके अतिरिक्त वहमात्र रसायनशो तथा भेदज-  
गुणविज्ञो का होना अत्यन्त जावश्वर है। मन्त्रपति विकित्सा-शास्त्र या  
रसायन-शास्त्र ने घनिष्ठ निष्ठ दाव दावश्वरता दाव भेदज-विज्ञान  
मन्त्रवन्धी समस्याओं का अन्तिम समाधान नौनिक दा नामायनिक तथा  
पर आधृत रहता है। भेदजो के गुण कर्मत्वक अध्ययन में यह बात यहाँ  
जामने आती है। गदेपत्ता वार्ष में पर-पर यह रसायनशो दा सहयोग गितना  
जावश्वर है इसका अनुभव केवल अनुसधानकर्ताओं को ही मिल सकता है। यदि  
मन्त्रोपत्रिद परिणाम प्राप्त करने हैं तो निष्पात् रसायनशो दा रहयोग जावश्वर है।  
इनके अतिरिक्त केवल एक क्षोप्ति की रामायनिक सरचना निर्धारित करने में वहूत  
परिव्रक्त और समय देना पड़ता है। इस बात को इन सभ्य ने जाना जा सकता है कि  
एक कुशल रसायनशो को भी केवल एक अपरिष्कृत भेदज के विभिन्न रसायनिक  
पद्धतियों को दृढ़ स्पष्ट में लगाय फरने और उनकी रामायनिक रसना का पता  
लगाने में फर्दु महीनों का नमय नभवत एक दर्प या उससे अधिक लग पायगा। यदि  
रसायनशो ध्येय नारा समय केवल एक ही नक्षिय तर्ज पर लगा दे तो भी उसकी  
रामायनिक सरचना का विनिश्चयन करने में लगा लम्बा नमय लग जायगा। पर्याप्त  
सक्रिय तत्त्वों को अलग छाने और उनके भेदजीर्ण गुण-कर्म दा पता लगाने में वहूत  
महीने लग जायेंगे। देशीय निकित्सा-पद्धति में व्यवहृत नभी भेदजो पर अनुसधान  
करने का बाम किनना विश्वास है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इम दिशा में  
गवेषण का क्षेत्र इतना विस्तृत है और याम इतना फरम हुआ है कि किसी एक व्यक्ति  
या सरया के लिए इसको पर्याप्त स्पष्ट से पूरा करना अमर्भ है। इन राष्ट्र वातों की  
त्वाज के लिए वहमस्त्वयक वौधार, नद्भादी तथा निष्ठायान कार्यकर्ताओं के सहयोग और  
चाहचर्य की जावश्वरता है। विभिन्न विश्व विद्यालयों और मेडिशल कालेजों में भेदज  
गुणविज्ञान के प्राध्यापक की पीठ (Chair) न्यायित भी जानी चाहिए और गवेषणा  
कार्य के लिए सुविधाएं दी जानी चाहिए।

जो भी हो, स्थिति का मामना करना ही होगा। इन भेदजो या इनके सक्रिय तत्त्वों  
की क्रिया या प्रभाव का विनिश्चयन तभी किया जा सकता है जब सावधानी से  
उनपर रामायनिक, गुण-कर्म एवं नैदानिक अध्ययन किया जाय। तीनों ही पन्नों पर

अनुसंधान कार्य साथ-साथ चलना चाहिये। भेपजकीय गुण-कर्म मम्बन्धी प्रायोगिक कार्य केवल उन्हीं प्रयोगशालाओं में हो सकता है जो सभी आधुनिक उप-करणों से सुसज्जित हो। १९२१ई० में कलकत्ता के “ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडि-सिन्स” की स्थापना से पूर्व इस देश में एक भी समुचित प्रयोगशाला नहीं थी जहाँ कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक ढग से भेपजो पर अनुसंधान कार्य करता। उस संस्था के भेपज-गुण-विज्ञान के प्राच्यापक के कर्त्तव्यों में एक मुख्य काम यह भी था कि वह देशीय भेपजो पर वैज्ञानिक ढग से अनुसंधान करे। उस संस्था के रसायन विभाग में अनुभवी रसायनज्ञों का एक दल था जिसने भेपजो की रासायनिक रचना पर अनुसंधान कार्य किया, उनके सक्रिय तत्त्वों को अलग कर भेपजगुणविज्ञ को दिया कि वह इस बात का विनिश्चयन करे कि प्राणी या जन्तुओं पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। भेपजो का खिलनिकल परीक्षण “कारमाइकेल हॉस्पिटल फॉर ट्रॉपिकल डिजीजेज” में की गयी जो गवेषणात्मक अस्पताल के रूप में उस संस्था से सनन्द थी। इस तरह अनेक भेपजो पर विभिन्न अनुसंधान कार्य पूरा किया जा सका, अर्थात् उनके सक्रिय तत्त्वों को अलग करने से लेकर प्राणियों पर उनके प्रभाव का परीक्षण और अन्ततोगत्वा रोगियों पर प्रयोगात्मक परीक्षण करने के लिए समुचित औषधि निर्माण करने तथा चिकित्साकीय परीक्षणों के परिणामों का अभिलेखन करने का सारा काम पूरा किया जा सका।

इसके बाद की तीन दशाविंदीयों में देशीय भेपजो पर गवेषणा कार्य को काफी प्रोत्साहन मिला है और इस दिशा में सतोप्रद प्रगति हुई है। ‘भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिपद’ ( Indian Council of Medical Research ), ‘भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिपद’ ( Indian Council of Agricultural Research ), ‘भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिपद’ ( Indian Council of Scientific and Industrial Research ) जैसे अर्ध सरकारी संगठनों ने इस काम के लिए विभिन्न चिकित्सीय अस्थायों और गवेषणा-निकायों को उदार अनुदान दिये हैं। “वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिपद” वे तो १९५० में लखनऊ में “सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट” नामक संस्था स्थापित की जो भारत की ११ ( अब-३५-अनु ) वडी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में से एक है। इस महत्वी संस्था का एक पूर्ण मभाग ही भारतीय भेपजो के अध्ययन में लगा हुआ है। स्वतंत्रता के आते ही गवेषणा का कार्य एक सुस्थित और सुदृढ़ आधार पर बढ़ने लगा है।

( ७ )

### समस्या के तीन प्रमुख पक्ष

भारतीय वानस्पति भेपजो की पूरी इनप्रोट के पाठ्यान् वैज्ञानिक एवं आधिक दृष्टिकोण ने उम्म्या के तीन पक्षों को लौर बलात् ध्यान बालुए हुआ। भारतीय भेपज पर शोधकार्य जो इस ग्रन्थ के चरित्र लेखक द्वारा फलकता के स्फूल और द्वौपिकल में विवरित किया गया था, निम्ननिम्नित्त तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए शुल्क किया गया।

१—भारतवर्ष को भेपज उत्पादन की दिशा में व्यावलम्बी विनाया जाय जिसके लिए यह व्यावरयक है कि देश में उत्पन्न भेपजों को व्यवहार में लाया जाय लौर वीगधियों का उपयुक्त रूप ने निर्भरण किया जाय।

२—व्यावर्देशिक, तिक्ष्णी लौर बन्य भेपजों पर परीक्षण करके ऐनी थीयधियों को खोज निकाला जाय जो पाठ्यात्म चिकित्सापद्धति में छिनानों को ग्राह हो एवं जिनका वे समुचित उपयोग कर सकें।

३—इस नवंग में मित्रव्याविता ने नायनों की खोज की जाय ताकि इन वीगधियों का उपयोग भारतवर्ष की अधिकार्य पन्ता जिसकी आधिक दृष्टा निम्नस्तार की है, कर सके।

इस समस्या के अध्ययन के पाठ्यन्युप उपयुक्त स्रोतों पक्ष नामने आते हैं, जिनकी समीक्षा की ओर पाठ्य द्वारा ध्यान विशेष रूप ने आए हुए किया जाता है।

भेपजकोशीय एवं नम्बद्ध द्रव्य उत्प्रोक्त उम्म्या के प्रबन्ध पक्ष के समाधान से वृद्ध परिमाणों की सम्भावना है, जोकि इन देश में जो भेपज उत्पन्न होते हैं उनमें से अधिकादा का ज्ञान प्राच्य एवं पाठ्यात्म चिकित्सकों द्वारा है तथा इनमें जो अनेकों के गुण एवं कर्म से भी वे अनभिज्ञ नहीं हैं। इन दिशा में अनुसधान कार्य दो प्रमुख ध्रेणियों में विभक्त किया गया है। प्रथम ध्रेणी के अन्तर्गत वे अनेक भेपज हैं जिनकी रोग-निवारण-क्षमता भिन्न हो चुकी है और जिनको विभिन्न देशों के भेपजकोशों ने मान्यता दे रखी है। इनमें से अधिकादा भेपज अपने आप पैदा होते हैं तथा भारतवर्ष के अनेक भागों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं और कुछ भेपज कृषि द्वारा उत्पन्न भी किये जाते हैं। जो भेपज यहाँ उत्पन्न होते हैं, उनमें जो कुछ को अति न्यून परिमाण में एकाथ किया जाता था और विदेशों को निर्यात किया जाता था। फिर मानकित भेपजिक योगों एवं शुद्ध सक्रियता के रूप में, अपरिष्कृत भेपजों के मूल्य की तुलना में कई गुना अधिक कीमत पर उन्हें पुन आयात किया जाता था, और वहाँ से ऐसे भेपज उत्पन्न होते हैं जो पूर्णविस्था को प्राप्त होकर अन्तरोगत्वा

विना किसी व्यावहारिक उपयोग में आये नए हो जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनका विस्तृत उल्लेख अगले पृष्ठों में किया जायगा, किन्तु उनमें से थोड़े में उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनके विकास की कितनी सम्भावना है।

ऐट्रोपा एक्युमिनेटा (*Atriplex acuminata*) प्राकृतिक अवस्था में हिमालय की श्रेणियों में दिमला से कश्मीर तक, समुद्र के घरातल से ६,००० से १२,००० फीट की ऊँचाई तक प्रचुर भाव में पैदा होता है। इसके मूल को अधिक परिमाण में एकत्र किया जाता था और यूरोप तथा अमेरिका को नियति किया जाता था। हाइब्रोमायमस नाइजर (*Hippocratea niger*) हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश में ६,००० से १०,००० फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है और पजाव की ममतल भूमि पर भी इसी भेपज की अच्छी कोटि का उत्पादन किया जा सकता है। मेन्दा, ऐकोनाइट और जूनिनर की अनेक जातियाँ पूरे हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होती हैं। जूनिपेरम काम्फूनिस (*Juniperus communis*) कश्मीर के कुछ भागों में प्रचुर भाव में पाया जाता है। वैलेरियाना वालिचाड (*Valeriana wallichii*) अधिक परिमाण में कश्मीर और भूटान में पाया जा सकता है। अटिमोसिया की अनेक उपजातियाँ उत्तरी हिमालय एवं पश्चिमी पाकिस्तान की पहाड़ी श्रेणियों में उत्पन्न होती हैं तथा कश्मीर और कुर्म की घाटी में सैन्टोनिनयुक्त आटिमीसिया व्रैविफोलिया (*Artemisia brevifolia*) प्रचुर परिमाण में पैदा होती है। हिमालय के सिनिकम से कश्मीर तक साच्छाय शीतोष्ण बनों में ७,००० से ९,००० फीट की ऊँचाई पर अच्छे किस्म का पोडोफिज्जनम इमोडी (*Podophyllum ericoides*) पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भेपजकोशीय द्रव्य हैं जिनका उपयोग चिकित्सको द्वारा विस्तृत रूप में होता है किन्तु जो इस देश में नैमित्यिक रूप में नहीं उत्पन्न होते हैं। फिर भी वे इस देश के उपयुक्त भागों में तथा अनुकूल वातावरण में कृपि द्वारा खूब पैदा होते हैं। ऐसे भेपजों के अनेक उदाहरण हैं परन्तु उनमें से कुछ महत्वपूर्ण भेपजों का उल्लेख कर देना यथेष्ट होगा, जैसे डिजिटेलिस, इपेकाकुआनहा, यूकैलिप्टस, सिनकोना तथा जैलप इत्यादि। अनेक वर्षों पूर्व इन भेपजों को विदेशों से माँगा कर यहाँ लगाया गया था और अब वे यहाँ खूब फल-फल रहे हैं। इन भेपजों की बढ़ती हुई माँग के कारण इनका देश में उत्पादन करना आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा, विशेषकर इस वात को ध्यान में रखते हुए कि पाश्चात्य औषधियों का उपयोग जन-साधारण में यहाँ धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक तापमान और जलवाया का सम्बन्ध है भारतवर्ष में इनकी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। जैसा कि आगे के पृष्ठों में बताया जायगा, हर प्रकार की औषधि जो हमारी कल्पना में आ सकती है

यहाँ उत्पन्न हो सकती है। ऐसी औपचिं जो अत्यन्त उष्ण तथा आर्द्र जलवायु में होती है या जो समशीतोष्ण तथा अत्यन्त शीत जलवायु में होती है ये सभी यहाँ किनी न किसी भाग में पैदा की जा सकती है और यहाँ की जलवायु के अनुकूल बनायी जा सकती है। भौमिकीय दृष्टिकोण से भी प्रत्येक श्रेणी की भूमि, कछार से लेकर कठिन चट्ठानोवाली भूमि तथा बालुकामय मरुभूमि भी यहाँ उपलब्ध है। उन्दन के फारमेसी स्कूल के प्राध्यापक धी ग्रीनिंग ने यथार्थ ही कहा है कि भारत-वर्ष अपने जलवायु, ऊँचाई एवं भूमि सम्बन्धी आश्चर्यजनक वैविध्य के कारण इस स्थिति में है कि वह सब प्रकार की जड़ी-वृटियों को जिसकी आवश्यकता यूरोप को है सफलता पूर्वक उत्पन्न कर सकता है।

फिर भी बनस्पतियों के सम्बन्ध में मिट्टी, पीमम, सग्रहकाल जैसी कुछ महत्वपूर्ण चारें हैं जिन्हें ध्यान में रखना होगा और कदाचित ही यह आशा की जा सकती है कि सक्रिय सघटकों की मात्रा सभी अवस्थाओं में एक सी बनी रह सकती है। कुछ भेषजों में तो उनके गुण ठीक और अपरिवर्ती बने रहते हैं किन्तु अनेक भेषजों में सावधानी के साथ किये गये रासायनिक एवं जैविक परीक्षणों द्वारा उनके सक्रिय तत्त्वों की सघटक प्रतिशतता अभी भी निश्चित करनी है जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न होने वाली ये औपचिंयाँ गुण में आयातित औपचिंयों के समान ही उपयोगी हैं। यदि ये भेषज अपेक्षित मानक तक नहीं पहुँच पाते तो देश के उन भागों में जहाँ इन्हें अल्प व्यय में उत्पन्न किया जा सके, वहाँ समुचित कृपि द्वारा उनके सक्रिय तत्त्वों को समूच्छत करके जन साधारण के उपयोग में इन्हें किस प्रकार लाया जाय इसके लिए सर्वथोष उपाय ढूँढ़ निकालना अभी जेप है।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत भारतवर्ष में उगने वाली वे अनेक बनस्पतियाँ हैं जो आयातित वहुमूल्य बनस्पतियों के ठीक सदृश तो नहीं होती, पर गुण और कर्म में उनके उमान होती हैं, और इत्तिलाएं वे उत्तम प्रतिनिधि-द्रव्य बन सकती हैं। प्राय ये बनस्पतियाँ आयातित भेषजों के निकट सवद्ध जाति की होती हैं और गुण-कर्म की दृष्टि से उतनी ही सक्रिय होती है। इसमें किचित भी सन्देह नहीं है कि बहुत सी उपरोक्त प्रकार की बनस्पतियाँ यहाँ विद्यमान हैं किन्तु उनके चिकित्सीय गुणों का वैज्ञानिक स्तर पर परीक्षण करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जा सका है या जो भी कार्य अब तक हो चुका है उसकी पुष्टि नहीं की जा सकी है। इन कारणों से उनके गुण-कर्म के बारे में बहुत अनिश्चितता बनी हुई है। जब तक इस दिशा में ऊपर सुझाये गये काम नहीं किये जाते यह आशा करना व्यर्थ है कि चिकित्सक वर्ग परीक्षित और निश्चित गुण-कर्म वाली औपचिंयों के स्थान पर उनका उपयोग

करेगा। इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरणों का स्मरण आता है, किन्तु कुछ का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा। कॉल्चिकम ल्यूटियम (*Colchicum Inteum*) पैशिचमी शीतोष्ण हिमालय के ढालों पर उत्पन्न होता है और यह मान्य कॉल्चिकम बाटम्सेल (*Colchicum autumnale*) का सर्वोक्तुप्त प्रतिनिधि-द्रव्य बन सकेगा। सिला इण्डिका (*Succila indica*) समुद्रतट, एवं हिमालय की नीची शुष्क पहाड़ियों पर और साल्टरेज में प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता है जो सिला मैरिटाइमा (*S. maritima*) का उत्तम प्रतिनिधि-द्रव्य बन सकेगा। फेरला नार्थेक्स (*Ferula narthex*) जिसमें हीग के समान एक गमरेजिन (*Gum-resin*) पाया जा सकता है, कहमीर में पैदा होता है। पिक्राजमा क्वैसिआइडिस (*Picrasma quassoides*) और जेन्यिअना कुर्रो (*Gentiana Kurroo*) के गुण क्रमशः पिक्राजमा एक्सेल्सा (*P. excelsa*) तथा जेन्यिअना ल्यूटिया (*G. lutea*) के सदृश हैं जो लिटिश भेषजकोश के द्रव्य हैं।

ऐसे प्रतिनिधि-द्रव्यों के अनेक और उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन भेषजों पर तथा इनके सक्रिय तत्त्वों पर शोध कार्य किया जा रहा है, इनकी सघटक प्रतिशतता निश्चित की जा रही है, इनकी क्रियाशीलता सुनिश्चित एवं मानकित की जा रही है, और इनसे भैपजिक योग तैयार किये जा रहे हैं, जिससे देश को आर्थिक लाभ हो रहा है।

—○—  
(c)

### भारतवर्ष का विदेशों से भेषज व्यापार :—

उपरोक्त प्रथम उद्देश्य के आर्थिक महत्त्व का पूर्णरूपेण मूल्याकन भारतवर्ष में भेषज व्यापार के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस शताब्दी के प्रथम तीन चार दशकों के आयात व निर्यात के कुल मूल्य के अंकड़ों के अध्ययन में पता चलता है कि आयात निर्यात-दोनों में वरावर वृद्धि होती रही है, जैसे कि सन् १९०८-९ में करीब १५५ लाख रुपये का भेषज भारतवर्ष से निर्यात हुआ और ७३ लाख रुपये का आयात किया गया था। सन् १९२८-२९ में निर्यात एवं आयात क्रमशः ४२ लाख और २०० लाख रुपये का हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि किस आश्चर्यजनक सीमा तक व्यापार में वढ़ि हुई और साधारण दृष्टि से यह वृद्धि सतोषजनक प्रतीत होगी। परन्तु सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि निर्यात की अपेक्षा आयात अत्यधिक हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब औषधिक परिमाण में कच्चे माल विदेशों को जाते थे तो उसके बहले में विदेशों से

परिज्ञत भेषजीय योग अत्यधिक मात्रा में भारतीय बाजारों में आते थे। इस स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, और युद्धोत्तर काल के, तथा १९२४-२५ से १९२८-२९ तक इन पाँच वर्षों की अवधि के, आयात और निर्यात के औसत के अंकड़े, आयात में हल्की गिरावट और निर्यात में किंचित वृद्धि वताते हैं।

### सारिणी-१

आयात मूल्य	निर्यात मूल्य
रु०	रु०
प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व का औसत १४,१०,२८९	१८,१७,८३५
प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान का औसत १२७,८५,१८९	२९,५४,३५०
प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् का औसत १७९,९१,२२६	३६,१५,८७८
५ वर्ष का औसत (१९२४-२५ से १९२८-२९ तक) १६६,४०,१९६	३७,१९,८७०

यदि इस सम्बन्ध में और विस्तार में जाकर अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्यात की तुलना में अत्यधिक आयात का कारण यह था कि अधिकाश आयातित भेषज मानकित औषधकोशीय योग थे, जैसे परिज्ञत ऐल्केलॉयड जो बहुधा यहाँ के निर्यातित भेषजों से ही तैयार किये गये थे। इसके अतिरिक्त एक बड़ी मात्रा में आधिस्वामिक ( proprietary ) एवं नेटेण्ट औपचारिकों का आयात होता था। सारिणी २ के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि १९२८-२९ में प्रथम वर्ग के द्रव्य ( मानकित योग ) जिन्हें 'अन्य किस्म के भेषज और औपचारिकों' शीर्षक के अन्तर्गत दर्शाया गया है, १००९ लाख के मूल्य के आयातित हुए, और आधिस्वामिक योगों का आयात ४२८ लाख के मूल्य का हुआ। पाँच वर्षों में आधिस्वामिक एवं एकस्व ( Patent ) औपचारिकों के आयात में २५ लाख रुपये से ४२८ लाख रुपये की आशातीत वृद्धि हुई। यह इस बात का द्योतक है कि किस प्रकार उत्तरोत्तर इन औपचारिकों का द्वारा भारतीय बाजारों का शोषण बढ़ता जा रहा था। इन पाँच वर्षों के अंकड़ों से यह भी प्रतीत होता है कि औपचारिकोशीय योगों एवं रासायनिक द्रव्यों का आयात ८७८ लाख रुपये से ११४३ लाख रुपये तक सन् १९२७-२८ ई० में बढ़ गया, परन्तु सन् १९२८-२९ में कुछ घट कर १००९ लाख का रहा। कुल मिलाकर भेषजों के आयात व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई। इस सारिणी में अन्य ध्यान देने वाली वस्तुओं में कर्पूर है जिसके निर्यात में बराबर वृद्धि होती रही, और कुनैन के लक्षण है जिनके निर्यात में कुछ घटा बड़ी हुई, किन्तु कुल मिलाकर यथेष्ट वृद्धि ही हुई।

सारिणी ३ में निर्यात के प्रमुख अंकड़े “कुल भेषज और औपचियों” शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं जो ५ वर्षों में निरतर बढ़कर ३५८ लाख से ४१६ लाख रुपये पर पहुँच गया। यह वृद्धि आगाजनक प्रतीत होगी, किन्तु निश्चित औपचियों के आयात में और भी वृद्धि हुई। भारत के समुद्री व्यापार के विवरण (Sea-borne Trade Returns) में निर्यातित द्रव्यों की सूची में निम्नलिखित भेषज हैं जिन्हे ‘अन्य किस्म के भेषज और औपचियों’, मसाले, तैल, बीज, नाकोंटिक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत दर्जाया गया है। यह सूची सर्वथा पूर्ण नहीं है, परन्तु इसमें उपरोक्त वर्गों के अन्तर्गत केवल महत्वपूर्ण औपचियों को ही शामिल किया गया है।

ऐफोनिटम नैपेनम, आल्टोनिया स्कोलैरिस, एट्रोपा वेलाडोना, ऐल्युया ऑफिसिनेलिस, ऐरेकिस हाइपोजिया, ऐरिका कैटेचु, ऐनोगाइसस लैटिफोलिया, ब्वैरेस अरिस्टाटा, व्यूटिया फांडोमा, कैटेचु नाइग्रम, स्वशिया चिराता, कैनाविस इण्डिका, काकुलस इन्डिकस, कम्बोजिया इण्डिका, क्रोटन टिरिलयम, ब्यूमिनम फ्रैटस, सिसल-पिगिया वांडुमेला, कैसिया फिच्चुला, एफेड्रा वलोरिस, दत्तरा फैस्तुबोसा, हेमिडेस्मस इण्डिका, आइपोमिया हेडरेशिया, टर्मिनैलिया चेवुला, पोडोफिलम इण्डिका, पैपावर सॉम्निफेरम, पाइपर लांगम, पाइपर नाइग्रम, पिक्रोराइज़ा कुर्लबा, रिसिनस कॉम्युनिस सासुरिया लैप्पा, सैन्टेलम एल्बम, अजिनिया इण्डिका, जिन्जीवर आफिसिनेल।

उपरोक्त सूची के अवलोकन से प्रतीत होगा कि ये सभी अपरिष्कृत भेषज प्रत्येक वर्ष भारत से विदेशों को बहुत ही अल्प मूल्य में निर्यात किये जाते थे और इनका उपयोग अनेक औपचिय और तत्सम्बद्ध उद्योगों द्वारा किया जाता था और उनका कुछ अब कीमती औपचियों के रूप में भारत में आयात किया जाता था। यह स्वाभाविक था कि ये तैयार किये गये उत्पाद काफी मूल्यों पर निर्यात किये जाते और इसलिए निर्यात राजस्व की वृद्धि केवल यह प्रकट करता है कि किस हद तक भारतीय कच्चे माल का उपयोग अन्य देशों के भेषज निर्भावों द्वारा अपने लाभ के लिए भारतवर्ष को आर्थिक क्षति पहुँचा कर किया जाता था।

—०—

( ९ )

### भारतीय चिकित्सा पद्धति में व्यवहृत होने वाले भेषज

द्वितीय उद्देश्य जो नये भेषजों को लोकप्रिय बनाने एवं उनका पाश्चाय चिकित्साविज्ञान में समावेश कराने का है वह अपेक्षाकृत और भी कठिन है। भारतीय

सा

१९२४-२५ से १९२८-२९ के बीच की अवधि में निर्यातित-

निर्यातित-भेषज	परिमाण			
	१९२४-२५	१९२५-२६	१९२६-२७	१९२७-२८
हींग (असाफोटिला)	९	५४	६५	--
हड्डेडवेट				
कपूर (कैम्फर)-पौँड	१,३८२	१६	--	१०
सिन्कोना के छाल-पौँड	५,५९,५९२	४,८६,१८७	८०,६९१	१,७३,५
कुलञ्जन-हड्डेडवेट	१८८	५१९	५३६	६३
कुचला-हड्डेडवेट	३०,२५८	४४,०७९	५४,३४७	५०,७०
सनाय-हड्डेडवेट	४७,५४४	४४,९९५	४९,११७	५२,८१
अन्य किसी की भेषज	--	--	--	--
कुल भेषज और औषधियाँ	--	--	--	--
चाय का चूरा कंफीन बनाने के लिए-पौँड	३२,३९,९०७	३०,००,९६९	१५,९१,३३०	४१,१४,६

रणी—३

२८ व

भेपज एवं अधिकारीयाँ (रासायनिक द्रव्यों और नाकोंटिक्स को छोड़कर)

	सूच्य-स्पष्टया					
	१९२५-२६	१९२४-२५	१९२५-२६	१९२६-२७	१९२७-२८	१९२८-२९
१	—	१,७८३	२,९५३	४,२१९	७३५	—
०	—	१,४२५	८०	—	१७५	—
१९	१,३८,१०४	२,१२,७१२	२,४५,३९८	४३,४६०	९०,००२	७८,०२४
२	५७५	५,१५७	१२,६६२	११,९१५	१४,०९६	१२,८५०
२	४३,२१२	२,२७,८३६	२,९६,०९१	३,४८,८५३	३,२७,८५८	३,०३,२०८
८	४६,९९५	१०,७४,६७८	८,९३,०५८	८,९३,०५८	९,४८,८१२	८,६०,२०८
.	—	१९,८३,३८४	२,२२,७११	२४,०३,४२६	२०,११,६८९	२९,०६,१४२
.	—	३५,८७,४२५	३६,७७,३४७	३७,१०,२२०	३४,५३,३६७	४१,६०,९८८
३८	—	४,९०,६४४	५,५०,९८३	२,६३,८१०	४,४१,६७१	—

भेषजों की अवनति एवं पुनर्संकलनकाल से अव-तक अनेक प्रभावी औषधियों का लोप हो गया है और कई अनिश्चित प्रभाववाने भेषजों का समावेश हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि देवीय चिकित्सापद्धति में सम्प्रति देता में उत्पन्न होने वाले प्राय प्रत्येक पादप और गुल्म कुछ न कुछ चिकित्सीय गुण रखने वाले समझे जाने लगे हैं। कुछ भेषजों के सम्बन्ध में तो इस प्रकार के विज्ञान के मूल में आयुर्विज्ञान के प्राचीन समीक्षकों की शिक्षा, कारण रूप रही है और वे रोगियों के परीक्षण पर आधारित रही है, किन्तु इन्हें भेषजों के सम्बन्ध में इस विज्ञान का कोई भी आधार नहीं है। इन भेषजों का समावेश अनुभव के पाधार पर हुआ था और वहुधा किनी भेषज का प्रयोग केवल इसीलिए किया जाता था कि किसी रोगी को इससे कुछ लाभ हो गया था। इस प्रकार विना प्रमाण के, केवल विज्ञान के आधार पर, औषधियों की सख्ता में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। चूंकि वे भारतवर्ष के विभिन्न भागों से प्रयुक्त होती हैं, इसलिए किसी को भी उनके प्रयोग और गुणों के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश औषधियों का व्यवहार वशानुगत अनुभवजन्य प्रमाण के ऊपर आधृत रहा है। इन सभी भेषजों की सम्यक रूप से गवेषणा करते में असंब्ध रसायनज्ञों, भेषजगुणविज्ञानियों और चिकित्सकों को अपना सारा जीवन लगा देना होगा। अब तक जो प्रणाली रही है वह यह रही है कि वैद्यों और हकीमों के अनुभव का उपयोग किया जाता रहा है और अनुसधान के लिए उन्हीं भेषजों को लिया जाता रहा है जिनको पर्याप्त स्थानीय द्याति प्राप्त रहती थी और उसके बाद कम ख्याति वाले भेषजों को लिया जाता था। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य पद्धति के चिकित्सकों द्वारा बहुत से भेषजों का रोगियों पर परीक्षण किया गया है और उन्होंने उन भेषजों की लाभकारिता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यवहृत किये हैं, अनुसधान के लिए भेषजों का चयन करने में इससे भी सहायता मिली है।

वहुधा ऐसा भी होता है कि अनुसधान करनेवाले स्वयं ही उन भेषजों का रोगियों पर परीक्षण वैज्ञानिक स्तर पर अनुसधान कार्य आरम्भ करने से पूर्व कर लेते हैं। राय जानने के लिए बहुत से भेषजों को चिकित्सक तथा अन्य लोग अनुमन्यानकर्ताओं के पास भेजते हैं और वहुधा यह अनुरोध करते हैं कि भेजा हुआ भेषज वहा उपयोगी है इसलिए उस पर अनुसधान कार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया जाय। समय और द्वन के अपच्छय को बचाने के लिए दिये गये निर्देशों के अनुमार मादधानी के साथ उसका अनेक रोगियों पर परीक्षण किया जाता है। परीक्षणों के परिणाम यदि सन्तोषप्रद होते हैं तो वह भेषज, रामायनिक जाँच के लिए, रसायनज्ञों को दे दिया जाता है अच्छा उसे त्याग दिया जाता है।

देशीय जड़ी-बूटियों की पहचान : भारतीय भेपजों की सख्त बड़ी है और उनके स्वभाव और गुण में काफी भेद है, उनके वैज्ञानिक छानबीन को किया बड़ी सम्भवी, कठिन और अभ्यन्तरीय है। इनके अलावा बहुत सी और सी कठिनाइयाँ हैं, जिनका अनुसंधानकर्ताओं को समाधान करना पड़ता ह। प्राचीन पुस्तकों में दी नयी बहुत सी औषधियाँ ऐसी हैं जिनको पहचानना और उनकी जाति-निर्धारण करना बड़ा कठिन है। इन पुस्तकों में दिये गये विवरण से निश्चित नहीं किया जा सकता कि कोई विशिष्ट भेपज ठीक वही है जिसका वर्णन उन्नत ग्रंथों में दिया गया है।

भेपजों के अभिनिर्धारण (पहचान) का काम तब तक कठिन बना रहेगा जब तक कि प्रत्येक भेपज के प्रमुख आकृतिक लक्षण सुनिश्चित न हो जायें। उन पुस्तकों में भेपजों का चाहे जितना सी शाविक विवरण दिया गया हो, उसके आधार पर वनस्पतिज किसी भी पौधे या उसके अवयवों का अभीनिर्धारण नहीं कर पायेगा, ज्योकि इन वनस्पतियों या उनके अवयवों में स्वरूप और गुण सबधी एकरूपता नहीं पायी जाती। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनके संबंध में पर्याप्त विक्रम पैदा हो गया है। बहुत से भेपजों को भिन्न-भिन्न नामों से बेचा जा रहा है, कई भेपजों को एक ही नाम से बेचा जा रहा है। विद्वान् कविराज और हकीम भी निश्चय-पूर्वक यह नहीं कह सकते कि प्राचीन पुस्तकों में वर्णित भेपज का सच्चा नमूना कौन सा है। हमने बहुधा देखा है कि विभिन्न जड़ी-बूटियाँ एक ही नाम से कई प्रदेशों में बेची जाती हैं। बहुधा बड़ी सावधानी से छानबीन करनी पड़ती है और इन कार्य में जड़ी-बूटियों के स्थानीय नामों से बड़ी सहायता मिल सकती है। बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जिनका व्यवसाय ही जड़ी-बूटियों के बेचने का है, जिनको इनके बारे में काफी ज्ञान है और जो, अन्य सभी उपायों के असफल होने पर, इस दिशा में बड़ा श्रकाश डाल सकती है। मध्य एवं उत्तरी भारत में मुसहर जाति के लोग, बगाल में भील, वेदिया, बागदी, कैवल्य, पोद (Pods), चडाल, कवरा (Korras) और करना जैसी नीच जातियों के लोग, तथा बर्बई में चद्वा, भील और गामत जाति के लोग, देशीय औषधियों में प्रयुक्त होने वाली तथा प्राचीन पुस्तकों में वर्णित जड़ी-बूटियों के बारे में बड़ी जानकारी रखते हैं।

भेपजों में अपमिश्रण भेपजों में अपमिश्रण करने वालों को भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से कठोर दण्ड देने का विधान था। बीदू काल में अपमिश्रण करने वालों के विस्फू बड़े कड़े कानून बने थे और यदि कोई चिकित्सक इनके पालन में जरा भी असावधानी दिखाता तो उसे कठोर दण्ड मिलता। विधान यह था

कि 'बपने रोगियों के उपचार में गलती करने वाले सभी चिकित्सकों को अर्थ दण्ड भोगना पड़ेगा।' दुर्भाग्य से आयुर्वेदीय चिकित्सा के ह्रास के साथ-साथ इस दिशा में भी बड़ा परिवर्तन हुआ। कुछ तो अज्ञानतावश और कुछ जड़ी-बूटी बेचने वालों की मिलावट करने की प्रवृत्ति के कारण, भेषजों में अपमिश्रण कई शताव्दियों से होना चला आ रहा है। अपमिश्रण और नकली जड़ी-बूटियों के बेचने का काम इतना बढ़ गया कि भारतवासियों का विश्वास अपने ही देश में देशी जड़ी-बूटियों से बनी औषधियों पर से क्षीण होने लगा। इसी कारण से विदेशों में आज भारतीय भेषज को मन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और उसे मूल्य-हीन और अविश्वसनीय समझा जाता है। गाजा (कैनेविस इन्डिका) की स्थाति आज यूरोप में पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गयी है जिसका कारण यह है कि इसका स्तर वह नहीं रह गया है जो पहले था। इसी तरह कुरची की छाल की अतिसार के इलाज के लिए जो प्रसिद्ध थी वह घट गयी क्योंकि इसमें निकृष्ट छालों का अपमिश्रण होने लगा। वत्सनाभ (Acorus) की भी यही दशा है। यहाँ तक कि निर्मित उत्पादों (Finished Products) में भी बहुत अपमिश्रण होने लगा है। गुप्त औषधियों (Nostrums) और कटवैद्यक (quackery) का इतना प्रसार हो गया है कि लोग रोज ठगे जा रहे हैं। अनेक टिक्कार और स्पिरिट मानकित स्तर से बहुत नीचे होते हैं, इसके परिणामस्वरूप भारतीय औषधि-निर्माताओं की स्थिति बड़ी हीन हो गयी है और भारत के निर्यात व्यापार पर धातक प्रभाव पड़ रहा है। "ड्रग्स इन्क्वायरी कमेटी" के समक्ष जो सादगी आये हैं उनमें इस बारे में कोई सदेह नहीं रह जाता कि भेषजों में अपमिश्रण और उनके गुण और शक्ति में अपह्रास तथा अन्त क्षेप के कारण आयातित और यहाँ की निर्मित औषधियों में भेद कर पाना कठिन है। यह माझ्य न केवल चिकित्सक वर्ग ने ही दिया था जिन्होंने इन औषधियों को रोगियों पर परीक्षण किया था, विल्क रामायनिक परीक्षक (केमिकल इक्जामिनर), पविलक एनालिस्ट, कस्टम तथा एक्साइज प्रयोगशालाओं के अधिकारी जैसे उच्च पदस्थ लोगों के भेषजों के विश्लेषण पर आवारित था। इस समस्या की गम्भीरता तथा इसके दूरवर्ती परिणामों को ध्यान में रखते हुए इस कमेटी ने अनेक नमूने भारत के विभिन्न प्रान्तों से एकत्रित किये और विशेषज्ञों की देखरेख में उनका सावधानी से विश्लेषण करवाया। विश्लेषण के परिणामों से इन साक्षों की सर्वथा पुष्ट हुई और प्रचलित धारणा मही सावित हुई। अपमिश्रण को बात तो दूर रही, कुछ व्यापारी ऐसे भी हैं जो निर्धारित मात्रा से कम वजन की औषधियों की पैकिंग बेचते हैं। भेषजों में अपमिश्रण का व्यापार बड़े व्यापक पैमाने पर विना किसी भेद भाव के होता है। जब तक अपमिश्रण और नकली या घटिया

दवा बेचने का काम बन्द नहीं किया जाता, भारतीय भेषजों तथा उनसे निर्मित औषधियों का व्यापार, यहाँ या विदेशों में, प्रगति नहीं कर सकता और चिकित्सा में यहाँ की भेषजों का व्यवहार सफल नहीं हो सकता। यह एक सुविख्यात तथ्य है कि कार्य-कुशलता की उपेक्षा करके मितव्ययिता नहीं लायी जा सकती है, इस तथ्य को जोर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना चाहिये।

### देशीय चिकित्सापद्धतियों में व्यवहृत होने वाले भेषज

हकीम, वैद्य और औषधि निर्माण करने वाले कुछ प्रतिष्ठान, अपरिष्कृत भेषजों की प्राप्ति के लिए बाजार के साधारण जड़ी-बूटी बेचने वालों (पन्सारियों) द्वारा निर्भर करते हैं। भारतीय चिकित्सापद्धति सम्बन्धी समिति (कमेटी ऑन इण्डिजेनस सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन) के समक्ष साक्ष्य देते हुए (१९४८), इन पद्धतियों के व्यातिप्राप्त चिकित्सकों ने यह शिकायत की थी कि विशुद्ध भेषज ग्राप्त करने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती है। बाजार से मिलने वाली औषधियों में अधिकांश निश्चित रूप से व्यवहृत अपमिथित होती है या उनके स्थान पर सरता तथा अत्यन्त निकृष्ट भेषज दे दिये जाते हैं, जिनका रूप बदल कर देखने में असली जैसा बना दिया जाता है। सभी साक्षियों ने और विशेष करके औषधि निर्माण करने वाले वडे-वडे प्रतिष्ठानों ने बड़ा असन्तोष व्यक्त किया तथा इस स्थिति को सुधारने के लिए शीघ्र कार्य करने पर जोर दिया है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि चिकित्सीय भेषजों की सही-नहीं पहचान करने में जो कठिनाई है उनके कारण आमतौर पर व्यवहार में लाये जाने वाले भेषजों का असली नमूना बाजार में मिलना कठिन हो गया है।

समय के प्रवाह के साथ साथ बानस्पतिक वर्ग की अधिकाधिक औषधियाँ भारतीय मैटीरिया मेडिका में सम्मिलित कर ली गयी हैं प्रौर इस समय इस तरह की दो हजार औषधियाँ जिनमें चिकित्सीय गुण वताया जाता है इसमें समाविष्ट कर ली गयी है। उनकी पहचान के बारे में ठीक-ठीक वर्णन नहीं दिया गया है। इन बनीषधियों का कुछ अस्पष्ट वर्णन अवश्य मिलता है किन्तु वह भी भ्रमोत्पादक है। इनके अभिनिधरण के लिए उनके सुनिश्चित स्वरूप का वर्णन नहीं अभिलिखित है। इसके अतिरिक्त बनस्पति-भेषज-अभिज्ञान (फार्माकोग्नोसी) की जानकारी जो आज पश्चिमी चिकित्सा-स्पति-भेषज-अभिज्ञान (फार्माकोग्नोसी) की जानकारी जो आज पश्चिमी चिकित्सा को प्राप्त है, वह यहाँ अज्ञात थी। ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक विवरण के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण आयुर्वेदिक औषधियों का पता लगाना दुष्कर हो गया है। उदाहरणार्थ, अप्टवर्ग की औषधियाँ (आठ बनस्पतियों का वर्ग जिन्हे बड़ा ही लाभकारी समझा



( १० )

### चिकित्सा को अल्पव्यय साध्य तथा सुलभ बनाना

तृतीय उद्देश्य का सम्बन्ध मितव्ययिता के लिए समुचित उपायों की व्यवस्था करने से है, जिससे औपचियाँ जनसाधारण के लिए सुलभ हो सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब औपचियों का मूल्य पर्याप्त मात्रा में कम हो जाय, क्योंकि भारतवर्ष जैसे गरीब देश में करोड़ों ऐसे निर्धन व्यक्ति हैं जिनके लिए किसी प्रकार की भी चिकित्सा सम्भव नहीं है, चाहे वे सस्ती हो या मँहगी। परिणामस्वरूप उन्हें दातव्य चिकित्सा संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। औषधियों का मूल्य इतना अधिक है कि प्राय ये सभी संस्थाएँ जिनका वार्षिक बजट बहुत सीमित होता है, आवश्यक एवं अनिवार्य कीमती औषधियों की बात तो दूर रही, कुनैन, एरण्ड तेल तथा मैग्नीशिया जैसी साधारण तथा आवश्यक औषधियों की माग भी पूरा करने में असमर्थ रहती है।

औषधियों के मूल्य को कम करने तथा उन्हें जन सुलभ बनाने के लिए एक ही उपाय है कि स्थानीय साधनों का उपयोग किया जाय और पाश्चात्य देशों से आयात की जाने वाली औषधियों के स्थान पर भारतीय औषधियों का प्रयोग किया जाय। यह तभी सम्भव हो सकता है जब औषधीय योगों (कल्प) को ढग से तैयार करके स्थानीय भेषजों के उत्पादन, संग्रहण एवं निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाय। आयातित भेषजों के स्थान पर तत्सम शक्तिशाली भारतीय भेषजों का उपयोग करके तथा उनका स्थानीय उत्पादन करके चिकित्सा के व्यय को काफी कम किया जा सकता है। हमने पूर्व के पृष्ठों में इन औषधियों की तथा इनकी उन्नति की सभावनाओं का उल्लेख किया है। इनके सक्रिय तत्त्वों को पृथक किया जा सकता है तथा टिन्क्चर, सत्व, चूर्ण, जैसी मानकित औषधियों को कम सर्वले उपकरणों से विना किसी कठिनाई के तैयार किया जा सकता है। अगर वडे पैमाने पर ऐसा किया जाय तो इससे न केवल समुद्री भाड़े की ही बचत की जा सकती है बल्कि अन्य कई प्रभारों (charges) में भी बचत की जा सकती है।

चिकित्सीय प्रयोजनों के लिए यहाँ के कच्चे उत्पादों से परिशोधित रसायन तथा औषधीय योगों को तैयार करने की दिशा में इधर हाल के वर्षों में काफी प्रगति हुई है। देश के भैषजिक और औषधीय उद्योगों एवं बाहर से आयातित तैयार औषधियों के बारे में स्थिति का सिंहावलोकन कर लेना यहाँ उपयुक्त होगा। यह निविवाद न्यून से कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से भारत के भैषजिक एवं औषधीय उद्योगों को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। नागरिक एवं प्रतिरक्षा प्रयोजनों के लिए देश में माग को बड़ा प्रोत्साहन मिला है।

के बहुत बढ़ जाने से तथा जहाजरानी की कठिनाइयों के कारण से विदेशों से औपचियों का आयात बहुत कम हो गया था। सुतरा, भारत सरकार ने उसके लिए बड़ा बढ़ावा दिया कि जहाँ तक सभव हो सभी औपचिय योग तथा भेषज उद्योग के उत्पाद देश में ही तैयार किये जायें। मुख्यतः प्रतिरक्षावालों की मांग को पूरा करने के लिए ही ऐसा किया गया था, किंतु नागरिकों को भी उससे लाभ मिला। दूसरा परिणाम यह हुआ कि द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में यहाँ बहुत से उद्योग चालू हो गये और युद्ध समाप्त होने पर भी वे बने रहे और अपने कार्य-क्षेत्र और बढ़ा लिये। कई नये उद्योग चालू हो गये और अब वे खूब फूलने फलने लगे हैं। इन बातों के फल-स्वरूप भेषज उद्योग अपनी वर्तमान समुन्नत स्थिति तक पहुँच पाया है।

भारतीय वैज्ञानिक एवं औषधियों अनुसन्धान परिषद् की “फारमस्युटिक्स एण्ड ड्रग्स कमटी” के अनुरोध पर लखनऊ के ‘सुएण्टल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट’ के डाइरेक्टर डॉ० वी० मुकर्जी ने कुछ विशिष्ट औषधियों से सम्बन्धित भारत के भैषजिक उद्योग की क्षमता एवं उत्पादन के आंकड़े तथा विदेशों से आनेवाली औषधियों के आंकड़े अभी हाल में संकलित किये हैं। निम्नलिखित विवरण में इन भैषजिक उद्योगों की क्षमता एवं उत्पादन के आंकड़े दिये गये हैं। ये आंकड़े विलक्षुल ठीक-ठीक तो नहीं हैं, किन्तु इस बात का कुछ परिज्ञान अवश्य करा देते हैं कि भारत में विभिन्न औषधियों का उत्पादन किस सीमा तक होता है।

### कुछ विशिष्ट औषधियों के बनाने की भैषजिक उद्योगों की क्षमता एवं उत्पादन सम्बन्धी विवरण

गैलेनिकल वर्ग —क्षमता लगभग १२,००,००० गैलन प्रति वर्ष। आत्म निर्भर तथा निर्यात के लिए अतिरेक (Supplus)।

टिकिया —क्षमता १०५६० लाख प्रति वर्ष। वर्तमान आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन।

अधिस्वामिक औषधियाँ —खांसी की औषधियों, पुटिट्स, अम्लहर (Antacid) औषधियों, टानिक, रक्त वर्धक औषधियों, विटामिन एवं एन्जाइमयुक्त औषधियों का उत्पादन आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त।

इन्जेक्शन • ग्लूकोज, नार्मल सलाइन, आसुत जल, कैल्सियम ग्लूकोनेट, किवनीन बाइहाइड्रोक्लोराइड, एमेटीन हाइड्रोक्लोराइड, विटामिन तथा लिवर एक्स्ट्रैक्ट आदि की १०९० लाख ऐस्पुल प्रतिवर्ष तैयार की जा रही हैं जो आवश्यकता पूर्ति के लिए यथेष्ट हैं।

**ऐल्केलॉयड** — एफड़िन, कैफीन, ऐट्रोपिन, स्ट्रक्ट्रीन, विवनीन, अफीम, कुरची के ऐल्केलॉयड, सन्टीनिन, ऐमेटिन तैयार किये जा रहे हैं। लगभग ७७ प्रतिशत निटिश नेपजकोश के ऐल्केलॉयड भारत में उत्तरन्न होनेवाले पौधों से प्राप्त किये जा सकते हैं।

**कैफीन** — सस्थापित क्षमता (Installed Capacity) २०,००० पौराड प्रति वर्ष

स्ट्रक्ट्रीन १५,००० पौराड प्रति वर्ष

विवनीन १,००,००० , , "

अफीम व्युत्पन्न सस्थापित क्षमता ८,००० पौराड प्रति वर्ष

**जैविक औपधियाँ** — निजी उद्योगों की क्षमता ६०० लाख घन सेंटी मी० प्रति वर्ष तरकारी उद्योगों की क्षमता — १६० लाख घ० सेंटी मी० प्रति वर्ष

लिकर ऐडेनेलीन हाइड्रोक्लोराइड क्षमता ४०० लाख घन सेंटी मी० प्रति वर्ष

लिकर ऐडेनेलीन टारट्रेट — ४४० लाख घ० सेंटी मी० प्रति वर्ष

लिवर एक्स्ट्रैक्ट क्षमता (मौखिक) १४ लाख पीण्ड प्रति वर्ष

इजकॉट्यूल २३८ लाख घ० सेंटी मी० प्रति वर्ष

**विटामिन ए** : शार्क लिवर तैल: क्षमता ५,५००,००० लाख अतर्राष्ट्रीय ग्रूनिट प्रति वर्ष

**किण्वन उत्पाद** एवं व्युत्पन्न: कैल्सियम नैक्ट्रेट, माल्ट इक्स्ट्रैक्ट क्लोरोफार्म, ईथर, एथिल क्लोराइड च्लोरल हाइड्रेट, इन सबका उत्पादन आवश्यकता की पूर्ति भर होता है।

**अकार्बनिक औपधियाँ** मैग्नेशियम सल्फेट की पर्याप्त मात्रा, मैग्नेशियम कार्बोनेट, मैग्नेशियम ऑम्साइड, फासफोरिक अम्ल, फासफोरस, सोडियम क्लोराइड, अमोनियम क्लोराइट, पोटैशियम ब्रोमाइड, पोटैशियम परमैग्नेट, पोटैशियम वाइक्रोनेट, पोटैशियम, सोडियम एवं आवरन साइट्रेट, सोडियम एवं पोटैशियम ऐसिटेट

इन आकड़ों से प्रगट होता है कि भैपजिक योगों और गैलेनिकल आदि का उत्पादन मन्तोप्रद है। इनमें से अनेकों के उत्पादन में देश आत्मनिर्भर ही नहीं है, वर्त्तक निर्यात भी करता है। दुर्भाग्य से मलेरियारोधी औपधियों, सल्फा वर्ग की औपधियों तथा प्रतिजैविक वर्ग की औपधियों के उत्पादन में कमी है। गत तीन वर्षों की अवधि में विदेशों से भेषजों और औपधियों का जो आयात हुआ है उसके मूल्य के आकड़े नीचे दिये गये हैं।

कुल भेषज	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
और औपधियाँ रु० ७,८५,९६,१३३	रु० ९३,५५,७३६	रु० १५,१५,१५,१०२	

नबसे ज्यादा आयात दूनाइट फिगडम ( समुन्न-प्रिटिश राज्य ) मे हुआ है; उनके बाद नम्बर आता है समुन्न-त्राय वर्मेलिया को। अन्य देशों से होने वाले आगात भी मात्रा अपेक्षाकृत बहुत बहुत बहुत है। आगात द्रूत गति से बढ़ता जा रहा है। इनमें से प्रमुख भेदज है प्रतिज्ञेविक वर्ग, सत्का औपचियाँ, मलेरियारोधी और आधिस्थानिक ( प्रोप्रोडर्टी ) औपचिया, जिनके पारण आगात में बढ़ि हुई है। इन प्रकार यह स्पष्ट है कि नयी औपचियों पर गहन छोज भी बड़ी आयदर्शिता है, विशेषकर प्रतिज्ञेविक के द्वेष मे, सम्भवतः इन देश की मिट्टी से प्राप्त सूखजीवों ( Micro-organism ) पर। अभी भी इन देश का पर्याप्त धन विदेशों को जाऊ जा रहा है, जिसे उपने ममाघनों को विनियन करके और देश को आनंद निभर बनाए रोका जा सकता है। यह जन्मोप जो दात है कि मैनिसिनिन इए एक दार्दनाना पूना के पान, यूनिसेफ ( UNICEF ) एवं इन्डू एन डो ( WHO ) ही सहायता से स्थापित होने जा रहा है ( स्थापित होगया-अनु० )। इनमें सन्देह नहीं कि इसके माय ही बन्ध प्रतिज्ञेविक वर्ग जी औपचियाँ भी जायेगी आर दृष्टे-नवे प्रतिज्ञेविक औपचियों का स्थानीय स्रोत उद्द नियाना जायगा।

दो विशाल क्षेत्र जिनमें प्रगति करती हैं वे हैं, ( क ) मशिलप्ट औपचियों तथा ( ख ) प्रतिज्ञिक औपचियों ( एन्टिबॉटिक )

( क ) मशिलप्ट औपचिया —महापा वर्ग की औपचियाँ भारत मे बन रही हैं, मुन्फायायाजोल ४००,००० पोउ, म-फापिनिटिन ५०,००० पोण्ट मे ज्यादा, सत्कायाजिन २,००,००० पोउ। देश की चर्तमान आवश्यकता के लिए मे योग्य है। आइसो-नियोटिनक अन्ध हाइटोजाइट का उत्पादन शुरू हो गया है। पैराएमिनोसीसिलिक अम्ल भी बन रहा है। यद्या के उपचार मे ये दोनों औपचियों बड़ी ही लाभप्राप्ति है। निकेपामाइट भी बनने लगा है। इनके अतिरिक्त और भी औपचियों तेयार होने लगी हैं जैसे, नैरिट्रियम ग्लूकोनेट, जैन्स्यम इन्सुलीन-ग्लेबटो ग्लूकोनेट, सत्काएमिटअमाइट, डाइआयोट्रोहाइड्रोजमी बिनोलिन, अयोडेन्ट्रोहाइड्रोजमी बिनोलिन, सल्फोनिक अम्ल, ग्लोमो-आइसो-ब्लेटिल यूरिया, निकोपेन, डाइमिनो डाइफेनिल साफोन तथा इसके उत्पादन, डाइफेनिल हाइड्रोजायन, गेणिटमनी ग्लूकोनेट, कार्बोगन, सत्काआर्म-फिनामाइन, यूरियान्टीग्रामाइन, पैरा-टैन्स्ट्रो एगिटिल ऐगिनोव्वेज्जी-हाइड्र, धायोनेमीकावजिन, निकीटिनिक अम्ल, निकोटिनामाइड। अमीवागोवी ( Antiamoebic ) औपचियों मे आमोडोक्सोरोहाइड्राक्सी बिनोलिन निर्मित होने लगी है। मलेरियारोधी औपचियों मे बहुत कम ही औपचियों तेयार हो रही है।

(ख) प्रतिजैविक औषधियाँ—जहाँ तक प्रतिजैविक वर्ग की औषधियों का सम्बन्ध है देश की वार्षिक आवश्यकता इस प्रकार है—पेनिसिलिन लगभग १ करोड़ मेंगा यूनिट, स्ट्रॉप्टोमाइसिन लगभग ७० लाख ग्राम, बलोरोमाइसिटिन लगभग २० लाख ग्राम, तथा ऑर्सियोमाइसिन लगभग २ लाख ग्राम। ये औषधियाँ भारत में थोक परिमाण में आयात की जा रही हैं और यहाँ ही उन्हें गीकियों में भरा जाता है। इनके निर्माण की प्रक्रियाएँ बड़ी ही जटिल हैं इसलिए ये अभी देश में नहीं बन रही हैं। भारत सरकार द्वारा एक पेनिसिलिन का कारखाना लगाया जा रहा है जिसमें ३६ लाख मेंगा यूनिट पेनिसिलिन का उत्पादन होगा और आगे चलकर इसकी उत्पादन क्षमता ६० लाख मेंगायूनिट हो जायगी। स्ट्रॉप्टोमाइसिन और बलोरोमाइसिटिन के उत्पादन का काम शुरू ही निजी उपक्रमों द्वारा शुरू किया जायगा।

जहाँ तक कोलतार के अन्तर्वर्ती उत्पादों (Intermediates) के निर्माण के विकास का सम्बन्ध है, इनकी आवश्यकता रंजक द्रव्यों, सूक्ष्म रसायनों तथा प्लास्टिक उद्योगों के लिए होती है। अब तक इन उद्योगों का विकास देश में नहीं हुआ है, सुतरा कोलतार के अन्तर्वर्ती उत्पादों की माग बहुत कम है। चूंकि ये उद्योग जब पनपते जा रहे हैं और कोलतार के अन्तर्वर्ती उत्पादों कि माँग होती जा रही है इसलिए यह आवश्यक है कि अपेक्षित कच्चे माल का पता लगाया जाय। इसके कच्चे मालों में बेन्जीन प्रमुख हैं और कोक की गैस इसके सम्बरण का एक सशक्त स्रोत है। इस गैस से बेन्जॉल (अपरिकृत बेन्जीन) प्राप्त किया जा सकता है। इस समय वर्तमान कोक भट्टियों से लगभग ५० लाख गैलन बेन्जॉल हर माल प्राप्त किया जा सकता है, जब कि हमारी वर्तमान क्षमता केवल १८.२४ लाख गैलन की है। यह बाढ़नीय है कि कोलतार के अन्तर्वर्ती उत्पादों के निर्माण के लिए जब तक बेन्जॉल की माग काफी भाव्रा में नहीं आती, तब तक पेट्रोल के साथ मिलाकर मोटर गाड़ी के इंघन के रूप में इसको उपयोग में लाने के लिए यथाशक्य अधिकतम भाव्रा में इसे प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय (यहाँ इसका उपयोग २० प्रतिशत तक किया जा सकता है)।

आधिस्वामिक औषधियाँ—चिकित्सा में मितव्ययिता लाने की समस्या के समाधान का एक और मार्ग भी है और वह यह है कि जहाँ तक सक्षम हो अधिस्वामिक एवं एकस्व औषधियों का व्यवहार न किया जाय। पीछे दी गयी सारणियों से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त वर्ग के भेषजों का आयात प्रतिवर्ष उत्तरारोत्तर अधिक परिमाण में होता जा रहा है। भारत के चिकित्सिकों की यह प्रवृत्ति है कि भेषजकोशीय औषधियों की अपेक्षा वे अधिस्वामिक औषधियों का अधिक उपयोग करते हैं, यह बड़े ही शोक का विषय है। यह देख कर बड़ा दुःहोता

है कि प्राय प्रत्येक नुस्खे में जो भेपजन्न को बनाने के लिए दिया जाता है कोई न कोई अधिस्वामिक औपचिं अवन्ध रहता है। इनसे रोगी के लिए औपचिं व्यय बहुत बढ़ जाता है और यह दुर्भाग्य की बात है कि चिकित्सावृत्ति वाले इस तथ्य की प्राय उपेक्षा करते हैं। हम लोगों वा सदा ही यह मत रहा है कि अगर निटिश और अमरीकी भेपजकोशी के सम्मिलित भेपजों से रोगी को लाभ नहीं पहुँच सकता है तो अधिस्वामिक औपचियों से जिनके सघटक और प्रभाव बहुधा अज्ञात होते हैं, स्थिति में निश्चय ही सुधार नहीं जा सकता है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ अधिस्वामिक औपचियाँ ऐसी हैं जिनमें बहुत ही प्रभावी चिकित्सीय तत्त्व हैं किन्तु बहुसंख्यक औपचियाँ ऐसी हैं जिनमें उतना भी प्रभाव नहीं होता जितना कि उनसे कहीं सस्ते और सुगमता से उपलब्ध होने वाली औपचियों में होता है। इनमें से कुछ औपचियाँ तो न केवल निरर्थक सिद्ध हुई हैं वल्कि हानिप्रद भी सिद्ध हुई हैं। अधिस्वामिक औपचियों के इनने व्यापक उपयोग का कारण इसके सिवाय और कुछ नहीं बताया जा सकता कि चिकित्सावृत्ति वाले भेपजगुण-विज्ञान में रुचि नहीं रखते। औपचियों के उपयोग में यदि वे अनुभववाद की उपेक्षा विज्ञानवाद की और अधिक ध्यान दें तो उन्हें इस तरह धोखा न खाना पड़ेगा। उस दाता में वे उन बहुत बड़े चढ़े दाढ़ों पर आसानी से विश्वास नहीं करेंगे, जो औपचिं निर्माताओं द्वारा भेजे गये नूचनापत्रों या परिपत्रों में दिये रहते हैं। ये औपचिं निर्माता बड़े ही विन्दृत पैमाने पर अपनी औपचियों का विज्ञापन करते हैं, और उभमें ऐसे दावे पेश करते हैं जिनकी सच्चाई कभी सावित नहीं की जा सकती। ये विज्ञापन न केवल माधारण पत्रों में निकलते हैं वल्कि देश के कई मेडिकल जरनलों में निकलते हैं। यह बड़े खोद की बात है कि मेडिकल जरनल ऐसी सूचनाओं और विज्ञापनों के प्रकाशन में सहायक होते हैं।

—०—

( ११ )

### अपरिष्कृत भेषजों का उपयोग

अपरिष्कृत भेषजों ( Crude drugs ) और उनसे निर्मित औपचियों का उपयोग कर चिकित्सा वा खर्च काफी कम किया जा सकता है। पाश्चात्य औपचियों के कीमती होने के कारण भारतीय जनता में उनका उपयोग काफी सीमित रहा है। तमाम प्रयासों के बावजूद, आर्थिक कारणों से पाश्चात्य औपचियों के प्रमार में बाबा पड़ रही है, क्यों कि कृषि से यहाँ के लोगों

की आय बहुत कम होती है और जनता की मजदूरी कमाने की क्षमता भी सीमित है, इसलिए लोग उपचार के लिए स्तंशी दवाओं का ही उपयोग कर सकते हैं। जबतक भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति वनी रहती है, तब तक यहाँ का औसत ग्रामीण ऐसी ही औपधियाँ चाहेगा और ऐसा ही चिकित्सीय परामर्श चाहेगा जो उसे कुछ आनो में सुलभ हो तथा उपचार उससे भी कम में ही उपलब्ध हो सके। उसका ऐसा चाहना सर्वथा स्वाभाविक है। भेषजों से सक्रिय तत्त्वों को निकालने और उनको शुद्ध करने में अथवा मानकित औपधियाँ बनाने में काफी अतिरिक्त घर्चं पड़ता है। परिणाम यह होता है कि चन्द रोज चलने वालों औपधियों के एक बोतल की कीमत बारह आने से दो रुपये तक बैठ जाती है। इतनी कीमत चुकाना एक सामान्य व्यक्ति के क्षमता के बाहर है। दैनन्दिन जीवन की बहुत सी बीमारियाँ जिनके लिए औपधि का प्रयोग करना पड़ता है, बहुत माधारण ढग की होती है। बाजार में मिलने वाले बहुत से अपरिष्कृत भेषज ऐसे हैं कि उनका यदि बुद्धिमत्ता के साथ उपयोग किया जाय तो वे प्राय उतने ही लाभकारी हो सकते हैं जितनी परिष्कृत औपधियाँ। कीमती औपधियों की जगह ऐसी मस्ती दवाओं का उपयोग करने से चिकित्सा व्यय में काफी कमी की जा सकती है। अपरिष्कृत वानस्पतिक रेचक प्राय उतने ही प्रभावी होते हैं जितनी वे जीपधियाँ जो बड़ी प्रक्रिया के बाद तैयार की जाती हैं। ऐसी बहुत सी औपधियों पर व्यय कम किया जा सकता है जो इन देश में बहुत व्यापक पैमाने पर प्रयुक्त होती है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सिनकोना के छाल से प्राप्य कुल ऐल्कोहॉल से कुनैन को बहुत वर्षों तक इसी धारणा से अलग किया जाता था कि यही एक भात्र प्रभावी ऐकेलॉहॉल है जो मलेरिया को दूर कर सकता है। इस ऐल्कोहॉल को अलग करने और परिष्कृत करने में इसका मूल्य और ज्यादा हो जाना स्वाभाविक था। ऐक्टन, मैक्सिगिलफ्राइस्ट तथा फ्लेचर के अनुसधानों ने इस बात को निर्णयात्मक रूप से स्पष्ट कर दिया है कि इसके छाल में जो तीन अन्य मूल्य ऐल्कोहॉल हैं वे भी उप्पनप्रदेश में व्याप्त मलेरिया के निवारण के लिए बहुत प्रभावी हैं। इस छाल के कुल ऐकेलॉहॉल का 'सिनकोना फेनिफ्फूज' के रूप में बहुत व्यापक पैमाने पर परीक्षण प्रयोग किया गया और सावधानी के माथ निरीक्षण करने पर यह पाया गया कि वे भी विश्वकूल उतने ही प्रभावी हैं जितना कि शुद्ध कुनैन। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में कुनैन की कीमत सौ रुपया पौंड से ज्यादा हो गयी थी और हाल में इनकी कीमत घटकर ४० रुपया पौंड आ गयी है। फिर भी यहाँ की आम जनता की जो आर्थिक स्थिति है उसको देखते हुए यह कीमत भी उनके लिए काफी ज्यादा है। सुतरा, परिणाम यह होता है कि उपनगरों के बहुत से अस्पताल

और औपधालय जिनका भालाना बजट बहुत बड़ा नहीं होता है, मलेरियारीबी अत्यावश्यक भेषजों को बहुत निमित्त मात्रा में मौंगा पाते हैं। ऐसी औपचियों को मौंगने के लिए उन्हें प्रायः अन्य अवश्यक भेषजों में भी कमी करनी पड़ती है। शुद्ध कुनैन की जगह अपरिष्कृत कुल ऐल्केलॉयडों ( सिनकोना फेनिफ्लूज़ ) का प्रयोग करने से ध्यय में बहुत बचत को जा सकती है। इस प्रश्न पर हमने अन्यथा सिनकोना के प्रसग में पूर्ण रूप से विचार किया है। अमीबारूणता ( Amoebiasis ) जो इस देश में बहुत ही व्यापक है, के उपचार के लिए इपेकाकुआन्हा ( Ipecacuanha ) के कुल ऐल्केलॉयड भी उतने ही प्रभावी मिह्न हुए हैं जितना कि शुद्ध एमेटिन ( Emetin )। पुनः कुटज ( Holarrhena antidysenterica ) के छाल के सम्बन्ध में भी यही देखा गया है कि कुल ऐल्केलॉयड और उनसे निमित्त औपचियाँ, शुद्ध कोनेसिन ( Conessine ) की अपेक्षा अधिक लाभदायक हैं। एफेड्रा वलर्गिस ( Ephedra vulgaris ) से निमित्त टिक्कर, दमा तथा हृद्यात आदि रोगों में उतना ही प्रभावी है जितना कि मूल्यवान ऐल्केलॉयड एफेड्रिन। इनी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। देशीय भेषजों से टिकिया निमित्त की जा सकती है जो सस्ते दाम पर बेचों जा सकती है। देश के हित के लिए इस दिशा में ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि मितव्ययिता और अत्यधिक व्यय-माध्य चिकित्सा की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया तो कोई भी चिकित्सा नियोजन इस देश में सफल नहीं हो सकेगा।

---

( १२ )

### सहायक उद्योगों का विकास

**विलायक:**—ओपधीय उपयोगों के लिए परिष्कृत रसायनिक द्रव्यों, ऐल्केलॉयड आदि का निर्माण औपचिय निर्माण करने वाले वर्तमान प्रतिष्ठानों द्वारा भी बड़े पैमाने पर सुगमता से किया जा सकता है, किन्तु विलायकों की समस्या बड़ी कठिन है। विलायकों का इस काम में बहुत अधिक उपयोग किया जाता है, पर ऐल्कोहॉल को छोड़कर प्रायः अन्य सभी विलायक जैसे क्लोरोफार्म, ईथर, वेन्जीन, पेट्रोलियम इत्यादि सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं और उनके लिए बहुत ऊँची कीमतें चुकानी पड़ती हैं। जहाँ तक ऐल्कोहॉल का सम्बन्ध है, परिशोधित स्पिरिट के उत्पादन की वास्तविक लागत आजकल यद्यपि करीब डेढ़ रुपया प्रति गैलन ही बैठती है पर इसपर

उत्पादन शुल्क संतीस रुपये आठ आने, अर्थात् उत्पादन लागत का प्राय सोलह गुना लिया जाता है। यह सच है कि औपचीय प्रयोजनों के लिए, कृतिपथ भेपज निर्माताओं को जिनके पास करदेय सग्रहागार '(bonded stores)' हैं, पांच रुपया (धोक पर ७ रु० ४ आना) प्रति प्रूफ गैलन की खास रियायत दी जाती है किन्तु इसके बावजूद भी स्पिरिटयुक्त (प्रासवीय) औपचियों की कीमत इतनी ज्यादा है कि गरीब जनता उतनी नहीं दे सकती है। औपचीय प्रयोजनों के लिए ऐल्कोहॉल की कीमत अगर काफी कम नहीं की जाती है तो औपचियों के मूल्य को उस स्तर पर लाना सम्भव नहीं हो सकता है जिस पर भारतीय कृपक उन्हें खरीद सकें।

वेन्जीन और पेट्रोलियम ऐसे दो विलायक हैं जिनका महत्त्व की दृष्टि से ऐल्कोहॉल के बाद दूसरा स्थान है। ये दोनों ही विलायक भारत में बहुत ही सस्ते मिलने वाले कच्चे माल से बहुत आसानी के साथ बड़े पैमाने पर बनाये जा सकते हैं। वेन्जीन का निर्माण पत्थर के कोयले से कोयला-क्षेत्रों में किया जा सकता है। एक या दो ऐसे प्रतिष्ठानों द्वारा जिनके पास कोक भट्टौ (Coke oven) है, इसका निर्माण किया जा सकता है, किन्तु जब दूसरे देशों में इसकी कीमत प्रति गैलन एक शिल्प के लगभग पड़ती है यहाँ यह एक रुपया दस आने प्रति गैलन बिक रहा है और ऊपर से ६ आने का शुल्क भी देना पड़ता है। इस ऊँची कीमत पर भी इसकी आपूर्ति बहुत सीमित मात्रा में हो पाती है जो माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। कोक को तैयार करने में जो बहुत से उपोत्पाद (by-products) प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकाश बेकार चले जाते हैं। ऐसिटोन, ग्लिसरीन जैसे अन्य विलायक भी यहाँ सुगमता से बन सकते हैं। ऐसिटोन लकड़ी के छीलन या चुरादे से बनता है। इसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में कच्चा माल यहाँ उपलब्ध है, क्योंकि इस विशाल देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग नवा हिस्सा जगलों से भरा पड़ा है। फिर भी आज सारे देश में केवल एक या दो ही ऐसिटोन फैक्टरियाँ हैं। भारत के सावुन के कारखानों में सावुन बनाने के बाद जो द्रव बच जाता है उसमें ग्लिसरीन की बहुत बड़ी मात्रा फैक दी जाती है, जिसे हम पुन प्राप्त कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर सावुन बनाने वाले कुछ प्रतिष्ठान हिन्दुस्तान में ऐसे हैं जो इतना सस्ता ग्लिसरिन निकाल सकते हैं कि आयातित ग्लिसरिन जिस कीमत पर यहाँ बिकता है उसका वे मुकाबिला कर सकते हैं। भेपज निर्माण करने वाली फैक्टरियों के लिए जिन मशीनों की जरूरत होती है उनका १० प्रतिशत से ज्यादा भाग यूरोप या अमेरिका से इस समय मँगाया जा रहा है। यह सब हिन्दुस्तान

में सुगमता से वन सकता है और बहुत सस्ते दामों पर। भेषज निर्माण से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उद्योग हैं जिनके विकास का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

( १३ )

### औषधीय पादपों की कृषि

वन ससाधनों का उपयोग —अब हम इस देश में व्यापारिक स्तर पर कृषि द्वारा भेषजों के उत्पादन के महत्वपूर्ण प्रश्न पर दृष्टिपात रहेंगे। भारतवर्ष विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों का एक सम्भालिय है। लगभग तीन चौथाई औपचियाँ, जिनका उल्लेख विटिश अथवा अन्य भेषजकोशों में है, प्राकृतिक अवस्था में यहाँ पैदा होती है। यहाँ तक औपचिय वनस्पतियों का प्रश्न है, इस देश में इन औपचियों के विशाल भण्डार है। यही नहीं, अपितु अनेक प्रकार के सुगमित्र द्रव्य तथा मसाले, जो विश्व भर में प्रसिद्ध हैं, यहाँ प्राप्त होते हैं। यहाँ उष्ण से शीत कटिवन्धीय जलवायु पाया जाता है, उष्णकटिवन्धीय पौधों का एक विस्तृत भू-भाग है, शोतोष्णकटिवन्धीय पहाड़ियाँ और घाटियाँ हैं, सिन्हभूमि है, बाद्र एवं शुष्क जलवायु तथा सस्ते मजदूर उपलब्ध है। वस्तुत इसे ससार के जलवायु, कृतुओं और मिट्टी का प्रतिरूपक ( epítome ) कहा गया है। इन कारणों से जो भेषज यहाँ प्राकृतिक अवस्था में नहीं पैदा होते हैं, उनका भी यहाँ उत्पादन आसानी से संभव हो सकता है। किसी भी पादप को बहुत हद तक वातावरणक्षम बनाया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें किसी एक देश में पैदा होने वाली तथा किसी एक देश से ही वाहर भेजी जाने वाली वनस्पति का अन्य देशों में प्रचलन किया गया और वहाँ भी उसने अपनों नीव मच्छूत कर ली। अब तक प्राय देश के प्राकृतिक ससाधनों पर ही भरोसा किया जा रहा है और वन्य अवस्था में पैदा होने वाली वनस्पतियों का ही संग्रह और उपयोग किया जा रहा है किन्तु यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि देश में सभी तरह की जलवायु एवं परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, तथापि वनोपवि साधनों के विकास में सबसे बड़ी कठिनाई रही है परिवहन की। ये जगल कई स्थानों पर तो रेलवे लाइन से सैकड़ों मील दूर पड़ते हैं जिससे उनका परिवहन बड़ा महँगा पट जाता है। फिर भी, कुछ वर्षों से परिवहन की सुविधाएँ काफी बढ़ गयी हैं और मोटर परिवहन के आ जाने से दूरस्थ प्रदेशों में भी पहुँचना सुगम हो गया है। नि सदैह राज्यों के वन-विभागों ने अपने साधनों का भरपूर उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है और कार्यपरायणता के चिह्न वहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ‘भारतीय कृषि-अनुमधान-परिपद’ ( इन्डियन काउन्सिल ऑफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च ) तथा

'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्' ( काउन्सिल ऑफ साइट्रिफिक एण्ड इन्डस्ट्रीयल रिसर्च ) और 'भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान-परिषद्' ( इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च ) की स्थापना से तथा इन परिपदों द्वारा अनुसंधान के लिए दिये गये वृहद् अनुदानों से औषधीय पादपों की ओर समुचित ध्यान दिया जा रहा है और देश के औषधि संसाधनों का भरपूर विकास किया जा रहा है।

जंगलों में यत्र-तत्र विखरी हुई वनीषधियों का सग्रहण बहुत ही अमसाध्य है और ग्राम सचयन व्यय के कारण भेषजों और उनसे वनी औषधियों का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। विखरे हुए क्षेत्रों में वन्य दशा में पैदा होने वाले भेषजों के सग्रहण में जो असुविधाएँ हैं, वे ये हैं (क) यदि औषधीय पादप का नैसर्जिक उत्पत्ति स्थान दूर हुआ तो वहाँ तक पहुँचने में और उनके परिवहन में कठिनाई होती है, (ख) उनका छुट्टपुट वितरण होता है, (ग) उनका अविवेकपूर्ण सग्रहण किया जाता है जिससे उनका निर्मूलन ही सकता है, वेलाडोना और सर्पगदा के सबध में ग्राय ऐसा ही हुआ।। (घ) सग्रह करने वालों की अनभिज्ञता के कारण असली पौधों में नकली पौधे भी मिल जाते हैं।

वन्यदशा में पैदा होने वाली औषधियों के सग्रहण में होने वाली इन कठिनाईयों के कारण ही इनकी खेती का सुझाव दिया जाता है। भारत की भूमि तथा जलवायु में बहुत बड़ी अनेकरूपता होने के कारण ससार के प्रत्येक प्रदेश से पौधे लाकर यहाँ लगाये जा सकते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष विदेशों से अपरिष्कृत भेषजों के आयात के बारे में स्वतंत्र हो सकता है। भैषजिक उद्योगों को मानकित गुणवाले भेषजों का नियमित रूप से आपूर्ति होती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वन्यदशा में उत्पन्न होने वाले भेषजों की समुचित ढंग से खेती की जाय तथा बाहर के भेषजों को यहाँ लाकर उनकी खेती की जाय। बहुत पहले १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अम्यागत ( बाहरी ) पौधों की परीक्षणात्मक कृषि यहाँ आरम्भ की गयी थी। भारत सरकार तथा निजी अभिकरणों ( एजेन्सी ) द्वारा बोटानिकल गार्डेनों तथा चाय और काँफी के बागानों में डिजिटैलिस, सिनकोना, इपेकाकुआन्हा, पाइरेश्म जैसे औषधीय पादपों को लगाने के प्रयत्न किये गये हैं। अम्यागत पौधे अच्छे उगे हैं और कुछ ही वर्षों के सर्वधन से उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से अपने को यहाँ की मिट्टी के अनुकूल बना लिया है। अब उनमें से अनेक इस देश में औद्योगिक स्तर पर उगाये जा रहे हैं।

विश्व व्यापार की सामान्य स्थिति में वानस्पतिक औषधियों को प्राप्त करने की समस्या नहीं रहती, इसलिए उस समय इन औषधियों को प्राप्त करने के लिए नये

स्रोतों को विकसित करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इसका विशेष कारण यह भी है कि ये भेषजीय वनस्पतियाँ आसानी से बेचने योग्य नकदी फसल ( Cash Crop ) नहीं समझी जाती। केवल हरविस्तृत युद्ध के समय ही, जब आपूर्ति के सामान्य स्रोत अवृद्ध हो जाते हैं, इन वानस्पतिक उत्पादों को स्थानीय स्रोतों से प्राप्त करने की सभावना पर कुछ गभीरता से विचार किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारतवर्ष में कई आवश्यक भेषजों की आपूर्ति विलकुल बढ़ हो गयी थी। यहाँ तक कि भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले भेषज भी पर्याप्त सांत्रा में नहीं प्राप्त ही रहे थे। उस समय भेषजों की बहुत कमी हो जाने के कारण यह अनुभव किया गया कि औपचार्यीय वनस्पतियों के सुव्यवस्थित उत्पादन के लिए कुछ अवश्य किया जाना चाहिये। बहुत से लोगों ने जिनकी इस दिशा में अभिरुचि थी, और जो इनके बढ़ते हुए दामों से आकृष्ट हुए थे, सरकार के सन्मुख इन वनस्पतियों के उत्पादन के कार्यक्रम प्रस्तुत किये और उनको सरकार का अनुमोदन भी मिला। एक बात जिसकी ओर बहुधा लोगों का ध्यान नहीं जा पाता है, यह है कि इस प्रकार की कृषि एक विशेषज्ञ का कार्य है तथा कृषि और वनस्पति-विज्ञान का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति इस कार्य को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है। कोई पौधा अमुक क्षेत्र में सफलतापूर्वक उत्पन्न हो सकता है, इस प्रकार का निर्णय करने के पूर्व सवर्धन ( Culture ), मिट्टी, रोग तथा लवाई आदि बातों पर पूरी तरह से विचार कर लेना चाहिये। सिनकोना तथा कोका का भारत तथा पूर्वी डच द्वीप समूह में किस प्रकार उत्पादन किया गया, इसको देखने से उपर्युक्त बातें स्पष्ट हो जायेगी। सिनकोना की खेती के लिए सबसे पहले प्रयास किया था श्री लकेमेन्ट्स मारखम ने, जब उन्होंने दार्जिलिंग की पहाड़ियों में सिनकोना का वागान लगाया। डच पादप सवर्धन विजेषज्ञों ने तो बहुत बाद में काम शुरू किया, किन्तु सवर्धन की उन्नत प्रणालियाँ अपनाकर तथा जातियों के ठीक-ठीक चुनाव और संकरण द्वारा सिनकोना उत्पादों के लिए विश्व बाजार को नियन्त्रित करने में वे सफल हुए, जब भारतवर्ष आज भी अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं कर पा रहा है। इसी तरह भारत ने इस शताब्दी के आरम्भ में नीलगिरि एवं ट्रावकोर की पहाड़ियों में कोका की कृषि का असफल प्रयास किया, जब डच लोग जावा में बड़े पैमाने पर इसकी ( एरिश्रॉक्सिलम कोका के स्थान पर एरिश्रॉक्सिलम ट्रॉक्सिलेंस की ) खेती को सुदृढ़ बनाने में सफल हो गये। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। पादप सवर्धन की विधिया अब इतनी विकसित हो गयी है कि जिन पौधों के उत्पत्ति स्थान केवल उष्णकटिबंधीय प्रदेश रहे हैं वे अब राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता एवं राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के हित में कृत्रिम परिस्थितियों में समर्थीतोष्ण

या अन्य जलवायु में भी सफलतापूर्वक उगाये जा रहे हैं। भारत में जलवायु की सुविधा है और मज़बूर भी सस्ते हैं। इसलिए अगर वैज्ञानिक ढंग पर इस समस्या को हल करने की कोशिश की जाय तो कोई कारण नहीं है कि सफलता न मिले। इस प्रयोजन के लिए पादप सर्वर्वन विशेषज्ञों, वनस्पतिज्ञों, रसायनज्ञों, भेषजगुणविज्ञों एवं कोटविज्ञानिओं में परस्पर सहयोग होना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनके समाधान में सयुक्त प्रयास आवश्यक हो जाता है ताकि यह निश्चय किया जा सके कि अमुक जैव में किस जाति या सकर नस्ल की खेती ठीक होगी। इसके लिए आवश्यक वैज्ञानिक प्रतिभा यहाँ उपलब्ध है और उसका उपयोग किया जाना चाहिये।

निटिंग राष्ट्रमंडलीय देशों में, औपधीय वनस्पतियों की खेती करने, तथा कई वानस्पतिक प्राकृतिक-उत्पादों के स्रोतों का अविलम्ब विकास करने के सम्बन्ध में ग्रेट निटेन की मेडिकल रिसर्च कौसिल की “थिरैप्युटिक रिकवायरमेण्ट्स कमेटी” ने १९४१ में आवाज उठायी थी। निम्नलिखित औपधियों के उत्पादन की उसने सिफारिश की थी।

(१) ऐसिडम टार्टरिकम; (२) अगर, (३) वैल्सैम टोलुटैनम; (४) बैन्जोयैन, (५) कैलम्बा; (६) कैम्फर, (७) कैन्थेराइड्स, (८) कैस्केरा सैग्राडा, (९) क्राइसारोविन, (१०) सिनकोना, (११) कोका, (१२) कोलोफोनी, (१३) क्रियो-जोट, (१४) घृतूरा, (१५) डेरिस, (१६) एफेड्रोन; (१७) एर्साँट, (१८) जेन्शिअन, (१९) गिलसिराइज्जा, (२०) हैमामेलिस, (२१) हाइब्रोसायमस म्युटिक्स, (२२) इपेकाकुआन्हा; (२३) जवोरेण्डी, (२४) कैमेरिया, (२५) लोबेलिआ, (२६) मेन्थॉल, (२७) मीलाव्रिस, (२८) ओलियम कैडिनम, (२९) ओलियम ऐमिङ्डाली; (३०) ओलियम ऐनिसी, (३१) ओलियम चिनोपोडी, (३२) ओलियम मैथी पीपेरिटी, (३३) सैन्टोनिन, (३४) सिला, (३५) स्टोरेंक्स, (३६) थार्डिसॉल, (३७) ट्रैगाकैन्थ।

बाल्सम टोलू, कैम्फर, कैस्केरा सैग्रेडा, क्राइसारोविन, हैमामेलिस, जैवोरेण्डी, कैमेरिया, मैथॉल, स्टोरेंक्स, और थाइमॉल के लिए भारत के पास कोई स्रोत नहीं है या अल्प स्रोत है, किन्तु अपेक्षाकृत थोड़े पुरुपार्थ से ही अन्य भेषजों को वह पैदा कर सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में चिकित्सा विभाग तथा सभरण निदेशालय (चिकित्सा मंडल) के प्रयास से इस दिशा में काफी काम किया गया और जिन ३९ भेषजों के उत्पादन की मेडिकल रिसर्च कौसिल ने सिफारिश की, उनमें से १७ या १८ के सम्बन्ध में भारत आत्मनिर्भर हो गया है, वे हैं—अगर, कैन्थेराइड्स, कोलोफोनी, घृतूरा, एफेड्रा, जेन्शिअन, गिलसिराइज्जा, हाइब्रोसायमस, लोबेलिआ,

ओलियम ऐमिगडाली, ओलियम लिमोनिस, ओलियम टरबेन्थिनी, सिलियम, रङ्गवर्ब, सैन्टोनिन, सिला, ट्रैगाकैन्थ । और आगे प्रयास करने से और अधिक सफलता की संभावना है ।

### विदेशों में भेषजीय वनस्पतियों की कृषि

निटेन, अमेरिका और सोवियत रूस समेत यूरोप के प्राय सभी देशों में, राज्य की ओर से तथा भेषजीय पदार्थ निर्माण करने वाले संस्थानों द्वारा भेषजीय वनस्पतियों की कृषि का कार्य शुरू किया गया । अमेरिका में राज्य के कृषि विभाग (स्टेट डिपार्टमेन्ट आफ ऐग्रिकल्चर) द्वारा १९०३ ई० में ही अभ्यागत पादपों को उगाने के लिए 'प्लाट इण्ट्रोडक्शन ऑरगेनाइजेशन' नामक एक संस्था संगठित की गयी । ऐसे संगठन जर्मनी, बेल्जियम, हॉलैण्ड, फ्रास और सोवियत रूस में भी है । आर्थिक महत्त्व के पादपों को बाहर से लाकर लगाने और उनकी कृषि करने की दिशा में इन संगठनों ने बड़ा प्रशसनीय कार्य किया है ।

अमेरिका का यह संगठन, अन्य बहुत से कामों के अतिरिक्त, भेषजीय पादपों के वर्धन में बड़ी सहायता पहुँचाता है । ऐसे उत्पादों के लिए, उत्पादन स्थल के सर्वाधिक सन्निकट कौन से प्रमुख बाजार हैं इसको बताने के लिए वह सालियकीय सूचनाएँ प्रकाशित करता है तथा राजनयिक एवं अन्य माध्यमों से दूसरे देशों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है । इस तरह यहाँ भी आर्थिक अथवा औद्योगिक महत्त्व वाली नयी वनस्पतियों को बातावरणक्षम बनाने हेतु बीज एवं कृषि सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं ।

पिपरमिट तेल का उत्पादन इण्लैण्ड, फ्रास और इटली में अमेरिका की अपेक्षा बहुत पहले शुरू किया गया था, किन्तु वर्धन तथा आसवन की समुच्चत प्रणालियों की सहायता से अमेरिका ने इसके सम्भरण में विश्व में अपना प्रमुख स्थान बना लिया । "प्लाट इण्ट्रोडक्शन ऑरगेनाइजेशन" की प्रेरणा से स्पीयरमेंट (मेन्था विरिडिस) और जापानी पिपरमिट (मेन्था आरवेन्सिस वेराइटी पिपरासेन्स) का भी अमेरिका में प्रवेश कराया गया है ।

"ब्यूरो ऑफ प्लाण्ट इण्ट्रोडक्शन एण्ड एक्सप्लोरेशन" जैसे एक संगठन को स्थापित करने का आवश्यकता यहाँ बहुत दिनों से अनुभव की जा रही थी । सौभाग्य से "भारतीय कृषि-अनुसन्धान-परिषद्" के तत्वावधान में अभी हाल में इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया गया है । यद्यपि यह ब्यूरो अभी शैशवावस्था में ही है तथापि आशा की जाती है कि यह अभ्यागत पादपों की कृषि के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना

प्रात करेगी और देश की जलवायु के लिए अनुकूल होने वाले आर्थिक महत्व के पादपो के विषय में जानकारी एकत्र करेगी। यहाँ कितनी एकड़ भूमि भेपजीय बनस्पतियों की कृषि के अन्तर्गत है और प्रति एकड़ कितना उत्पादन होता है, इसकी कोई सास्थिकीय आँकड़े देश में उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्येक अपरिष्कृत भेपज का जितना निर्यात और आयात है, इसकी सूचना भी उपलब्ध नहीं है। जो लोग कृषि करना चाहते हैं, उनके लिए ये सूचनाएँ बड़े महत्व की हैं और ब्यूरो को ये सूचनाएँ एकत्र करने और सम्बद्ध लोगों को पहुँचाने में समर्थ होना चाहिये।<sup>१०</sup>

सौन्दर्य प्रयोजनों के लिए वृक्षों की कृषि इस देश में लोकप्रिय होती जा रही है। इस हेतु यदि सुन्दर वृक्षों को, विशेषतया उनको जिनमें भेवजीय गुण हैं, उगाये जायें तो उचित ही होगा। बहुत से ऐसे वृक्ष हैं जैसे कैंसिया फि स्टुला, स्ट्रॉफैन्थस कोम्प्रे और गुल्म-सदृश रोजमैरिनस आँफिसिनैलिस तथा अन्य कई जो ग्रामीण क्षेत्रों को सुन्दर बना सकते हैं और साथ ही चिकित्सीय भेपज प्रदान कर सकते हैं। आर्थिक एवं सौन्दर्य प्रयोजनों के लिए ऐसे कई वृक्षों की कृषि के बारे में यह सगठन मत्रणा दे सकता है। यह ब्यूरो देश के विभिन्न भागों में, जहाँ की जलवायु सम्बन्धी स्थिति भिन्न-भिन्न है, अभ्यागत पादपों की परीक्षणात्मक खेती कर सकता है। सारे भारत में यन्त्र-तत्र बन रोपणिया (Forest nurseries) तथा बोटानिकल गार्डेन हैं जिनका इस प्रयोजन के लिए उपयोग किया जा सकता है।

#### भारत में भेपज-कृषि

डिजिटैलिस, इपिकाकुआन्हा, सिनकोना, जैलप जैसे भेषजीय महत्व वाले पादप यहाँ पहले से ही उगाये जा रहे हैं। फिर कोई कारण नहीं है कि यदि निर्यात के लिए नहीं तो कम से कम अपनी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए देश में प्रत्येक भेपज क्यों न पैदा किया जाय। देश में विशाल भूभाग आज वजर पड़े हुए है। यदि इनका भेपज-कृषि के लिए उपयोग किया जाय तो इससे इस उद्यम से सम्बन्धित व्यक्ति ही समृद्ध न होंगे बरन् देशवासियों को उचित सूल्य पर औपचार्यी भी मिलने लगेगी। भेपजों की सुचारू टग से खेती करने से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि मानकित गुणवाली असली औषधियों की नियमित आपूर्ति का पक्का निश्चय हो जायगा। अखाद्य अर्थात् अन्नेतर फसलों में, भेपज एवं स्वापक (नाकोंटिक) की खेती में लगभग २६ लाख एकड़ भूमि लगी हुई है, अर्थात् कुल कृषि भूमि का ०८

- उपरोक्त कार्य हेतु अब 'वैशानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद' के अन्तर्गत 'केन्द्रीय औषधीय एवं संग्रह पौधा संस्थान' (सेन्ट्रल इन्स्टिट्यूट ऑफ मेडिसिनल एन्ड एरोमैटिक प्लैन्ट्स की स्थापना हो गई है—अनु०

प्रतिशत भाग। सिन्हकोना की सरकारी खेती के लिए लगभग १५,००० एकड़ भूमि रखी गई है, किन्तु वस्तुतः ६००० एकड़ से ज्यादा भूमि इसमें नहीं लगी हुई है। गाँजा, शाँग, तम्बाकू और अफीम जैसे स्वापक ( नार्कोटिक ) भेषजों की कृषि में अपेक्षाकृत बहुत कम एकड़ भूमि लगी हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि सिन्हकोना एवं अन्य भेषजों के लिए कश्मीर, सहारनपुर, कोयम्बटूर और उटकमण्ड में परीक्षण के लिए जो फार्म है उनको छोड़कर, भेषजीय वनस्पतियों की खेती को बढ़ाने के लिए आज प्रायः कुछ भी नहीं किया जा रहा है। वस्तुत यह खेद का विषय है।

विशेषज्ञों की देख-रेख में बोटैनिकल गार्डेनों में भेषजीय पादपों की कृषि कराने का विचार कोई नयी बात नहीं है। इहुत पहले १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भेषजीय पादपों की कृषि के लिए वानस्पतिक उद्यान विद्यमान थे और उनको ठीक-ठीक देखभाल करने में बहुत सचि ली जाती थी। १५६० ई० में ऐसे लगभग ५० बाग इटली में थे। पिसा का बोटैनिकल गार्डेन तथा पट्टुआ का भेषज उद्यान, जो १५४६ ई० में लगाये गये बताये जाते हैं, आज भी विद्यमान है। हालैण्ड के लीडेन नामक स्थान में जो भेषज विक्रयालय ( एम्पोरियम ) है, वह १५७५ ई० का है। भारत में भी बोद्ध शासन काल में भेषज की कृषि के लिए बड़े योग्य विशेषज्ञों की देख-रेख में वानस्पतिक उद्यानों का अभिपोषण किया जाता था। इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि महान् सम्राट् अशोक की इस दिशा में बड़ी रुचि थी और इन बागों के विकास के लिए वे राज्य कोष से काफी अनुदान देते थे। आज भी भेषज बागानों की उपयोगिता लोग खूब समझते हैं, किन्तु इस महत्वपूर्ण योजना के पिछे रह जाने का मुख्य कारण समझत यह है कि देश में भेषजीय वनस्पतियों की कृषि की आर्थिक सफलता के सम्बन्ध में कई क्षेत्रों में सदैह व्यक्त किया गया है। वानस्पतिक भेषजों की खपत गत ५० वर्षों में यद्यपि बहुत घट गयी है, और प्राकृतिक प्रयोगशाला में विकसित इन भेषजों का स्थान दूत गति से संश्लिष्ट औषधियाँ लेती जा रही है, फिर भी, वानस्पतिक भेषजों का उपयोग अभी भी बहुत हो रहा है। वानस्पतिक भेषजों का उत्पादन और उपयोग वस्तुत कई जगह बढ़ गया है। जर्मनी एवं बेल्जियम जैसे देशों में भेषजीय पादपों एवं वाष्प-शील तैल वाली वनस्पतियों के बागान बड़े सफल सिद्ध हुए हैं। फ्रास में भेषजों को बड़े पैमाने पर पैदा करने के लिए, राज्य बड़ी रुचि ले रहा है और अमेरिका में तो भेषजीय वनस्पतियों की खेती औद्योगिक पैमाने पर हो रही है और खेती करने वाले काफी अच्छी फसल पैदा कर रहे हैं और खूब लाभ कमा रहे हैं। इस दिशा में लोगों की अभिरुचि को प्रोत्साहित करना सभी के लिए लाभप्रद होगा।

बहुत से भेषजों का सम्बन्ध तो वन विभाग से है, किन्तु अनेक भेषजों में कृषि

विभाग की भी अभिरुचि होगी। ऐसी योजना की सफलता के लिए प्रबीण वनस्पतिज्ञों भेषजिक रसायनज्ञों, एवं भेषजगुण विज्ञानियों में परस्पर सहयोग बढ़ा आवश्यक है, वे न केवल इस सम्बन्ध में यह राय दे सकते हैं कि असुक भेषज की सफल खेती कहीं की जा सकती है बल्कि इन सब बातों के बारे में भी प्रत्यक्ष मार्ग दर्शन कर सकते हैं कि इनकी कृपि और इनके संग्रहण आदि के लिए कौन भा समय उपयुक्त होगा ताकि उनमें सक्रिय तत्त्व अधिकतम हो और इनकी क्रियाशीलता भी अधिकतम रहे तथा जिन सक्रिय तत्त्वों की कमी हो, उनको बढ़ाने के लिए वे उपाय निकाल सके। भारत की भेषजीय वनस्पतियों की रसायन रचना के सविस्तार अध्ययन से न केवल भेषजीय रसायन को नये तथ्यों की जानकारी उपलब्ध होगी, बल्कि भारत या अन्यत्र के चिकित्सकों की दृष्टि में भी ये तथ्य अवश्य आयेगे। आर्टिमीसिया मैरिटाइमा पर जो अनुसंधान कार्य हुआ है उससे पता चलता है कि भेषजों की कृत्रिम खेती कैसे की जा सकती है और उन्हें कैसे बातावरणक्षम बनाया जा सकता है तथा वैज्ञानिक ढग से इनकी खेती करने पर इनके सक्रिय तत्त्वों में सुधार कैसे लाया जा सकता है। सैण्टोनिनधारी आर्टिमीसिया के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता था कि वह केवल रूसी तुर्किस्तान में ही पैदा हो सकता है, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जब इसका सम्भरण बिलकुल बन्द हो गया था, तो वान लारेन ( Van Laren ) ने इस पादप की प्रकृति और उसके आवास का वैज्ञानिक अध्ययन करके हॉलैण्ड में आर्टिमीसिया सिना को भफलता पूर्वक उगाया जिसमें काफी मात्रा में मकिय तत्त्व थे। रूसी तुर्किस्तान में वन्य दशा में पैदा होने वाले आर्टिमीसिया में सैण्टोनिन की मात्रा १५ से २६ प्रतिशत तक होती थी, जब कि समुचित ढंग से खेती करने पर इसके सक्रिय तत्त्वों की मात्रा २६ से ३६ प्रतिशत तक बढ़ायी जा सकी है।

सर्पगधा, बेलाढोना जैसे पादपों का इधर हाल के वर्षों में विवेक रहित गोपण करने का परिणाम यह हुआ है कि भेषजीय एवं मसाले वाली वनस्पतियों के क्षेत्र में हमारे अनेक बहुमूल्य प्राकृतिक सासाधन सर्वथा निव्वशेष हो गये हैं। भेषजीय पादपों में समृद्ध कई प्रदेशों के पाकिस्तान में चले जाने से भी बड़ा प्रगतिरोध हुआ है। मुलेठी ( ग्लीसिराइजा ), एफेड्रा, आर्टिमीसिया और हीग ( असाफोटिडा ) प्रमुख रूप से पश्चिमी पाकिस्तान के सीमान्त क्षेत्रों एवं बलूचिस्तान के उत्पाद थे और अब इनकी आपूर्ति बन्द हो गयी है। सग्गहक्कताओं को समुचित ज्ञान न होने से इन भेषजों में जानवृक्ष कर या अनजाने अपमिश्रण भी बहुत होता है। सभी तथा अन्य बातों का विचार किये बिना ही, बहुधा भेषजों का संग्रह किया जाता है। इन सब बातों के कारण यह आवश्यक है कि भेषजीय वनस्पतियों की खेती

वैज्ञानिक दण से की जाय जिसमें भेषजीय उच्चोग को अपरिष्कृत भेषज मिलते रहे।

यह बड़े सतोप की वात है कि भारत में भेषजीय पादपों की खेती में अधिक अभिरुचि ली जा रही है। कई भेषज फार्म चालू किये गये हैं। कश्मीर के कई भागों में बैलाडोना, हाइओसियाम, पाइरेथम, और सनाय की खेती बड़ी सफल सिद्ध हुई है। मैसूर राज्य में वैटल (Wattle), पाइरेथम, डेन्सि, सिनकोना, जिरैनियम, पिपरमिण्ट तथा टुग (Tung) जैसे पादपों की खेती सफल सिद्ध हो चुकी है और वहाँ बड़े पैमाने पर इन पादपों की खेती करने का विचार किया जा रहा है।

भारतीय कृषि-अनुसधान-परिपद् भी अपनी मेडिसिनल प्लाण्ट्स कमेटी के माध्यम से उत्तर-नूर्वी, उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कई प्रदेशों में इस दिशा में कार्य कर रही है। वहाँ न केवल देशीय पादपों की खेती पर, वल्कि अभ्यागत् पादपों का भी प्रवेश कराने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए मेडिसिन का दत्तुरा हनौंकिसया और आस्ट्रेलिया के ड्यूबोडसीया जातियों को हाइओसियामिन के श्रेष्ठतर लोत के रूप में, भूमध्य सागरीय तटवर्ती स्थानों की अर्जिनिभा मिला तथा इस और जर्मनी की धनिया (कोरिएन्ड्रम सैटाइवम) और सौंफ (फोनिकुलम वल्गैरिस) को, एक मेडिसिन को हैलिओप्सिस लॉगिपेस को पाइरेथम के श्रेष्ठतर लोत के रूप में यहाँ उगाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। अनुसधानकर्ताओं के ये प्रयास, कृषि विशेषज्ञों एवं उद्यान-कृषि विशेषज्ञों के प्रयास का सहयोग पाकर देश की सम्भावी सम्पदा को बढ़ायेंगे और इनके लिए हमारा परावलम्बन जाता रहेगा।

कृषि द्वारा आर्थिक पाक्षों में सुधार लाने का अध्ययन एक बड़ा ही रोचक विषय है, जो भारत में थेष्टर गुण वाले भेषजीय वनस्पतियों के उत्पादन से सीधा सम्बन्ध रखता है। कलम-रोपण, चयन, सकरण, विकिरण और रासायनिक योगिको द्वारा उत्परिवर्तन (Mutation), तथा कॉलिचिसिन द्वारा बहुगुणिता (Polyploidy) का घौंघों में समावेशन ये ही कुछ उपाय हैं जो इस दिशा में अपनाये जाते हैं। इस दिशा में अन्य देशों में बहुत काम हुआ है, किन्तु भारतवर्ष में अभी केवल शास्य-पादपों में सुधार लाने का कार्य प्रारम्भ किया गया है। हाइओसियामस नाइजर, दत्तुरा मिटेल, ऑसिमम वैसिलिकम, आदि जैसे कुछ भेषजीय पादपों पर उपरोक्त प्रकार के कार्य किये गये हैं। अनुसधान के इस आगाजनक क्षेत्र में जिसमें अभी तक कोई विशेष कार्य नहीं किया गया है, वडे लाभकारी परिणामों की प्राप्ति की सम्भावना है।

इन दिशाओं में यदि अनुसधान किये जायें तो नि सन्देह रसायनज्ञों और भैप-ज्यविज्ञों के सामने अनुसन्धान का एक विशाल क्षेत्र उपस्थित हो जायगा जिसके आधिक एवं वैज्ञानिक महत्व की क्ल्यना नहीं की जा सकती। यह बताने की

आवश्यता नहीं कि आज के जगत् में वैज्ञानिक अनुसन्धान आर्थिक समूलति का आधार होता है। बड़े बड़े महकारी और व्यापारिक अभिकरण ( एजेन्सी ) वहृत धन खर्च करके अपने अनुसन्धान विभागों का विकास कर रहे हैं और इस प्रकार नई पूजीनिवेश को वे लाभप्रद समझते हैं। अस्तु औपधीय पौधों की कृषि पर क्रमबद्ध अनुसन्धान देश के लिये अत्यधिक लाभदायक होगा।

---

( १४ )

### अतीत की उपलब्धियों का सिंहावलोकन

आधुनिक वैज्ञानिक रीति से भारतीय चिकित्सा-पद्धति में व्यवहृत भेषजों पर क्रमबद्ध गवेषणा ३० वर्ष से पूर्व आरम्भ हुई थी और इस अल्पावधि में व्येक्षाकृत अधिक कार्य हुआ है। कविराजों एवं हकीमों द्वारा प्रयुक्त अनेकों महत्वपूर्ण औपधीय पौधों का बड़ी सतर्कता के साथ प्रत्येक दृष्टिकोण से अनुसन्धान किया गया है। उनका रासायनिक सघटन निश्चित कर दिया गया है, उनके सक्रिय तत्त्वों का प्रभाव पशुओं पर परीक्षणों द्वारा जाता कर लिया गया है और अन्ततोगत्वा, उन भेषजों से निर्मित उपायेय औपधियों ( Preparations ) का प्रयोग अस्पतालों में रोगियों पर किया जा चुका है। इस प्रकार के ही सम्यक् अनुसन्धानों द्वारा इन भेषजों का यथार्थ मूल्याकान्ति किया जा सकता है और न केवल भारत में ही अपितु विश्व के अन्य देशों में भी इनकी माग बढ़ सकती है। इस प्रकार के श्रमसाध्य कार्य ने कुछ भेषजों के गुणों और विशिष्टताओं को पर्याप्त प्रमुखता प्रदान की है और यह दिखलाया जा चुका है कि यदि वे सर्वसाधारण के उपयोग में लाये गये तो मानवता को व्याविजन्य पीड़ाओं से मुक्ति दिलाने में अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध होंगे और वे चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त अन्य औपधियों की गणना में आ जायेंगे। विश्वविद्यालयों में भैषजिक सस्थानों एवं रासायनिक प्रयोगशालाओं तथा भारतवर्ष की औपधि-निर्माण करनेवाले व्यापारिक प्रतिष्ठानों की वृद्धि के साथ-साथ इस कार्य में पर्याप्त प्रगति हुई है। इस दिशा में जो कार्य किए गये हैं उनसे कई भेषजों के गुण प्रकाश में आये हैं उदाहरणार्थ-होलैंहिना ऐन्टिडिसेन्ट्रिका ( कुट्टा, कुर्ची ), रॉबोलिफाया सर्पेन्टाइना ( सर्पगन्धा ), चूटिआ फॉण्डोसा ( पलास ), आल्स्टोनिया स्कॉलरिस ( सप्तर्ण ), सिसलपिनिया वाण्डुचेला ( कटकरज ), अबाटोडा वैसिका ( वासक, अर्ल्सा ), वैकोपा हर्वा ( ब्राह्मी ), डीमिया एक्स्टेन्सा ( उत्तरन ), सिसम्पिलॉस परीरा ( पाठा ), टमिनैलिआ अर्जुना ( अर्जुन ), सोरेलिया कोरिलिफोलिया ( वाकुची ), सिडा कॉर्डिफोलिया ( बला ), स्वर्णिया

चिराता ( चिरायता ), ऐन्ड्रोप्रैफिस पैनिकुलेटा ( कालमेघ ), प्लैन्टेगो ओवेटा ( हसदगोल ), येवेशिया नेरफोलिया ( पीला कनेर ), रीविया क्यूनियेटा, बादि । कुट्टज ( कुर्ची ) अतिसार में अत्यन्त प्रामाणिक औपधि सिद्ध हुई है, विशेषकर अनुतोन्न तथा पुराने अमीदी अतिसार में जट्ठी रोगी अतिसारोत्तर उदर-ब्याधि ने पीड़ित हो । कुर्ची से निर्मित एक मानकित द्रव सत्त्व तथा एक योग कुर्ची विस्मय आयोहाइड भारतीय भेषजकोशीय सूची ( Indian Pharmacopocial List ) एवं भारतीय भेषजिक कोडेक्स ( Indian Pharmaceutical Codex ) में मान्य औपधि के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं । द्वितीय विज्वयुद्ध के दिनों में कुर्ची विस्मय आयोहाइड का उपयोग पूर्वीय रणसेत्र में खूब होता था, जिसका परिणाम दृढ़ ही सत्तोपजनक रहा । एक पुरातन भेषज सर्पगामा ( Riwolfia ) है, इसका व्यवहार भारतीय चिकित्सकों द्वारा शताव्दियों तक रेचक, आन्ध्रवृष्टिन ( Andherajivanti ) तथा सर्पदशन में प्रतिकारक ( antidote ) के रूप में होता आया है और अभी हाल ही में इस देश में विलनिकल चिकित्सा में रक्तदाह को कम करने में तथा अनिद्रा और कुछ प्रकार के उन्माद या पागलपन के इलाज में नाड़ी स्थान पर नशामक के स्प में प्रारम्भ हुआ है । इसे अमेरिका में अतिरक्तदाह के रोग ( hypertension ) में उत्तम कोटि के औपधि की मान्यता दी गयी है । इसके गुण-कर्म से सम्बन्धित सर्व प्रथम शोधपत्र १९३३ ई० चौपटा और मुखर्जी द्वारा प्रकाशित किया गया था । तब में भारतवर्ष में तथा चिदेशों में इसके सक्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध में एवं उसमें निहित ऐल्केलॉयटों तथा अन्य तत्त्वों के गुण-कर्म नम्बन्धी बनेकी शोध पथ प्रकाशित हुए । पाटा ( सिम्प-पिलास परोरा ) पर हाल में किए गये शोधों से यह प्रकट हुआ कि इस भारतीय भेषज से, जो हिमालय के तलहटी में प्रचुर मात्रा में पैदा होती है, एक ऐसा तत्त्व निकाला गया है जो ऐशियों के लिए छेंट्टो टयुवोव्यरारिन वलोराइड की भाँति शिथिलकर है । पीतकनेर ( येवेशिया नेरीफोलिया ) से एक धूँझ ग्लाइकोसाइड प्राप्त किया गया है जिसके गुण तथा उपयोग विल्कुल डीजिटैलिस के सदृश हैं । कालमेघ ( ऐन्ड्रोप्रैफिस पैनिकुलेटा ) तथा चिरायता ( स्वेशिया चिराता ) तिक्क और पित्तसारक औपधियों हैं, जो विदेशी भेषजसहिताओं की इन्हीं श्रेणियों की सर्वोत्तम औपधियों के तुल्य हो सकती हैं । प्लैन्टेगो ओवेटा को, जिसका परिचय यूनानी तथा तिब्बी पद्धतिओं के भाष्यम से भारत को हुआ था, आज पूरे संसार में जामाशयान्त्र के क्षोभन में एक उत्कृष्ट औपधि की मान्यता दी गयी है ।

लगभग २००० औपधियों पर अनुसंधान कार्य करने के लिए अब भी विस्तृत क्षेत्र है और सम्भावना है कि इनमें से कुछ रोगोपचार में पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध

होगी। इनमें से यदि थोड़ी सख्ता में भी उपयोगी औषधियों उपलब्ध हो गयी तो इस समृद्ध द्रव्यगुणशास्त्र में गहराई तक प्रवेश कर उनको टूंड निकालना उपादेय होगा।

अन्य वहूत से परीक्षित खेजजो में कुछ सक्रियता पायी गयी है, जो अपेक्षाकृत उन औषधियों से कम प्रभावशाली हैं जिनको भेषजकोशों में पहले से ही गृहीत कर लिया गया है। इनमें से कई एक का उपयोग भेषजकोशीय औषधियों के सस्ते प्रतिस्थापक द्रव्य के रूप में हो सकता है। इनका प्रयोग होता तो था, पर सक्रियता बहुत थोड़ी या नगण्य पायी गयी। भारतीय चिकित्सा-पद्धति के पतनकाल में अनेकों ऐसे भेषजों का समावेश हो गया जिनके गुण-कर्म विवादस्पद हैं तथा जिनकी उपयोगिता सदिग्द है। हम उन सभी भेषजों की विवेचना करेंगे जिनके सम्बन्ध में बाद में गवेषणा हुई है, फिर भी इस कार्य के सभी पहलुओं पर विवरणात्मक विश्लेषण करना सम्भव नहीं होगा। इसके लिए समय-समय पर प्रकाशित हुए मौलिक शोधपत्र, जिनकी एक सूची अन्यत्र दी गयी है, दृष्टव्य है।

अनेक उपयोगी औषधियों के मूल्याकन के अतिरिक्त इस कार्य का एक और भी पहलू है, जिसकी उपेक्षा इस समीक्षा में नहीं की जा सकती। वर्तमानकाल में भारतीय चिकित्सा पद्धति में व्यवहृत होनेवाले अधिकांश भेषजोंको खास-खास रोगों की विशिष्ट औषधि कहते हैं और सामान्य जनता उन औषधियों के तथाकथित आश्चर्य-जनक फ़ायदे का खूब बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करती है। अपर्याप्त प्रमाणों द्वारा समर्थित इस प्रकार के प्रबंसात्मक वर्णन कभी-कभी चिकित्सा सबवी पत्रिकाओं ( मेडिकल-जर्नल्स ) में भी देखे गये हैं। इससे उनकी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा है और पूरोप तथा अमेरिका के लब्बप्रतिष्ठि भेषजगुणविज्ञानी निराश होकर सन्देह करने लगे गये हैं कि क्या वास्तव में अत्यन्त विस्तृत भारतीय द्रव्यगुणशास्त्र में कोई वस्तु अत्यधिक महत्व की है भी ? वे सोचने लगे गये हैं कि इन भेषजों के गुणों की खोज सम्भवत हमें किसी लोस परिणाम पर नहीं पहुंचा पाएगी। इस प्रकार इन औषधियों की प्रतिष्ठा को पाइचात्य चिकित्सा-विज्ञान में बड़ा धक्का लगा है जो अच्छी औषधियों की अनुपयोगी औषधियों की श्रेणी में रख देने के कारण सम्भव हुआ है। एतद्विषयक उपादेय औषधियों का महत्व क्रमबद्ध शोध के द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इसके द्वारा इन भेषजों के विषय में फैले हुए भ्रम का निचारण हो जायगा और आयुर्वेदिक तथा तिव्री औषधियों की यथार्थ महत्ता विश्व को प्राप्त होगी।

( १५ )

### भारतीय भेषजकोश का निर्माण

अब हम अन्तिम प्रस्थापना अर्थात् भारतीय भेषजकोश के निर्माण की ओर उन्मुख होते हैं। अमेरिकी भेषजकोश ( १८२० ई० ) के स्थापकों के शब्दों में भेषजकोश के निर्माण का उद्देश्य, “ऐसी औपधीय गुण वाले द्रव्यों का चयन करना है, जिनकी उपयोगिता सिद्ध तथा पूर्णरूपेण अवबोधित हो चुकी है तथा उनसे ऐसे योगों ( Preparations ) तथा सघटनों ( Composition ) को तैयार करना है जिससे उनके गुणों से अधिक से अधिक लाभ हो सके ।”

आधुनिक भेषजकोश सर्वोपरि एक मानक पुस्तक है। इसका मूलमूर्त उद्देश्य तथा क्षेत्र ‘चिकित्सीय उपयोगिता या भेषजीय आवश्यकता की उन औषधियों को, जिनका व्यवहार प्रचुर मात्रा में चिकित्सा व्यवसाय में होता है, मानक प्रदान करना है तथा उनके अभिज्ञान, गुण एवं विशुद्धता की परख हेतु परीक्षणों का निर्धारण करना और यथासम्भव उनके भौतिक गुणों तथा सक्रिय घटकों में एकरूपता लाना है’। दूसरे शब्दों में व्यवहार, युक्तियुक्त व्यवहार तथा वैज्ञानिक व्यवहार ही इस दिशा में निर्णय के आधार है, तथापि चिकित्सीय वृत्ति के चिरमान्य सिद्धान्तों का यह प्रमुख आधार है कि रोगों के उपचार में प्रयुक्त औषधियों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं होनी चाहिये। चिकित्सकों को उनके नुस्खे में प्रयुक्त होने वाले सभी घटकों एवं भेषजों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इस प्रश्न पर दो मत नहीं हो सकते। चिकित्सकों को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि उसके रोगी के लिये जो कुछ उपयुक्त है इसका एक मात्र निर्णयिक वही है।

भारतीय भेषजकोश के निर्माण के लिए न केवल चिकित्सकों तथा भेषजज्ञों की ही व्यापक माँग है, अपितु इसके निर्माण के पक्ष में प्रबल वैज्ञानिक कारण भी है। विभिन्न देशों में चिकित्सा प्रणालियाँ भिन्न भिन्न हैं। ऐसे कच्चे माल जिनसे औषधियाँ निर्मित की जाती हैं समान गुण घर्मीं नहीं होते, और न उत्तरी सुगमता से जिससे वे एक स्थान पर उपलब्ध होते हैं, अन्य स्थानों पर भी उपलब्ध हो सकते हैं। कॅचाई, छृतु, जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ और सग्रह-काल आदि कर्तिपथ ऐसे महत्वपूर्ण कारक ( factor ) हैं जो औषधीय पौधों की सक्रियता निर्धारित करते हैं। कोई पौधा जो विश्व के किसी भाग में अपने विशिष्ट गुणों से युक्त होता है, जब दूसरे भाग से प्राप्त किया जाता है तो प्रभावहीन हो सकता है। छाल, मूल तथा पत्रों इत्यादि के सक्रिय घटक भिन्न होते हैं और जिस भेषज का प्रयोग एक देश से होता

है सभव है वह दूसरे के लिए उपादेय न हो। इसके अतिरिक्त औषधि की मात्रा प्रजातीय ( Racial ) भिन्नता पर निर्भर करता है। एक यूरोपवासी के लिए जो मात्रा प्रभावकारी है, वही भारतीय के लिए नहीं भी हो सकती। भेपजी प्रक्रियाओं पर जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण जो प्रभाव पड़ता है, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि किसी एक देश का भेपजकोश अन्य देश के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक देश को अपने यहाँ उपलब्ध कच्चे माल को ध्यान में रखते हुए अपना भेपजकोश बनाना चाहिये जो वहां की जलवायु एवं प्रजातीय विलक्षणताओं को देखते हुए वहाँ के लिए उपयुक्त हो।

प्रतिपाद्य भेपजकोश में चिकित्सीय प्रभाव वाली औषधियों का समावेश होना चाहिये और जिस भेपज का उसमें सन्निवेश हो उसके रासायनिक सघटन एवं भैषजीय क्रिया का सुनिश्चित ज्ञान होना चाहिये, उसे सर्व मान्य चिकित्सीय उपयोग का होना चाहिए, उसकी विपालुता का पूर्ण अनुसन्धान कर लेना चाहिये, उसकी सुरक्षित अधिकतम मात्रा के निर्णय के लिए आवश्यक मानक स्थिर कर लेना चाहिये, साथ ही उसका रासायनिक तथा जैविक मानक भी निर्धारित कर लेना चाहिये। अधिकाश औषधियों को जो इन प्रतिबन्धों की पूर्ति न कर सके, छोड़ देना चाहिये। चिकित्सक, भेपजक और रोगी की सुरक्षा के लिए आवश्यक परीक्षणों का विकास कर लेना चाहिये। भारतवर्ष में उन भेपजों तथा पदार्थों की जो यहाँ बाजारों में विकें, शक्ति तथा शुद्धता के ज्ञान के लिए, एक मानक ( standard ) का होना आवश्यक है। सतोप की बात है कि इस विषय में अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति प्राय पूर्ण हो चुकी है।

१९४६ई० में भारत सरकार द्वारा भेपज औद्योगिकमन्त्रणा मण्डल ( Drugs Technical Advisory Board ) के तत्त्वावधान में नियुक्त एक समिति द्वारा “इन्डियन फर्माकोपियल लिस्ट” नामक एक पुस्तिका तैयार कर ली गई थी। इसमें भारत में प्रयुक्त होने वाली कुछ ऐमी औषधियों की सूची है, जो यद्यपि ब्रिटिश और अन्य भेपजकोशों में सन्निविष्ट नहीं हैं, तथापि वे पर्यात औषधीय महत्व की हैं जिससे उनका मान्य भेपजकोश ( Official pharmacopocia ) में शामिल किया जाना औचित्यपूर्ण है। इस समिति ने अध्ययन के पश्चात् इस बात की सिफारिश भी की कि एकरूपता बनाये रखने के लिए किस प्रकार के मानकों का होना आवश्यक है तथा इनके अभिज्ञान और शुद्धता के लिए किन परीक्षणों का प्रयोग होना चाहिये। इस सूची में भारत में उत्पन्न होने वाली ३०० से अधिक वनस्पतियों का नाम है। विभिन्न भारतीय प्रान्तों में व्यवहृत होने वाले उनके नाम भी दिये गये हैं। यह सूची भारतीय भेपजकोश के निर्माण में आधार-शिला रही है जिसका प्रथम स्वरूपण

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है (भारतीय भेपजकोश का प्रथम सस्करण भारत सरकार हारा १९५५ में प्रकाशित हो गया—अनु०) जिससे किसी भी आधुनिक धैज्ञानिक भेपजकोश की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी।

( १६ )

### औषधीय पौधों के रासायनिक घटक

औषधीय और विषैली वनस्पतियों के सक्रिय तत्त्व वहधा निश्चित रासायनिक पदार्थ होते हैं, किन्तु अन्य अवस्थाओं में जटिल सम्मिश्रण के रूप में होते हैं। सक्षिप्त रूप से अधोलिखित विभिन्न वर्गों के यौगिक वनस्पतियों में पाये जाते हैं, जिन पर उनका औषधीय तथा विषैला गुण निर्भर करता है।

( १ ) इन पदार्थों में प्रथम समूह के तत्त्व, जिनमें औषधीय तथा विषैले गुण होते हैं, वानस्पतिक क्षारक हैं। इनके अन्तर्गत ऐमीन और ऐल्केलॉयड आते हैं। इस समूह के सभी यौगिकों की यह विशेषता है कि वे शारीरिक क्रिया पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं और उनमें से अनेक अत्यन्त विषैले प्रभाव वाले भी हैं। कई ऐमीन ऐसे हैं जिनके कारण कुछ धारों में दुर्गच्छ उत्पन्न होती है तथा कुछ छवकों (कुकुरमुत्ता) को विपालुता प्राप्त होती है। साधारणत जिन पौधों में ऐल्केलॉयड नैसर्गिक रूप में पाये जाते हैं, वे कटु स्वाद वाले हैं। इसी कारण उन पौधों की पशुओं से, कुधा की अमामान्य अवस्थाओं को छोड़कर, पर्याप्त रक्षा होती है। अधिकाश औषधीय भेपजो का आरोग्यकारी गुण इन तत्त्वों के कारण ही होता है। नियमत तृणकों (धारों) में ये तत्त्व नहीं होते, किन्तु अन्य वानस्पतिक कुलों (Families) में वे पाये जाते हैं।

ऐकेलॉयड वर्ग के ये उदाहरण हैं,—कुचला (नक्भ वासिका) से स्ट्रिक्टीन, ऐकोनाइट से ऐकोनिटीन, बेलाडोना से ऐट्रोपिन एवं सम्बद्ध ऐल्केलॉयड, तम्बाकू से निकोटीन और पोस्त्ता से मॉरफीन आदि।

( २ ) इन पदार्थों के एक दूसरे समूह को ग्लाइकोसाइड कहते हैं, जिसका वृहत समूह है तथा जो वनस्पतियों में ऐल्केलॉयड वर्ग की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में पाये जाते हैं। इनमें ये कई तो विषैले प्रभाव से रहित होते हैं किन्तु अधिकाश अत्यधिक विपालु होते हैं। उनका स्वाद भी साधारणत तिक्क होता है और औषधीय प्रयोग में आने वाले पौधों के सत्त्व में मिले रहते हैं। विपालु ग्लाइकोसाइड के सुनात उदाहरण हैं जो कर्वीर कुल (ऐपोसिनेसी) और डिजिटलिस (स्क्राँफुलैरिएसी) में पाये जाते हैं।

वे ग्लाइकोसाइड जो पशुओं के लिए विषैलेपन के कारण महत्त्वपूर्ण हैं साइनोजेनेटिक ग्लाइकोसाइड कहलाते हैं जिनमें हाइड्रोसायनिक अम्ल बद्ध रूप

से रहता है, जो पौधों में पाये जाने वाले एन्जाइम द्वारा विमुक्त किया जाता है। जैसा कि साइनोजेनेटिक अर्थात् साइनिक अम्ल उत्पन्न करने वाले नाम से व्यक्त होता है, वे पशुओं के शरीर में विमुक्त होकर पर्याप्त मात्रा में हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करते हैं जिसका परिणाम धातक होता है। इस वर्ग का प्रसिद्ध प्रतिनिधि ग्लाइको-साइड कहुने वालाम में पाया जाता है जिसे एमिग्डलिन कहते हैं। ये ग्लाइकोसाइड अनेक धासों, मटर और गुलाब कुल की कतिपय वनस्पतियों में भी पाये जाते हैं।

ग्लाइकोसाइड का एक अन्य समूह जल में हिलाये जाने पर साबुन के सदृश फेन उत्पन्न करता है, इसलिए इसे सैपोनिन कहा जाता है। वे ५० विभिन्न कुलों के ४०० से अधिक विभिन्न वनस्पतियों में पाये जाते हैं। इनके विष का प्रभाव, विशेष कर मछली, मेढ़क और कीट आदि पर पड़ता है। इनसे जल के प्रति २,००,००० भाग में १ भाग या इससे अधिक की तनुता में मछलियों की मृत्यु हो जाती है। उच्च प्राणियों में आमतिक प्रयोग से ये आमाशयान्त्र में क्षोभ, वमन, एवं प्रवाहिका (diarrhoea) उत्पन्न करते हैं। ये अनियततापी (Cold-blooded) प्राणियों जैसे मछली के श्वसनाङ्ग को निष्क्रिय बना देते हैं। जब उनका सम्पर्क रक्त से होता है तो उनसे रक्तसलयन (Haemolysis) होता है। उनका स्वाद तीक्ष्ण होता है। सैपोनिन के साधारण उदाहरण सोपनट (रोठा) सोप बार्क, और सोपरूट है।

(३) सक्रिय तत्त्वों के तृतीय समूह के अन्तर्गत सगन्ध या वाष्पशोल तैल आते हैं जिनसे पौधों में एक विशिष्ट सुगन्ध आ जाती है। इन तैलों में कोटनाशक एवं कीट-निवारक गुण होते हैं, किन्तु मनुष्यों तथा पशु समुदाय पर वे आमाशयान्त्र में क्षोभ द्वारा विपालु प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सामान्य उदाहरण के लिए ये हैं— यूकेलिप्टस, ऐवसिन्थ में पाये जाने वाले तैल जो तत्रिका तत्र पर प्रभाव डालकर ऐठन उत्पन्न करते हैं, चीड़ कुल में पाये जाने वाले तैल तथा सरसों में एन्जाइम की क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला तैल आदि। नियमत पशु विषैले सगन्ध तैलों वाले पौधों को नहीं साते।

(४) विपालु तत्त्वों का चतुर्थ समूह टॉक्सल्ट्वुमिन (Toxalbumins) के नाम से प्रसिद्ध है जो एरण्ड, जमालगोटा (जयपाल) और धुमची के बीजों में पाये जाते हैं। ये निश्चित रूप से रक्त को विपाक्त कर देते हैं और कभी-कभी पशुओं की मृत्यु के भी कारण हो जाते हैं। यदि जानवरों को यह पहले थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दी जाय और क्रमशः मात्रा को बढ़ाया जाय तो वे इसके प्रभाव से प्रतिरक्षित (Immune) हो जाते हैं, किन्तु यह प्रतिरक्षा एक विशिष्ट प्रकृति की होती है, अर्थात् यह उसी विशिष्ट टॉक्सल्ट्वुमिन के प्रतिरोध में होती है, अन्य विषों के प्रति नहीं।

(५) पचम समूह के अन्तर्गत आने वाले पदार्थों को रेजिन कहते हैं। यह पोडोफिलम में और तिक्त वर्ग के बनस्पतियों में जैसे कुकरविटेसी कुल के जगली पौधों में, उदाहरण के लिए इन्द्रायण (कोलोसिन्थ) में और फेनॉलिक यौगिकों में पाये जाते हैं। फेनॉलिक यौगिक काजू कुल के कई पौधों में विद्यमान रहते हैं। इसी समूह के अन्तर्गत और भी अति विपैले तत्त्व हैं जैसे ऐण्ड्रोमेडोटोक्सिन (Andromedotoxin) जो रोडोडेण्ड्रॉन कुल के कई पौधों में पाया जाता है, विपालु तैल जैसे जमालगोटा का तैल, पिक्रोटॉक्सिन जो आक्षेपकारी (Convulsant) विष है और जो भारतीय जगलों में पायी जाने वाली काकमारी (*Anamirta cocculus*) लता के विपैले फलों में विद्यमान रहता है, उदासीन तत्त्व, कार्बनिक अम्ल और उनके लवण। ये सभी मनुष्यों तथा जानवरों पर प्रभाव प्रभाव डालते हैं।

(६) बनस्पतियों में पाये जाने वाले सक्रिय तत्त्वों का छठा समूह ऐण्टिवायोटिक्स का है। यह सम्यक रूपेण ज्ञात है कि इस समय प्रयुक्त होने वाले कुछ अत्यधिक शक्तिशाली ऐण्टिवायोटिक जैसे पेनिसिलिन, स्ट्रैप्टोमाइसिन आदि निम्न कोटि के पौधों अर्थात् कवको (Ficus) से प्राप्त होते हैं। यद्यपि ऐण्टिवायोटिक तत्त्वों को कुछ उच्चकोटि के पौधों फेनरोग्रैम से प्राप्त करने के लिए पहले से ही प्रयत्न किया जा चुका है तथा उनमें ये तत्त्व पाये भी गये हैं, किन्तु उनमें से कोई भी, कवको से प्राप्त होने वाले प्रतिजैविक पदार्थों के समकक्ष चिकित्सीय गुण और शक्ति में उपर्योगी सिद्ध नहीं हुआ। हम अभी इस विशाल क्षेत्र के द्वारा तक ही पहुँच पाये हैं, यह सम्भव है कि अनेक शक्तिशाली ऐण्टिवायोटिक उच्चकोटि के पादपों में पाये जा सकें।

शरीर-क्रिया एवं विपालुता को प्रभावित करने वाले कारक:—

पौधों में विद्यमान सक्रिय तत्त्वों की मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ भूमि का स्वरूप, जलवायु, ऋतु, पौधों की वृद्धि की अवस्था, प्रकाश का स्वरूप और उसकी तीव्रता, कृपि आदि। ताजी और हरी बनस्पतियाँ विपैली हो सकती हैं, शुष्क हो जाने पर उनकी विपालुता लुप्त हो सकती है, उदाहरणार्थ वटरकप और ऐसे पौधे जिनमें वाष्पशील सक्रिय तत्त्व पाये जाते हैं। कुब्जाण्ड की विपालुता कृपि द्वारा दूर हो सकती है, किन्तु सिनकोना और करवीर के विपालु तत्त्वों में कृपि से न्यूनता नहीं आती। शरीरक्रिया सम्बन्धी मक्रियता एवं विपालुता के निर्धारण में पौधों के वृद्धि की अवस्था सम्भवतः सर्वाधिक महत्व रखती है।

जहाँ तक बनस्पतियों के प्रभाव की सुग्राह्यता (Susceptibility) का सम्बन्ध है जानवरों में वही विभिन्नता पायी जाती है। शशक ऐट्रीपीन वर्ग के द्रव्यों के प्रभाव से मुक्त रहते हैं तथा पक्षी स्ट्रिकनीन की अत्यधिक मात्रा को सहन करने की क्षमता

रखते हैं। स्तनपायी जीवों में वृद्धों की अपेक्षा तरुणों में सुग्राह्यता अधिक होती है। उनके अवस्था, उनका व्यक्तिगत प्रकृतिवैशिष्ट्य (*Idiosyncrasy*), उनको सह्यता (*Tolerance*) और रोगक्षमता का प्रभाव भी विष सुग्राह्यता की मात्रा निश्चित करने में योग देते हैं।

---

( १७ )

### पादपों के वानस्पतिक वर्गीकरण, उनके रासायनिक संघटन एवं शरीरक्रियात्मक गुणों में सह-सम्बन्ध

सक्रिय तत्त्व एवं नवीन वर्गीकरण—

पादपों के रसायन एवं भेपजगुणविज्ञान की जानकारी वढ़ जाने से यह प्रतीत होता है कि पादपों के वानस्पतिक वर्गीकरण, उनके रासायनिक संघटन एवं शरीरक्रियात्मक गुणों में निश्चय ही कुछ न कुछ सह-सम्बन्ध है। निकटवर्गों पादपों में इस वारे में जो आश्चर्यजनक सादृश्य पाया जाता है उससे विस्मय होता है। उदाहरण के लिए अगर किसी वश ( जीनस ) के पादप में कोई एक विशेष रासायनिक संघटक पाया जाता है तो उस जीनस या कुल के अन्य पादपों में भी ठीक वही या उसके सदृश भेषजीय गुण वाले संघटकों की विद्यमानता की बड़ी सम्भावना रहती है। अवश्य ही इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसा सादृश्य अन्य कुलों या वशों में नहीं मिलेगा, क्योंकि वे विशिष्ट वर्गीकीय गुण (*Taxonomic character*) परस्पर भिन्न वशों या कुलों में भी हो सकते हैं। पादपों का आदर्श वर्गीकरण तो ऐसा होना चाहिये जो वानस्पतिक कसौटियों को पूरा करने के अतिरिक्त, पादपों के रासायनिक संघटकों एवं शरीरक्रियात्मक गुणों के स्वरूप का भी ज्ञान कराता हो। हमारा जो वर्तमान ज्ञान है उससे यह सम्भव नहीं है। किर भी यह तथ्य कि ये वश या कुल, जैसा कि आज वे ज्ञात हैं, इन सब वातों के बारे में विलकुल मजातीय (*Homogenous*) हैं, इस से यह आशा होती है कि यह समस्या इननी कठिन नहीं है जितनी दिखाई देती है। किर भी पादपों के रसायन पर और उनके सक्रिय तत्त्वों के शरीरक्रियात्मक गुणों के विनिश्चयन पर बहुत काम करना होगा और हजारी नये पादपों पर अनुसंधान करना होगा, पूर्व इसके कि यह काम पूरा हो या इसे व्यर्थ समझकर प्रयास करना ही छोड़ दिया जाय। इससे

यह नहीं समझा जाना चाहिये कि रसायन एवं भेपजगुणविज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उससे पादपों का वानस्पतिक वर्गीकरण निश्चित किया जा सकता है। ऐसा करना सम्भव नहीं है क्यों कि ऐसी विशिष्टताये सम्भवत वर्गीकीय लक्षण का काम नहीं दे सकते, किन्तु आशा की जाती है कि वनस्पतिज्ञ, रसायनज्ञ एवं भेपजगुणविज्ञ अपने सम्युक्त प्रयाम के आधार पर वर्गीकरण की एक प्राकृत प्रणाली निकालने की दिशा में सहयोग करेंगे।

### रासायनिक सघटक—

परस्पर विभिन्न कुलों और वशों के भारतीय पुष्पी पादपों के महत्त्वपूर्ण और सशक्त सघटकों के वितरण की सक्षिप्त समीक्षा करने पर, कतिपय वडी मनोरजक वाते सामने आती हैं। ऐल्केलॉयडों का वितरण लगभग ४० कुलों में पाया जाता है और बहुधा एक ही ऐल्केलॉयड सहवर्गी वशों और कुलों में विद्यमान पाया जाता है। छ भिन्न भिन्न कुलों और १२ भिन्न-भिन्न जीनसों में वर्वेरीन पायी गयी हैं। इसके विपरीत, एफेड्रोन ऐसा उदाहरण उपस्थित करता है जहाँ एक ही ऐल्केलॉयड सुदूर वर्गों के पादपों में पाया जा सकता है। यह मालवेसी कुल के सिडा कार्डिफोलिया नामक पौधे में और नीटेमी ( Gneataceac ) कुल के एफेड्रा पौधे में पाया जाता है। मालवेसी एंजियो-स्पर्मी का एक कुल है और नीटेमी जिम्नोस्पर्मी का। प्युरीन वर्ग तीन कुलों में पाये जाते हैं।

ग्लाइकोसाइड का बड़ा विस्तृत वर्ग है जिनका वितरण ऐल्केलॉयड वर्ग की अपेक्षा अधिक व्यापक है और यह द्विजपत्री और एक बीजपत्री दोनों में पाया जाता है। इनमें कुछ तो बड़े विपालु होते हैं और अत्यन्त भिन्न-भिन्न ८ कुलों में पाये जाते हैं। हाइड्रोसायनिक अम्ल देने वाले पादप १० कुलों में पाये जाते हैं। ग्लाइकोसाइड का एक वर्ग जो सैपोनिन नाम से ज्ञात है, वनस्पतियों में बहुत पाया जाता है। सैपो-निन लगभग ५० कुलों के ४०० विभिन्न पादपों में जो विश्व भर में फैले हैं, पाया जाता है। वनस्पति जगत में वात्पशील तैल बहुत कुलों में पाये जाते हैं और लैबिएटी ( Labiatae ), रुटेसी ( Rutaceac ), अम्बेलिफेरी ( Umbelliferae ), मिट्टेसी ( Myrtaceac ), लारेसी ( Lauraceac ), क्रूमिफेरी ( Cruciferae ) और कोनिफेरी ( Coniferae ) जैसे कतिपय कुलों में ये तैल बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

बहुत से पादपों के बीज में ऐल्बुमिन होता है, किन्तु एक विचित्र वात यह है कि कुछ पादपों में, जैसे ऐत्रस प्रिकैटोरियस और रिसिनस काम्युनिस में, जो भिन्न कुलों के ( क्रमशः लेग्युमिनोसी एवं यूकाँरबिएसी कुलों के ) हैं, इन ऐल्बुमिनों की विषालुता

एक ही प्रकार की होती है, और दोनों ही रक्त के लिए विषालु है, और इन दोनों की रोगक्षमता (Immunity) की प्रतिक्रिया एक सो है, यदि प्राणियों के शरीर में अल्प-मात्रा में, एवं शर्ने शर्ने मात्रा वृद्धि करते हुए, उनका प्रवेश कराया जाय। अन्य रासायनिक संघटकों के विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नहीं है, और न रेजिन, फिर्जालिक यांगिकों जैसे विषालु सम्मिश्रों की भी चर्चा यहाँ की जायगी। जो कलिपय उदाहरण क्षम पर दिये गये हैं उनसे जैव विकास के सुस्थापित सिद्धान्त के समर्थन के लिए पर्याप्त साक्षम मिल जाते हैं। इनके वितरण में भी एक विधिवद्धता दिखायी देती है। कई पादपों के बारे में ऐसा इसलिए है कि वे एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुए हैं, और कई के बारे में समानान्तर विकास के फल स्वरूप ऐसा होता है। उपरोक्त तथ्यों का स्पष्टीकरण और किसी आधार पर नहीं किया जा सकता।

सहस्रवन्ध के उदाहरण—जब हम कलिपय कुलों और वशों का उदाहरण यहाँ उपस्थित करेंगे जिससे स्पष्ट हो जायगा कि इनमें वानस्पतिक, रासायनिक एवं भौषजगुण सम्बन्धी पक्षों में कितना अधिक सादृश्य है। जब तक निश्चित रूप से यह सिद्ध न हो जाय कि ये अहानिकर हैं, तब तक उचित यही होगा कि रैननकुलेसी कुल के सभी पादपों को भानव एवं पशुधन के लिए बहुत विषालु ही समझना चाहिए, विशेष कर जब वे ताजा होते हैं। इस समूचे कुलमें, विषालु, तीक्ष्ण, स्फोटकर, रेचक एवं स्वापक गुण भिन्न-भिन्न मात्राओं में पाये जाते हैं। ऐनिसोन, कैलथा, क्लोमेटिस एवं रैननकुलस की जातियों में ऐनिसोनिन नामक लेक्टोन पाया जाता है, जिसमें फफोला पैदा करने वाले गुण रहते हैं। अधिकांश वत्सनामो (ऐकोनाइट) में अत्यन्त विषालु ऐल्केलॉयड होते हैं जो सबैदी तत्रिकाओं और भज्जा पर प्रभुख रूप से प्रभाव डालते हैं, इन पर वे अवसादक प्रभाव डालते हैं और अन्ततोगत्वा उनका अंगधात हीं जाता है। डेलफिनियम की जातियों का उपयोग पीड़क जन्तुओं (vermin) के विनाश के लिए किया जाता है। इनमें विषालु ऐल्केलॉयड पाये जाते हैं जिनमें से कुछ ऐकोनिटोन जैसा प्रभाव डालते हैं, जबकि अन्य ऐकेलॉयड प्रेरक तत्रिकाओं का अग्रधात कर देते हैं। कॉप्टिस, हेलीबोरस, निगेला, आइसोपाइरम और पिथोनिया वश के पादपों में ऐल्केलॉयड पाये जाते हैं। ऐडोनिस और हेलीबोरस में ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं जो डिजिटैलिस जैसा प्रभाव रखते हैं। क्लिमेटिस, रैननकुलस, निगेला और सिमिसी-फुगा वश के पादपों में सैंपोनिन पाये जाते हैं। इन कुल के पादपों में साइनोजेन वाले यांगिक पाये जाते हैं और भारत के जिन पादपों में ये तत्व पाये जाते हैं वे क्लोमेटिस, ऐक्वलीजिया, आइसोपाइरम और रैननकुलस वश के हैं। ऐनोनेसी कुल के ऐनोना के औजों में कीटनाशक गुण होते हैं जो बेत्रिलेप्टला (Conjunctiva) के लिए बहु-



सोलैनसी की कई जातियों में पाये जाते हैं, और ग्लाइकोसाइडयुक्त ऐल्केलॉयड सोलैनीन, सोलैनम तथा कई अन्य जीनस के पादपों में भी पाया जाता है। इस कुल के बहुस्वयक वन्य पादप विपालु होते हैं। लैबियेटी कुल के सभी पौधों में वाप्शील तैल पाये जाते हैं जिनमें से कई का वातानुलोमक एवं उद्दीपक के रूप में वडा चिकित्सीय महत्व है। थाईमिलिएसी की कई जातियों में विपालु रेजिन पाये जाते हैं और पश्चु उनको खाने से कठराते हैं। मूफौंविएसी की कई जातियों में बहुत ही क्षोभक टॉक्सऐल्बुमिन और उग्र रेचक द्रव्य पाये जाते हैं। अटिकेसी कुल के चार भारतीय वशों में पित्ती पैदा करने वाले तत्त्व पाये जाते हैं। एफेहीन और स्थूडोएफेडीन ऐल्केलॉयड एफेड्रा की कई जातियों में पाये जाते हैं। कोनिफेरी की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें ऐसे वाप्शील तैल होते हैं जो जठरात्र में क्षोभ और कभी-कभी व्रण पैदा करते हैं। डायोस्कोरिएसी की कई जातियों के कन्दों में एक तीक्ष्ण रस होता है और कुछ जातियाँ विपालु भी होती हैं। ऐरेसी की कई जातियों में कैलिसियम आँजलिलेट के रैफाइड क्रिस्टल तथा तीक्ष्ण रस होते हैं, इनमें से कई पादप यदि उन्हें खा लिया जाय, विशेषकर जब वे ताजे हो, तो वे क्षोभक विपालुता पैदा करते हैं। ग्रैमिनेसी की कई जातियों के पौधे विशेषकर जब वे तरुणावस्था में हो या कुम्हला गये हो, अथवा जलाभाव से सूख गये हो तो हाइड्रोसायनिक अम्ल पैदा करते हैं जो पशुधन के लिए धातक होता है। इस कुल के पौधों से कोई ऐल्केलॉयड अव तक अलग नहीं किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु चिकित्सीय एवं विपालु पादपों के वानस्पतिक वर्गीकरण एवं उनके रासायनिक तथा शारीर-क्रियात्मक विशेषताओं में जो सम्बन्ध है उसकी सक्षिप्त समीक्षा यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि बहुत से वशों और कुलों में, इन लक्षणों में काफी हद तक सह-सम्बन्ध है। आगे अनुसधान करने से सम्भवत इन सह-सम्बन्ध के और अधिक साक्ष्य मिल सके। पादपों की वानस्पतिक विशेषताएँ, उनके रासायनिक सघटक एवं उनके गुणधर्म, जंब विकास के परिणाम हैं, इनलिए इनका प्राकृत वर्गीकरण ऐसा होना चाहिये जिसमें इन तीनों पक्षों पर विचार किया गया हो। किन्तु पादपों के सम्बन्ध में कई वाधामूलक तत्त्व भी हैं, जलवायु, मौसम, मूर्मि, कृपि इत्यादि ने इनकी रासायनिक सरचना पर गहरा प्रभाव डाला है जिससे उनको गरीरक्रियात्मक विशेषताओं पर प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि सन्निकट सम्बन्ध रखने वाले पौधे भी अपने भेषजीय गुणों के बारे में भिन्नता रखते हैं।

( १८ )

## भेदजीय गवेषणा में नव्यतर प्रवृत्तियाँ और उसका भवित्व जीविद पदार्थों पर मीलिक गवेषणा ।—

यन्त्रप्रतिरोध में जड़ियाँ तर्हीं भी उपति पर त्रि ये किंव श्रावर यन्त्रप्रतिरोध में सरचित होते हैं, जो शोषणात् हास ने किये थये हैं, उमका गदियां परिश्रव यही दिया ला रहा है। जोषणीय यन्त्रप्रतिरोधों पर गवेषणात्मक वर्चारात् के दूर पहुँच पर बहुत दोहे दिनों से ही प्यास दिया गया है जोर बाज़ भी इन गिरे ने यहाँ कम लाभ है। दिनों धन्य यर्जन गी ब्रह्माण्ड ऐन्ड्रॉइट यर्जन भी खोर मध्ये अग्निक इदा धाराएँ हुमा हैं। जैसे ने, हास में इस दिया में जो युए जाते हैं उपर्युक्त गमीदा भी है जोर यह निर्वाप निकाला है कि यस से अनु कुछ पौर्यों में ऐन्ड्रॉइट भी रखना उम दिसेय 'नाइट्रोजन एफ्फिग्स' (Soluble 'nitrogenous acids') में होती है जो शायारलनदा शैमिनो धन्न झोर गेमीन में इना शोता है। ये 'न्तर्मिती शैमिन' (Intermediate Compounds) प्रोटीन के निर्माण ने लिए इन उन्नियिंग से दूरा दिये जाते हैं जोर प्रोटीन के भग ट्रोने पर उम उन्नियिंग में पुन उमका गमापेता हो जाता है। ऐन्ड्रॉइट उत्पन्न उत्स्वेच्छाले पौर्यों ने यह दृढ़ी दिया अंशत् ऐन्ड्रॉइट के उत्पादन झोर दिमजन में भी हो जाते हैं। इन श्रावर में विद्यारूप में यह स्तर दृष्टा है कि जहाँ कैप्ती में बदनेशासे कानुरो में प्रोटीन गमापद्यम (metabolism) गक्षित है, यहाँ ऐन्ड्रॉइट यहुपा यर्जनों पाये जाते हैं खोर यर्जनों उर्वरक देने से, जो पौर्यों की वृद्धि में सहायता करते हैं, ऐन्ड्रॉइट भी भी जनियुद्धि उषी श्रावर होती है।

इसी श्रावर ने मीलिक दोष कलां पौर्यों में यामे जाने वाले ग्लायोमाइट तथा विटामिन पर भी हो गए हैं। अनेक पौर्यों में शार्टोलेनेटिक ग्लायोमाइट याये आते हैं जिनमे उन्नियिंग साइनाइट प्रूप की झोर भी पर्योगकों का प्यास इन्सिए धावपित हुमा है वयोगि माइनाइट एवं श्रावर विला ग्रूप (enzyme system) या नाइट्रोजन गमापद्य पर भी गम्भयत पहुँचा है।

( १९ )

## भारतीय भेदजो के अनुसधान का भवित्व

### भेदज अनुसधान में नव अभियन्यान के प्रयोजन

भारत में देवीय जिकित्सापद्यनि के विहानों द्वारा यह धार-वाद कहा गया है कि ताजी यान्त्रप्रतिक औषधियों सम्प्राहीब गूगी भेदज-यन्त्रप्रतिरोधों से भिन्न कार्य करती

<sup>4</sup> James, 1950, 'The Alkaloids', Manske and Holmest, Academic Press, N. Y.

है। यदि उक्त कथन ठीक है तो आधुनिक ढग से किये गये रासायनिक और भेषज गुण-कर्म सम्बन्धी अनुसंधानों की अधिकाश उपलब्धियों और रोगियों पर परीक्षणों द्वारा ज्ञात तथ्यों की पुनर परीक्षा करनी पड़ेगी। हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार, ताजे भेषजों तथा अपरिष्कृत शुष्क भेषजों के कर्म में कोई विशेष अन्तर लक्षित करना कठिन है, सिवा इसके कि वनस्पतियों के हरे भागों में पाये जानेवाले विटामिनों की मात्रा में जो कुछ परिवर्तन वनस्पतियों के सूखने के कारण होता हो। वैद्यों और हकीमों द्वारा विनिहित वनस्पतियों के हरे भागों और उनके रसों का प्रयोग सम्भवत ऐसा कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं ला सकता, जैसा कि कहा गया है। उपलब्ध भौतिक और रासायनिक रीतियों द्वारा इस तरह के परिवर्तनों का ज्ञान कठिन है, फिर भी उक्त विश्वास बहुत ही पुरातन और ध्यान देने योग्य है, जिसकी सम्यक् परीक्षा होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अपरिष्कृत द्रव्य अफीम की किया (प्रभाव), इसमें सन्निहित मारफीन (*morphine*) की किया से कुछ भिन्न होती है। अनेकों अपरिष्कृत रेचक द्रव्यों का प्रभाव उनमें विलगित सक्रिय तत्त्वों से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ एलॉयन (*aloin*) और सेनोसाइड 'ए' और 'बी' का प्रभाव अपरिष्कृत मुसव्वर (*Aloe*) और सनाय (*Scenna*) से भिन्न होता है। ये तथा इसी तरह के अन्य तथ्य अनुभवंजन्य पुरातन रीतियों का नये ढग से अध्ययन करने के लिए प्रेरित करते हैं, जो अभी तक नहीं हुआ है। "आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान तथा जीव-रसायन के नवीन मानकों द्वारा आहार और भेषज दोनों का—वयोंकि प्राच्य चिकित्सा में आहार और भेषज से कोई भेद नहीं किया गया है—इस प्रकार का मूल्याकान, केवल भेषज के सक्रिय रासायनिक तत्त्वों तथा उनके भैषज्य-चिकित्सीय व्यवहारिता (*Pharmaco-therapeutic application*) के अध्ययन द्वारा अब तक के प्राप्त हुए परिणामों को अपेक्षा, अधिक लाभप्रद मिछ होगा। सामान्य शारीरिक प्रक्रियाओं के स्वस्थ सतुलन के सचारण में अौपचार्य का उत्तना ही महत्व है (और प्राचीन चिकित्सा में यह पहलू अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था) जितना रोगनिवारण के लिए विजातीय द्रव्यों का शरीर में प्रवेश कराके उनके द्वारा उग्र उपचार का।" भविष्य में डून भेषजों पर शोधकार्य करनेवाले सम्भवत भेषजक्रिया की समस्या के इस पक्ष पर ध्यान देंगे।

### भारतीय भेषजानुसंधान का भविष्य—

ऐसा सोचा जा सकता था कि सल्फोनामाइड, आसेनिकल और सिलिष्ट मलेरिया-रोधी जैमी औपचार्यों के आविष्कार के बाद वानस्पतिक औपचार्यों में अनुसंधान की अभिरुचि क्षीण हो जायगी, किन्तु, ठीक इसके विपरीत, जैमा स्पष्ट है, इन आविष्कारों

५. इस अध्याय को लिखने में हममें टा० बी० मुकर्जी द्वारा लिखित 'Indigenous Drugs Research Present and Future' से काफी सहायता ली दी है।

से इस क्षेत्र से कार्य करने के लिए और अधिक उत्तेजना मिली है। सरिलष्ट कार्बनिक औषधियों के क्षेत्र में विगत वर्षों में की गयी प्रगति से अभिरुचि धीरे धीरे उन प्राकृतिक पदार्थों की ओर बढ़ी है जो औद्धिक और जन्तु द्रव्यों से प्राप्त होते हैं। ऐन्टीबैक्योटिक्स के आविष्कार के बाद से ही, जिनमें से कुछ को सरिलष्ट किया जा चुका है, यह अभिरुचि इतनी बढ़ी है। वस्तुतः यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा है कि विगत कुछ वर्षों से देशीय भेषजों पर गवेषणा पाण्डात्म्य देशों में भी होने लगी है जहाँ अतिशय विकसित रसायन एवं शारीरक्रिया सबन्धी सासाधन के साथ-साथ चिकित्सीय सक्रियतत्त्वों के सश्लेषण के लिए अत्यधिक साधन उपलब्ध हैं। यह अब अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि भले ही इस तरह के अनुसन्धानकार्य नथे और शक्तिशाली औषधियों के आविष्कार में असफल हो जाय, किन्तु इनकी पृष्ठभूमि में रासायनिक विन्यास (Chemical Structure) और भेपजगुण-कर्म के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे योगिकों के रचनात्मक सश्लेषण का मार्ग तो प्रशस्त हो ही सकता है। यह निविदुद सत्य है कि वानस्पतिक औषधियों पर अनुसाधन आज भी पर्याप्त सूचनाएँ दे रहा है और भविष्य में भी देता रहेगा, जो चिकित्सा-विज्ञान के लिये उपादेय है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि चिकित्सा-विज्ञान में अनुभववाद (Empiricism) से युक्तिवाद (Rationalism) की ओर जो क्रमिक परिवर्तन हुआ है वह नूतन, प्रभावशाली औषधियों के आविष्कार की रीतियों द्वीपेक्षा मुख्य रूप से औषधियों के गुणकर्म के मूल्याकान की रीतियों में द्रष्टव्य है। “आज भी प्रभावशाली औषधियों का आविष्कार अधिकाशत अनुभवजन्य है, जो आधारित है सदियों के परीक्षण और असफलता के सचित अनुभव ‘पर, या कुशल अन्वेषकों के आकस्मिक निरोक्षण पर, या सौभाग्य से अनेकों सदृश योगिकों ये से किसी सक्रिय योगिक के निकल आने पर।’” दर्तमान भेपज-अनुसधान में इसके अनेकों उदाहरण हैं। विश्लेषण और सश्लेषण की आधुनिक रीतियों द्वारा योगिकों के क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ है, जिन पर परीक्षण किया जा सकता है, किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रगति आधुनिक भेपजगुण-विज्ञान सम्बन्धी कार्य, जन्तुओं पर परीक्षण तथा रोगियों पर परीक्षण और सांखिकीय (statistical) रीतियों से हुई है, जिससे उपयोगी और अनुपयोगी भेषजों को पृथक् करने की हमारी क्षमता बहुत अधिक बढ़ गयी है। प्रगतिर्याँ चिकित्सीय प्रभावों और भौतिक-रासायनिक रचना (Physico-chemical Structure) के पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने में की जा रही है, किन्तु वह समय अभी दूर प्रतीत होता है जब कि चिकित्सक की किसी विशिष्ट औषधि की मार्ग पर वैज्ञानिक एक व्यूहाणु की रचना कर सके जो उसको आवश्यकता की पूर्ति करे अथवा एक ऐसी वनस्पति जाति को

लक्षित कर सके जिसमें ऐसा यौगिक सम्भवत् प्राप्त हो” उपलब्ध साधनों पर आधारित प्रभावशाली औषधियों को आविष्कृत करने की एकमात्र पद्धति अब भी हमारे पास केवल अन्वेषण तथा विभ्रम ( trial and error ) की ही है। “तथापि गवेषणात्मक कार्य का मुख्य उद्देश्य है प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहना, जिस पर सभी प्राकृतिक विज्ञानों को चलना है, यथा—अस्थायी उपकल्पना ( हाइपोथेसिस ) के सविन्याह ( फार्मूलेशन ) के लिए प्रत्यक्षत अनेक असम्बद्ध तथ्यों को सूचीबद्ध करना और अन्त में प्राकृतिक नियमों के अन्वेषण के लिए व्यापक सिद्धान्त बनाना। सिंज<sup>6</sup> ने, हाल ही में, जीवों में प्राकृतिक अवस्था में स्थित कोशिका-सघटकों ( सेल्यूलर कानिस्ट-ड्यूएन्ट्स ) के कार्य पर आधिक मौलिक अनुसंधानों को आवश्यकता पर जोर देते हुए इस मार्ग के अनुसरण करने का महत्व बताया है। एक मात्र इसी साधन द्वारा हम वास्तविक रोगनिवारण के प्रत्युपाय पर पहुँचने की आशा कर सकते हैं।”

फैयरबैन<sup>7</sup> ने अपने हाल में प्रकाशित एक निबन्ध में लिखा है, “वनस्पति-द्रव्यगुण-शास्त्र की उपेक्षा करना मूर्खता होगी क्योंकि अनुसंधान का सिद्धान्त आज भी अनुभव पर आधारित है।” भारतीय वनस्पति-द्रव्यगुणशास्त्र अध्ययन ( अनुसंधान ) के छिए विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करता है और इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ किया गया है उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि वह इस बहुद और जटिल समस्या के द्वार पर ही पहुँच पाया है। “प्राचीन शास्त्र के सत्य का उद्घाटन करने के लिए आवृत्तिक विज्ञान एवं उसके दीति-सिद्धान्त का प्रयोग बड़े बैर्य और उदार विचार से करना चाहिये और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है प्राच्य औषधि के मधुर फलों से अनावश्यक पत्र-समूह को पृथक् करना।”

औषधीय और विषेले पौधों पर किये गये कार्य की उपरोक्त सक्षिप्त समीक्षा, इस दिशा में समुपस्थित कठिनाइयाँ और उन पर अवशत विजय, उनके उपादेय और वैज्ञानिक पक्षों के सम्बन्ध में दिये गये विवरण, नि सदैह, इस विषय के प्रति अभिरुचि जगायेंगे, जो देश के लिए, विशेषकर वर्तमान समय में, पर्याप्त आर्थिक महत्व की होगी। उक्त प्रकार के कार्य में वनस्पति-शास्त्रियों, रसायनज्ञों, भेषजगुणविज्ञी और कृषकों के बीच सहयोग स्थापित होने से अनेक लाभ संभाव्य है, जो भारत-जैसे विशाल देश के लिए, जहाँ सभी प्रकार की ऋतु एवं जलवायु सम्बन्धी उपलब्धियों एवं स्थलाकृतिक विशेषताओं के फलस्वरूप विविध वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं, त केवल वैज्ञानिक एवं शैक्षणिक अभिरुचि की ही, अपितु आर्थिक दृष्टिकोण से भी, बहुत बड़े व्यावहारिक महत्व की सिद्ध होगी।

(6) Syngle, 1952 'Frankland Memorial Lecture', Royal Inst, Chem;

(7) Fairbairn, J W, 1953, Jour. Pharm Pharmacol, 5,281

## भाग २

### भारत में भेषजों के संभाव्य संसाधन

#### भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषज

भारत में भेषज के अत्यन्त विशाल एवं अक्षय संसाधन हैं और यह बिना अत्युक्ति के कहा जा सकता है कि भारतवर्ष समस्त सभ्य सासार को औषधीय वनस्पतियों की आपूर्ति कर सकता है। देशीय चिकित्सापद्धति में व्यवहृत होने वाले भेषजों को जिनमें से वहुतों के चिकित्सीय महत्व की वैज्ञानिक ढग से छानबीन कर ली गयी है, अगर यहाँ छोड़ भी दें तो विभिन्न देशों के भेषजकोशों में दिये गये भेषज भी, जिनका चिकित्सीय महत्व सुस्थापित हो चुका है, यहाँ देश के कई भागों में वन्य दशा में प्रचुर मात्रा में पैदा होते हैं। जो भेषज देशीय नहीं हैं वे भी यहाँ कई प्रदेशों में उगाये जा सकते हैं।

#### भारत में पैदा होने वाले निटिश एवं भारतीय औषधकोशीय भेषज

ऐब्रोमा अॅगस्टा (आई० पी०*)	ऐब्रोमा छाल
अकैशिया बरैबिका (आई० पी०)	भारतीय बबूल
अकैशिया कैटेचू (आई० पी०)	कृष्ण कत्था
ऐकेलाइफा इण्डिका (आई० पी०)	भारतीय ऐकेलाइफा
ऐकोनिटम चैस्मैन्थम (आई० पी०)	ऐकोनाइट
अथाटोडा वैसिका (आई० पी०)	वासक
एग्लि मारमेलॉस (आई० पी०)	वेल, वेलफल
ऐलियम सटाइम (आई० पी०)	लहसुन
ऐलो वार्वेन्सिस (बी० पी०)**तथा आई०पी०)	ऐलो
आलिपनिया बॉफिसिनैरम (आई० पी०)	आलिपनिया, गैलेंगल (कुलजन)
आलस्टोनिया स्कोलीरिस (आई० पी०)	आलस्टोनिया छाल, दीता छाल
ऐन्ड्रोग्रैफिस पैनिकुलेटा (आई० पी०)	कालमेघ

\*आई० पी०—इण्डियन फार्माकोपिया (भारतीय औषधकोश या भेषजकोश)

\*\*बी० पी०—निटिश फार्माकोपिया (निटिश औषधकोश या भेषजकोश)

ऐनिथम ग्रीविअोलेन्स ( वी० पी० तथा आई० पी० )	डिल
ऐनिथम सोवा ( वी० पी० तथा आई० पी० )	सोवा
ऐराकिस हाइपोजिया ( वी० पी० तथा आई० पी० )	भूँगफली
ऐरिका कैटेचु ( आई० पी० )	सुपारी
ऐरिस्टोलोकिया इण्डका ( आई० पी० )	ऐरिस्टोलोकिया
आर्टिमिशिया मेरीटिमा ( आई० पी० )	सैन्टोनिन, आर्टिमिशिया सैन्टोनिका
ऐस्ट्रॉगेलस स्लोविलिफेरस ( आई० पी० )	द्रैगाकैन्थ
ऐट्रोपा ऐक्युमिनेटा ( वी० पी० तथा आई० पी० )	भारतीय बेलाडोना
ऐट्रोपा बेलाडोना ( वी० पी० तथा आई० पी० )	बेलाडोना
बैकोपा भोतिन्हरा ( आई० पी० ) ( हर्पेस्टिस मोनिएरा )	हर्पेस्टिस
बर्वेरिस अरिस्टाटा ( आई० पी० )	बर्वेरिस का मूल
बोहर्विया रिपेन्स ( आई० पी० )	पुनर्नवा
ब्रैंसिका इण्टेप्रिकोलिया ( आई० पी० )	सिनैपिस
ब्रैंसिका जन्सिया ( आई० पी० )	लाल सरसो
ब्यूटिया मोनोस्पर्मा ( आई० पी० ) ( ब्यूटिया फॉण्डोसा )	पलास के बीज
कैलैट्रॉपिस प्रोसिरा ( आई० पी० ) ( कैलैट्रॉपिस जाइगैटिया )	मदार, अर्क
कमेलिया साइनेन्सिस ( वी० पी० तथा आई० पी० )	चाय का पौधा
कैनेबिस सटाइवा ( आई० पी० )	गाजा
कैप्सिकम फुटेसेन्स ( आई० पी० ) ( कैप्सिकम ऐनुअम )	लाल मिर्च
कैरिका पपाया ( वी० पी० तथा आई० पी० )	परीता
कैरम कार्वी ( वी० पी० तथा आई० पी० )	स्याह जीरा
कैसिया अगुस्टिफोलिया ( वी० पी० तथा आई० पी० )	सनाय
कैसिया फिस्चुला ( वी० पी० तथा आई० पी० )	इमलतास
सिण्टेला एशियाटिका ( आई० पी० ) ( हाइड्रोकोटिल एशियाटिका )	हाइड्रोकोटिल

सिफैलिस इपेकाकुआन्हा ( वी० पी० तथा आई० पी० )	इपेकाक नर्मगीड
कीनोपोडियम ऐलूम ( आई० पी० )	
कीनोपोडियम आम्बोसिअॉयोडिस उपजाति ऐन्थे- लमेन्टिकम ( वी० पी० तथा आई० पी० )	अमेरिकी वर्मसीड
क्राइसैन्थिमम सिनरैरिफोलियम ( वी० पी० तथा आई० पी० )	पाइरिश्रम
सिनकोना लेजिरियाना, सिनकोना सविसख्ता तथा अन्य जातियाँ और संकर ( वी० पी० तथा आई० पी० ) .	सिनकोना
सिनामोमम कैम्पोरा ( वी० पी० तथा आई० पी० ) .	कपूर
सिनामोमम जीलैनिकम ( वी० पी० तथा आई० पी० )	दालचीनी
सिसम्पिलास पैरीरा ( आई० पी० )	सिसम्पिलास
सिटुलस कोलोसिन्थिस ( वी० पी० तथा आई० पी० )	कोलोसिन्थ
सिट्रस आरैन्थियम ( वी० पी० तथा आई० पी० ) .	विटर आरैन्ज पील ( कड़वे सन्तरे का छिलका )
सिट्रस मेडिका उपजाति लिमन ( आई० पी० )	कागजी नीबू का छिलका
लैक्विसेप्स पर्पुरिया ( वी० पी० तथा आई० पी० )	एगट
काँकांस न्यूसिफिरा, काँकास ब्युटिरैसी	नारियन
काफिया अरैविका ( आई० पी० )	काफी का पोधा
कांत्सिकम् ल्यूटियम ( आई० पी० )	काल्चिकम् घनकन्द तथा बीज
कौरिएन्ड्रम सटाइवम ( वी० पी० तथा आई० पी० )	घनिया
क्रॉकस सटाइवा ( आई० पी० )	केशर
क्युमिनम साइमिनम ( आई० पी० )	जीरा
कुर्कुमा लौग्ना ( आई० पी० )	हल्दी
सिम्बोपेगाँ पलेक्सुओसस ( आई० पी० ) ( सिम्बो- पोगाँ साह्ट्रेट्स )	लेमनघास
डाढ़ूरा फैस्चुओसा ( आई० पी० )	घतुरा
डाढ़ूरा मेटेल ( आई० पी० )	घतुरा
डाढ़ूरा स्ट्रोनियम ( वी० पो० तथा आई० पी० )	घतुरा
डेरिस फेल्जिनिया ( आई० पी० )	डेरिस, ट्यूबा का मूल

डिजिटेलिस लैनेटा ( आई० पी० )	डिजांक्षिसन
डिजिटेलिस परप्यूरिया ( वी० पी० तथा आई० पी० )	डिजिटेलिस पत्ती
ड्राइप्टेरिस फिलिक्समस ( वी० पी० तथा आई० पी० )	मेल फर्न, ऐस्पिडियम
डलेट्रैरिया कार्डेमोमम ( वी० पी० तथा आई० पी० )	कार्डमम फूट ( छोटी हलायची )
एफेड्रा जिराडिआना, एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस (आई० पी०)	एफेड्रा
एरिथ्रॉक्सिलम कोका ( वी० पी० तथा आई० पी० )	कोकेन
यूकैलिप्टस ग्लोबुलस ( वी० पी० तथा आई० पी० )	यूकैलिप्टस
यूजीनिया कैरियोफिलस( वी० पी० तथा आई० पी० )	लौग
यूपैटोरियम अयापाना ( आई० पी० )	आयापान
फेरुला नार्थेक्स ( आई० पी० ) ( फेरुला फोटिडा )	हीग
फोनीकुलम वल्गैरी ( वी० पी० तथा आई० पी० )	सौफ
गॉलथीरिआ फैग्रैन्टिस्समा ( आई० पी० )	... विटरग्रीन
ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा ( वी० पी० तथा आई० पी० )	लिकोरिस ( शुलेठी )
हेमिडेस्मस इन्डिकस ( आई० पी० )	भारतीय सासांपारिला
होलैर्हिना एरिण्टिडेसेट्टेरिका (वी०पी० तथा आई०पी०)	कुर्ची का छाल
हिङ्नोकार्पस कुर्जाइ ( आई० पी० )	चालमुग्रा
हिङ्नोकार्पस वाइटियाना ( आई० पी० )	"
हाइओसायमस म्यूटिक्स ( वी० पी० तथा आई० पी० )	हाइओसायमस
हाइओसायमस नाइजर ( वी० पी० तथा आई० पां० )	हाइओसायमस पत्ती
आईपोमिया हेडेरेसिया ( आई० पी० )	कालादाना
आईपोमिया टर्पेथम ( आई० पी० )	टर्पेथ ( निशोथ )
जुनिपेरस मैक्रोपोडा ( आई० पी० )	जूनीपर
लाइनम यूसिटैटिस्सिमम (वी० पी० तथा आई० पी० )	अलसी ( तीसी )
लोबेलिया निकोटिआनिफोलिया ( आई० पी० )	लोबेलिया
मोलिया अजाडिरैकटा ( आई० पी० )	नीम
मेन्था आवेन्सिस ( आई० पी० )	पिपरमेण्ट
मेन्था विपेरिटा ( आई० पी० )	"
मोरिन्गा ओलेहफेरा ( मोरिन्गा टेरिगोस्पर्मा )	मोरिन्गा ( सहजन )
मिरिस्टिका फैग्रेन्स ( वी० पी० तथा आई० पी० )	जायफल

वेपावर सॉम्मिनिफेरम ( बी० पी० तथा आई० पी० )	... अफीम
पिक्रोइना क्वैसिअैडिस ( आई० पी० )	... क्वैशिया
पिक्रोराइजा कुरुंगा ( आई० पी० )	पिक्रोराइजा ( कुटकी )
पिम्पिनेला ऐनिसम ( बी० पी० तथा आई० पी० )	अनोसी
पाइनस एक्सेल्सा ( आई० पी० )	. कोलोफोनी ( शाल )
पाइनस खास्या (आई० पी०)	.. कोलोफोनी (राल)
पाइनस लॉनिफोलिया (आई० पी०)	"
पाइपर बीटल (आई० पी०)	• पान
पाइपर क्युबेबा (आई० पी०)	• शीतल चीनी
फैजैनो ओवेटा (आई० पी०)	• इसफगोल
पोडोफिलम हेक्सेण्ड्रम (बी० पी० तथा आई० पी०)	... भारतीय पोडोफिलम
(पोडोफिलम इमोडी)	
पॉलोगैला चाइनेन्सस (आई० पी०)	• भारतीय सेनेगा
प्रूनस अमिङ्गालस (बी० पी०)	... बादाम का तैल
चोरीलिया कोरिलिफोलिया (आई० पी०)	• बबची
टिरोकार्पस मार्सुपियम (आई० पी०)	किनो
राउलिया सपेन्टाइना (आई० पी०)	.. राउलिया (सर्पगन्धा)
रीबम इमोडी, रीबम बेबिएनम (आई० पी०)	.. रुबर्ब (रेवन्दचीनी)
रिसिनस कॉम्फ्यूनिस (बी० पी० तथा आई० पी०)	• रेडी का तैल
रोजा हेमेस्तिना (बी० पी०)	... गुलाब
रोजमेरिनस थॉफिस्टिनेलिस (बी० पी०)	.. रोजमेरी
सैण्टेलम ऐल्बम (बी० पी०)	• चन्दन काष्ठ
चराका इण्डिका (आई० पी०)	अशोक छाल
झाँसुरिया लैप्या (आई० पी०)	... सासुरिया (कड़ुआ कूट)
सिसैमम इण्डिकम (बी० पी० तथा आई० पी०)	.. तिल तैल
स्ट्रोफैन्यस कोम्बे (बी० पी०)	.. स्ट्रोफैन्यस
स्ट्रिक्नास नक्स-वोमिका (बी० पी० तथा आई० पी०)	... कुचला
स्वशिया चिराता (आई० पी०)	.. चिरायता
टमिनैलिया चेबुला (आई० पी०)	... हर्द (हरीतकी)
थाइमस वल्गेरिस (बी० पी० तथा आई० पी०)	• थाइम
टिनोस्पोरा कॉर्फोलिया (आई० पी०)	• टिनोस्पोरा (गुहुच)

द्रैकिस्पर्म अम्मी (बी० पी० तथा आई० पी०)

(कैरम कॉप्टिकम)

अजवायन

टाइलोफोरा आज्मैटिका (आई० पी०)

अन्तमूल

अजिनिया इण्डका (आई० पी०)

भारतीय स्थिवल (जगली  
प्याज)

वलैरियाना वालिचाइ तथा अन्य जातियाँ (आई० पी०)

वलैरियन (तगर)

वर्णनिया ऐन्थेलिमण्टिना (आई० पी०)

वर्णनिया (काली जीरी)

वाइटेक्स पेडन्हुलीरिम (आई० पी०)

वाइटेक्स पत्ती (काकजंघा)

वियानिया सॉम्मिनफेरा (आई० पी०)

अश्वगन्धा

जिन्जिबर आँफिमिनेल (बी० पी० तथा आई० पी०)

अदर्क (जिंजर)

बव हम इनमें से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेपजो के विषय में कुछ विस्तृत अध्ययन  
करेंगे।

### ऐकोनिटम (रैननकुलेसी)

#### ACONITUM (Ranunculaceae)

नाम—स०—विष; हि०—वच्छनाग, व०—विष, वम्ब०—वच्छनाव,  
त०—वशनावि।

ऐकोनाइट वस्त्रतियों के उस वर्ग के अन्तर्गत है जो रैननकुलेसी कुल का है। ऐकोनिटम यूनानी शब्द “एकोनिटॉन” (Aconiton) से व्युत्पन्न है जो सभवत “अकवान” शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है “भाला”; इसका प्रयोग भाला को विपाक्त करने के लिए किया जाता था। इसकी जड़ का चूर्ण और पानी मिलाकर उसका लेप तैयार करके उभे तीरों की नोक पर पोत दिया जाता था।

ऐकोनाइट (वर्तमान आदि) एक अत्यन्त प्राचीन औषधि है जिसका प्रयोग भारत के हिन्दू और मुसलमान चिकित्सक वरावर करते आये हैं। यह एक साधारण-भेपज है जो किसी भी भेपज-विक्रेता से प्राप्त हो सकता है। इसका एक किस्म फेरैक्स (ferox) है जिसका वाह्य प्रयोग के लिए बहुत उपयोग किया जाता है। इसकी जड़ का लेप बनाकर लगाने से तत्रिकार्ति (neuralgia) एवं अन्य कष्टदायक पीड़ाओं का

\* गैथरकोल और वर्ध के मतानुसार, ऐकोनिटम यूनानी से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ होता है, ‘विना मिट्टी के’ (without soil)। यह नामकरण इस पाट्प के चट्टानी स्थानों में उगने के कारण दिया गया है (देखें ‘Pharmacognosy’ by E. N. Galhercoal and E. H. Wirth, Lea and Febiger, Philadelphia, 1947) —अनु०

शमन होता है। ज्वर और आमवात ( Rheumatism ) के उपचार में प्राय अन्य औषधियों के साथ इसका आन्तरिक प्रयोग किया जाता है। खांसी, दमा और मर्पंदरा में भी इसका उपयोग होता है। हिन्दू चिकित्सक अवशमन के बाद वत्सनाभ के कुछ किस्मों का प्रयोग, हृदयोद्योपक एवं ज्वरशामक के रूप में करते हैं। अवशमन की प्रक्रिया में मूल को गोमूत्र में साधारण तापमान में ३ दिनों तक भिगोये रखा जाता है, अथवा ४८ घण्टे तक इसे गोमूत्र में उबाला जाता है। ऐसा दावा किया जाता है कि ऐसा करने से मूल का विषेला प्रभाव जाता रहता है, पर इसके लोभकारी औषधीय गुण वने रह जाते हैं। बाजार में मिलने वाले वत्सनाभ का, जिसको वैद्य लोग व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न विधियों से किया जाता है जिनका विवरण देशीय चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थों में दिया गया है। अवशमित की गई वत्सनाभ के मूलों के जैव-अध्ययन से यह प्रकट हुआ है कि मूलों का विषेला प्रभाव नष्ट हो गया है किन्तु उस हृद तक नहीं जहाँ तक वैद्य लोग दावा करते हैं। भारत की कड़ी ( उच्च ) स्तर वाली फार्मेसियो द्वारा अवशमित की गई वत्सनाभ की जड़ों के नमूनों का अध्ययन किया गया और सभी बहुत विषेले पाये गये, जिससे यह प्रकट होता है कि शायद पूर्ण अवशमन नहीं हुआ। सर्वश्री मृहास्कर और कायस ( Mhaskar & Caius ) का यह कहना है कि अवशमन से मूलों का न केवल हृदयावसादक प्रभाव जाता रहता है, बल्कि हृदय पर उद्दीपक प्रभाव पड़ता है। गोमूत्र में भिगोने की अपेक्षा गोदुख्ब में भिगोने से यह और अच्छा परिणाम देता है।

हिन्दू चिकित्सा में ऐकोनाइट का प्राचीनतम निर्देश अतिविपा ( एकोनिटम हेटरोफिलम ) के बारे में किया गया है जिसका उल्लेख चक्रदत्त ( १०५० ई० ) और सारङ्गधर ( १३६३ ई० ) जैसे लेखकों द्वारा लिखे गये औषध-निघण्टुओं में किया गया है। इन लेखकों ने ज्वर, अतिसार, अग्निमाद्य और खांसी में औषधि के रूप में तथा वाजीकर ( aphrodisiac ) के रूप में इसको प्रयोग में लाने की सलाह दी है। अरबी एवं फारसी ग्रन्थों में इसके उपयोग का बड़ा सक्षिप्त निर्देश मिलता है और वह भी सम्भवत इन्ही हिन्दू ग्रन्थों से लिया गया है। दूसरी किस्म है एकोनिटम पामेटम की ( विरस ), जो कुनैन की तरह बड़ा तिक्त है। पीपर के साथ मिलाकर आन्दू-शूल, अतिसार और वमन में औषधि के रूप में इसका आन्तरिक उपयोग किया जाता था। आमवात में इसका वाह्य उपयोग लेप के रूप में किया जाता था।

भारतीय एवं यूरोपीय ऐकोनाइट की किस्मों पर वानस्पतिक, रासायनिक और शरीरक्रियात्मक श्रमपूर्ण अनुसंधान हो चुके हैं। ऐल्डर राइट, कैश, बन्स्टन और स्टाफ ने इस पर काफी अन्वेषण किया है। भिन्न-भिन्न अनुसंधानकर्ताओं ने पादपों के

वर्गीकरण के लिए, उनके विपालु या अविषालु, एकवर्षी, द्विवर्षी, बहुवर्षी होने के अनुसार, अथवा उनके मूलो के सेक्शन काट कर उनकी भीतरी वनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीके अपनाये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक पुराने नाम बदलकर नये कर दिये गये हैं, जिससे बड़ा विभ्रम पैदा हो गया है। भारत में भेषज़ को अपने प्रयोग के लिए जब किसी भेषज का नमूना चुनना होता है तो उसे उसकी पहचान और जानकारी पाने के लिए इस विषय का समस्त प्राचीन साहित्य पढ़ना पड़ता है जिनमें से अधिकांश पुनर्प्रकाशन के अभाव में अप्राप्य है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐकोनाइट के ऐल्केलॉयडो की रासायनिक रचना में परिवर्तन शीघ्र आरम्भ हो जाता है। इस दिशा में आयु, तापमान, आर्द्धता और उसको सुरक्षित रखने के ढंग आदि का बड़ा असर पड़ता है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो पुराने नमूनों में सक्रिय तत्त्वों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अतएव ऐसे मूलो का जिनकी आयु के बारे में सन्देह हो, प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये।

अभी हाल तक भारतीय ऐकोनाइट का उपयोग, अपने देश में केवल बाह्य लेप तंगार करने के लिए किया जाता था। ऐकोनिटम चैस्मैन्थम (*Aconitum chasmænium* Stapf ex Holmes) को अब ऐकोनिटम नैपेलस लिन. का स्थानापन्न भारतीय भेषज मान लिया गया है। ऐकोनिटम नैपेलस (*A. napellus* Linn.) जो निटिश औषधकोश का भान्य भेषज है, भारत में नहीं पाया जाता। आर्थिक एवं भेषजगुण की दृष्टि से यह भारतीय स्थानापन्न भेषज अधिक सक्रिय और सशक्त है। इस भेषज का जैविक मानकीकरण गिनी पिण पर किया जाता है। इसकी शक्ति का आमापन इसके ० १ ग्राम का सत्त्व निकाल कर उसी प्रकार किया जाता है जैसे निटिश टिक्क्वर ऐकोनाइट के लिए दिया गया है, अर्थात् ० १ ग्राम के सत्त्व की वही शक्ति होनी चाहिये जो ० १५ मि० ग्रा० ऐकोनिटीन की होती है। इस ग्रन्थ के लेखक और उसके सहकारियों ने भारत में पैदा होने वाले ऐकोनाइट की विभिन्न किस्मों का खूब सावधानी से अध्ययन किया है और उनकी सक्रियता के सम्बन्ध में जो विभ्रम था उसे दूर कर दिया है। भारतीय बाजार में मिलने वाले ऐकोनाइट की वर्तमान स्थिति को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि समय-समय पर इसके जो वर्गीकरण किये गये हैं, उनका अध्ययन किया जाय।

### भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइट प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार

ऐकोनाइट की कुल मिलाकर १८० जातियाँ उत्तरी शोतोष्ण कटिबंध में चत्पन्न होती हैं, परन्तु इनमें से ५० यूरोपीय और २४ भारतीय जातियों को मान्यता

दा गयो है, इनमें से बहुतों में सक्रिय ऐल्केलॉयड होते हैं। इस वश के जो पादप भारत में उत्पन्न होते हैं वे हिमालय के सिर्फ पर्वतीय और उपपर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित हैं जो नेपाल से कश्मीर तक फैले हुए हैं। श्री वाट के अनुसार, वनस्पतिशो द्वारा मान्यता प्राप्त ऐकोनाइट की ६ जातियाँ भारत में उत्पन्न होती हैं। इनमें से दो जातियों की दो या तीन किस्में हैं।

### ( १ ) ऐकोनिटम हेटरोफिलम

नाम—स०—अतिविषा, हि०—अतीस, व०—अताइचा, त०—अतिवदयम और फा०—वज्जेतुरकी। पहाड़ियों को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि यह निषिय जूता है और इसे वे शाक की तरह खाते हैं। इसकी उत्पत्ति हिमालय पर समुद्र के धरातल से ६,००० से १५,००० फुट तक की ऊँचाई पर होती है। इसके मूल का प्रयोग देशी चिकित्सा में, मूदु एवं तिक्क बल्य के रूप में होता है और यह बाजार में 'अतिस' या 'अतीस' के नाम से विक्री है।

### ( २ ) ऐकोनिटम नैपेलस

नाम—स०—विष, हि०—मीठा जहर, व०—कटविश। इसकी अनेक किस्में हिमालय पर, समुद्र के धरातल से १०,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई पर शीतोष्ण प्रदेश में प्रचुरता से पैदा होती है। इसकी चार किस्में साधारणत जानी जाती है—नैपेलस शुद्ध, ऐकोनिटम रिजिडम, ऐकोनिटम मल्टीफिलम और ऐकोनिटम रोटार्डफोलियम। इसकी कुछ किस्में विषेली और कुछ विना विष की होती है। यहाँ वह उल्लेखनीय है कि समूचा ऐकोनिटम नैपेलस, जो भारतीय बाजारों में विक्री है, भारत की उपज नहीं है। यूरोप से भी ये मूल काफी मात्रा में व्यापार के लिए आयात किये जाते हैं।

### ( ३ ) ऐकोनिटम फेरैक्स

नाम—सं०—विष, हि०—विष, व०—कटविश, त०—वशनावि, गु०—वञ्छनाग, फा०—चिपनाग, थ०—विश। इस देश में इस भेषज का अधिकाश भाग जो उपयोग में आता है वह ऐकोनिटम फेरैक्स से निकला हुआ कहा जाता है, फिर भी इसके बारे में ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है। सर्वसाधारण का यह विश्वास था कि इसकी उत्पत्ति भारत में प्रचुर मात्रा में होती है, मुख्यत हिमालय के अर्धपर्वतीय शीतोष्ण प्रदेश में जो कुमार्य के पूर्व में समुद्रीय धरातल से १०,००० से १४,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। ऐकोनिटम नैपेलस से इसका भेद इस बात से किया गया कि इसके पत्ते जरा कम खड़ित होते हैं। असीमाक्ष (रेसीम) पुष्पविन्यास अधिक धने होते हैं और

पुष्प के शिरोभाग के टोप की चोच कुछ छोटी होती है। ऐकोनिटम फेरॉक्स नि सदेह विपैला समक्षा जाता था। साधारणत यह "भारतीय वत्सनाभ" के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि अविकाश मूल जो भारत के बाजार में बेचे जाते थे इसी जाति के माने जाते थे, यद्यपि दूसरी जातियों की जड़े भी इनमें नि सदेह मिली रहती थी।

(४) उत्तरी भारत से जो श्वेत स्पजी मूल निर्यात किये जाते हैं वे "लाहौर वच्छनाभ" या "मीठा जहर" के नाम से प्रचलित हैं। इन मूलों से वह विनिय गन्ध नहीं रहती जो ऐकोनिटम फेरॉक्स में पायी जाती है और कदाचित् यह ऐकोनिटम लाइकोफ्टॉनम से प्राप्त किया जाता है, जो कुमार्यू से कवमीर तक ( पश्चिमी हिमालय ) के प्रदेश में समुद्रीय धरातल से ७,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई पर प्रचुर मात्रा में पैदा होता है।

(५) ऐकोनिटम ल्युरिडम —अधिकतर सिक्किम में पाया जाता है और अन्य किस्मों के साथ मिलाकर बाजार में बेचा जाता है।

(६) ऐकोनिटम पामेटम :—हिमालय के पूर्वी शीतोष्ण प्रदेश में, गढ़वाल से मनीपुर तक पैदा होता है, पर ऐकोनाइट की यह जाति भी विपैली नहीं है और यह अन्य सक्रिय किस्मों के साथ मिलाकर बेचा जाता है।

यूरोपीय वाणिज्य में भारतीय ऐकोनाइट के सभी किस्मों का वर्गीकरण ऐकोनिटम फेरॉक्स के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि असली ऐकोनिटम फेरॉक्स वह ऐकोनाइट नहीं है जो बहुतायत के साथ इस देश में मिलता है और वह सहज प्राप्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि यहाँ के भेषज विक्रेता जो तथाकथित ऐकोनिटम फेरॉक्स बेचते हैं वह सब ऐकोनिटम फेरॉक्स, ऐकोनिटम लाइकोफ्टॉनम, ऐकोनिटम नैपेलस, और ऐकोनिटम पामेटम का मनमाना मिश्रण है जिसमें ऐकोनिकटम पामेटम की अधिकता है। इस तरह की मिलावट वर्पों से चली आ रही है जैसा कि डाक्टर ई० आर० स्मिल ने 'ईयर वुक आफ फारमेसी' १८७३ में लिखा है। वे लिखते हैं कि यद्यपि ऐसे भेषज स्पष्टत बहुत कम हैं जो ऐकोनाइट की अपेक्षा सस्ते दर से और सुलभता के साथ प्राप्त किये जा सकते हैं तथापि अनिश्चितता की मात्रा ऐकोनाइट के सम्बन्ध में जितनी अधिक रहती है, दूसरों के सम्बन्ध में उतना कदाचित् ही रहती हो। चिकित्सा की दृष्टि से इस भेषज के अनेक पार्श्व तुलनात्मक रूप से बेकार पाये गये, किन्तु स्थिति अब पहले से बहुत सुधर गयी है और अनेक भाहत्वपूर्ण सक्रिय ऐकोनाइट की किस्में बाजार में अब प्राप्त हैं फिर भी बहुत कठिनाई के साथ, क्योंकि सस्ती और रही किस्मों को बासल के साथ मिलाकर बेचने की मनोवृत्ति असी भी गयी नहीं है।

## भारत के वाणिज्यिक एकोनाइट उन्नीत वर्गीकरण के अनुसार :—

भारतीय एकोनाइट, जहाँ तक उनके वर्गीकरण को सम्बन्ध है, वहुत दिनों तक विभ्रम की स्थिति में बने रहे। गोरिस (१९०१ ई०) ने कतिपय द्विवर्षी एकोनाइट के मूलो पर अनुसधान-कार्य किया और अनुपस्थ काटो (Transverse Section) का अध्ययन करके उनके प्रभेदक लक्षणों का पता लगाया। इससे पहले के अनुसधान-कर्ताओं में इरमिश (१८५४ ई०) तथा मेयर (१८८१ ई०) का नामोत्तरेख किया जा सकता है, किन्तु यह स्थिति १९०५ में बदली, जब स्टाफ ने मूलो के अनुपस्थ काट की वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर इस विभ्रम की दूर किया और भारतीय एकोनाइट का वर्गीकरण किया। उन्होंने भारतीय एकोनाइट को तीन प्रकृतियों (types) में बांटा। उनका वर्गीकरण, जो मूलसंरचना के आधार पर किया गया था और जिसे वनस्पतिज्ञों ने स्वीकार किया है, नीचे दिया जाता है।

नैपेलस प्रस्तुप	ऐन्थोरा प्रस्तुप	डीनोराइजम प्रस्तुप
एकोनिटम सूर्जीरिकम	एकोनिटम रोटन्डफोलियम	एकोनिटम डीनोराइजेम
ऐ० चैस्मैन्थम	ऐ० हेटरोफिलम	ऐ० वालफुराई
ऐ० वायोलेसियम	ऐ० नैविकुलेरी	
ऐ० फाल्कोनेरी	ऐ० पामेटम	
ऐ० स्पिकैटम	ऐ० हुकराई	
ऐ० लैसिनिएटम		
ऐ० हेटरोफिलोयडिस		
ऐ० ल्यूकैन्थम		
ऐ० डिसेवटम		
ऐ० जैडुआर		

औषधियों में सामान्यतया व्यवहृत होनेवाले भारतीय एकोनाइट

उनका वितरण, उनके सक्रिय तत्व और उपयोग

‘एकोनिटम वालफुराई (A. *valform* Staph.) नाम—दरमिया—गोलिया, नै०—गोवरी। यह हिमालय के पर्वतीय एवं अधर्पर्वतीय क्षेत्रों में गढ़वाल से नेपाल तक समुद्र के घरातल से १२,००० से लेकर १४,००० फुट तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जडे एकोनिटम डिनोराइजम की जडों से मिलती जुलती

है किन्तु उससे कुछ छोटी और मोटी होती है और उसके साथ छोटी छोटी जड़ें सलगे रहती हैं। इनका स्वाद कडवा होता है और खाने पर मुँह में झुनझुनी सी पैदा होती है। यह एक विषालु जाति का पादप है और वाणिज्य में काम आनेवाले ऐकोनिटम फेरॉक्स का सामान्य घटक है। डन्स्टेन तथा ऐण्ड्रूज ( १९०६ ई० ) ने यह दिखलाया कि इसके दुहित कन्दो में १२ प्रतिशत ऐल्केलॉयड सूबै-कोनिटीन रहता है जो मातृ कन्दो में पायी जानेवाली मात्रा से अधिक है। अभी हाल में यह पता लगा है कि इसके मूल में कुल ऐल्केलॉयड १२ प्रतिशत होते हैं, जिसमें सूबैऐकोनिटीन की मात्रा ०४ प्रतिशत होती है (हेवी तथा शार्प)। सूबैऐकोनिटीन बड़ा ही विषालु होता है और जैविकी दृष्टि से ऐकोनिटीन की तुलना में १५ गुना अधिक सक्रिय होता है।

**ऐकोनिटम चैसमैन्थम ( *A. charmanthum* Stapf.)** — भारतीय नैपेलस-नाम—तस्मी०—बनबालनाग, मोहरी। यह पौधा पश्चिमी हिमालय में ७००० से १२००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। यह आमतौर पर सारे कश्मीर में बहुत ऊँचे स्थानों में पाया जाता है। ऐकोनिटम चैसमैन्थम के मूल देखने में ऐकोनिटम नैपेलस के मूलों के सदृश होते हैं और कभी भूल से इसके मूल को नैपेलस का मूल समझा जाता था। ऐकोनिटम चैसमैन्थम के कन्द अपेक्षाकृत कुछ छोटे और योटे होते हैं। मातृकद पर बहुत झुर्झार्हा होती है और उन पर नालियाँ सी लिंची रहती हैं। इसका बाह्य भाग काला और भीतरी भूरा होता है। तोड़ने पर विभग उपास्थिसम ( cartilaginous ), कैम्बियम का भीतरी भाग सफेद और कड़ा होता है तथा बाह्य भाग भूरा रहता है। उनमें कुल ऐल्केलॉयड ४३ प्रतिशत होता है अर्थात् ऐकोनिटम नैपेलस की अपेक्षा १० गुना अधिक। कन्द का प्रमुख ऐल्केलॉयड इन्है-कोनिटीन होता है और इसकी शरीरक्रियात्मक सक्रियता ऐकोनिटीन की अपेक्षा १७ गुना अधिक होती है।

**ऐकोनिटम डीनोराईजम ( *A. desnorblizum* Stapf )** नाम—जशहर-मोहरा; कश्मी० एवं पै०—दुष्विधा विष, सफेद विष।

यह पौधा मध्यवर्ती हिमालय में सर्वज, कनावर से नेपाल तक पाया जाता है तथा कश्मीर बशहर में और हिमाचल प्रदेश में आमतौर से पाया जाता है। दुहित मूलों का बहिस्तल गहरा, भूरा और रुखा-भुर्जावार होता है, मातृ कन्द भी ऐसे ही होते हैं किन्तु उसकी जड़ों के तंतु लम्बे होते हैं। यह भेषज बड़ा ही कठोर और शूंगवत् ( horny ) होता है और इसका स्टार्च सूखने के समय जिलेटिनी हो जाता

है। ऐकोनिटम बालफुराई वाणिज्यिक ऐकोनिटम फेरॉक्स का मुख्य घटक है (देखिये ऐकोनिटम बालफुराई)। यही प्रमुख भारतीय ऐकोनाइट है जिसका बाजकल इंग्लैण्ड को नियंत्रित होता है। इसकी जड़ों में कुल ऐल्कोलॉयड ० ९ प्रतिशत होता है जिसमें से ० ४ प्रतिशत स्थूडैकोनिटीन होता है।

ऐकोनिटम फेरॉक्स (*A ferox* Wall.) यह एक दुर्लभ विषालु जाति का पादप है जो नेपाल और कश्मीर स्थित उत्तरी हिमालय में पाया जाता है। वस्तुत मह तथाकथित वाणिज्यिक ऐकोनिटम फेरॉक्स, जिसे भारतीय ऐकोनाइट या विष भी कहते हैं, मुख्यत ऐकोनिटम डिनोराइजम, ऐकोनिटम बालफुराई, ऐकोनिटम-स्पिकैटम और ऐकोनिटम लैसिनियेटम का मिश्रण होता है। ऐकोनिटम फेरॉक्स का उपयोग अधिकतर ऊपर से लगाने के लिए किया जाता है। मूल का लेप बना लिया जाता है, जिसे न्यूरैल्जिया और पेशीय आमवात के रोग में त्वचा पर लगाया जाता है। शामक, ज्वरहर तथा स्वेदक के रूप में भी यह बड़ा उपयोगी होता है। भारत के सभी पहाड़ी जिलों में इसके मूल की बनी एक औषधि तीर में विष के रूप में लगाने के लिये बहुत प्रयोग में लायी जाती है।

### ऐकोनिटम हेटरोफिलम (*A heterophyllum* Wall.)

नाम—स०—अतिविषा, हि०—अतीस, कश्मी०—पतिस।

यह पादप हिमालय के पर्वतीय और अर्धपर्वतीय क्षेत्रों में आमतौर से पाया जाता है। बहुत बड़ी मात्रा में उत्तर पश्चिमी हिमालय से मैदानों में भेजा जाता है। उसकी जड़ों में अकृस्टलीय एवं अविषालु ऐल्कोलॉयडके हेटिसीन (०.४ प्रतिशत) जिसे लॉसन और टॉप्स ने (१९३७)  $C_{22} H_{33} O_2 N$  सूत्र दिया है, पाया जाता है। जैकब और क्रोग (१९४२ ई०) ने, दो अन्य क्रिस्टलीय ऐल्कोलॉयड पृथक किये हैं अर्थात् हेटिसीन  $C_{22} H_{23} O_6 N$ , गलनाक  $262^\circ - 267^\circ$  (अपघटन) तथा हेटिसीन,  $C_{20} H_{27} O_3 N$ , गलनाक  $243^\circ - 246^\circ$  (अपघटन)। सेण्ट्रल इण्डिजनस ड्रग कमेटी ने १९०१ ई० में एक अच्छे तिक्क बल्य के रूप में इसकी उपयोगिता सुस्थापित की थी किन्तु कालिक-ज्वररोधी (antiperiodic) के रूप में इसे व्यवहरण किया था। चौपड़ा और सहयोगियो द्वारा भी इसकी पुष्टि की गयी थी, उनका यह कथन था कि इसके ऐल्कोलॉयडों में कालिक-ज्वररोधी प्रभाव नहीं है। देशीय औषधि में इसे बहुमूल्य ज्वररशामक और तिक्तबल्य भाना जाता है, विशेषकर उस दौरबल्य को दूर करने के लिए जो मलेरिया एवं अन्य ज्वरों के अपशमन के पश्चात् रोगी को आ जाता है। यह भेषज मुख्यत शुद्ध रूप से

तिक्त चूर्ण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। उसमें वहां ऐस्पीरागस सारमेण्टोसर्स (शतमूली) की स्वादहीन जड़ों का अपमिश्रण किया जाता है।

**ऐकोनिटम लैसिनियेटम (*A. laciniatum* Stapf)** नाम—सिकिम-कालो विखोमा, अल्पाइन। यह सिकिम और उससे मिले जुले तिव्वत में, हिमालय के पर्वतीय एवं अर्धपर्वतीय क्षेत्रों में १०,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जड़े ऐकोनिटम स्पिकैटम की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी होती हैं और विपालु होती हैं, और ऐकोनिटम फेराँक्स और नेपाली ऐकोनाइट के वाणिज्यिक ढेरों में मिश्रित जाती हैं।

**ऐकोनिटम स्पिकैटम (*A. spicatum* Stapf)** यह ऐकोनाइट की जातियों में भवसे अधिक पैदा होने वाला, पुष्ट और विशिष्ट पादप है जो नेपाल, सिकिम और चुम्बी में १०,००० फुट से १२००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। सिकिम के लोग इसके मूल के विपालु स्वभाव से खूब परिचित हैं, और वे लोग अपनी भेड़ों को इसे चरने से रोकने के लिये उनके मुँह पर जाली लगा देते हैं। ऐमा प्रतीत होता है कि इसके मूल का उपयोग भेषज की अपेक्षा विष के रूप में अधिक होता रहा है। इसकी जड़ों में एक नये अत्यत विपालु ऐल्केलॉयड की ०.४ प्रतिशत मात्रा रहती है। यह ऐल्केलॉयड विलैकोनिटीन ( $C_{36}H_{51}O_{11}N, H_2O$ , गलनाक ११८-१२३°) के नाम से जात है। यह ऐल्केलॉयड ऐकोनिटीन से भिन्न है किन्तु रासायनिक एवं शारीरक्रियात्मक गुणों में स्थूल्कोनिटीन से सादृश्य रखता है। धुनो से इसकी रक्षा करने के लिए कभी कभी मूल को गोमूत्र में भिंगोये रखा जाता है, किन्तु भडार में रखे रहने पर ये मूल कपर से और काले हो जाते हैं। इसकी काली किस्म का देश में उपयोग किया जाता है और सफेद वाली किस्म का नियोत किया जाता है। कलकत्ता के बाजार के विव या विष नामक भेषज का यही मुख्य स्रोत है और कभी कभी ऐकोनिटम फेराँक्स के घटकों में एक यह भी होता है।

**ऐकोनिटम वायोलेसियम (*A. violaceum* Jacq.)** नाम—सतलज नदी क्षेत्र-तिलिआ काचाग। यह हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में गिलगिट से कुमायूँ तक १०,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जड़े ज्वेताम से भूरे रंग की होती हैं। इसका विभग (फैस्चर) शुद्ध व्वेत रंग का होता है। इसका स्वाद किंचित भीठा होता है और इसके पाने पर झुनझुनी सी नहीं मालूम होती। कहा जाता है कि इसकी जड़ों को औषधीय रूप से व्यवहृत किया गया है और कनवार के पहाड़ी लोग इसे सुखद पौष्टिक के रूप में खाते भी हैं।

सारणी ४—भारतीय बाजार के एकोनोमाइटों का रासायनिक आमापन

नाम-प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार	नाम- (नवीन) वर्गीकरण स्टाफ के अनुसार	पृथक् फिल्में गये ऐल्केतायडों फै नाम	कुल इधर विलेय ऐल्केतायडों की प्रतिशत सारा	क्रिस्टलीय फै गलताय	दिपणी
एकोनिटम नैपेलस (मोहरी) नमूना १	एकोनिटम नैपेलस- युरोपियन एकोनिटम नैपे- लस का नहर्पन्ह है	इन्डोनेशियन	५६०	२०२-२०३°	ऐल्केतायडों में महत्व मिलता गुलता है।
एकोनिटम नैपेलस नमूना २	—	—	—	—	—
एकोनिटम फेरैंस	यह नमूना ऐलेनिटम डिनोराइजम तथा एको- निटम बाल्कुराइ का समिक्षण या	स्टूड्योनिटम	०८०	१११-११२°	शरीर किया- न्या प्रभाव ऐल्केतायडों के गद्दों पर उसमें अधिक ग्रस्त है।
एकोनिटम हैटरेफिलम	स्टाफ के एक्स्ट्रोरा प्रस्प के अन्तर्गत है।	ऐटिमीन	० ३८	८५°	अक्रिस्टलीय
ऐकोनिटम लाइको- ड्वॉनम	स्टाफ के बहुवर्गी प्रच्च ते सम्बन्ध रखता है और उसमें एकोनिटम न्यूरिडम गमिन रहता है।	—	—	—	—

## भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइटों का मानकीकरण : रासायनिक आमापन

पहले ऐकोनाइट का आमापन उस रासायनिक प्रणाली से किया जाता था जो आठवें अमेरिकी भेषजकोश में निर्धारित किया गया था। इसकी नवी आवृत्ति में मात्र आमापन प्रक्रिया भी रासायनिक ही है किन्तु जैविकी आमापन की एक और वैकल्पिक विधि भी दी गयी है। फिर भी रासायनिक विधि को ही प्रमाणिक माना गया है और वही सधारणत प्रयुक्त भी होती थी। आगे चलकर विभिन्न अनुसधानकर्ताओं ने बताया कि ऐकोनाइट से निर्मित औषधियों का रासायनिक और जैविकी तरीकों से आमापन करने पर उनकी शक्ति से बड़ी भिन्नता और असमानता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि जड़ों में विद्यमान भिन्न-भिन्न ऐल्केलॉयडों का व्यवहार विलेयकों और अवक्षेपकों के प्रति एक समान होता है किन्तु उनके भैपजीय गुण-कर्म और विपालूता में यथेष्ठ अन्तर रहता है। रासायनिक विधियों से केवल कुल ऐल्केलॉयडों का, चाहे वे सक्रिय हो या निष्क्रिय, पता चलता है, जब कि ऐकोनिटिन और उसके सहवर्गी इन्डैको-निटीन और स्पूडैकोनिटीन जैसे ऐल्केलॉयड ही, भेषज की शारीरक्रियात्मक सक्रियता के कारण होते हैं। इसी कारण आमापन की अनेक जैविकी विधियों का विकास हुआ।

सारणी ४ में यह बतलाया गया है कि बाजारों में भारतीय ऐकोनाइट की जड़ों की जो आम किसमे विकती है उनमें ईथर विलेय ऐल्केलॉयड की कुल मात्रा कितनी है। तथा —कथित ऐकोनिटम फेरांक्स में जिसे ऐ० डिनोराइजम और ऐ० बालफुराइ (स्टाफ) का मिश्रण बतलाया गया है, कुल ऐल्केलॉयड ०.८६ प्रतिशत रहता है। ( भारतीय ) ऐ० नैपेलस ( ऐ० चैस्मैन्थम ) के जो दो नमूने भारत के दो मिश्र-मिश्र भागों से प्राप्त किये गये थे, उनमें से नं० १ में कुल ऐल्केलॉयड ४ ५० प्रतिशत और नं० २ में ४.२८ प्रतिशत क्रमशः रहा। यूरोपीय ऐकोनिटम नैपेलस में कुल ऐल्केलॉयड ०.४ से ०.५ प्रतिशत मिला है। इस प्रकार तथा—कथित फेरांक्स की किसमे ऐल्केलॉयड लगभग दुगुना रहता है और चैस्मैन्थम में लगभग दसगुना अधिक। दूसरों किसमे जो बाजार में मिलती है वे ऐ० हेटरोफिलम और ऐ० लाइकोकटांनम हैं। इनमें ऐल्केलॉयड की मात्रा बहुत कम रहती है, और शारीरक्रियात्मक दृष्टि से बहुत सक्रिय नहीं होती।

जैविकी आमापन ——ऐकोनाइट का आमापन रासायनिक विधियों से नहीं, बरन जैविकी विधियों से और अच्छी तरह से किया जाता है। ऐल्केलॉयड के मूल्याकन की गिनी पिंग वाली प्रणाली यह है कि गिनी पिंगों के शारीर के बजन के अनुसार किसी नमूने की कम से कम कितनी भाग उनके लिये धातक

होती है यह जान लिया जाय और फिर उसकी तुलना शुद्ध क्रिस्टलीकृत ऐकोनिटीन की उस मात्रा से की जाय जो कि इसी प्रयोजन के लिए आवश्यक होती है। इस प्रणाली से इस बात का साधारणत ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है कि किसी नमूने में कितना सक्रिय तत्त्व विद्यमान है। हमने इस प्रणाली को भारतीय ऐकोनाइट के भिन्न-भिन्न किस्मों की जड़ों के आमापन के लिए अपनाया था। हमें यह ज्ञात हुआ कि यूरोपीय ऐकोनाइट की तुलना में तथा-कथित फेरॉक्स के ऐल्केलॉयड करीब १५ गुना अधिक शक्तिमान है और भारतीय नैपेलस के ऐल्केलॉयड करीब ०७ गुना दुर्बल है, किन्तु यूरोपीय नैपेलस की तुलना में फेरॉक्स किस्म के ऐनाइट में ऐल्केलॉयड की मात्रा दुगुनी होती है और भारतीय नैपेलस ( ऐ० चैस्मैन्थम ) में १० गुनी होती है।

भारतीय बाजार के ऐकोनाइट ऐकोनिटम की जो २४ जातियाँ भारत में पैदा होती हैं, उनमें से केवल ९ की जड़े आमतौर से भारत के बाजारों में पायी जाती है। व्यापारी लोगों ने सामान्यतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है— ( दत्ता एव मुकर्जी )

( १ ) असली नैपेलस या यूरोपियन ऐकोनाइट . ये जड़े यूरोप से आयात की जाती हैं और ऐकोनिटम नैपेलस की असली जड़े होती हैं।

( २ ) भारतीय नैपेलस के मूल : आमतौर से ये ऐ० चैस्मैन्थम की जड़े होती हैं। वहधा इनमें ऐ० हेटरोफिलम या ऐ० पामेटम की या दोनों की जड़े अपमिश्रित रहती हैं।

( ३ ) ऐकोनाइट की फेरॉक्स वाली किस्में : साधारणतया इसमें ऐ० डीनो-राइजम और ऐ० बालफुराई का सम्मिश्रण रहता है जिसमें ऐ० स्पिकैटम और ऐ० लैसिनियेटम भी अपमिश्रित रहते हैं।

( ४ ) श्वेत ऐकोनाइट . कभी-कभी यह ऐ० डीनोराइजम और ऐ० बालफुराई का सम्मिश्रण होता है और बाजार में श्वेत ऐकोनाइट के नाम से विक्री होती है।

( ५ ) अविषालु ऐकोनाइट , ऐ० हेटरोफिलम बाजार में उपलब्ध रहता है और इसे अविषालु माना जाता है।

इन किस्मों के रासायनिक आमापन से यह ज्ञात होता है कि तथाकथित फेरॉक्स किस्म ( ऐ० डीनोराइजम और ऐ० बालफुराई दोनों को मिलाकर ) में ऐल्केलॉयड की जो मात्रा पायी जाती है वह भेषजकोश में मान्यता प्राप्त योरोपीय किस्म के ऐ० नैपेलस में विद्यमान ऐल्केलॉयड से दुगुनी होती है और भारतीय नैपेलस ( ऐ० चैस्मैन्थम ) में यूरोपीय नैपेलस की अपेक्षा दस गुना अधिक होती है।

इन मूलों के जैविकी आमापन से यह प्रकट होता है कि तथा-कथित फेरॉस किस्म में जो इयर विलेय ऐल्केलॉयड ( स्टूडीकोनिटीन ) है वह यूरोपीय ऐ० नैपेलस से प्राप्त होने वाले ऐकोनिटीन में १५ गुना अधिक शक्ति-जाली होता है और भारतीय नैपेलस ( ऐ० चैरमैन्थम ) में जो ऐल्केलॉयड पाये जाते हैं वे यूरोपीय ऐ० नैपेलस में निर्दमान ऐल्केलॉयड की तुलना में ०७ गुने निर्वल होते हैं ।

ऐकोनाइट की भिन्न-भिन्न जातियों के मूलों, जिनकी परीक्षा की गयी थी, के रासायनिक और जैविकी आमापनों की तुलना करने से यह निष्कर्प निकाला जा सकता है कि दोनों भारतीय किस्मे, अर्थात् ऐ० चैरमैन्थम और तथा-कथित ऐ० फेरॉस का उन सब प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जा सकता है जिनके लिए विटिंग भेपजकोश के ऐकोनाइट के मूल उपयोग में लाये जाते हैं । वाजार में विकने वाली अन्य किस्मा में भिन्न प्रकार के गरीरक्रियात्मक गुण होते हैं, इसलिए उनका उपयोग नहीं किया जा सकता । व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए उन्हीं ऐकोनाइटों को उपयोग में लाना ज्यादा अच्छा है जो 'फेरॉस' के नाम से सावारणत विकते हैं, क्योंकि ( १ ) वाजार में इनका चलन है और ये वच्छनाम, वच्छनाग, भीठाविप, भीठा जहर, सिगियाविप और डागरा के नाम से बड़ी सुलभतापूर्वक, येष्ठ परिमाण में प्राप्त किये जा सकते हैं । ( २ ) बड़ा सरलता के साथ उनमें भेद किया जा सकता है, और यदि इनका अन्य किस्मों के साथ अपमिश्रण किया गया हो तो बड़ी आसानी से अपमिश्रण का पता लगाया जा सकता है जो वात नैपेलस के साथ नहीं है । ( ३ ) अपनी वानस्पतिक और रासायनिक विशेषताओं के कारण ये सुगमतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं । इनके कद ( दूरवर ) कभी-कभी एक और साधारणत २, ३ के गुच्छों में मूलिकाकार, २-५" लंबा, ३/४-१" व्यास में ( नवसे मोटे भाग पर ) वाहर से गहरे भूरे अथवा प्राय काले रंग के होते हैं । ( ४ ) वात्य उपत्वचा ( Cuticle ) मोटी होती है और कुछ हद तक आद्रेता को रोकती है । ये जल्द विगड़ते नहीं और उनकी किस्मों में समान सरचना पायी जाती है, क्योंकि इन किस्मों में एकल्पता रहती है । ( ५ ) ऐल्केलॉयड का सुगमतापूर्वक क्रिस्टलीकरण किया जा सकता है, उसका ८० प्रतिशत क्रिस्टलीकरण के योग्य होता है, और १० ग्राम मूल के नमूने से पहचान के लिए शुद्ध क्रिस्टल प्राप्त किये जा सकते हैं ।

ऐकोनिटीन एक हृदयोत्तेजक ऐल्केलॉयड है, जिसे अगर टिक्कर के रूप में कही लगाया जाय तो सबैदों तत्रिकाओं पर उत्तेजक प्रभाव डालता है, जिससे पहले झुनझुनी सी पैदा होती है और फिर अवसाद और सुन्नता ( numbness ) आ जाती है । अगर इसका आन्तरिक सेवन किया जाय तो वेगस केन्द्र को उत्तेजित करता है और हृदगति



## ऐलो वेरा ( लिलिएसी )

Aloe vera Tourn ex Linn. ( Liliaceae )

पर्याय ऐलो बार्बेडेन्सिस ( *Aloe barbadensis* )

नाम स० और व०—धृतकुमारी, अ०—सव्वार, फा०—दरख्तेसिन्ह, हि०—धी-  
कुमार, मुसब्बर, म०—कोरफड, गु०—कुमारपाणु, त०—चिर्कत्ताली, ते०—  
चिन्नाकट बन्दा, कल्नड—लोलीसर, मल०—कुमारी ।

भारतवर्ष में शरीर के शोथ, पीड़ा वाले अगो पर ऐलो, जिसे आमतौर से  
मुसब्बर कहते हैं, का बहिलेप करना और रेचन के लिये इसका प्रयोग करना  
बहुप्रचलित है, उस पर विशेष रूप से कुछ कहना अनावश्यक है । इसका औषधीय  
प्रयोग चौथी शताब्दी में शुरू हुआ था । ऐलो जीनस के अन्तर्गत १६०  
जातियाँ हैं जो मरुद्रुभिदी ( xerophytic ) पादप हैं, और पूर्व एवं दक्षिण अफ्रीका  
के देशों हैं । इसकी कई जातियों का भारत, पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूह ( ईस्ट  
और वेस्ट इन्डीज ) तथा अन्य उष्ण जलवायु वाले देशों में और यूरोप में भी  
प्रवेश कराया गया है । ऐलो विभिन्न प्रकार के जलवायु में तथा अनुबर्त भूमि में  
भी खूब पनपता है । इस पौधे के पत्ते बड़े और मासल होते हैं, जिनको काटने पर  
एक गाढ़ा रस निकलता है । यह रस उपयुक्त पात्रों में एकत्र कर लिया जाता है और  
फिर बाल्पीकरण द्वारा स्वतं सान्द्रित होने दिया जाता है, पर बहुधा उबाल कर  
सान्द्रित कर लिया जाता है । रस आरम्भ में रगहीन होता है, पर बाद में बाल्पीकरण  
से या उबाले जाने के कारण काले रंग का हो जाता है, यही कारण है कि  
बाजार मुसब्बर ( एलुवा ) काले रंग का जमा हुआ कठोर पिण्ड होता है ।

ऐलो वेरा लिन (ऐलो वर्ल्गर्सिस लिन, ऐलो वार्ल्वेडेन्सिस मिल. तथा ऐलो अफिसि-  
नैलिस फार्स्क ) उत्तरी अफ्रीका का देशज है, किन्तु यह पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूह,  
भारत चीन तथा अन्य देशों में भी फैल गया है । इस जाति की कई किस्में ( फॉर्म )  
भारत के जलवायु की अन्धस्त हो गयी हैं और भारत की सूखी पश्चिमी धाटियों  
से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सभी भागों में अर्ध वन्य दशा में पायी जाती हैं ।  
साधारणत इस पादप का प्रवर्धन अन्त भूस्तारी ( sucker ) द्वारा किया जाता है ।  
भारत में इसकी आसानी से पहचान में आनेवाली दो या तीन किस्में हैं, पर उनका  
ठीक ठीक परिज्ञान स्पष्ट नहीं है । ऐलो वेरा किस्म चाइनेन्सिस ( *A. vera var.  
chinensis* Baker ) समूचे दक्षिण और मध्य प्रदेश में पाया जाता है । ऐलो वेरा

किस्म लिटोरैलिस (*A rera var littoralis* Koenig ex Baker) मद्रास में रामेश्वरम तक समुद्रतटवर्ती ककड़ी स्थानों में पाया जाता है। एक दूसरी किस्म जो काठियावाड़ के तटवर्ती क्षेत्रों में सूख पैदा होती है वही जफरावादी ऐलो का ज्ञोत है। कुछ ग्रन्थकारों ने इसको ऐलो ऐविसिनीका (*A abyssinica*) का भी नाम दिया है। ऐलो वेरीगाटा (*A variegata* Linn.) जो ऐलो वेरा का लयभग सहवर्गी पादप है, बम्बई के कुछ भागों में पाया जाता है। भारतीय पादप से उपलब्ध भेपज किसी तरह घटिया नहीं होता है, पर ऐलो सकोट्रिना (*A. succotrina*) को तर्वार्षिक महत्व दिया जाता है और व्यापार के विवरण पत्रों में उसी का ज्यादा चल्लेख होता है। यह जजीवार होते हुए सीधे लाल सागर के बन्दरगाहों से बम्बई आता है। इन स्थानों से यह चमड़े के धैलों में भेजा जाता है और धैलो के आकार प्रकार में बढ़ा अन्तर रहता है। बम्बई में इन्हें धैलो से निकालकर बक्सों में बन्द करके यूरोप और मलाया को भेजा जाता है, इसमें मद्रास और भैसूर के स्थानीय ऐलो भी शामिल रहते हैं, किन्तु अब इसका निर्यात व्यापार नहीं रह गया है। दक्षिण अफ्रीका और जर्मनी से जो ऐलो आयात किया जाता था उसकी मात्रा और धौरे कम होती गयी है। १९२९-३४ ई० की पचाब्दी में औसत वार्षिक आयात १,०१६ हूँडरेट का था और उसका मूल्य २५,९०३ रुपये था और चाद की पचाब्दी में औसत वार्षिक आयात ४५४ हूँडरेट का था जिसका मूल्य ११,२४५ रुपये होता था। १९३९-४४ ई० की पचाब्दी में वार्षिक आयात केवल ५७ हूँडरेट का रहा जिसका मूल्य २,७१७ रु० था।

यद्यपि धृत-कुमारी अधिकादा अपने आप प्रकृत रूप से नहीं पैदा होती, किन्तु इसकी कृषि बढ़ी आसान है और यह भूखी से सूखी और खराब से खराब भूमि में धूम्र पनपती है, इसलिए इसे भारत में आसानी से पैदा किया जा सकता है।

रासायनिक सरचना मुम्ब्वर (एलुगा) का सक्रिय सघटक ग्लाइकोसाइडों का एक मन्मिश्रण है जिसे 'ऐलॉइन' कहते हैं। वाजार में मिलने वाले ऐलो के भिन्न नमूनों में 'ऐलॉइन' के अंश की मात्रा में अन्तर होता है। 'ऐलॉइन' का मुख्य सघटक वार्वेलॉइन है जो पीले स्वर्णिम रंग का क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड होता है जो जलविलेय है। अन्य सघटकों में आइसोवार्वेलॉइन, वीटा-वार्वेलॉइन, ऐलो-इमोडिन (वार्वेलॉइन का एक जल-अपवर्तनीय उत्पाद) रेजिन और कुछ जल विलेय पदार्थ हैं। इसके गध का कारण यह है कि इसमें एक वाप्तशील तैल की किंचित मात्रा रहती है। प्रिटिश भेपजकोश ने भूमि को ५ प्रतिशत तक सीमित रखा है और उसके अनुसार १०० डिमी के तापमान

में सुखाने पर १० प्रतिशत से अधिक कमी (आद्रेता आदि में) नहीं आनी चाहिये। मुसब्बर का भौतिक स्वभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वह ऐलो के किस जाति के रस से तैयार किया गया है और उसको किस तरह सान्द्रित किया गया है। यदि उसे (रस को) धूप में रख कर सुखाया गया है या मन्द आँच पर रखकर सान्द्रित किया गया है तो उससे एक अक्रिस्टलीय, अपारदर्शी और मोमी सार उपलब्ध होता है जिसे यकृती मुसब्बर या एलुआ (hepatic or liver aloe) कहते हैं। किन्तु यदि रस को जल्दी से तेज आँच पर रखकर सान्द्रित किया जाय तो ठड़ा होने पर जो पदार्थ मिलता है वह अक्रिस्टलीय और अर्ध-पारदर्शी होता है जिसे काचाभ एलुआ (glossy or vitreous aloe) कहते हैं।

सर्वश्री चोपडा और धोप (१९३८ ई०) ने ऐलो वेरा किस्म ऑफिसिनैलिस के रस को परीक्षा की और यह पाया कि इसमें ऐलॉइन नहीं होता, वरन् कुछ रेजिन और गोद होता है जिसमें इमोडिन और क्राइसोफेनिक अम्ल जैसे ऐथ्राकिवनोन व्युत्पन्नों की लघु मात्रा रहती है। जफराबाद मुसब्बर में विना आइसोवार्बेलॉइन के १३६ प्रतिशत ऐलॉइन रहता है (Welmer I, 150)। मुसब्बर का स्वाद कड़वा एवं अरुचिवर होता है और अधिकतर विरेचक के रूप में इसका उपयोग किया जाता है और कोष्ठवद्धना के उपचार के लिए बड़ा ही उपयोगी होता है किन्तु गर्भावस्था में इसका प्रयोग उपयुक्त नहीं होता। यह अत्यधिक श्रोणि-रक्ताधिक्य (pelvic congestion) पैदा करता है और गर्भाशय विकार में आमतौर से लौह योगों और वातानुलोभकों के साथ मिलाकर इसका प्रयोग किया जाता है। एलुआ कई अविस्वामिक मृदुरेचक औषधियों में एक घटक के रूप में रहता है।

देशीय चिकित्सा-पद्धति में उपयोग देशीय चिकित्सा पद्धति में भी मुसब्बर का प्रयोग क्षुधावर्धक, रेचक और आतंवजनक के रूप में किया जाता है। अर्श और गुदा विदर (rectal fissure) के उपचार के लिए इसे बटा ही उपयोगी समझा जाता है। म्युसिलेज बड़ा ठड़ पहुँचाता है और शोथ वाले अगों पर पुल्टिस के तौर पर लगाया जाता है। जफराबादी मुसब्बर का वार्निश के काम में भी उपयोग किया जाता है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Humpreys, 1912, *Drugs in Commerce*, (2) *Wealth of India Raw Materials*, 1948, 1, 61; (3) Chopra and Ghosh, 1938, *Arch Pharm., Berl.*, 276, 348, (4) Welmer, 1931, *Die Pflanzenstoffe*, I, 150; (5) Trease, G E, 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 154

## ऐराकिस हाइपोजिया (लेग्युमिनोसी)

*Arachis hypogaea Linn (Leguminosae)*

मूँगफली, चिनियादाराम।

पर्याय — (ग्राउन्डनट, पीनट, मकीनट)

नाम—म०-वृक्षनाम (सम्भवत 'भृगण्ड' ?-न्तु०), हि०-मूँगफली, व०-चीनादाराम, म०-मूर्ज सूग, ते०-देखोनामारु काया, त०-वैर्लिंग, द०-नैश्चारामादने, मल०-नैलाकदन।

ऐराकिस हाइपोजिया (मूँगफली) नामक फौंगे का उत्तमस्थान ज्ञानीलह, पर अब इनसी फौंगे गयी उग एवं उपोषण देशों में होती है। जिन देशों में मूँगफली प्रचुरता से पूर्वा होती है वे हैं — भारतवर्ष, चीन, बुखाराय और पश्चिमी अफ्रीका, चीन, द्वितीय चीन दक्षिणी एशिया। यहाँ है भारत में इसका प्रयोग नमस्ते पहले १६वीं शती में हुआ। १९वीं शताब्दिर ने इसी फौंगे जारीचर्यबाद स्थ ने बड़ी गयी ओर आज भारतवर्ष मूँगफली का प्राची बड़ा उत्पादन देश है और विद्युत ३५ प्रतिशत वर्षों उत्तराधिकारी है। भारतवर्ष के मध्यां, पश्चिम तथा हैदराबाद नगरों में प्रमुख चर्चाप्रिय मूँगफली उत्पाद होती है। जब इसकी दीजो लाप्रयोग के व्यापक पैमाने पर भोजन के स्थ में तो होता ही,, इसके क्षतिज्ञ उत्पाद ४० से ५० प्रतिशत शूल तेज नियाता जाता है जो स्वाद में मृदु गन्धिर होता है। शूद्र वगा (चर्वी), प्रोटीन और विटामिन वी १, वी २, निटोटिनिल जूल तथा विटामिन ई का उत्तम स्रोत है। एकेट (१९४२ ५०) और चमी (१९४४ ५०) ने इसमें विटामिन वी ६ (सिगेडामिन) के भी उत्पाद होने की घनता दी है। भारतीय और इनके ऊपर के लाल छिठों में, जो नेत्र तिकानाने वाले प्रक्रिया में पाय दुःख दिया जाता है, विटामिन वी २ अधिक मिलता है। इनमें विटामिन 'ए' धौर विटामिन 'सी' अपेक्षाकृत रूप पाया जाता है। लेपार्टिन (Lepartin) के ये लच्छे नोत हैं और छिठों-रहित गिरी में ०.५-०.७ प्रतिशत उपाध्य होता है (इन १९४५ ५०)। बनेश्वर में मूँगफली लो पीनट (Peanut) कहते हैं और उन्होंने चाय ने जाने हैं। अग्रो मिट्टन, पीनट मास्टन और पीनट बाटा के न्यास में भी उपयोग होते हैं। उगा और प्रोटीन में पर्याप्त गात्रा में युक्त होने के कारण यह गृन्थवाल उत्तम प्रिय पाय पदार्थ है। गत कुछ वर्षों से, भारतवर्ष में मूँगफली के तेल का उत्पादन गहरत अनिक बढ़ गया है, इसका प्रयोग हाइड्रोजनीकरण द्वारा बनायति या वैज्ञानिक धौ के निर्माण में होता है। इस

तेल की खपत १९३८ई० मेरा लगभग ४४,००० टन थी जो १९४५ई० मेरा बढ़कर १,६३,००० टन हो गयी। इन बीजों से शीत प्रपीडन (Cold expression) द्वारा भेषजीय गुणवाला तेल निकलता है। यह हल्के पीले रंग का होता है और इसमें मूँगफली की भीनी-भीनी गद्ध होती हैं तथा इसका स्वाद मृदु-स्निघ (Bland) होता है। इस तेल के गुण जैतून के तेल के गुणों के समान ही होते हैं। यह स्वाद तथा भौतिक और रासायनिक गुणों में जैतून के तेल के सदृश होता है। दोनों की तुलना से यह सादृश्य ठीक-ठीक स्पष्ट हो जायगा।

मूँगफली का तेल	जैतून का तेल
आपेक्षिक घनत्व १५° से० पर...	०.९१६ से ०.९१८ तक
०.९१६५ से ०.९१७५ तक	३ से ४° से०
ठोस बनने का तापमान ०° से २° से०	१.४६९८ से १.४७०३ तक
अपवर्तनाक १५° से० पर... १.४७३१	१८५ से १९६ तक
साबुनीकरण मान... १८५.६ से १९६ तक	साधारणत ७९ से ८८ तक
आयोडीन मान ८३.३ से १०५ तक	

मूँगफली के तेल में पामिटिक, स्टियरिक, ऐरेकिडिक, बैहेनिक, लिनोसेरिक, ओलेइक और लिनोलेइक अम्ल पाये जाते हैं और घरेलू व्यवहारों में इसे शूब पसन्द करते हैं, क्योंकि अन्य तेलों की तरह यह उतना विकृत गन्धी (rancid) नहीं होता। भारतवर्ष में यह तेल मृदुविरेचक (aperient) और स्नेहन (emollient) माना जाता है।

जैतून के तेल का उपयोग औषधि में बहुत अधिक होता है—बाह्यरूप में भी और आम्यन्तरेश्विक रूप में भी। यह लिनिमेन्ट (liniments) और मरहम (ointments) के निर्माण का आधार है। यह भोज्य पदार्थ एवं पौष्टिक भी है और क्षयकारी रोगों में दिया जा सकता है। मूँगफली के तेल में प्राय जैतून के तेल के सभी गुण पाये जाते हैं इसलिए इसका उपयोग जैतून के तेल के स्थान पर किया जा सकता है, विशेष रूप से भारत में, जहाँ मूँगफली का तेल बहुत सस्ता और प्रभूत मात्रा में मिलता है, जब कि जैतून का तेल अत्यधिक महँगा होता है। वस्तुत जैतून के तेल के स्थान पर मूँगफली के तेल का उपयोग व्यापार में बहुत अधिक होता है। फास और इटली से शुद्ध जैतून के तेल (Pure Lucca olive oil) के प्रादर्श (specimens) रूप में आनेवाले अधिकांश तेल सचमुच जैतून के तेल नहीं होते, अपितु शोधित मूँगफली के तेल होते हैं जिन्हें जैतून का तेल कहार देकर भेज दिया जाता है। ब्रिटिश भेषजकोश मरहम,

लिनिमेन्ट, लेप ( ल्पॉस्टर ) और साबुन बनाने में जैतून के तेल के स्थान पर मूँगफली के तेल का उपयोग करने की स्वीकृति प्रदान करती है और भेषजकोशीय योगों के निर्माण में विटामिन 'ए' और 'डी' के विलयन के लिए अनुपान (vehicle) के रूप में भी । मूँगफली का तेल समुचित निर्जीवाणकरण (sterilization) के पश्चात् तैलीय योगों के लिए अनुपान के रूप में व्यवहृत हो सकता है, जिसका प्रयोग इजेक्टबूल के निर्माण में होता है । यह बच्चों को बिलाने के लिए इमल्शन (emulsion) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । इसका प्रयोग पशु-चिकित्सा में पोषक, भूदुविरेचक और स्नेहन के रूप में होता है । इसका उपयोग पौधों के कई कीट-रोगों पर नियन्त्रण करने के लिए भी कीट-नाशक इमल्शन के रूप में किया जाता है । कीटनाशी औषधियों को, यथा-डेर्रिस (Derris) या निकोटिन (Nicotine) की, विषालुता इस प्रकार बढ़ाई जाती है । साधारणत निम्नश्रेणी का मूँगफली का तेल साबुन एवं कान्तिद्रव्य (cosmetics) बनाने और चमड़े के स्नेहन के काम में आता है तथा चरबी (tallow) और डिजल तेल के स्थान पर भी इसका उपयोग होता है ।

मूँगफली की खली —तेल के प्रपोडन के उपरान्त जो अवशेष रहता है उसे मूँगफली की खली कहते हैं । यह सभी खलियों से सस्ती तथा बहुत पुष्टिकर होती है और दोरों तथा छांथिगत पशुओं (farm animals) के पोषण के लिये एक उच्चकोटि का सान्द्रित आहार (concentrated feed) माना जाता है । अन्य खलियों को अपेक्षा इसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है । मूँगफली की खली विशेषकर, धान, ईख, काँफी एवं चाय के लिए बहुत ही अच्छी कार्बनिक नाइट्रोजनी खाद है । सुपरफास्फेट और पोटास के साथ मिलाकर देखा गया है कि यह सुपारी की खेती के लिए बहुत ही लाभदायक है ।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से मूँगफली के बीज, तेल एवं खली का निर्यात बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है । इनका अत्यधिक निर्यात ग्रेटब्रिटेन, लक्षा, जर्मनी, नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा अन्य देशों को अधिकाशता भद्रास एवं बम्बई के बन्दरगाहों से होता है । भारतीय बन्दरगाहों से इसके ( नियन्त्रित ) निर्यात का अंकिता १९४५-४६ है ० में १,९७,००० टन तथा १९४६-४७ है ० में १,१७,००० टन था । भारत से अधिकतर इसके बीज का निर्यात होता है । मूँगफली का तेल भी पर्याप्त मात्रा में विदेशों में भेजा जाता है, परन्तु इसके उत्पादन की तुलना में इसका निर्यात नगण्य है ( १९३७-३८ है ० से दूर्च पांच वर्षों में उत्पादन का ७५ प्रतिशत ) । भारत से मूँगफली के तेल का वार्षिक निर्यात निम्नलिखित अंकड़ों में दिखाया गया है —

वर्ष	मात्रा (टन)	मूल्य (लाख रुपये)
१९३२-३३। ३६-३७	३,३७९	११,६७
३७-३८	१२,२०६	४३,११
३८-३९	१८,१५१	५७,६४
३९-४०	१६,४०९	५२,३७
४०-४१	३५,९३४	१२८,१५
४१-४२	२६,४४९	९३,६०
४२-४३	८,६६४	४२,७६
४३-४४	६८५	५,०७
४४-४५	६६४	९,००

### सन्दर्भ :—

(1) Lewkowitsch, 1922, *Analysis of Oils and Fats*, (2) Louis, E. Andes, 1917, *Vegetable Oils and Fats*, (3) Pickett, 1942, *Chem. Abstr.*, 36, 4213, (4) Sarma, 1944, *Ind. Jour. Med. Res.*, 32, 117 (5) Traill, 1945, *Chem. Industry*, 58, Jacobs II, 574, (6) Wealth of India Raw Materials, 1948, 1, 90

### आटिमिसिया मैरिटिमा (कस्पोजिटी)

*Aitomisia maritima* Linn (Compositae)

वर्मसीड, सैन्टोनिका (Wormseed, Sartonica)

नाम—हिं—किरमाला, वम्ब—किरमाणीओवा, फा—शोह, दिमेन, सरीउन, अ—अफसान्तिनउल—वहर, शिक।

आटिमिसिया नामक पौधा अत्यन्त प्राचीन भेपज है, जिसका प्रयोग यूनानी तथा रोमन लोग आन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षुधावर्धक के रूप में करते थे। प्राचीन बख एवं फाल के हकीमों द्वारा भी इसका उपयोग उक्त उपचार के लिए ही किया जाता था। अम्भवत भारत में इसका प्रबंग उन्हीं के माध्यम से हुआ, क्योंकि यहाँ के आपूर्वक ग्रन्थों में इस भेपज का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भारत में तिब्बी (हकीमी चिकित्सा) में इसके पुष्पमुण्डकों का व्यवहार आन्तर्राष्ट्रीय के रूप में पर्याप्त मात्रा में होता रहा है और अब भी हो रहा है। सामान्यतया इसका चूर्ण बनाकर २ से ४ छाँस की मात्रा में दिया जाता है। इस भेपज का व्यवहार जलशोफ के उपचार में भी होता है। उसमें निमित क्वाथ का, जिसमें मुख्यत सुगन्ध तैल पाया जाता है, प्रयोग हृदयोदीपक

एवं श्वसनोदीपक के रूप में होता है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा (जिसे आर्टिमिसिया ब्रेविफोलिया *A. brevifolia* Wall. भी कहते हैं) हिमालय की ४,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर कुमांगू में लेकर कश्मीर तक प्रचुर मात्रा में पैदा होता है। ऐसा कहा जाता है कि यह पौधा बिलोचिस्तान, चिनाल एवं अफगानिस्तान में हिमालय की अपेक्षा कही अधिक और एक समान रूप से पैदा होता है। अफगानिस्तान में यह इतनी प्रभूत मात्रा में होता है कि कन्धार से आयात होनेवाले फलों में इसका उपयोग सैब्जन-सामग्री (packing material) के रूप में होता है। भारतवर्ष में, इसके प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने पर भी, कुछ वर्ष पूर्व तक सैण्टोनिन का निर्माण न तो देश के उपभोग के लिए और न ही निर्यात के लिए होता था।

वस्तुत प्रथम महायुद्ध के पहले भारत में मिलनेवाले सैण्टोनिन का स्रोत रूप था और उसका आयात यूरोप से होता था। यह आर्टिमिसिया सिना (*A. cina* Berg) से एकलित किया जाता था, किन्तु आर्टिमिसिया की कई सम्बद्ध स्पीशीज हैं, यथा, आर्टिमिसिया मैरिटिमा वराइटी स्टेकमैनियाना (आर्टिमिसिया लकियाना) [*A. maritima* var. *steckmanniana* Besser (*A. lercheana* Karel and Kiril)], आर्टिमिसिया पॉसिफिलोरा (आर्टिमिसिया-मैरिटिमा) [*A. pauciflora* Stechm (*A. maritima*)] आदि, जो तुर्किस्तान में किंगिज के अड्डों विस्तृत मैदानों में पायी जाती है। आर्टिमिसिया की अनेक स्पीशीज यूरोप, एशिया एवं अमेरिका के भिन्न-भिन्न भागों में पायी जाती हैं। पहले इसके पुष्पमुण्डकों का, जो तीक्क गन्धयुक्त होते हैं, प्रचुर परिमाण में सचय किया जाता था और यूरोप के बाजारों में विशेषकर, मास्को और पेट्रोगोड में तथा उनमें से कुछ अफगानिस्तान और फारस होते हुए भारत में भी भेजे जाते थे। बाद में, तुर्किस्तान के बड़े-बड़े शहरों में सैण्टोनिन बनाने के कारखाने (फैक्टरियां) स्थापित किये गये और अब मुख्यत विशुद्ध मैण्टोनिन निर्यात किया जाता है। कुछ वर्ष पहले रूप की राजनीतिक एवं आर्थिक उथल-पुथल और चयन तथा सघ्रह करने के नाशक एवं हानिकर विधियों के कारण सैण्टोनिन का अत्यधिक अभाव था। इसलिए उसके उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से अन्य स्रोतों को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। यह पौधा केवल रूसी-तुर्किस्तान के एक सीमित क्षेत्र में पाया जाता है और कृपि द्वारा उत्पादन-चृद्धि के प्रयत्न असफलसिद्ध हुए हैं। समय-समय पर उसी जीनस के अन्य पौधों पर विस्तृत अनुसधान कार्य भी किये गये हैं जिससे सैण्टोनिन की अभिवृद्धि हो सके या उसके प्राप्त करने के अन्य स्रोत मिल जायें। हालैण्ड में वान लैरेन (Van Laren) ने बड़ी सफलता के साथ आर्टिमिसिया सिना (*A. cina*) की खेती की है,

जिससे १३ प्रतिशत सैण्टोनिन प्राप्त हुआ है। आर्टिमिसिया की कुछ अमेरिकी स्पीशीज़ से भी, जो मैक्सिको तथा उसके पड़ोसी प्रान्तों में पाये जाते हैं, सैण्टोनिन उपलब्ध हुआ है। हेकेल और श्लागडेनहाफेन ( Heckel and Schlagdenhauffen ) ने यह खोज निकाला था कि फास में पाये जाने वाले आर्टिमिसिया गेलिका (*A. gallica*) में सैण्टोनिन पाया जाता है, पर उन्होंने यह नहीं बताया कि कितने प्रतिशत सैण्टोनिन मिलता है। १९२४ में मैप्लेहोर्प ( Maplethorpe ), दक्षिण इंगलैण्ड में पाये जाने वाले आर्टिमिसिया गेलिका और आर्टिमिसिया मैरिटाइमा का परीक्षण कर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इंगलैण्ड में पाये जानेवाले इन पौधों में सैण्टोनिन बहुत कम था नहीं के बराबर होता है। आर्टिमिसिया की विभिन्न स्पीशीज़ पर पर्याप्त कार्य होने के बावजूद अब भी ऐसा कोई पीधा नहीं मिला है, जिसमें यथेष्ट सैण्टोनिन उपलब्ध हो और जो इसी पीधो के तुल्य हो सके।

**आर्टिमिसिया की भारतीय स्पीशीज़ :** ( Indian Species of Artemisia ) आर्टिमिसिया की अनेक स्पीशीज़ हिमालय पर्वत पर पैदा होती है, किन्तु आर्टिमिसिया ब्रेविफोलिया ( आर्टिमिसिया मैरिटिमा ) में ही सैण्टोनिन पाया जाता है। यह एक क्षुपीय सुरभि-पादप है, जो ३-५ फुट ऊँचा होता है, जिसका प्रकन्द काढ़ीय और स्तम्भ सीधा या आरोही होता है, जिसके आधार से कई शाखाएँ निकलती हैं। यह एक अत्यधिक परिवर्तनशील ( variable ) पीधा है जिसके पुष्प-मुण्डक ऊर्च्च अथवा क्षुके हुए होते हैं। यह हिमालय के पश्चिमी भाग में ७,००० से ९,००० फीट की ऊँचाई पर कश्मीर से लेकर कुमार्यूं तक पाया जाता है। भारत में पाये जानेवाले सैण्टोनिनयुक्त पीधों की केवल यही एक स्पीशीज़ है। यह स्पीशीज़ उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक भागों में यथा कश्मीर, कुर्म, कागन, बुशहर, बजीरिस्तान, चम्वा आदि में साधारण रूप से पाया जाता है। केवल कश्मीर और कुर्म के कुछ भागों में पाये जानेवाले पीधों में निकालने योग्य ( अल्प मात्रा में ) सैण्टोनिन होता है। इन क्षेत्रों में सैण्टोनिन-रहित पीधे भी पैदा होते हैं। बघवार ( १९२४ई० ) ने पता लगाया कि कुर्म की धाटी में पैदा होनेवाले सैण्टोनिनयुक्त पीधों का तना वृद्धि की आरम्भिक अवस्था में आरक्ष होता है, जब कि सैण्टोनिन-रहित पीधों का तना हरा होता है और बढ़ जाने पर दोनों के तने भूरे हो जाते हैं। पहले का नाम उन्होंने आर्टिमिसिया मैरिटिमा फॉर्मा रुब्रिकांले (*A. maritima forma rubricaulis* Badh ) रखा है। काजिलबाश ( Qazilbash ) ने कुर्म की धाटी में पैदा होनेवाले सैण्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया का अध्ययन कुछ विस्तार से किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उक्त धाटी में पैदा होनेवाली आर्टिमिसिया कुर्मेन्सिस

(*A. Luridus* Q. २१) नामक एक अन्य स्पीशीज है जो पैदा भी अधिक होती है और जिसमे सैण्टोनिन की मात्रा भी अधिक होती है। भारत का विभाजन हो जाने में कुरम धाटी का अत्यन्त उपादेय क्षेत्र, जिसमे सैण्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया खूब पैदा होता था, भारतीय सीमा के बाहर पड़ गया। कश्मीर राज्य के सीमान्त जिलों में रुत्त तथा अस्तोर के क्षेत्र, जो बारामुल्ला (कश्मीर) सैण्टोनिन फैवटरी (कारखाना) द्वारा अभीप्रिय आर्टिमिसिया की अधिकाश पूर्ति करते थे, अब १९४७ के राजनीतिक उपद्रव के बाद से पाकिस्तान की सीमा में पड़ गये हैं। गुरेज का क्षेत्र, जो कश्मीर (भारत) में है, देश को उक्त भेपज मम्बन्धी भंग की यथेष्ट पूर्ति नहीं कर पाता। इस महत्वपूर्ण भेपज की आवश्यक पूर्ति के लिए अन्य स्रोतों को ढूँढ़ निकालने की दृष्टि से जम्मू-कश्मीर राज्य, हिमाञ्चल प्रदेश, कागड़ा-कुलू धाटी एवं उत्तर प्रदेश के कुमार्य की पहाड़ियों के ऊन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया जिनमे आर्टिमिसिया पैदा होता है। इस बहुद सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि जम्मू-कश्मीर राज्य में चेनाव धाटी के धूल धर स्थान में १२ प्रतिशत मैण्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया वन्य अवस्था में पैदा होता है। १९४७ मे पूर्व चेनाव धाटी आर्टिमिसिया क्षेत्र के रूप मे ज्ञात नहीं थी। सम्प्रति इससे आवश्यकता की पूर्ति सीमित मात्रा में हो रही है, पर इसके पीछे का कृत्रिम प्रजननद्वारा विस्तार किया जा रहा है। विभाजन के बाद से बारामुल्ला का कारखाना इसी आर्टिमिसिया का उपयोग कर रहा है। कुरम का वह क्षेत्र, जो मर्वग्रथम आर्टिमिसिया-क्षेत्र के रूप में अन्वेषित किया गया था, बोटैनिकल सर्वे विभाग द्वारा भोटे तौर पर २०० एकड़ अंकित गया था, जहाँ यह वानस्पतिक भेपज बहुत धना उत्पन्न होता था, किन्तु उसके आसपास की पहाड़ियों में इसी तरह के अनेको क्षेत्र हैं एवं २,००० एकड़ से बड़ा एक विस्तृत भूसूणड है, जिसमे यह कही विरल और कही मध्यन रूप से उगता है। आर्टिमिसिया मे बहुत अधिक मिलती-जुलती अनेको स्पीशीज इस क्षेत्र से संगृहीत की गयी है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा इस धाटी के अधिकाश भागो मे पाया जाता है, इसे 'स्पीरा तर्खाह' (*Spirali tarkhah*) कहते हैं। इसी में सैण्टोनिन होता है। अन्य संगृहीत स्पीशीज, यथा आर्टिमिसिया साल्सोलॉयडेस (*A. salsoloides*), आर्टिमिसिया एब्सिन्थिम (*A. absinthium*), आर्टिमिसिया कम्फेस्ट्रिस (*A. campestris*) और आर्टिमिसिया चलोरिस (*A. vulgaris*), सैण्टोनिन-रहित सिद्ध हुई हैं।

१९४७ ई० मे विभाजन के बाद मे भारत मे सैण्टोनिन-उत्पादन की स्थिति बिल्कुल भिन्न हो गयी है। सैण्टोनिन उत्पादन करनेवाला कश्मीर-राज्य मे स्थित जो केवल एक ही कारखाना है वह भी अपनी पूर्ण क्षमता भर अपरिष्कृत पदार्थ (raw material)

नहीं प्राप्त कर पाता। हाण्डा, कपूर एवं चोपडा (१९५३) ने सूचित किया है कि उन्हें हिमाचल प्रदेश, कागडा एवं कुल्लू धाटियों में पैदा होनेवाले आर्टिमिसिया में थोड़ा भी सैण्टोनिन नहीं प्राप्त हो सका। मलारी नामक स्थान से, जो कुमार्यूं की पहाड़ियों में है, जुलाई में एकत्रित किये हुए आर्टिमिसिया में ० ६५ और ० ६८ प्रतिशत सैण्टोनिन की उपस्थिति का पता लगा। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि उत्तर प्रदेश के उन क्षेत्रों का, जहाँ आर्टिमिसिया का पौधा उगता है, वृहद् सर्वेक्षण किया जाय तो, सम्भव है, काम में लाने योग्य सैण्टोनिनयुक्त भेषज उपलब्ध हो सके और यदि इस क्षेत्र में अच्छे प्रकार का आर्टिमिसिया मिल गया तो इसकी खेती भी सफलतापूर्वक की जा सकती है।

**भारतीय आर्टिमिसिया में सैण्टोनिन की मात्रा (Santonin Content of Indian Artemisia) —**

आर्टिमिसिया में पाये जानेवाले सक्रियतत्व में निम्नलिखित सघटक हैं — ( १ ) वाप्पशील तैल, जिसमें काजूपुट तैल तथा कपूर के सदृश सुगन्धि होती है, ( २ ) सैण्टोनिन और उससे सम्बद्ध एक यौगिक आर्टिमिसिन ।

रूसी आर्टिमिसिया में प्राप्त सैण्टोनिन की मात्रा सामान्यतया, १२ से १४ प्रतिशत है और अधिक-से-अधिक २३ से ३६ प्रतिशत हो सकती है। डा० ग्रीनिश, डा० सिमोन्सेन तथा इम्पीरियल फार्मसेट रिसर्च इन्स्टीट्यूट के रसायनज्ञों द्वारा किये गये विश्लेषणों से प्रतीत होता है कि पुष्प की कलियो और पत्तियों से १९५ प्रतिशत सैण्टोनिन प्राप्त हो सकता है। बाद के शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि कझमीर में पाये जानेवाले आर्टिमिसिया में सैण्टोनिन की उपलब्धि इससे भी कम है और कभी ही ० ५ प्रतिशत से ऊपर जाती है। ऐसा कुछ हद तक इसलिए होता है कि इन क्षेत्रों में पैदा होनेवाले आर्टिमिसिया बैरिटिमा में सैण्टोनिन स्वभावत कुछ कम होता है और जब तक यह उचित समय पर एकत्रित नहीं किया जायगा सैण्टोनिन की मात्रा और भी कम हो जायगी। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कझमीर ( गुरेज ) से, जून के महीने में, एकत्रित किये गये पौधों ( आर्टिमिसिया ) में बिल्कुल ही सैण्टोनिन नहीं होता, और जो जुलाई तथा अगस्त के महीनों में एकत्रित किये जाते हैं उनमें ० १ से ० ९ प्रतिशत होता है। ० ९ प्रतिशत ही सर्वाधिक उपलब्धि है। सितम्बर के पूर्वार्द्ध में सैण्टोनिन पुन कम होकर ० १ प्रतिशत हो जाता है और उसके बाद तो एकदम नहीं मिलता, या केवल नाममान के लिए ही मिलता है। भारतीय रसायनज्ञों की नैण्टोनिन निकालने ( निष्कर्षण )

की विधि कुछ हद तक इस अन्य-उपलब्धि के लिए जिम्मेदार है। उस के कारणानो में, वानिकग निवासी ऊ० फॉडनेण्ड ब्राउंस द्वारा एक करिपित ( आविष्टत ) नव्य एव विकसित रीति से नैण्टोनिन निष्कर्पित किया जाता है। उस रीति से उक्त पौधों की अर्ध-विकसित-कलिकाशों तो निष्कर्पित सैण्टोनिन की साथा १८ पतिशत होती है, जब कि भारत में केवल ७० से ८० प्रतिशत ही सैण्टोनिन उपलब्ध होता है। यदि रूस की विधि अपना ली जाय तो जो अपव्यय सैण्टोनिन निकालने की प्रक्रिया में होता है उसमें भारी कमी हो भक्ती है और उस प्रकार सैण्टोनिन-उत्पादन बढ़ सकता है।

पौधों के सग्रह करने की रीति भी दोप्रयुक्त रही है। पहले, समूचा पौधा जट से काट लिया जाता था और उसके पुण्यमुण्डक, पत्तियाँ तथा वृन्त (stall) सभी एक में मिला दिये जाते थे। चूँकि काप्ठोर्य वृन्त में नैण्टोनिन अत्यल्प या वित्कुल ही नहीं होता, इनलिए इस प्रक्रिया ने नैण्टोनिन की उपलब्धि और भी कम कर दी। आज की रीति यह है कि पौधों से पत्तियाँ एव जलियों को हाथ में चुनकर धूप में सुखा लेते हैं। यह रीति कम चयकारी है, क्योंकि उन पौधों की जिनों पत्तियाँ एव जलियाँ चुन लो जाती हैं, उपयोगिता वनों रहती है। इसमें उनकी भावी वृद्धि और विकास में कोई वाधा नहीं पड़ती, अपितु उनमें नई पत्तियाँ निकलती हैं। समूचे पौधे को काटना न केवल भावी अभिवृद्धि के दृष्टिकोण में हानिकर है, अपितु श्रम एव वर्त्वहन दोनों दृष्टियों से व्ययमाध्य है। भारतीय नैण्टोनिन के भौतिक एव रासायनिक गुणों का तुलनात्मक परीक्षण यह प्रदर्शित करता है कि यह इसी नैण्टोनिन के समान होता है। यह वात निम्नलिखित विवरण में स्पष्ट हो जायगी —

आयातित इसी सैण्टोनिन

भारतीय सैण्टोनिन

मानक (स्टैण्डर्ड)

(स्मिथ स्टेनिस्ट्रीट शाएंड)

१—शीतल जल में अत्यल्प विलेय, ठड़े परिघित स्पिरिट के प्रति ४० भाग में, और क्वथनारूप पर इसके ३ भाग में विलेय

तथा क्लोरोफार्म के ४ भाग में विलेय

२—इसका क्रिस्टलन चपटे स्तम्भ द्वप में, या

पित्कुल भानक के समान

(पस सदृश) विकीर्ण समूह में, या

मानक के समान

गत्की पट्ट (flaky plates) द्वप में होता है। यह गवरहित तथा पहले स्वाद-

- हीन, पर पीछे कडवा स्वादवाला हो जाता है। शीतल ऐल्कोहॉल के विलयन में अत्यधिक कडवा स्वादवाला होता है।
- ३—गरम किये जाने पर यह आरक्ष भूरे रग का हो जाता है और अंत धूम-विसर्जन करता है, और ठढ़ा होने पर निर्मल भूरे रग के काचाभ पिण्ड में जम जाता है और फिर इस पर थोड़ा शुष्क क्षार या बुझे चूने को डालने से इसका रग लाल हो जाता है।
- ४—प्रकाश में, विशेषकर सूर्य के प्रकाश में, खुला रखने से सैण्टोनिन का रग पीला हो जाता है और इस प्रकार परिवर्तित सैण्टोनिन का उष्ण ऐल्कोहॉल में विलेय पीले रग का होता है। पर ठढ़ा होने पर रग-हीन क्रिस्टल्म नीचे जम जाते हैं।
- ५—क्लोरोफार्म में वामावर्त—१७१°
- ६—विशिष्ट गुरुत्व १८६६
- ७—यह १७१°-१७२° से० पर पिघल जाता है।
- ८—राख नगण्य मात्रा में प्राप्त होती है। जो थोड़ा-सा अन्तर दिखायी पड़ता है वह सम्भवत अपद्रव्य ( impurity ) के अवशेष के कारण है। भारतीय सैण्टोनिन का भेपजीय गुण-कर्म एवं उसकी विधालुता भी धूरोप से आयातित सैण्टोनिन के अनुरूप ही होती है। अनेको बिल्लियों को, जिनके मल की जांच करने पर बेल्स्कैरिस ( Bel'scaris ) तथा अकुशकृमि ( हुकवर्म ) के अण्डाण पाये गये थे, यह भैषज ४५ से ८० मिलिग्राम की मात्रा में दिया गया था। फलस्वरूप मल के साथ बेल्स्कैरिस वाहर निकल आये तथा उसके अण्डाण मल में नहीं दिखाई पड़े और बिल्लियों पर उसके विपालु प्रभाव का कोई भी लक्षण नहीं दिखाई पड़ा।
- मानक के समान
- मानक के समान
- क्लोरोफार्म में वामावर्त  
—१६१२°
- बिल्कुल स्टैण्डर्ड के समान  
१६९° पर नर्म हो जाता है और १७१° से० पर पूर्ण रूप से पिघल जाता है।
- नगण्य राख

इम भेपज के चिकित्सीय प्रभाव की जाँच अनेक रोगियों पर परीक्षणों द्वारा अलीपुर सेन्ट्रल जेल में तथा कार्माइकेल अस्पताल ( Carmichael Hospital for Tropical Diseases ) में की गयी थी। भारतीय सैण्टोनिन, कैलोमेल ( Calomel ) और सोडियमवाइकार्बोनेट के साथ मिलाकर दिया गया था। भारतीय सैण्टोनिन का परिणाम यूरोप में आनेवाले सैण्टोनिन के परिणाम के प्राय समान ही रहा। ऐस्केरिम पर इसका प्रभाव कीनोपोडियम ( Chenopodium ) की अपेक्षा अधिक पड़ा। डा० मैलेस्टोन के हाल के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि ऐस्केरिस में दोनों औपधियों ( सैण्टोनिन और कीनोपोडियम ) को मिलाकर देने में जितना अधिक लाभ होता है उतना अलग-अलग देने से नहीं। व्यावसायिक उद्देश्य से जिन पौधों को व्यवहार में लाया जाय उनमें कम-में-कम १-२ प्रतिशत सैण्टोनिन होना चाहिये। माधारणत भारतीय आर्टिमिसिया में तुकिस्तान से आनेवाले रसी आर्टिमिसिया सिना की अपेक्षा बहुत कम सैण्टोनिन होता है। कशमीर में होनेवाले आर्टिमिसिया में १—२ प्रतिशत सैण्टोनिन की उपस्थिति अनेकों अनुसधायकों ( कृष्णा और वर्मा ) द्वारा वतायी गयी है और कुर्म-घाटी में होनेवाले आर्टिमिसिया में १-१६ प्रतिशत ( बबवार )। बाल्डविन ने भारतीय आर्टिमिसिया से सैण्टोनिन के अतिरिक्त दो और क्रिस्टलीय तत्त्वों को एकलित किया है, एक आन्त्रकृमिधन कार्य के लिए कम प्रभावशाली सैण्टोनिन और दूसरा स्यूडोसैण्टोनिन, जो आन्त्रकृमिधन गुणों से रहित होता है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा में पाया जानेवाला एक अन्य तिक्त तत्त्व आर्टिमिसिन है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा की सभी जातियों में मगन्थ-तैल होते हैं जिनकी मात्रा ( २-३ प्रतिशत ) और सघटन में भिन्नता होती है। व्यापार में मिलने वाला गाढ़ा पीला तेल सैण्टोनिन-फैक्टरियों का उपोत्पाद ( वाइप्राडक्ट ) होता है। पाकिस्तान से आनेवाले सगध-तैल में २७-८ प्रतिशत सिनियोल ( Cineole ) और ७-८ प्रतिशत थूजोन ( Thujone ) पाया गया है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा वराडटी काज्जाकेविज ( *A. maritima var. Leptophloeum* ) में एक तेल मिलता है ( ०६ प्रतिशत ) जिसमें ३६ प्रतिशत कपूर पाया जाता है। १९४७ के उपद्रव के पूर्व कश्मीर में उपलब्ध आर्टिमिसिया का परिमाण प्रतिवर्ष १८० टन में अधिक आँका गया था, किन्तु तब से उत्पादन बहुत कम हो गया है।

**कृषि** — ऊपरी कुर्म में सैण्टोनिन-सम्पन्न आर्टिमिसिया उपजाने के प्रयास किये जा चुके हैं। बीज में या मूल-कर्तन से अकुरित होकर पौधों की अभिवृद्धि घूब अधिक हुई। कुर्म-घाटी का वह क्षेत्र, जिसमें आर्टिमिसिया की खेतों होती हैं, काफी बढ़ा दिया गया है। कशमीर, हिमाचल, चक्राता ( उत्तर प्रदेश ) आदि स्थानों में सैण्टोनिन-

युक्त आर्टिमिसिया के प्रजनन के प्रयत्न किये जा रहे हैं। ऐसा देखा गया है कि इस पीढ़े का प्रजनन बीजों द्वारा या मूल-कर्तन से बड़ी आसानी से किया जा सकता है। बोये जाने के दूसरे वर्ष इसकी वृद्धि पर्याप्त रूप में होती है परं पहले कुछ वर्षों में सैण्टोनिन अपेक्षाकृत कम रहता है।

जापान से आर्टिमिसिया र्मरिटिमा के और रसी-नुकिस्तान से आर्टिमिसिया मिना के बीज डभ पुस्तक के लेखकों को उपलब्ध हो चुके हैं और वे कश्मीर में बोये गये हैं। आर्टिमिसिया सिना के बीज अकुरित ही नहीं हुए। कृपि द्वारा नमूनों का विश्लेषणात्मक परिणाम निम्नलिखित है —

रोपणी (Nursery)	पौधों की आयु	सैण्टोनिन-उपस्थिति
१—द्वारामुल्ला ५,५०० फीट समुद्र की सतह से झेंचाई पर	१ वर्ष	० ३५ प्रतिशत
२—श्रीनगर ५,००० फीट	१ वर्ष	० ३१ प्रतिशत
३—श्रीनगर ५,००० फीट	२ वर्ष	०.४७ प्रतिशत
४—शिमला ७,००० फीट	२ वर्ष	० ६१ प्रतिशत
५—यारिखा ७,००० फीट (चेनाव-घाटी के बीज)	१ वर्ष	० ४५ प्रतिशत
६—यारिखा ७,००० फीट (जापान के बीज)	१ वर्ष	० ३९ प्रतिशत

परीक्षण करने पर जो परिणाम उपलब्ध हुए वे स्टैपडर्ड तक नहीं पहुँचते, किन्तु ऐसी गांशा की जाती है कि सुधारी हुई रीति से खेती करने पर पौधों के बड़े हो जाने पर सैण्टोनिन की मात्रा बढ़ सकती है।

आर्टिमिसिया के पौधे मरुद्भिदी (xerophytic) होते हैं। मध्येशिया के अर्धमरु-स्थली क्षेत्रों में, जहाँ उच्च और निम्न ताप-विषमता अधिक रहती है, वे पैदा होते हैं। रेतीली लवण-भूमि में इसकी वृद्धि अधिक होती है। कुर्स की मिट्टी के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि उसमें पोटाश, लवण और महीन रेत अत्यधिक मात्रा में हैं। युक्त जलवायु एवं रेतीली लवण-भूमि इसकी खेती के लिए सर्वोत्तम प्रतीत होती है। कुर्स के आर्टिमिसिया में पाये जानेवाले सैण्टोनिन में ऋतु-विभिन्नता (seasonal variation) के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि लगभग जून के दूसरे सप्ताह तक सैण्टोनिन केवल पत्तियों में ही सन्निहित रहता है और मई-अन्त तथा जून-अन्त के बीच, जबकि कलियाँ

निकलने लगती है, सबसे अधिक परिमाण में उपलब्ध होता है। तदनन्तर सैण्टोनिन कलियों में आता है और १० अगस्त तथा १० मितम्बर के बीच, जब कलियाँ रिलाने को होती हैं, सबसे अधिक परिमाण में उनमें उपलब्ध होता है। कलियों के विकसित हो जाने के बाद सैण्टोनिन की मात्रा में बटी तीव्र गति में हास होता है। हाण्डा, कपूर और चोपड़ा ( १९५३ ई० ) ने देखा है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आर्टिमिसिया के फूलने का समय भिन्न-भिन्न है। सिन्ध की धाटी में इसके फूलने का समय जुलाई है, जबकि चेनाव-धाटी के भीतरी शुष्क क्षेत्रों में यह नवम्बर के अन्त में फूलता है। गढ़वाल में यह सितम्बर में फूलता है।

### आर्थिक सम्भावनाएँ

सैण्टोनिन (त्रिटिश) भेषजकोश के सर्वाधिक मूल्यवान भेषजों में से एक है। इसका वर्तमान मूल्य २००-३०० रु० प्रति पौण्ड है। गत भाहयुद्धों के समय तथा उसके कुछ बाद तक भी यह ७०० रु० प्रति पौण्ड विकला था। ३ ग्राम की एक खुराक का दाम लगभग एक रुपया था। भारत-जैसे गरीब देश में सर्वसाधारण के इलाज के लिए ऐसे क्षेत्रों को ढूढ़ निकालना अत्यन्त आवश्यक है जिससे सैण्टोनिन सस्ते मूल्य में उपलब्ध हो सके। अब इसके उत्पादन एवं व्यापार पर रुस का एकाधिकार है। भारत में इसकी एक सीमित मात्रा का उत्पादन 'कश्मीर फार्मास्युटिकल बर्स' द्वारा बारामुल्ला, कश्मीर में किया जा रहा है। इसमें प्रतिवर्ष २,२०० पौण्ड सैण्टोनिन उत्पन्न किया जाता था, पर आर्टिमिसिया कम मिलने के कारण उत्पादन घट गया है। भारत में इसकी वार्षिक खपत कुल १०००-१२०० पौण्ड है और १९४५ ई० में इसके प्रति पौण्ड का मूल्य १४ से १६ रु० था। इसके मूल्य का स्तर एक अन्तर्राष्ट्रीय पूल-सिस्टम (pool system) द्वारा निर्धारित किया जाता है। चिकित्सीय दृष्टिकोण से भारतीय सैण्टोनिन उतना ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ है जितना न्सी सैण्टोनिन।

इस देश के निवासियों में गोलकृमि (ऐस्कोरिस) और सूत्रकृमि (आक्सीयुरिस) का सक्रमण वस्तुत बहुत अधिक होता है। कलकत्ता के स्कूल औफ ट्रायिकल मेडिसिन और हाइजीन के कृमिविज्ञान (हेल्मन्यॉलॉजिकल) विभाग के प्राक्कलन से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। बर्मा, आसाम, उडीसा और मद्रास के कुछ भागों में, जहाँ बहुत अधिक वर्षा होती है और वर्षात्रिष्ठुर्मुख में धरातल पर चारों ओर पानी का ही आधिक्य रहता है, ६५ प्रतिशत से अधिक लोग इससे आक्रान्त मालूम पड़ते हैं। बगाल तथा बम्बई के कुछ भागों में ३५ से ५० प्रतिशत तक और उत्तर प्रदेश में १५ से २० प्रतिशत लोग इससे पीड़ित रहते हैं। भारत के पजाव एवं राजपूताना-जैव्र गुजरात प्रदेशों

में, उपर्युक्त प्रदेशों की अपेक्षा यह रोग कम होता है, फिर भी पीड़ित लोगों की सख्त्या काफी होती है। इसलिए सैण्टोनिन की कितनी बढ़ी मांग हो सकती है, इसका अनुभव किया जा सकता है। इम परिस्थिति में सैण्टोनिन-उद्योग का विकास भी सम्भव लोगों के लिए लाभप्रद होगा।

### आर्टिमिसिया ऐटिसन्थियम (*A. absinthium* Linn) वर्मउड (Wormwood)

नाम—अ० और फा०—अफसान्यिन।

यह एक सगघ-तिक्क बूटी है, जो कश्मीर में ५,००० से ७,००० फुट की ऊँचाई पर पायी जाती है। आर्टिमिसिया ऐटिसन्थियम का गन्ध-तैल (लगभग ० ३ प्रतिशत) 'ऐटिसन्थ' के सघटकों में पाया जाता था। चूँकि यह (ऐटिसन्थ) व्यसन (addiction) उत्पन्न करता है, इसका उपयोग निपिद्ध कर दिया गया है। वाणिज्य-तैल का उत्पादन अमेरिका में किया जाता है और उसके मुख्य सघटक हैं थूजोन (Thujone) और थुजिल ऐल्कोहॉल (Thujyl alcohol) (फिन्नेमोर ८४)। वर्मउड-तैल पचनागों (digestive organs) पर उद्दीपक तथा वत्य प्रभाव डालता है और यदा-कदा उसका वाह्य प्रयोग भी होता है। इस पौधे में तिक्क ग्लाइकोसाइड, ऐटिसन्थिन एवं एक क्रिस्टलीय योगिक भी पाया जाता है। इसकी सूखी पत्तियों एवं पुष्पमुण्डकों में औषधीय गुण रहते हैं। इसके टिक्कर (बी पी सी) का उपयोग बल्द एवं पाचक के रूप में होता है। इसके अतिरिक्त, भारत में वन्य अवस्था में पैदा होनेवाली अन्य आर्टिमिसिया की स्पीशीज हैं, जिनमें से कुछ का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

### आर्टिमिसिया ड्रैक्युन्कुलस (*A. dracunculus* Linn)

यह एक बहुवर्षीय (perennial) बूटी है जो पश्चिमी तिक्कत (१४,०००-१६,००० फुट) और लाहौल में पायी जाती है। इस बूटी में लगभग ० ३ प्रतिशत सगघ तैल होता है जो एनिस तैल Anise के ममान महकता है। इसकी पत्तियाँ और इसका सगघ तैल सिरका (vinegar) के मुख्यादन के लिए और मसाले के रूप में व्यवहृत होता है। इसकी खेती, इसके सगघ तैल के लिए जिसे तरागाँूं का तैल (oil of tallow) कहते हैं, फास में होती है।

### आर्टिमिसिया पैलेन्स (*A. pallens* Wall ex DC)

नाम—म०, त० एवं कन्न०—दवना

यह एकवर्षी सगध पोधा है, जो दक्षिण भारत के कुछ भागों में और खासकर मैसूर-राज्य में पायी जाती है। पूना के आस-पास भी इसकी खेती होती है। इसकी सुगन्धित पत्तियाँ पुष्प-अलकरण में काम आती हैं। इसमें ० २२-० ५८ प्रतिशत तेल पाया गया है। यह तेल अमेरिका में परफिल-व्यापार में (perfumery trade) बहुत लोकप्रिय है। वर्हा १९४०-४१ ई० में यह ३५००-४०० रु प्रति पौण्ड विका करता था। इस पौधे की थोड़ी खेती मैसूर शहर के पास होती है।

#### आर्टिमिसिया सैकरोरम (*A. sacrorum* Ledeb)

यह स्पीशीज पश्चिमी तिब्बत, कुनावार और कुमाऊँ के तिब्बती क्षेत्रों में (१०,०००-१२,००० फुट) पायी जाती है। कहा जाता है कि इसका प्रयोग घोड़ों के मस्तिष्क-विकार में किया जाता है। इसमें १ प्रतिशत सगध तैल पाया जाता है जिसमें १९ २६ प्रतिशत सिनिओल (Cineole) और ६ प्रतिशत कपूर होता है।

#### आर्टिमिसिया सिवर्सिआना (*A. siversiana* Ehrh ex Willd)

आर्टिमिसिया ऐसिन्थियम के समान ही यह एकवर्षी बूटी है जो पश्चिमी हिमालय में कश्मीर से लाहौल (८,०००-१०,००० फुट) तक और पश्चिमी तिब्बत में पायी जाती है। यह औषधीय महत्व की कही जाती है और पशुओं के चारे के काम में भी आती है। यदि पशुओं के चारे में यह ४० प्रतिशत भी रहे तब भी दूध के सघटन पर इसका कोई असर नहीं पड़ता। इसमें १५ ५ प्रतिशत प्रोटीन और ५ १२ प्रतिशत वसा होता है जिनका क्रमशः ६२ २ एवं ७१ ४ प्रतिशत पाचक गुणाक (digestive coefficient) है।

#### आर्टिमिसिया वल्गेरिस (*A. vulgaris* Linn.)

#### भारतीय वर्म्बुड (*Indian wormwood*)

नाम—हिं० और ब०-नागदौना, म०—ढोरदवणा, त०—माचिपत्री, कश्मी०—तिथवान।

यह एक ऊँचा सुरभि क्षुप है, जो समूचे भारत के पर्वतीय क्षेत्रों (पहाड़ी इलाकों) में पाया जाता है और पश्चिमी हिमालय में १२,००० फुट की ऊँचाई तक तथा सिन्धु, खासिया, अवा और मर्तवान के पहाड़ों पर ५,००० से ८,००० फुट की ऊँचाई तक उगता है। यह पश्चिमी धाटों पर और मारवाड़ में आवृ पहाड़ पर पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ तथा पुष्पमुण्डक भारतीय चिकित्सा में तत्रिका सम्बन्धी और उद्वेष्टकर (spasmodic) विकारों में व्यवहृत होते हैं। यह पूतिरोधी (antiseptic)

कफनिस्सारक तथा आन्तर्कृमिघ्न भी हैं। इसमें लगभग ० २ प्रतिशत वाप्पशील तैल पाया जाता है। यह तैल, मिट्टी के तेल की तरह, मच्छरों के लिए अच्छा डिम्बनाशक (larvicide) भी कहा जाता है, यद्यपि इसका कीट-नाशक प्रभाव अत्यल्प होता है।

### सन्दर्भ

(1) Chopra and Chandler, 1924, *Ind Med Gaz*, 59, 537, (2) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (3) Allen, 1928, *Commercial Organic Analysis*, Vol. VI, (4) Maplestone, P A and Mukerjee, A K, 1931, *Ind. Med Gaz*, 66, 627, (5) Chopra R N, and Mukerjee B, 1931, *Ind Med. Gaz*, 66, 622, (6) *Wealth of India - Raw Materials* 1948, 1, 120, (7) Handa, Kapoor, Chopra and Parbhakar, 1953, *Ind Jour Pharm*, 15, 43, (8) Qazilbash, N A, 1942, *J Pharm and Pharmacol*, 343, 323, 1948, 21, 320, (9) Qazilbash N A, 1943, *Chrr Sci*, 12, 233, (10) Chistova, 1936, *Chem Abstr*, 30, 3940, (11) Kopuram, 1933, *Chem Abstr*, 27, 3759; (12) Chopra, Roy, and Ghosh, 1940, *Jour Malaria Inst India*, 3, 495

### ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा (सोलेनेसी)

*Atropa acuminata* Royle (Solanaceae)

डेडली नाइट शेड, बेलाडोना, भारतीय बेलाडोना

(Deadly Night Shade, Belladonna, Indian Belladonna)

नाम—द०—येवुज, दम्ब०—गिरबूटी, हि०—सागवगूर, अगूरशेफा, लुकमुना, कश्मी०—मैत्राण्ड, जलकाफल, प०—सूची, अशूरशेफा।

ऐट्रोपा जीनस में वानस्पतिक औषधियों की चार स्पीशीज होती हैं, जो भूमध्य-सागरीय प्रदेशों, दक्षिणी यूरोप तथा एशिया में पायी जाती हैं। इनमें ऐट्रोपा बेलाडोना (*A belladonna* Linn.) बहुत दिनों से धूरोप में एक प्रसिद्ध औषधि रही है, किन्तु भारतीय स्पीशीज, जो यहाँ वन्य अवस्था में पायी जाती हैं, ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा (*A. camminata*) (भारतीय बेलाडोना) है। अनेक वर्षों तक इस पौधे के ठीक वानस्पतिक नाम के बारे में झ्रम फैला रहा। फ्लोरा ऑफ निटिश-इण्डिया (Flora of British India) में इसे ऐट्रोपा बेलाडोना (*A belladonna*) की

सज्जा दी गयी थी किन्तु इसके वर्गीकरण के ठीक-ठीक इतिहास की खोज करने से ज्ञात हुआ कि अठारहवीं सदी के मध्य में इसका वर्गीकरण किया गया था, जिसके आधार पर अब इसे ऐट्रोपा एक्यूमिनेटा नाम दिया गया है। यह भी सुझाव दिया गया है कि इसे ऐट्रोपा बेलाडोना वराइटी एक्यूमिनेटा (*A. belladonna* Linn var *acuminata*) भी कहा जा सकता है क्योंकि ऐट्रोपा बेलाडोना के साथ इसके आकृतिक, शारीरीय (*anatomical*) एवं रासायनिक वैशिष्ट्य का अतिशय साम्य है। यह पौधा एक सीधा, लम्बा, वहुवर्षी, क्षुपीय फूटी, २-५ फुट ऊँचा होता है, एवं शास्त्राएँ द्विभाजी (*dichotomous*) होती है। इसकी पत्तियाँ दीर्घित उपाण्ड (*oblong elliptical*) एवं दोनों सिरे (अग्रक और आधार) घुण्डाकार (*laperring*) होती हैं। पुष्पी शाखाओं में युग्म पत्तियाँ निकलती हैं। पत्तियाँ हरे रंग की या जैतून हरित (*olive green*) होती हैं और इनकी लम्बाई ३ से ८ इच्छ तथा चौड़ाई १५ से २५ इच्छ होती है। इसके फूल कमस्त्य, धूँघले पीले, अधोमुख और घण्टाकार होते हैं जो अकेले, या दो अथवा चार के गुच्छों में लगते हैं। जून से अगस्त तक इसके फूलने का समय है। इसका फल सरस और गोल होते हैं और अवरुद्धर में पक जाने पर चेरी (*cherry*) के सदृश दिखाई पड़ते हैं। मूल स्तम्भ १ से २ इच्छ लम्बा, कठोर और काढ़ीय होता है। जड़ें सूखने पर लम्बाई में वलित (*wrinkled*) हो जाती हैं। यह भजन (*fracture*) में चोमड़ (*tough*) होता है।

बेलाडोना और इसका ऐल्केलॉयड ऐट्रोपीन पाश्चात्य चिकित्सा में अधिकतर शामक (*sedative*), उद्वेष्टरोधी (*antispasmodic*) और आँख की बीमारी में तारा विस्फारक (*mydriatic*) के रूप में व्यवहृत होते हैं। अफीम, मस्कारिन (*muscarine*) आदि विष के लिए यह बड़ा मूल्यवान प्रतिविप है। बेलाडोना एक अत्यधिक विपालु भैयज है। टिक्कर बेलाडोना के मानकीकरण में यह ध्यान रखना चाहिये कि उसमें ००३ प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहे। इसकी एक खुराक ५-३० बूँद होती है। इससे अधिक मात्रा की खुराक विपालु होती है। बेलाडोना के तात्कालिक विष-प्रभाव का परिणाम होता है, मुख, कण्ठ तथा चर्म का सूखना, पुतलियों का विस्फारित हो जाना एवं चक्कर आना। तदनन्तर श्वसनतन्त्र निष्क्रिय हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है। वमनकारक द्रव्यों द्वारा पेट को खाली कराके या धोकर परिमित मात्रा में मार्फीन प्रतिविप के रूप में दिया जा सकता है। कृत्रिम श्वसन तथा कार्बन डाइऑक्साइड और आँखसीजन का निश्चयन बेलाडोना के विष की प्रारम्भिक अवस्था में लाभदायक होता है।

यद्यपि यह एक अत्यधिक शक्तिगाली भेपज है, फिर भी भारत के प्राचीन चिकित्सकों का ध्यान इसके औषधीय गुणों की ओर नहीं गया था क्योंकि भारतीय द्रव्यगुणशास्त्र में इस भेपज का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह ध्यान देने योग्य वात है कि जिन ( पर्वतीय ) क्षेत्रों से विलकुल निरर्थक भेपज वडी सतकता के साथ एकत्रित करके भारत के मैदानी डलाकों में भेजे जाते थे वही बेलाडोना भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है, फिर भी कुछ वर्ष पहले तक इस महत्वपूर्ण भारतीय भेपज (बेलाडोना) की एक भी पत्ती या जड़ वडे केन्द्रों में स्थित भारतीय भेपज की दृक्कानों से नहीं खरीदी जा सकती थी। यह भेपज इतना अज्ञात था कि डोमाँक के फार्माकोग्राफिआ डिण्डका ( Dymock's Pharmacographia Indica ) तथा मोहीदीन जरीफ ( Mohideen Siceriff ) के ग्रन्थ में भी जिन्हे भारतीय भेपज पर सर्वाधिक पूर्ण एवं विश्वमनीय ग्रन्थ माना जाता है इसका कोई उल्लेख नहीं है। औषधि में बेलाडोना का व्यवहार दो न्यौ में होता है—बेलाडोना फोलियम और बेलाडोना रेटिफस। बेलाडोना फोलियम के अन्तर्गत पत्तियाँ और मुण्डक दोनों आते हैं, ये पत्तियाँ और मुण्डक जिम समय पौधा फूलता है उनी समय संगृहीत कर लिये जाते हैं। इसमें ० १५—० ७ प्रतिशत—आंसूतन ० ४ प्रतिशत ऐलेलॉयड जिसकी गणना हाइड्रोमियामीन ( Hyosciamine ) के स्पष्ट में की जाती है, रहता है। ग्रिटिण भेपजकोग के अनुसार कम-से-कम ० ३ प्रतिशत ऐलेलॉयड होना चाहिये। बेलाडोना रेटिफस के अन्तर्गत सूखी जड़े आती हैं जिसमें ० ६०—० ६६ प्रतिशत निर्दिष्ट भेपजकोश में न्यूनतम ० ४ प्रतिशत ऐलेलॉयड रहता है। ये जड़ें साधारणत, शरद ऋतु में संगृहीत की जाती हैं। एक वर्ष की पुरानी जड़ों में सर्वाधिक ऐलेलॉयड होता है, पर ( आर्थिक ) लाभ की दृष्टि से इस समय का संग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि एक वर्ष की जड़े छोटी होती हैं। इसलिए प्राय दो तीन वर्ष की पुरानी जड़े संग्रह की जाती हैं। जड़े सोदकर निकालने के बाद धो दी जाती हैं और टुकड़े-टुकड़े काटकर सुखा दी जाती है। हिमालय पहाड़ पर शिमला से लेफर कश्मीर तक मसुद्र की सतह से ६,००० फुट से १२,००० फुट की ऊँचाई पर यह पौधा प्रचुर मात्रा में पैदा होता है और कुनावर में भी ८,५०० फुट की ऊँचाई पर वन्य अवस्था में पाया जाता है। उत्तरी हिमालय के उन क्षेत्रों से, जो परिवहन-सुविधा के स्थानों से बहुत दूर नहीं हैं, कुछ परिमाण में जड़े उपलब्ध हो सकती हैं।

यह पौधा जम्मू-कश्मीर राज्य में सिन्धु, बेलम, लिहर और चेनाव की घाटियों के जगलों में सम्मान्यतया पाया जाता है। यह हिमाञ्चल प्रदेश, कुलू और पार्वती की घाटियों तथा शिमला की पहाड़ियों के जगलों में भी पाया जाता है। प्रकृत रूप से

( वन्य अवस्था में ) उगने वाले भारतीय वेलाडोना के गुण का अध्ययन करने के लिए, इसकी पत्तियाँ तथा जड़े करमीर, हिमाञ्चल प्रदेश, काशी और कुलू की घाटियों के वन्यस्थलों से एकत्रित की गयी थीं जिनसे उपलब्ध ऐल्केलॉयड का प्रतिशत निर्णयता किया गया है —

प्रासिस्थान	व्यवहृतभाग	ऐल्केलॉयड की मात्रा ( प्रतिशत )
करमीर	पत्तियाँ	०.२५—०.४०
	जड़े	०.३०—०.५०
हिमाञ्चल प्रदेश	पत्तियाँ	०.३५
	जड़े	०.६८
काशी और कुलू घाटियों पत्तिया		०.८८

विगत दोनों महायुद्धों के दिनों में पत्तियों तथा जड़ों का निर्णय वहुत अविकृष्ट परिमाण में किया गया था, पर कम ऐल्केलॉयड दोनों के दाणे वे प्रमाण नहीं की गयी। अभ्यन्तर इसके ये गारण थे ( १ ) निर्वातित पत्तियों का ग्रहण नभी वायस्थायों के पौधों में किया गया था और जांते था मग्ने नीं पर्टिप्रेशन तथा बारिटियम पौधों में किया गया ना, ( २ ) जिन भेषजों का निर्णय किया गया वा उनमें पाइटोलेंसिका ऐमिनोस्ट्रा ( *Pithecellobium eminens* ) की जड़ें तथा पत्तियाँ मिथिन नहीं, जिनमें पारगण ऐल्केलॉयड में समी पायी गयी। पत्तियों तथा जड़ों में ऐल्केलॉयड की अन्वता के कारणों का निर्णय करने के लिए व्यवस्थित अध्ययन किया गया। ऐना निचार किया गया जि नग्रहनाल के विनियमन द्वारा, जब कि पत्तियों में नवार्थिक ऐल्केलॉयड वर्तमान नहता है, इन भेषज के गुण को नमूनन किया जा सकता है। अतः, यह के प्रारम्भ में, वन्य पौधों में पत्तियों का पारिक सम्बन्ध करमीर के विभिन्न वन्य धैर्यों में किया गया। यह जात किया गया कि जुलार्ड-अगम्त के महीनों में जब कि पौधे फूलना प्रारम्भ करने हैं, पत्तियों में नवार्थिक ऐल्केलॉयड रहता है। यजो-ज्योंगों मीराम बीतता जाता है पत्तियों में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम होती जाती है और नवम्बर के महीने में, जब फल लगता है, न्यूनतम हो जाती है। भारत के पर्वतीय प्रदेशों, जो वेलाडोना के प्राकृतिक नोत हैं, के अतिरिक्त अनेकों अनुकूल स्थानों में इस भेषज को पर्याप्त परिमाण में उपजाया जा सकता है। वेनाडोना की कुपि में जो महत्वपूर्ण कारक है वे ये हैं — नियमित जलोत्पारण ( *drainage* ), मरवता ( porosity ) एवं पनिजतस्वी, यथा — पोटाश, मोड़ा, चूना आदि में युक्त मिट्टी ( भूमि ), ऐना पर्वतीय स्थान जहाँ पर्णपाती ( *deciduous* ) वृक्षों द्वारा सूर्य के प्रकाश में सुरक्षा होती हो और जहाँ जनक पौधे

(parent plant) से दूर तक फैलनेवाली जड़ों के लिए पर्याप्त स्थान प्राप्त हो सके। इन आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन, नहीं है और चूँकि बेलाडोना की खेती के लिए अधिक खाद अपेक्षित नहीं है, अत व्यय की एक बड़ी राशि बच जाती है। भारत में बेलाडोना की खेती सफल होगी इसकी पूर्ण सम्भावना है, क्योंकि बेलाडोना की जड़ों में होनेवाले कवक (fungus) रोग की जिसके कारण विदेशों में बेलाडोना की खेती में भारी क्षति हुई है, कोई सूचना अभी तक यहां नहीं मिली है।

**कृषि** • गत दो-तीन दशाब्दियों से जम्मू-कश्मीर राज्य के बनो से अत्यधिक बेलाडोना के उखाड़ लिये जाने से इस भैपज का उत्पादन बहुत अधिक घट गया है और जिस परिमाण में यह इस समय मिलता है वह भारतीय भैषज्य-उद्योगों की माँग की केवल थोड़ी सी पूर्ति कर सकता है। इसके गुण में भी अब हास हो गया है। वन्य स्रोतों से इसे सम्भव करना साधारणत बड़ा कठिन और महंगा पड़ जाता है। पजाब की पार्वती धाटी तथा कश्मीर धाटी की उष्ण जलवायु में इसकी परीक्षणात्मक कृषि की गयी थी। जम्मू प्रदेश में समुद्र की सतह से १,००० फुट की ऊँचाई पर ऐट्रोपा ऐक्यू-मिनेटा की जड़ों के दिनों में खेती के सफल प्रयास हो चुके हैं। दार्जिलिंग एवं नीलगिरि की पहाड़ियों पर भी इसकी परीक्षणात्मक कृषि के प्रयास किये जा रहे हैं। तीन रीतियों से इसका प्रजनन किया जा चुका है (१) बीजों द्वारा, (२) जड़ों को टुकड़े-टुकड़े करके और (३) प्ररोह-कर्तन (shoot cutting) द्वारा। प्रजनन की विभिन्न रीतियों का अध्ययन करने के लिए दो रोपणियाँ (nurseries)—एक श्रीनगर में (५,००० फुट) और दूसरी यारिकाह में (७,०००) फुट पर स्थापित की गयी थीं।

**बीज-अकुरण** . बीजों के अकुरण में किनते दिन लगते हैं, इसका अध्ययन करने के लिए ऐट्रोपा ऐक्यू-मिनेटा के बीजों को लघु परिमाण में सल्प्यूरिक अम्ल के भिन्न-भिन्न सान्द्रण में भिन्न-भिन्न काल तक हुआकर रखा गया और तब उन्हे बोया गया। पहले देखा गया कि मार्च के आरम्भ में श्रीनगर में बोये गये बीजों के जमने में ४-५ सप्ताह लगे, पर जब  $80^{\circ}$  प्रतिशत सल्प्यूरिक अम्ल में दो मिनट तक भिगोकर बीज बोये गये तो अकुरण के उक्त समय में बहुत कमी हो गयी। यह भी देखा गया कि जब ये बीज जून-जुलाई के गर्म महीनों में विना किसी अम्ल में डुब्रोये दोये गये तो इनके अकुरण में १०-१५ दिन लगे। इन महीनों में दिन में तापमान  $80^{\circ}$  फारून या अधिक पहुँच गया था, यद्यपि रात का तापमान कम था। ऐसा प्रतीत होता है कि बीजों के अकुरण पर बोने के समय का यथेष्ट प्रभाव पड़ता है और दिन का तापमान इसमें बड़ा महत्व-पूर्ण कार्य करता है। मुकज्जों और दत्त ने बताया है कि जहाँ दिन में तापमान  $70^{\circ}$  फारून

रहता है, रात में जाहे भले ही बम हो, वहाँ बैलाडेना के बीज १५-२१ दिन में अस्फुरित होते हैं।

उन नवागदपों का जड़े निकाल आने के बाद, शरदकृतु ने आरम्भ में भारी नींवि तंयार की गयी व्यारियों में प्रतिरोपण किया जा सकता था। शरदकृतु में प्रतिरोपित पौधों की कार्यक्रम वृद्धि (Uptake of crop) अचर्छ हो गयी और अनेकों पौधों की तरशु जड़ों पर शरद-नुपार ने विपरीत प्रभाव दाता। शरद के अनन्तर बानेवाते वसन्त में प्रतिरोपण अच्छा समझा गया है। वसन्त में यह पौधा धारद की अपेक्षा अधिक बढ़ता है, इनके अतिरिक्त एक और भी लाभ है कि वसन्त में काटनेवाले कीठे चट्टावा सूंथी (Cutworm) ऐप्रॉटिन फ्लैमिट्रा (*Agrotis florum*) इन नये पौधों तो क्षति नहीं पहुँचाते। इन नमय उनका अमाव दोता है जब कि वे झून-झूलाई के नहीं नों में महिल होते हैं। नवपादप का प्रतिरोपण करते नमय भूमि में लगभग २-३ दंग गहरा बैंज-नाली (Bulge) बना दिया जाता है और उसमें उत्तरांती जड़े दालकर उसे सीधा रनते हुए उनके चारों ओर मिट्टी थोड़ी भी दबा दी जाती है। प्रतिरोपण के तुरन्त बाद उनके जारी और फौलारी से पानी नीचे रेते हैं। गदि प्रतिरोपण झून-झूलाई के अन्त में हो रहा तो वो यह बाटनाय है कि जब तक पौधा नींवे जाने अच्छी तरह जमीन में जम न दारे तर तज के लिए खीड़ की पत्तियों में छाया गर देनी चाहिये। जब तां उनमें नई पत्तियां न दाये तर तज हमेशा उनकी पिचाई होती रहनी चाहिये। ये नवपादप बड़े कोणा होते हैं, जब वो भावद्यानी ने इनकी देवरेन कर्ती चाहिये।

**मूलकर्तन (Root division)** तीन-चार वर्ष तो या उसे पुरानो जड़ों से एक-एक इन के लाई-प्रैटे टुकड़ा में, जिसमें एक-एक जड़ों भी नहीं हैं, काट दिया जाता है और अच्छी तरह गृष्म में रोप दिया जाता है। यह देना गया है कि बैलाडेना के पौधे पत्री तेजी से बढ़ने हैं और जोड़े ही तमय में उनकी वृद्धि, उंचाई तां पत्तियों वा प्रसार उतनी ही हो जाती है जितनी भी जनक-पौधों भी।

**प्रोह-कर्तन (shoot cutting)** इग रीति के अनुसार वर्धी प्रोह (*Cowpea shoot*) का ऊर्तन अच्छी तरह नीयार को गयी व्यारियों में प्रतिरोपित कर दिया जाता है और उन्हें वार-वार जड़ ने सीचते रहते हैं। गदि वसन्त के प्रारम्भ में, जब जनक पौधों में अनेक प्रशोह नहीं होने, प्रतिरोपण-कार्य सम्पन्न हो जाय तो प्रजनन अपेक्षाकृत अधिक भफल होता है। प्रशोह, जो १०—१५ फुट लम्बे हो सकते हैं, अपने स्तम्भ के नीचे में (आधार से) काट लिये जाते हैं। उनके आधार पर जो बड़ी-

बड़ी पत्तियाँ होती हैं उन्हे पृथक कर दिया जाता है। यदि वसन्त के प्रारम्भ में इसे रोप दिया जाय तो बार-बार मिचाई करने से लगभग एक महीने से उन प्ररोहों में नई-नई पत्तियाँ एवं कलियाँ निकल आती हैं।

**सिंचाई** . ऐसा देखा गया है कि पत्ती एवं मूल के समुचित विकास के लिए पौधे तथा मूल को बार-बार सीचना अनिवार्य है और खेत की मिट्टी ऐसी होनी चाहिये कि जलोत्सारण भलीभांति हो सके क्योंकि पानी का एकत्रित हो जाना जड़ो के लिए हानिकर होता है। जब जडे मिट्टी में दृढ़ और स्थिर हो जाती हैं तब क्यारियों को पानी से भर देना या हाथ से छिड़काव द्वारा सिंचाई करना नवपादप के लिए लाभप्रद होता है। जून और जुलाई के शुष्क महीनों में पाकिक सिंचाई लाभदायक होती है। अक्टूबर-नवम्बर के महीनों में बीज पुष्ट हो जाता है, इस समय पौधे को पानी की आवश्यकता सबसे कम होती है। इस विषय में अभी और व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता है।

**घास-निराई** (wedding) यारिकाह जैसे स्थान पर जर्हा ७,००० फुट की ऊँचाई पर कार्म (खेत) स्थित है, बेलाडोना के खेत में अनेक तरह की घासें उगती हैं। अप्रैल और मई के महीनों में ब्रैसिका (Brassica) की अनेक स्पीशीज उगती हैं। बीज-निर्माण से पहले इन छोटी घासों को निकाल देना आवश्यक है। स्टैचिस सिबिरिका (Stachys sibirica) एक अन्य कष्टदायक घास है जिसके बीज बहुत छोटे होते हैं, जो पककर झड़ जाते हैं जिससे आगामी फसल में बड़ी कठिनाई होती है। इन बीजों से घास की अत्यधिक वृद्धि होती है जिसके कारण बेलाडोना का पौधा दबकर कमज़ोर पड़ जाता है। बेलाडोना के खेतों में अनेकों अन्य प्रकार की घासें उगती हुई पायी गयी हैं, यथा—ऐजिरेटम स्पीशीज (Ageratum Sp.), वर्वेस्कम थैप्सस (Verbascum thapsus), सेनेशियो स्पीशीज (Senecio Sp.) आदि। इन घासों पर नियन्त्रण पाने का एकमात्र सबसे सस्ता और सफल उपाय यह है कि फूल लगने से पहले ही इन्हें उखाड़कर फेंक दिया जाय। यह देखा गया है कि मिट्टी की अच्छी गुडाई होने के कारण घास पहले कुछ वर्षों में खूब जमती है।

**सम्रह और सुखाना** (collection and drying) इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि लगभग अगस्त के पहले सप्ताह में, जब पौधा फूलने लगता है, पत्तियों में ऐल्केलॉयड की मात्रा अधिकतम होती है। माली के कैचे (garden scissors) से पौधे को जमीन के दो इच्छ ऊपर से काट लिया जाता है और कटाई के तुरत बाद खेत को सीच दिया जाता है। पौधे में से पुन और अधिक मरण्या में प्ररोह

जोध निकलते हैं जिन्हे सितम्बर में काटा जा सकता है। काटे हुए पौधे को, विशेषकर नव-शाकी प्ररोह ( young herbaceous shoot ) को टुकड़े-टुकड़े काट दिया जाता है और उन्हें धूप में पतले स्तर ( thin layer ) में फैलाकर सुखा लिया जाता है। समय-समय पर उन्हें रेक ( rake ) की सहायता से उलट-पलट दिया जाता है, अन्यथा देर में नीचे पड़ी पत्तियाँ अवाछनीय रूप से गर्म हो जाती हैं।

उपज ( Yield) भारतीय वेलाडोना (ऐडोपा ऐक्यूमिनेटा) की खेती करने पर प्रति एकड़ कितनी उपज होती है इसका आँकड़ अभी मकालित नहीं किया जा सका है। नये कटे हुए प्ररोह के स्तम्भ, वृन्त और पत्तियों को मिलाकर औसतन प्रति एकड़ ४,००० पौण्ड उपज होती है जबकि खेत पूर्णतः सस्ययुक्त हो और पौधों का दूसरा वर्ष चल रहा हो। पत्ती एवं तना का औसत अनुपात भार में ५०-५० (बरावर-बरावर) होता है। वर्ष भर की प्रति एकड़ औसत उपज ५०० पौण्ड (शुष्कभार) है जिसमें ४४ प्रतिशत तना तथा ५६ प्रतिशत पत्तियाँ होती हैं। आर्द्धता की मात्रा पत्तियों की अपेक्षा तने में अधिक पायी गयी है। तने में औसतन ८८ प्रतिशत आर्द्धता होती है। मई से नवम्बर तक पत्तियों की आर्द्धता में भिन्नता पायी जाती है। अप्रैल और मई के महीनों में पत्तियों और तनों में आर्द्धता अधिकतम होती है। इससे बाद के महीनों में सावारणत यह घटने लगती है और अक्टूबर-नवम्बर में न्यूनतम हो जाती है।

हानिकारक कीट ( Pests ) पौधों के प्रतिरोपण के समय एप्रोटिस फ्लैमेट्रा ( *Agrotis flammatrix* ) कटुवा सूडी ( Cutworm ) या उसका लार्वा ( grub ) वेलाडोना की खेती के लिए बहुत धातक होता है। यह सरस ( succulent ) तने को जमीन के ऊपर काट देता है। जून और जुलाई के शुष्क महीनों में यह बहुत अधिक प्रचण्ड हो जाता है, पर वर्षा के मौसम में तथा सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में यह कम पाया जाता है। इसलिए अप्रैल-मई के महीनों में ही वेलाडोना-नवपादप का प्रतिरोपण सम्भव कर लेना चाहिये, ताकि उक्त कीड़े के आक्रमण के पूर्व जड़े विकसित होकर भजन्त छुकी रहे। कश्मीर में यह कीड़ा सामान्य दृप में पाया जाता है और अन्य धान्य-सस्यों (cereal crops) को बहुत अधिक हानि पहुँचाता है। टेनेब्रियोनिकली (*Tenebrionidae*) कुल ( कोलिओप्टेरा आर्डर ) की गोनोसेफलम (Gonocephalum) स्पीशीज का दिंभक ( लार्वा ) भी उक्त पौधे की जड़ पर आक्रमण करते देखा गया है। इसकी पत्तियों, पुष्पों और फलों पर भी आक्रमण करने वाले अनेकों इल्ली ( caterpillars ) एवं भूग ( beetles ) देखे गये हैं। हाल ही में, वेलाडोना की पत्ती पर रोमिल फफूद ( downy mildew ) देखी गयी है। इन कीड़ों के नियन्त्रण के कुछ उपाय ढूँढ़े जा रहे हैं, पर भ्रष्टि इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि जिस भ्रष्टि कीड़ों

का आक्रमण प्रारम्भ होता है उससे पहले ही पौधों का प्रतिरोपण कर दिया जाय। वेलाडोना के कौट-नियशण एवं कवक-क्षति की समस्या पर विस्तृत एवं व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता है।

विभिन्न ऊँचाइयों पर स्थित रोपणी (nurseries) में प्रजनन की विभिन्न श्रेत्रियों से ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा पर किया गया प्रारम्भिक कृषि-कार्य, पत्तियों में ऐल्केलॉयड की उपलब्धि की दृष्टि से, पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा। इसे नीचे दर्शाया गया है—

\* पत्तियों का स्रोत

+ ऐल्केलॉयड की मात्रा,  
प्रतिशत

उन पौधों से, जो श्रीनगर की रोपणी (नर्सरी) में ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह में प्रतिरोपित किये गये थे।	१९५०	१९५१
	० ३१	० ५९

उन पौधों से जो जगली में (९,००० फुट) वन्य अवस्था में नवपादप (seedlings) रूप में प्राप्त किये गये थे और यारिकाह में (७,००० फुट) प्रतिरोपित किये गये थे।	० ४३	० ७६
---	------	------

उन पौधों से जिन्हें जगली में वन्य अवस्था में प्राप्त पौधों के मूलकर्तन द्वारा यारिकाह में प्रजनित किया गया था।	० ३२	० ७६
--	------	------

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बीजों से या मूलकर्तन से प्रजनित वेलाडोना की पत्तियों में, प्रथम वर्ष में वहूत कम ऐल्केलॉयड होता है किन्तु द्वितीय वर्ष में इसकी मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

स्थानीय वेलाडोना से सक्रियतत्व जिस परिमाण में उपलब्ध होता है उससे तुलना करने के लिए ऐट्रोपा वेलाडोना के बीज रॉयल बोटानिकल गार्डेन, क्यू, इंग्लैण्ड से

\* पत्तियाँ उस समय एकत्रित की गयी थीं जब पौधे फूल रहे थे।

† १० विश्लेषणों का औसत।

मँगाये गये और उनको यारिकाह तथा श्रीनगर की रोपणी में उगाया गया। देशीय और इगलिश बेलाडोना में पुष्प के रंग में, पत्तियों की आकृति में तथा पौधों के आकार और स्वरूप में भिन्नता पायी गयी। इगलिश बेलाडोना की औसत ऊँचाई १२-२७ इच है और उसकी पत्तियाँ ३ २ से ९ २ इच लम्बी तथा १ ५ से ४ ५ इच चौड़ी होती हैं। इसकी शाखाएँ दूर-दूर तथा पत्तियाँ अण्डाकार होती हैं।

इस पौधे का प्रजनन मूल-कर्तन द्वारा भी श्रीनगर तथा यारिकाह की रोपणियों में किया गया। उक्त पौधे की पत्तियों में ऐल्केलॉयड निम्नलिखित परिमाण में पाया गया—  
पत्तियों का स्रोत #

ऐल्केलॉयड की मात्रा \*\*

	प्रतिशत	
उन पौधों से, जो श्रीनगर की रोपणी (नसरी) में ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह में प्रतिरोपित किये गये थे।	१९५० ० ४२	१९५१ ० ५१
उन पौधों से जो श्रीनगर की रोपणी (नसरी) में ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह को रोपणी में (७,००० फुट) प्रतिरोपित किये गये थे।	० ४०	० ६१
उन पौधों से जिन्हे जगलो में वन्य अवस्था में प्राप्त पौधों के मूलकर्तन द्वारा यारिकाह में प्रजनित किया गया था।	० ४१	० ६४

सकर स्पीशीज (Hybrid Species) रोपणस्थली में एट्रोपा बेलाडोना और एट्रोपा एक्यूमिनेटा का सकर भी देखा गया है। यह सकर कुछ आकारिकीय विशिष्टताओं में दोनों जनक-पौधों में भिन्न होता है। सकर स्पीशीज में दलपुज (corolla) का रंग आधार पर पीला होता है किन्तु अग्रक पर बैगनी (नीलाखण), और पत्तियों

\* पत्तियाँ उम समय एकत्रित की गयी थी जब पौधे फूल रहे थे।

\*\* १० विश्लेषणों का औसत।

एवं जड़ो में ऐल्केलॉयड की मात्रा, जनक पोधो के मध्य (intermediate) की पायी जाती है। ऐट्रोपा स्पीशीज की पत्तियों में शरीरक्रियात्मक दृष्टि से निष्क्रिय, वाष्पशील (volatile) ऐल्केलॉयड लेशमात्र मिलता है, पर मूल में डमकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा में वाष्पशील ऐल्केलॉयड अधिकतम तथा ऐट्रोपा बेलाडोना में न्यूनतम पाया जाता है, जबकि सकर स्पीशीज में दोनों के बीच की मात्रा पायी जाती है।

**निर्यात व्यापार (Export Trade)** बेलाडोना के औपधीय योगों तथा इसके ऐल्केलॉयड ऐट्रोपिन का आयात भारत में बहुत अधिक मात्रा में होता था। अभिलेखों (रेकार्डों) के परिशीलन से मालूम होता है कि भारत और यूरोप के बीच एक लम्बी अवधि तक इन अपरिष्कृत (अदैदिभद) भेपजो (कच्चे माली) का निर्यात-व्यापार पर्यात मात्रा में हो चुका है। महायुद्धों के दिनों में यह व्यापार असाधारण रूप से बढ़ा और इसके उत्पादक (कृपक) इसका अत्यधिक मूल्य माँगते थे, ऐसा अशत इसलिए कि विश्व-वाजार में इस भेपज का अत्यन्त अभाव था और यूरोपियन बेलाडोना की अपेक्षा भारतीय बेलाडोना की जड़ों में अधिक ऐल्केलॉयड पाया जाता है। बस्तुत भारतीय बेलाडोना में ऐल्केलॉयड पर्यात मात्रा में पाया जाता है, जैसा कि विश्लेषणों से जात हुआ है। ग्रिटिश भेपजकोश में उल्लिखित ० ४५ प्रतिशत के साथ तुलना करने पर भारतीय भेपज के कई मूल-प्रादर्शों (root specimens) में ऐल्केलॉयड की मात्रा ० ८१ प्रतिशत मिली और पत्तियों में (ग्रिटिश भेपजकोश में उल्लिखित) ० ३ प्रतिशत के साथ तुलना करने पर ०.५० प्रतिशत। गत कुछ वर्षों से इस भेपज की पत्तियों एवं जड़ों का मूल्य विदेशी-वाजारों में बहुत नीचे गिर गया है, जिससे भारत के निर्यात-व्यापार को धक्का लगा है। अन्य भारतीय कच्चे माल की तरह ही भारतीय बेलाडोना पहले से ही विदेशी वाजारों में हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस परिस्थिति के लिए भारतीय व्यापारियों का भी कुछ कम दोष नहीं। अपमिश्रण बहुत अधिक मात्रा में किया गया है। न केवल अनभिज नीकरो (मजदूरो) द्वारा सभी अवस्था को जड़े ही एकत्रित की गयी है, अपिनु फाइटोलेक्का एसीनोसा (*Phytolacca acinosa*) नामक पौधे की जड़ें भी, जो देखने में बेलाडोना की जड़ों के ही समान लगती है, बेलाडोना की जड़ों में बहुधा अपमिश्रित कर दी गयी है। हाल ही में, वन्य अवस्था में पैदा होनेवाला भारतीय बेलाडोना बहुत अधिक मात्रा में इग्लैण्ड भेजा गया था, जिसमें उक्त अपमिश्रण हुआ था। यह भी स्मरणीय है कि भारत में कहीं भी बेलाडोना की खेती वैज्ञानिक ढंग से नहीं की जाती थी। अत नियमित रूप से तथा एक समान गुणयुक्त भेपज की उपलब्धि बराबर नहीं हो सकती थी। यद्यपि बेलाडोना

का निर्यात-व्यापार बहुत उम हो गया है, पर, इल मे एस बड़े हूर्प ही बात जात हुई है कि भारत के भैंसज्जन-निर्माण करने वाले फर्म (manufacturing firms) अब भारतीय बेसायोना और जड़ों मे स्ट्री जी जनता के उपयोग के लिए शीक्षिभवीय (इव्व) तोप (preparation of galenicals) तंयार करने लगे हैं। द्वितीय गहायूर के दिनों मे भी कुछ भारतीय भैंसज्जन निर्माणार्थी फर्म गोपा एन्केडायड नियाएँ थे।

### सन्दर्भ :-

- (1) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind. Jour. Med. Res.*, 13, 533,
- (2) Dutt, 1928, *Central Jour. Dr. of Ind.*, (3) Vowles and Hissam, 1948, *J. Agric. Pharm. Soc.*, 150, (4) Chopra, I. C., Handa, K.J. and Kapoor, L. D., 1946, *Ind. J. Agric. Sci.*, 16414, (5) Dutt, S. C. and Balcerzak, B., 1950, *Bull. Pharm. Soc. Ind.* (1), 104, (6) Kapoor, L. D., Chopra, I. C. and Sam Nimb, 1952, *Ind. Jour.*, 78, (1), 34, (7) Kapoor, L. D., Handa, K. J. and Kapoor, Sam Nimb, 1954, *Ind. Jour. Pharm.*, 13, 239, (8) *Wreathes of India's Raw Materials*, 1918, 1, 139, (9) Kapoor, L. D., Handa, K. L. and Chopra, I. C. 1952, *Ind. Jour. Indust. Res.*, 11, 1, 53.

### कैमेलिया साइनेन्सिस (थोसी)

*Camellia sinensis* (Linn.) O. Kuntze (Theaceae)

पर्याप्ति, कैमेलिया थो, कैमेलिया थोफिता (Sin Camellia The Link, C. Theifera Griff.) चाय का पौधा (Tea Plant)

नाम—हिं, वा०—चाय, चा, म०—चारा, ता०—तोरार, तो०—धेताकृ।

### कॉफीया अर्द्धिका (र्युविएसी)

*Coffea arabica* Linn (Rubiaceae)

कॉफी का पौधा (Coffie Plant)

नाम—क० और भारतीय धाजार—गहवा

कॉफीन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण एन्केडायड है जो ओपिधि मे व्यवहृत होता है। द्वितीय तन्त्रिकानन्द और (रन्क) परिमधरणतन्त्र पर उद्दीपक तथा मूत्रल गुणो के कारण यह अत्यधिक मृत्यवान चिकित्सीय द्रव्य माना गया है। इसके ऐलेलॉयड तथा नवण—यवा, कॉफीन मिट्टेट, कॉफीन और गोडियम वेन्जोएट आदि—का ओपिधि मे बहुत अधिक उपयोग होता है।

केफीन चाय और कहवा के पौधों में और उसी प्रकार के उद्दीपक द्रव्यों—जैसे, कोलानट ( Kola nut ), माते ( Mate ) अथवा पैरागुवे चाय ( Paraguay Tea ) और गुअराना लेप ( Guarana paste )—में पाया जानेवाला प्रमुख ऐल्केलोइड है। यह थियोब्रोमा कोका ( *Theobroma coca* ) को पत्तियों में भी पाया जाता है, पर बहुत अल्पमात्रा में। ससार के बहुत से लोग विभिन्न कैफीनयुक्त पेय पसन्द करते हैं, परन्तु वास्तव में तो प्रतिस्पर्धा है कहवा ( कॉफी ) और चाय के बीच। कुछ राष्ट्र कहवा को सर्वदा पसन्द करते हैं तो कुछ चाय को। विश्व के विभिन्न भागों में शुद्ध चाय के स्थान पर व्यवहृत होनेवाले पौधों की सूख्या बहुत अधिक है, जिनमें लगभग २०० तो ज्ञात है। इन पौधों में साधारणतः कैफीन नहीं होता, इनमें कुछ ऐसे हैं जिनमें सगन्ध तैल पाया जाता है, पर कैफीन ( Caffeine ) और थियोब्रोमिन ( Theobromine ) आदि पूरिन यौगिकों ( Purine Compounds ) के गुण नहीं पाये जाते।

यह अच्छी तरह ज्ञात है कि चाय—इसका नाम और पेय दोनों-मूलत चीन से आये। वहाँ चाय पीने की प्रथा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी और यदि बहुत पहले नहीं, तो, सम्भवत पांचवीं शताब्दी में इसका पेय के रूप में व्यवहार होने लगा था। भारत ( आसाम ) में भी यह बहुत पहले से ज्ञात थी, पर वस्तुत इसका उपयोग कब से आरम्भ हुआ इसका ठीक पता नहीं है। नवी शताब्दी के प्रारम्भ में यह जापान पहुँची, पर शेष ससार को १६वीं सदी से अन्त तक इसके ( चाय के ) गुणों का पता नहीं था। इर्लैण्डवालों को इसका पता १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लगा, पर 'पुनराज्यस्थापन'\* ( Restoration ) के बाद के वर्ष में भी यह एक जिज्ञासा की वस्तु थी। रानी ऐनी ( Queen Anne ) के शासन-काल में चाय का व्यवहार बढ़ने लगा, यद्यपि तब भी इसका व्यवहार भमय-समम पर होनेवाली सम्य-समाज की गोष्ठियों या प्रीतिभोजों में ही होता था, किन्तु शताब्दी के बीतते-बीतते चाय पीने का चलन बढ़ी तेजी से हो-गया और अब यह जिज्ञासा की वस्तु नहीं रह गयी अपितु लोगों के दैनन्दिन आहार का एक अग और नियमित आदत हो गयी। १६३६ ई० में यह पेरिस में पी जाती थी और उसके कुछ ही बाद यह यूरोप के विभिन्न देशों में फैल गयी थी। चोपड़ा और उनके सहयोगियों ( Chopra et al., १९४२ ) ने बताया कि चाय के व्यवहार का सबसे प्राचीनतम उल्लेख ५१९ ई० में मिलता है। कहते हैं, इसी वर्ष दार्मा ( Daima ) ने, जो बौद्धधर्म का प्रचार करने चीन गये, इस पौधे के आश्चर्य-

\* 'पुनराज्यस्थापन' ( रेस्टोरेशन ) १६६० ई० में हुआ जब चार्ल्स द्वितीय को गढ़ी पर बैठाया गया—अनु०।

जनक ( विलक्षण ) गुणों का पता लगाया था । यह कहना कठिन है कि चाय का ज्ञान पहले चीनवालों को हुआ या यह ( ज्ञान ) बाखाम से भारत में आया । उद्दीपक पेय के रूप में इसका प्रसार तिक्कत और मनोलिया में हुआ और वहाँ से पश्चिम को ओर धूरोप तक । १६१६ ई० में ईंस्टडिण्ड्या कम्पनी ने इग्लैण्ड के राजा चाल्स द्वितीय को २ पौण्ड चाय भेजी थी और उसके थोड़े समय बाद एक किलोग्राम चाय ३ पौण्ड में वहाँ बेची गयी थी । १६३६ ई० में पहली बार 'मरक्यूरियम पोलिटिक्स' (Mercurius Politus) में निम्नलिखित ढंग से इसका विज्ञापन प्रकाशित हुआ था "एक उल्कृष्ट चीनी पेय, सभी चिकित्सकों ( डाक्टरों ) द्वारा प्रशस्ति, जिसे चीनी लोग 'टिह' ( Tcha ) तथा दूसरे राष्ट्र 'ट्रे' ( Try ) अथवा 'थे' ( The ) कहते हैं, 'रायल एक्स्ट्रैक्ज' के पास सुल्ताना-कॉफीघर में विक रही है ।" उसके कुछ ही समय बाद लैटिन में चाय पर एक प्रशसात्मक कविता लिखी गयी और वर्लिन के एक लेखक ने तो एक पुस्तक में इसकी अतिथय प्रगता की "एक प्याला चाय प्रदान करती है सुन्दर स्वास्थ्य और दीर्घजीवन ।" बोण्टेको ( Bonckoe ) नामक एक उच्च डाक्टर ने, जो बाद में ब्रैंडेनबर्ग के प्रिय एलेक्ट्रर का चिकित्सक हो गया, दिन में १०० से २०० प्याले तक नाय पान की सन्तुति की । वह स्वयं दिन-रात चाय पीता था । गत कुछ वर्षों में सारे विश्व में चाय पीने का प्रचार हो गया है । ५० वर्ष पहले भारत में बहुत कम चाय पी जाती थी और उत्तर भारत में, विशेषकर देहाती क्षेत्रों एवं गरीबों के बीच, तो यह वस्तुत बजात ही थी । आजकल तो यह दुर्गम-से-दुर्गम रथानों में भी उपलब्ध हो गयी है और गरीब-से-गरीब भी उगे पीते हैं । विगत ३० वर्षों में हमारे देश में चाय की व्यपत बहुत बढ़ गयी है । इन समय देश में औभतन १ से २ करोड़ बादमी नियमित चाय पीने के आदी हैं ।

कॉफी ( कॉफिया अर्टिका-Coffea arabica ) को अरबों तथा फारसियों ने बहुत दिनों से एक उत्तम गुणमप्नन पदार्थ गमन्न रखा था और ऐसा विश्वाम किया जाता है कि धूरोप तथा गन्य देशों में काफी पीने का चलन उन्हीं के द्वारा फैलाया गया । कहते हैं, एक बार जब हजरत मुहम्मद बीमार थे तो उनको आकेंजिल गैब्रिएल ( Archangel Gabriel ) ने चाय दी थी । ऐसा कहा जाता है कि मुसलमानों के एक धार्मिक समुदाय ( Convent ) के प्रधान ( Prior ) को उसके गडेश्वरों ने बताया कि जब वकरियाँ कॉफी का फल ( Beans ) दा जाती हैं तो वे रात में जागती रहती हैं और इधर-उधर उछलती-कूदती रहती हैं । इस घटना ने

\*A cup of tea is a medium for ensuring health and long life.

उन्हे अपने लिए तथा अपने दखेशो के लिए कॉफी का पेय तैयार करने की प्रेरणा दी, जिसे पीकर वे मस्जिद में रात्रिकालीन प्रार्थना में जागते रह सके। उस पेय को कहवा कहा जाता था, कहवा, जो कि उद्दीपन करता है या भूख को मारता है। १६वीं शताब्दी में प्राय समूचे एशिया माइनर, सीरिया और फारस द्वारा कॉफी का व्यवहार होता था। कोलानट, स्टर्कुलिया ऐक्यूमिनेटा (*Sterculia acuminata*), का व्यवहार अटलाण्टिक महासागर और नील के स्रोत के बीच, विस्तृत क्षेत्रवाले सूडान (मध्य अफ्रीका) के निवासियों द्वारा होता है। यर्बा माटे (*Yerba Mate*) या पैरागुवे चाय (इलेक्स पैरागुएन्सिस—*Ilex paraguassu*) और गुआराना लेप (पॉलिनिया सॉर्बिलिस या पॉलिनिया कुपाना—*Paullinia sorbilis* or *Paullinia cupana* के काले-भूरे परिपक्व बीजों से निर्मित) का व्यवहार ब्रैज़िल, पैरागुवे, वर्जीनिया, केरोलिना आदि दक्षिणी अमेरिका के देशों में व्यापक रूप में होता है। कुछ मुस्लिम देशों को छोड़, चाय की जितनी खपत होती है उतनी कॉफी की नहीं, सम्भवत इसका कारण है कॉफी का अधिक मूल्य। भारत में बहुत कम कॉफी पी जाती है और दक्षिण-भारत को छोड़ वस्तुत भारत के ग्रामवासियों को अभी इसका पता भी नहीं है।

### कॉफीन का आम्यासिक उपयोग

वस्तुत यह जानना बड़े मनोरजन की बात है कि मनुष्य किस विलक्षण ढग से या किस नैसर्गिक प्रवृत्ति की सहायता से इतने बड़े वनस्पति-जगत से अपने काम का अत्यन्त उपयोगी एवं मनपसन्द पौधा चुन सका है। विश्व के तीन भिन्न महाद्वीपों—अमेरिका, अफ्रीका और एशिया—में बिल्कुल भिन्न पौधे ढूँढ़ निकाले गये हैं, जिनका व्यवहार पेय रूप में होता है और जिनकी विशेषता यह है कि इनमें कॉफीन (Caffeine) पाया जाता है। लेविन (Lewin—१९३१) अपने फैण्टास्टिका (*Phantastica*) नामक ग्रन्थ में लिखते हैं “वस्तुत हम जानते हैं कि आदमी ने अपने को कॉफीन के पौधों एवं उनसे व्युत्पन्न पदार्थों (पेय) से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध कर लिया है और उन्होंने जो इच्छा उसमें (मनुष्य में) जगायी उसे वह रोज सन्तुष्ट करता है। इस सनुष्टि के यथेष्ट कारण भी है। इन पौधों के गुण एवं कर्म तथा इस पुस्तक में वर्णित अन्य पदार्थों के गुण एवं कर्म के बीच एक गहरी खाई (अन्तर) है। सज्ञा (consciousness) मन्दता (dimness) या धुँधलेपन से आवृत नहीं होती, व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का नाश नहीं होता और न उसे अपनी मूल प्रवृत्तियों (पशु-प्रवृत्ति) के नियन्त्रण में ही चलना पड़ता है और उसका मन तथा बुद्धि इस

प्रकार नहीं उत्तेजित होती कि वह मतिभ्रम और मनोकल्पना के बगीभूत हो जाय। विना किसी प्रकार का मानसिक एवं शारीरिक दुखात्मक प्रभाव उले, कैफीन के पौधे मस्तिष्क पर उद्दीपक का कार्य करते हैं। ये सब तथ्य इन पदार्थों को एक महत्वपूर्ण स्थान पदान करते हैं।” यह सुविज्ञात है कि चाय और कॉफी की परिमित मात्रा में किसी प्रकार की हानि नहीं होती अपितु लाभ ही होता है। बहुत अधिक सेवन करने से इनका बुरा प्रभाव पड़ता है।

### चाय और कहवा के भारतीय सासाधन

भौमनन चाय की पत्तियों में २५ से ३ प्रतिशत कैफीन रहता है, यद्यपि कुछ किस्मों में ४ प्रतिशत तक भी कैफीन उपलब्ध हो जाता है। कॉफी की फलियों में, जिनमें कैफीन अशत अमयुक्त रूप में और अशत सयुक्त रूप में होता है, १५ प्रतिशत से अधिक कैफीन कदाचित् हो मिलता है। माते ( Matc ) में १ से २ प्रतिशत, गुबराना लेप ( Gubarana paste ) में ३ से ४ प्रतिशत और कोला ( Cola ) में लगभग ३ प्रतिशत कैफीन होता है। हम यहाँ मुख्यतः चाय की ही समीक्षा करेंगे क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से कैफीन प्राय पूर्णपैण चाय में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि कैफीन रहित ( Caffeine free ) कॉफी के निर्माण में भी कैफीन प्राप्त होता है और यूरिया ( Urea ) तथा उसी के समान पदार्थों से यह सशिलष्ट भी किया जा सकता है, पर आर्थिक लाभ की दृष्टि में यह ( इन न्यूतों से ) उतना नहीं उपलब्ध किया जा सकता है।

भारत में चाय तथा कॉफी दोनों के पौधे प्रभूत मात्रा में पैदा होते हैं। कॉफी को पैदावार मुख्यतः मद्रास, कुर्ण, मैसूर, त्रिवाकुर और कोचीन में होती है। १९२९ ई० में कॉफी की खेती १,६०,८०० एकड़ में की गयी थी जिससे २७,७६,७०० पौण्ड अभिमाधित ( cured ) कॉफी का उत्पादन प्राप्तकालित किया गया था और १९४७-४८ ई० में उक्त खेती १,९७,८२६ एकड़ में की गयी थी जिससे ३,०२,९१७ हण्डरवेट ( Cwt ) कॉफी का उत्पादन प्राप्तकालित किया गया था। कॉफी की इतनी पैदावार पर्याप्त मतोपजनक है, फिर भी चाय की विशाल पैदावार में इसकी तुलना नहीं की जा सकती। विदेशों में जितनी चाय की खपत होती है, प्राय भारत, पाकिस्तान, लक्ष्मण और समूह ( डिस्ट इण्टीज ) और सुदूर पूर्व में मैंगायी जाती है। इग्लैण्ड तथा यूरोप महाद्वीप में चाय की बढ़ती खपत ( १८४० ई० में इग्लैण्ड में चाय की वार्षिक खपत प्रति व्यक्ति १२ पौण्ड थी जो शताब्दी के दीतते-चीतते बढ़कर ६०७ पौण्ड प्रतिव्यक्ति हो गयी) से एक ऐसा वाजाह मिल गया जिसकी वरावर बृद्धि होती गयी और जिसकी भवदा बढ़ती हुई भाँग की पूर्ति के लिए भारत तथा लक्ष्मण

जैसे चाय-उत्पादक देशों ने अपने चाय के साधनों का विस्तार किया। बहुत दिनों तक तो चीन सर्व प्रमुख चाय-उत्पादक देश था किन्तु धीरे-धीरे भारत भी इस (चाय-उत्पादन) क्षेत्र में आ गया और ग्रिटिंग चाय-वागानों के स्वामियों (Planters) के प्रयत्न से भारत के चाय उद्याग ने द्रुतगति से उन्नति की। चाय-ब्यापार ने कितनी उन्नति कर ली है इसका निर्णय इसी तथ्य में हो भक्ता है कि १७०३ ई० में डगलैण्ड में लगभग १,००,००० पौण्ड चाय का आयात हुआ था और ट्रैफलगर के युद्ध के बर्पं यह सल्या ७५ लाख पौण्ड हो गया। इस समय यह भारत के कई प्रदेशों, यथा—असम, बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तरप्रदेश, पंजाब, मद्रास, कुर्ना, तिपेरा (बगाल) के राज्य, बिवाकुर, कोचीन और मैसूर में पैदा होती है। इसकी उपज के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। नवम्बर और मार्च के दीन इसके बीज बो दिये जाते हैं और जब नवपादप (बेहन) कम से कम ६ माह का हो जाता है तब रोपा जाता है। उत्तरी भारत में इसकी फसल मई में दिसम्बर तक चयन की जाती है और दक्षिण भारत में जनवरी से दिसम्बर तक।

### आर्थिक पक्ष

सम्भवत चीन को छोटकर, जिसके चाय-उत्पादन एवं क्षेत्रफल का सही पता नहीं है, भारतवर्ष विश्व का सबसे बड़ा चाय-उत्पादक और निर्यातक देश है। १९४८ ई० में विश्व का चाय-उत्पादन ९३ द करोड़ पौण्ड हुआ था, जिसमें भारत ने ५६ ७७५ करोड़ पौण्ड, लका ने २९ ९ करोड़ पौण्ड, पाकिस्तान ने ४ ४ करोड़ पौण्ड और जावा तथा सुमात्रा ने २८ करोड़ पौण्ड पैदा किया था। निम्नलिखित विवरण से विश्व के प्रमुख चाय-उत्पादक देशों का चाय का क्षेत्रफल, उत्पादन तथा निर्यात स्पष्ट हो जायगा —

देश	क्षेत्रफल (सहस्र एकड़)	वार्षिक उत्पादन (दस लाख पौण्ड)	वार्षिक निर्यात (दस लाख पौण्ड)
भारतवर्ष ८३३८ ८४० ४	११३७-४१६ १५४३-४६६	१९३७-४१६ १९४२-४६६	१९३७-४१६ १९४२-४६६
लका ५५४ ४ ५५० ६	४६० ० ४४४ ६	५४९ ० २८० ८	३५१ ४ २३२ ४
न्यासालैण्ड १८ ४ ११ ८	११ ४	१२ ८	११ ०
केनिया १४ ० १५ ८	११ ८	१३ ६	९ ६
नेदरलैण्ड्स ५१८ ३ ३६७ ०	१७७ ०	—	१५९ ४
झिस्टझण्डोज ११८ ३ ३६७ ०	२६ ८	१२ ८	२१ ६
फारमोसा ११० ६ १३ ५			१८ ७

जापान	१८०	७५६	१२६२	९२२	३९.८	८०
स्व	१२३	८	२१८	—	—	—
नील	—	—	—	—	७७०	१५०

भारत का उत्तरी-भूर्बाई भाग, जिसमें ब्रह्मपुर और बानाम तथा दार्जिलिंग भी सुर्यो पाटी एवं बगाल का जलपाईगुड़ी जिला नमाविष्ट है, चाय-उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुल उत्पादन का ८३ प्रतिशत पैदा होता है। दक्षिण भारत में केवल नीलगिरि के ऊने स्थानों, गलादार, मैगूर तथा घिवाड़ुर में चाय पैदा होती है और वह भी कुल उत्पादन का २० प्रतिशत ही। प्रथम महायुद्ध के बाद चाय का उत्पादन-क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया और १९३३-३० में ७,५०,००० एकड़ हो गया, इसी गमय 'इन्टरराइट्रोय चाय विनियम' ( International Tea Regulation ) द्वारा चाय-क्षेत्र ( भूमि ) के प्रमाण पर नियन्त्रण लगा दिया गया। इस शताब्दी के प्रारम्भ में, जबकि चाय-क्षेत्र लगभग ६० प्रतिशत बढ़ गया है, उसका उत्पादन दुगुना हो गया है। ऐसा रोपन्यस्ती-व्यवस्था में सतत सुधार के कारण प्रति एकड़-उपज बढ़ जाने से हुआ है, १९०० ई० में जहाँ प्रतिएकड़ ३८४ पौण्ड उपज होती थी वही १९४९ ई० में बढ़कर ६८५ पौण्ड हो गयी। 'वेन्द्रीय चाय-मण्डल' ( सेन्ट्रल टी वोर्ड ) की अन्तिम नूचना ( रिपोर्ट ) के अनुमार भारत में ६,२४० चाय के बगीचे हैं, जिनका क्षेत्रफल ७,८५,५८८ एकड़ है।

भारत में कैफीन-निर्माण की सम्भावनाएँ भारत में चाय और कॉफी के समाधनों का इतना सुन्दर विकास होने पर भी यह दु स की बात है कि यहाँ ऐल्कोलायड कैफीन का निर्माण नहीं होता जिसमें देश को इसके लिए विदेशी-निर्माताओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से कैफीन का निर्माण कॉफी में नहीं, चाय में किया जा सकता है और कैफीन-निर्माण में मानव-उपभोग की अच्छी चाय की भी आवश्यकता नहीं। बाजार के लिए परिस्तंपित (finished) चाय के निर्माण में बहुत बड़े परिमाण में हरके छोटे-छोटे टुकड़े (fluff) और साढ़न (scrapings) फेंक दिये जाते हैं, उन्हे 'क्षेष्य चाय' ( tea waste ) कहते हैं, वे मनुष्य के काम के नहीं होते। क्षेष्य चाय अत्यधिक सस्ते मूल्य में मिल सकती है और कैफीन प्रायः उसी से बनाया जाता है। यह प्रावकलित किया जा चुका है कि परिस्तंपित (finished) चाय के निर्माण में क्षेष्य चाय और शाढ़न औसतन १५ प्रतिशत उपलब्ध होता है। इस प्रावकलन में विभिन्न स्थानों ( जिलों ) में कुछ अन्तर हो सकता है। 'भारतीय चाय सेस कमेटी' ( Indian Tea Cess Committee ) की रिपोर्ट के अनुमार भारत ने १९२९-३० में लगभग ३८,२५,९४,८३५

पौण्ड चाय का निर्यात जल तथा स्थल द्वारा किया था। इसलिए परिस्थित (finished) चाय के इस परिमाण (राशि) के निर्माण में ३८,२५,९४८ पौण्ड क्षेत्र चाय उपलब्ध होगी। यदि इस क्षेत्र चाय से कैफीन निर्मित की जाय तो लगभग ५७,३८८ पौण्ड कैफीन उपलब्ध हो सकती है, जब कि उस ऐल्केलोयड का विचार न भी किया जाय जो भारत में व्यवहृत ५-६ करोड़ पौण्ड चाय से प्राप्त हो सकता है। कैफीन के बड़े पैमाने पर निष्कर्षण (large scale extraction) में लगभग १५ प्रतिशत कैफीन क्षेत्र चाय से निकाली जा सकती है।

फिर भी वास्तविक व्यवहार में अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि भारत में इस तरह का कोई कानून नहीं है जो क्षेत्रचाय के व्यापार में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करे, फिर भी भारतीय चाय-संघ ( Indian Tea Association ) द्वारा यह जनता को नहीं बेची जाती, केवल विश्वस्त व्यापारियों को ही बेची जाती है, क्योंकि बाजार में अच्छी चाय के साथ इस क्षेत्र चाय को अपमिश्रित करके बेच दिया जाता है, जिससे चाय-उद्योग को बड़ी क्षति पहुँचती है। अच्छी चाय के साथ इस क्षेत्र चाय का अपमिश्रण न हो सके इसके लिए भारतीय चाय-संघ क्षेत्र चाय को कैफीन-निर्माण के लिए साधारणत विदेशी में भेजता है। १९२७-२८ ई० में ४,४१,६७१ रु की ४१,१४,६३८ पौण्ड क्षेत्र चाय निर्यात की गयी थी और १९४८-४९ ई० में १४,३०,००० रु की ६७,०२,३०० पौण्ड। यदि भारतीय निर्माताओं को क्षेत्र चाय उसी मूल्य पर, जिस पर विदेशी को निर्यात किया जाता है, बेची जाय तो आर्थिक दृष्टि से कैफीन-निर्माण सम्भव हो सकेगा, जो बस्तुत आज किया जा रहा है।

कैफीन ( थीन—Theine  $C_8 H_{10} O_2 N_4$  ), चाय, कॉफी तथा अन्य पेय का प्रमुख ऐल्केलोयड घटक है, जिनमें यह या तो अस्युक्त या सयुक्त, कैफीन क्लोरोजिनेट ( Caffeine chlorogenate ) के रूप में पाया जाता है। चिभिन्न द्रव्यों में कैफीन निष्कलित प्रतिशत में पाया जाता है—चाय १०-४८, कोला नट २७-३६, कॉफी १०-१५, माते ( *Ilex paraguensis* ) १२५-२०, और गुअराना ( *Paullinia cupana* ) ३१-५०। क्षेत्र कोको ( *Cocoa waste* ) में थिओब्रोमीन ( *Theobromine* ) पाया जाता है जिससे भेषिलेशन द्वारा कैफीन प्राप्त किया जा सकता है। उत्तरी अमेरिका में उत्पन्न होनेवाले हॉली ( *Holly* ) नामक पौधे की एक स्पीशियल, इलेक्स कैसिनी ( *Ilex cassine* ), की पत्तियों में, जिससे कैसिना ( *Cassina* ) पेय बनाया जाता है, १०—१६ प्रतिशत कैफीन पाया जाता है।

वाणिज्योपयोगी कैफीन, विलायक निष्कर्षण (solvent extraction) द्वारा क्षेत्र चाय

या चाय की धूल से उपलब्ध हो सकता है। जब गरम पानी विलायक के स्प में व्यवहृत होता है तो इस क्वाथ में लिथार्ज ( Litharge ) टाला जाता है जिससे गोद और रेजिनयुक्त पदार्थों का अवक्षेपण हो जाता है। तत्पश्चात् छनित ( filtrate ) को सान्द्रित किया जाता है। इस सान्द्रण क्रिया में कैफीन के क्रिस्टल पृथक हो जाते हैं जिन्हे खौलते पानी में पुन क्रिस्टलीकरणद्वारा शोधित कर लिया जाता है। भारत में कैफीन-निर्माण, क्षेप्य चाय (कैफीन की मात्रा ३०-४५ प्रतिशत) में क्रिया जाता है, जो आसाम, जातपाउगुड़ी और दार्जिलिंग के चाय के बगीचों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इसे बेजाल ( Benzal ) निष्कर्पण द्वारा प्राप्त क्रिया जाता है। कच्चे माल में सोडा और पानी मिलाकर पीतल के निष्कर्पकों में डाला जाता है। इन निष्कर्पकों में सधनिन्द्र ( cardenolide ) लगे होते हैं और ये सॉक्सलेट ( Sulfite ) मिश्रान्त पर कार्य करते हैं। निष्कर्पण के पूरा होने पर विलायक को असवन ( distillation ) द्वारा अलग किया जाता है और अवशेष ( residue ) को पानी में मिला दिया जाता है। इम जलीय निष्कर्प में वेभिक लेड एसीटेट डालते हैं, जिसमें पर्णहरिम ( बलोरोफिल ), रेजिन, मोम और गोंदयुक्त पदार्थों का अवक्षेपण हो जाता है। फिर इन नवव्युत वस्त्रों द्वारा छान लिया जाता है। छनित में मल्पयूरिक अम्ल टालकर अवशिष्ट लेड को निकाल दिया जाता है। लेडरहित छनित को मक्रियित-लकड़ी के कोयले ( actuated charcoal ) की सहायता में अरजित करके गान्ध्रित किया जाता है। इम प्रकार कैफीन के क्रिस्टल बन जाते हैं और फिर उन्हें अपवेन्द्रित ( centrifuge ) की महायता से पृथक् कर लिया जाता है और प्रकोष्ठन्ताप ( room temperature ) पर सुखा लिया जाता है।

कुल वार्षिक उत्पादन लगभग २०,००० पाँण्ड है और उत्पादन नक्शे ३०,००० पाँण्ड है (पैनल बान फाइन कैमिकल्स की रिपोर्ट इंग्ल फार्मास्युटिकल्स, १९४७, २०)। इन देशों में कैफीन-उत्पादन के लिए प्रभूत कच्चा माल उपलब्ध है। अब भी कैफीन-निष्कर्पण के लिए क्षेप्य चाय वहुत बड़ी मात्रा में अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया भेजी जाती है। १९४८-४९ ई० तथा १९४९-५० ई० में ६७ और ८० लाख पाँण्ड की मात्रा में निर्यात की गयी थी जिसका मूल्य क्रमशः १४ लाख और १६.७ लाख रु० था। भारत-मण्डार कैफीन-निर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा में क्षेप्य चाय को देश में रोक रखने के लिए अधिनियम द्वारा आवश्यक कार्रवाई कर रही है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Wehmer, 1931, *Die Pflanzenstoffe*, (2) Leach, 1926, *Food and Drug Analysis*, 4th Ed., (3) Department of Commercial Intelligence

and Statistics, 1929, *Estimates of Area and Yield of Principal Crops in India*, (4) United Planters' Association of Southern India, 1929, Report, (5) Indian Tea Association, 1929, Report, (6) Indian Tea Cess Committee, 1929, Report, (7) Imperial Economic Committee on Empire Products, 1928, Report, (8) Lewin, L., 1931, *Phantastica*, (9) Watson, Sheth and Sudborough, 1922, *J Ind Inst Sci.* 5, 177, (10) *Wealth of India Raw Materials*, 1950, 11, 27, (11) Chopra, R. N., Chopra, G. S. and Chopra, T. C., 1942, *Ind Med Gaz*, 77, 107

### कैनाबिस स्टाइवा (कैनेबिनेसी)

(*Cannabis sativa* Linn.) (Cannabinaceae)

कैनाबिस इण्डिका (*Cannabis indica*)

द्रू हेम्प, सॉफ्ट हेम्प (True Hemp, Soft Hemp)

नाम—म०—गज्जिका, भज्जा, हर्षिणी, हि० और ब०—गाँजा, भाँग, चरस, फ़ा०—दरखने-बग, अ०—किन्नव, ते०—गजाई, कल्पम-चेटू, त०—गाँजा, साँगी; कन्न०—भाँगी।

पहले हेम्प (भाँग) का पौधा पश्चिमी तथा मध्य एशिया में पैदा होता था, पर अब तो सभी शीतोष्ण तथा उष्ण देशों में होता है और इसकी खेती भी की जाती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप तथा अन्य स्थानों में होनेवाले हेम्प के पौधे से भारत में होनेवाला हेम्प का पौधा भिन्न\* होता है और इसीलिए इसका 'कैनाबिस इण्डिका' एक पृथक् नामकरण किया गया, जिसे अब परित्यक्त कर दिया गया है। यह समूचे हिमालय क्षेत्र में वन्य अवस्थामें पैदा होता है। भारतीय (हेम्प के) पौधे में ऐसी कोई वानस्पतिक विशेषता नहीं है जिसके आधार पर उसे कैनाबिस स्टाइवा

\*कैनाबिस स्टाइवा से ही हेम्प (तन्तु या रेशे) तथा गाँजा, भाँग और चरस उपलब्ध होते हैं। जब इसकी खेती शीतोष्ण कटिवन्ध में की जाती है तो उसमें रेशे अत्यधिक उत्पन्न होते हैं, स्वापक (नाकोंटिक) पदार्थ किल्कुल नगण्य। इन (सस्कारित) रेशों को हेम्प कहा जाता है। पर उष्ण कटिवन्ध में जब इसकी खेती की जाती है तो रेशों की उत्पत्ति न्यून, पर प्रसीलक तत्त्व ग्रन्थिल रोमों में प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हो जाता है। तब इसकी सुखायी पत्तियों को भाँग, स्त्री केसरी पौधों के शुष्क पुष्प-मुण्डकों को गाँजा और रेजिन को चरस कहते हैं।—अनु०

(*C. sativa*) से अलग किया जाय। इसलिए तन्तु-प्रदायक (fibre-yielding) हेम्प का पौधा, स्वापक-प्रदायक (narcotic-producing) हेम्प के पौधे से किसी भी तरह भिन्न नहीं है। फिर भी कुछ विद्वानों ने कैनाविस इण्डिका और सामान्य हेम्प के बीजों की विभिन्नता का उल्लेख किया है और उससे यह निष्कर्ष निकाला है कि ये दोनों पौधे भिन्न उपजाति के हो सकते हैं। इसमें सदेह नहीं कि तन्तु-प्राप्ति के लिए कुमारू में तथा अन्य स्थानों पर बोये गये पौधों से पर्याप्त मात्रा में चरस उपलब्ध होता है, जिसका गांजे की तरह धूम्रपान भी किया जाता है। कैनाविस सटाइवा के स्त्री केसरी पौधों के शुष्क पुष्पमुण्डक तथा फलमुण्डक औषधि के काम में आते हैं।

कैनाविस इण्डिका से निर्मित द्रव्यों का व्यवहार मात्रक द्रव्य के रूप में एशियाई देशों तथा अफ्रीका में स्मरणातीत काल से होता चला आ रहा है। भाँग, गाँजा, चरस आदि व्यसन के रूप में लाखों-करोड़ों आदमियों द्वारा व्यवहृत होता है। इसके स्वापक तथा वेदनाहर (*anodyne*) गुणों की प्रशंसा गत शताब्दी के प्रारम्भ में अनेकों पाण्डितों द्वारा व्यक्त की गयी और इसे निर्दिश तथा अमेरिकी भैषजकोशों में समाविष्ट कर लिया गया। यह पौधा सासार भर के विभिन्न भागों में पाया जाता है, पर भारतीय पौधे में जितनी भैषजिकीय सक्रियता (*pharmacological activity*) पायी जाती है उतनी कुछ ही स्थानों में पाये जानेवाले पौधों में उपलब्ध होती है। स्त्री केसरी पौधा, पुकेसरी पौधे से लम्बा होता है और इसके पर्ण अपेक्षाकृत अधिक हरे और धने होते हैं और परिपक्वता प्राप्त करने में इसे ५ से ६ सप्ताह अधिक लग जाते हैं। ऋतु, भूमि तथा खाद के अनुसार इस पौधे की ऊँचाई में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। कुछ जितों में यह ३ से ८ फुट लम्बा होता है और दूसरे स्थानों में ८ से १६ फुट ऊँचा भी देखा गया है।

प्रेन महोदय (*Praen*) के अनुसार हेम्प का पौधा भारत में कहीं बाहर से आया है, किन्तु तन्तु-प्रदायक स्पीशीज के रूप में भारत पहुँचकर इस पौधे में स्वापक गुणों का विकास हो गया, जिसके लिए इसकी अब खेती की जाती है। इस सम्बन्ध में वाट महोदय (*Watt*) का इतना निश्चित मत नहीं है। यह पौधा साइबेरिया में कैस्पियन सागर के दक्षिण में तथा किरगिज के रेगिस्तान में वन्य अवस्था में पाया गया है। यह मध्य तथा दक्षिणी रूस और काकेशास के दक्षिण में भी स्वयंजात अवस्था में पैदा होता है। चीन को इसका पता छठी शताब्दी ई० पू० में ही था और सम्भवत निचली पहाड़ियों में यह देशीय (*indigenous*) है। फारस में यह वन्य अवस्था में पैदा होता भारतवर्ष में यह परिचमी हिमालय तथा कश्मीर में वन्य अवस्था में पैदा होता है और ऐसा समझा जाता है कि भारतीय मैदानों में इसका जलवायु अनुकूलन हो गया है।

सस्कृत 'भज' शब्द से मिलते-जुलते अनेक एशियाई नामों को देखने से निश्चित प्रतीत होता है कि इसके पूर्वजों का स्थान मध्य एशिया में ही कही था। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि इसके अतिरिक्त हेम्प नाम से पैदा होनेवाले अन्य तन्तु-प्रदायक पौधे—यथा, सनई (क्रोटलेस्ट्रिया जसिया (*Crotonaria juncea*) और (*Hibiscus cannabinus*) भी हैं, लेकिन इन्हें असली हेम्प (true hemp) नहीं कहा जा सकता।

### हेम्प के पौधे की स्वतः एवं वन्य उत्पत्ति

केनाबिस सटाइवा समूचे हिमालय पर कश्मीर से लेकर पूर्वी आसाम तक वन्य अवस्था में पैदा होता है। १०,००० फुट से अधिक ऊँचाई पर यह नहीं पाया जाता। यह (हिमालय) पर्वत के दक्षिणी ढालों पर और पजाब में तथा कुछ दूर तक गगा के मैदानों में फैलता हुआ आसाम और पूर्वी बगाल के पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है। इस क्षेत्र की दक्षिणी सीमा लगभग पैशावर से मध्य पजाब तथा उत्तर प्रदेश होती हुई गगा नदी के साथ-साथ चलती है। वस्तुत इसकी प्रकृति भारत में उप-हिमालय-प्रदेश (Sub-Himalayan tract) के अनुकूल है और वज्रभूमि में पजाब से पूर्ब की ओर विहार तथा बगाल तक और दक्षिण (Deccan) में खूब पाया जाता है। इस क्षेत्र में यह स्वत जमता है, पर हिमालय के निचले ढालों पर एवं तराई में सम्भवत यह पर्वत पर से बीजों के बहकर आने के कारण अधिकाशत जम गया हो। उप-हिमालय-प्रदेशी के धने बसे हुए भागों में वहाँ के लोगों द्वारा जो गाजा और भाग व्यवहृत होते हैं उन्हीं के नये बीजों द्वारा इस पौधे की उपज वन्य अवस्था में अधिकाशत होती रहती है। यदि एक बार यह पौधा लग जाय तो फिर अत्यन्त दृढ़ (hardy) हो जाता है। पर भारत में जिन स्थानों में यह वन्य अवस्था में उपजता है उसको देखते हुए यह स्पष्ट है कि जिस तरह की भूमि और जलवायु में यह पूर्ण अभिवृद्ध होता है, वह सीमित है। इसके लिए बहुत उपजाऊ (जर्वर) जमीन की आवश्यकता नहीं, किन्तु ऐसी अवश्य होनी चाहिये जिसमें जलोत्सारण (drainage) भलीभांति होता हो और जो पारगम्य (permeable) हो।

हेम्प के पौधे की खेती हेम्प की खेती विस्तृत रूप से भारत में कभी भी नहीं की गयी है। हेम्प ड्रग्स कमीशन ने (१८९३-९४ ई०) इसके कृषि-क्षेत्र का आँकड़ा निकाला और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि तन्तु-उत्पादक कृषि क्षेत्र, जिसमें स्वापक द्रव्य अत्यन्त उपलब्ध होता है, को निकाल दिया जाय तो कुल क्षेत्र मुश्किल से

६,००० एकड़ से अधिक होगा। तब से लीग आफ नेशन्स द्वारा स्वापक-भेपज का उत्पादन सीमित कर दिये जाने के कारण उस (कृषि-क्षेत्र) में बड़ा हास हुआ है। १९३५-३६ ई० के आंकड़े से पता चलता है कि मुश्किल से १,६०० एकड़ भूमि पर इसकी खेती होती है।

**रासायनिक सघटन** चरस का रसायन सबधी सबसे पहला महत्वपूर्ण कार्बन वुड, स्पीवी और ईस्टरफील्ड ((Wood, Spivey and Easterfield) (१८९६ ई०) द्वारा किया गया। उत्तर प्रदेश में उनको निम्नलिखित महत्वपूर्ण सघटक प्राप्त हुए (१) एक टर्पीन,  $C_{10}H_{16}$ , क्रथनाक १६५-१७५°, उपलब्ध लगभग १५ प्रतिशत, (२) एक सेस्कवीटर्पीन,  $C_{15}H_{24}$ , क्रथनाक २५८-५९°, उपलब्ध लगभग १७५ प्रतिशत, (३) अत्यल्प मात्रा में पैराफिन हाइड्रोकार्बन  $C_{29}H_{60}$ , गलनाक ६४°, और (४) एक विपालु लाल तेल या रेजिन  $C_{18}H_{24}O_2$ , जिसे कैनाविनॉल (Cannabiniol) कहा जाता है, क्रथनाक २६५°, उपलब्ध लगभग ३३ प्रतिशत। यह लाल तेल अर्द्ध ठोस पिण्ड में जम जाता है जो जल में अविलेय किन्तु ऐल्कोहाल, ईथर, बेन्जीन, ग्लेसियल ऐसीटिक अम्ल और साधारणतया कार्बनिक विलायकों में सरलता से विलेय है। इससे मॉनोएसीटिल (monoacetyl) और मॉनोबेंजोइल (monobenzoyl) व्युत्पन्न उपलब्ध हुए, जिससे यह प्रमाणित हुआ कि इसमें हाइड्रोक्सिल गण (hydroxyl group) उपस्थित था और इसीलिए इसे कैनाविनॉल को सज्जा दी गयी। उन्ह अन्वेषकों ने इसे इस भेपज का सक्रियतर्त्व समझा था और मार्शल (१८९७ ई०) ने स्वयं अपने तथा दूसरों के ऊपर शारीरक्रियात्मक परीक्षणों द्वारा यह दिखा दिया कि यही भेपज का सक्रिय तत्व है। तत्पश्चात् (१८९९ ई०) उन्होंने (उन्ह वैज्ञानिकों ने) दिखाया कि उनके द्वारा एकलित कैनाविनॉल कम से कम दो समान भौतिक गुणों वाले सघटकों का योग था। उन्होंने शुद्ध सघटक ( $C_{21}H_{28}O_2$ ) का नाम तो कैनाविनॉल रहने दिया (जो क्रिस्टलीय ऐसीटिल व्युत्पन्न गलनाक ७५°, से जल-अपघटन द्वारा प्राप्त किया गया) जब कि मौलिक अपरिष्कृत कैनाविनॉल, इसका तथा एक या अधिक निम्नतर अणु-भार (lower molecular weight) के यौगिकों का मिश्रण है। उन्ह अन्वेषकों ने शुद्ध कैनाविनॉल के अनेक व्युत्पन्नों और अपघटन द्वारा उपलब्ध पदार्थों पर विवेचन भी किया जिससे कैनाविनॉल की सभावित सरचना पर कुछ प्रकाश पड़ता है। बायर (Bauer, १९२७ ई०) ने यह निष्कर्ष निकाला कि कैनाविनॉल एस्टर (ester), अम्ल, ऐल्डहाइड (aldehyde), कीटोन (ketone) या फीनॉल (phenol) नहीं है अपिन्तु सम्भवतः, पॉलीटर्पीन (polyterpin) की प्रकृति का है। कान (Cahn, १९३०) महोदय ने कैनाविनॉलकटोन (cannabinolactone) के लिए ठीक

सूत प्रस्तावित किया, जो बुड़, स्पीवी और ईस्टरफील्ड द्वारा एकलित कैनाविनॉल के बोधटन से प्राप्त हुआ।

अन्य अन्वेषकों को म्पष्टत स्थिर वायरी रेजिन (constant boiling resins) उपलब्ध हुए हैं और इनसे यद्यपि केवल तैलीय व्युत्पन्न प्राप्त हुआ, फिर भी उन्होंने प्रत्येक योगिक को समाग (homogenous) घोषया है और उन्हे कैनाविनॉल की ज्ञान दी है और उनको भिन्न सूत्रो— $C_{20}H_{30}O_2$  [कैस्पेरिस (Casparis) १९२६, बर्गेल (Bergel) १९३०] और  $C_{21}H_{30}O_2$  [फान्केल (Frankel) १९०३, जर्किस (Czernis) १९०७]—से निर्दिष्ट किया है। कान (Cahn-१९३१ ई०) ने अभी हाल मे जो शोधकार्य किया है वह हशीग (गाँजा-भाँग) के ऐसे भिन्न-भिन्न नमूनों पर किया है, जिनके ठीक स्रोत का पता नहीं था, पर यदि नमूनों से जो फल प्राप्त हुआ वह समान ही रहा और इनकी पुष्टि कैनाविम सटाइवा के रेजिन से हुई जिसका भारतीय स्रोत निश्चित था। इनके (कान के) तथा बुड़, स्पीवी और ईस्टरफील्ड के शोधकार्यों से पता चलता है कि व्यथनाक की स्थिरता इन रेजिनों की समागता का प्रमाण नहीं मानी जा सकती और फैन्केल, जर्किस, कैस्पेरिस और बर्गेल द्वारा प्राप्त रेजिन सभी अपमिश्रण थे। कैनाविनॉल  $C_{21}H_{30}O_2$  नाम का प्रयोग केवल उस पदार्थ के लिए करना चाहिये जो ७५° गलानाक वाले एसीटिल व्युत्पन्न से उपलब्ध होता है और स्पष्टत स्थिर वायरी रेजिन को अपरिष्कृत कैनाविनॉल (Crude cannabinol) की सज्जा देनी चाहिए। टॉड (Todd, 1939) के अनुसार हेम्प के रेजिन मे अनेक सक्रिय सघटक मिलते हैं। निम्नलिखित योगिक क्रिस्टलीय रूप मे एकलित किये गये हैं। कैनाविनॉल, कैनाविडिओल, कैनिन और कैनावॉल। कैनाविनॉल की सरचना की संपुष्टि सश्लेषण द्वारा कर दी गयी है। उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त इस भेषज मे न्यून मात्रा में एक वामावर्त वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है, जिसमे टर्पीन और सेम्क्वीटर्पीन (कैनीवीन) रहते हैं। इनके अतिरिक्त कोलीन, डिगोनेलीन और कैलिसियम कार्बोनेट भी इसमे मिलते हैं। इससे लगभग १५ प्रतिशत राख तथा १० मे १८ प्रतिशत ऐल्कोहॉलीय निस्तार प्राप्त होता है। कहा जाता है कि भारतीय हेम्प सरक्षण की सावारण अवस्था मे रखे जाने पर दो वर्ष के बाद प्राय निक्रिय हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक आविसडेज एन्जाइम की जिया के फलस्वरूप इसमे निष्क्रियता उत्पन्न होती है।

### सुखाभारा के उद्देश्य से हेम्प भेषज का उपयोग

कैनाविस सटाइवा तथा इसके उत्पादो का प्रयोग स्वापक (नाकोंटिक) के रूप मे भारत मे दो प्रकार से होता है (१) धूम्रपान द्वारा (२) मुखद्वारा।

घूम्रपान के लिए व्यवहृत पदार्थ (Preparations used for smoking)-गाँजा का नाम हिन्दुस्तानी, बगाली, मराठी और पंजाबी में गाँजा ही है, तमिल में इसे गाँजायाला और तेलगू में बगी-अकू कहते हैं। स्त्रीकेसरी पीधो के उन शुष्क पुष्प-एवं फलमुण्डकों से, जिसमें मेरेजिन नहीं निकाला गया रहता, गाँजा निर्मित होता है। रिटेन को निर्यात किया जानेवाला चपटा या बम्बई गाँजा अभिशिजिट (agglutinated) चपटी राशियों में पाया जाता है जो हल्के हरे या हरिताभ भूरे रंग का होता है। रेजिन विल्कुल ही चिपचिपा (chip) नहीं होता पर सस्ता और भगुर होता है, और डसकी गध, जो ताजे भेषज में अत्यधिक रहती है, हल्की होती है। इन भेषज का स्वाद कुछ तिक्क होता है। यश्च-न्तत्र पण्डकार हेम्प के बीज भी इमर्में मिल नकते हैं। गाजा ऐवन कृपि द्वारा उत्पन्न पीधों में ही मग्नह किया जाता है। भारत सरकार की नीति अन्तातोगत्वा मध्ये म्वापक भेषजों को निषिद्ध कर देने की है, अत गाँजा के लिए कृपि-क्षेत्र धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। सरकार की ईयरेन में जो हेम्प बम्बई के अद्भुदनगर में मटे तीन छोटे-छोटे गाँवों में उत्पन्न होता है उससे भर्वीतम भेषज निर्मित होती है। गाँजा के उत्पादन के लिए पीधों को ऐसी भूमि में बोया जाता है जो उर्वर और तृण रहित हो तथा जिसे अच्छी तरह में तैयार किया गया हो और जिसमें प्रचुर परिमाण में साद डाली गयी हो। उष्णदेशीय आर्द्ध जलवायु में हल्की दोमट (loamy) अथवा दलुबर भूमि में इसकी घूब अभिवृद्धि होती है और सरीफ फलाल जी तरह जून अथवा जुलाई में बोया जाता है और दिसम्बर या जनवरी में काट लिया जाता है। उच्च अकुरणवाले बीज अस्मोड़ा तथा अन्य उपहिमालयीय प्रदेशों में उपलब्ध किये जाते हैं और ४ फुट की दूरी पर पक्कियों में बोये जाने हैं, प्रति एकड धीज ५ से ८ पौण्ड के भाव में बोये जाने हैं। जब पौधे २० सेण्टीमीटर ऊँचे हो जाते हैं तो उनमें में कुल पीधों को निकाल दिया जाता है ताकि गेष पौधे विरल हो जायें। वेत को हमेशा धास में साफ रखना चाहिये और योडे-योडे नमय पर रिचार्ड करनी चाहिये। जब पौधा बढ़ने लगता है तो नीचे की शाखाओं एवं टहनियों को तोट देना चाहिये ताकि पुष्पी शान्ताओं की वृद्धि अधिक हो सके। नवम्बर में यह पौधा फूलगे नगता है और पुकेनरी पीधों को काट या उखाट दिया जाना है क्योंकि उनमें रेजिन नहीं उत्पन्न होता। गाँजे के पीधे की कटाई तब शुरू होती है जब नीचे की पत्तियाँ झट जाती हैं और पुष्पवृत्त का अग्रभाग पीला होने लगता है। पुष्पों के मुण्डकों को काटकर निर्माणशाला में लाते हैं और छाये हुए प्रागण में मेंड और उथली नालियों के रूप में (in ridges and furrows) फैला देते हैं। उन मेडों को नमतल करके पैरों से रोदा जाता है जिससे पुष्पप्ररोह - दब्रकर ठोम बड़ल के रूप में हो जाते हैं। योडे-योडे समय के अनन्तर उसे

उलट-पुलट दिया जाता है, कुछ समय तक सूखने दिया जाता है और पुन पैरों से रींदा जाता है। तब उन्हे बटोरकर चपटी वृत्ताकार राशि में एकत्रित कर देते हैं—इसे 'चकड़ी' कहते हैं—और इस पर स्तर पर स्तर तव तक रखते जाते हैं जब तक ऊँचाई २-३ फुट नहीं हो जाती। इस चौकोर ठोस राशि को कुछ समय तक दबाकर रखा जाता है ताकि रासायनिक परिवर्तन की अभिवृद्धि हो। इन राशियों को पुन उलट कर तोड़ दिया जाता है और मोटे स्तर में फैला दिया जाता है और पैरों से रीदना आरम्भ कर दिया जाता है। चौथे दिन गाँजा इस रूप में तैयार हो जाता है कि उसका भण्डारण विशेष ढंग से बनायी गयी शालिकाओं (shades) में किया जा सके। वहाँ उसे चाल दिया जाता है ताकि उसमें धूल, पत्थर के टुकडे, बीज और पत्तियाँ आदि कुछ भी न रहने पाये और किर उसे गाँजा-विभाग, अहमदनगर को भेज दिया जाता है। पैरों से रीदने में कुछ कमी रह जाने से उनकी राशियाँ अधमूखी और ढीली रह जाती हैं और उक्त प्रक्रिया में थोड़ी सी भी असावधानी हो जाने से अच्छी कोटि का गाँजा नहीं तैयार हो पाता और उसका मूल्य घट जाता है। गाँजा दो प्रकार का होता है—(१) चपटा या बम्बई-गाँजा और गोल या बगाल-गाँजा। बगाल गाँजा के निर्माण में काटे हुए पुष्पों की शूकियों (स्पाइक) को पैर से रीदकर एक चपटा पिण्ड बनाने के बजाय सूखे पुष्पमुण्डकों को हथेलियों के बीच या पैर के नोचे धुमाकर उन्हे छोटे-छोटे गोल रम्भाकार पिण्ड में बना लिया जाता है। चपटे या गोल गाँजे के टूटे टुकडे एवं चूर्ण को 'चूर-गाँजा' या 'रोड़ा' कहते हैं। गाँजे की औसत उपज प्रति एकड लगभग २५० पौण्ड है किन्तु यदि फसल खूब अच्छी हुई हो तो ३५० पौण्ड और यदाकदा अपवादस्वरूप ४२५ पौण्ड भी पैदा हो जाता है। अच्छे किस्म (क्वालिटी) के गाँजे में कारबन टेट्राक्लोराइड द्वारा निस्सारण करने पर १५-२५ प्रतिशत रेजिन उपलब्ध होता है और राख १५ प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये। केनाविस वी पी सी में फल, बड़ी पत्तियाँ और ३ मिंट मिंट से अधिक व्यासवाले तने—ये सब १० प्रतिशत से अधिक नहीं होने चाहिये। अन्य बाह्य कार्बनिक पदार्थ (foreign organic matters) २ प्रतिशत से अधिक नहीं होने चाहिये, अम्ल-अविलेय राख अधिक से अधिक ५ प्रतिशत तथा ऐल्कोहॉल में विलेय पदार्थ १००° पर सुखाने के बाद १० प्रतिशत से अधिक नहीं होने चाहिये।

### गाँजे का धूमपान

जितना गाँजे का उत्पादन होता है उसका अधिकांश भाग धूमपान के रूप में व्यवहृत होता है यद्यपि भारत के कुछ भागों में यथा पुरी, मद्रास में यह थोड़े परिमाण में

आमयिक प्रयोग में भी आता है। धूप्रपान के लिए इसके निर्माण की प्रक्रिया बड़ी सरल है। थोड़ा ना, प्राय १ में २ ग्राम के लगभग, गाँजा लेकर बायें हाथ की हथेली पर रख लिया जाता है और उसको थोड़े से पानी से नम करके दाहिने हाथ के अंगूठे में उतनी देर तक भला जाता है जब तक वह चिपचिपा (लसदार) नहीं हो जाता। फिर इसमें जरा भा साधारण तम्बाकू (सुर्ती) मिलाकर चिलम पर पीते हैं। कहा जाता है कि इसको जितनी अधिक देर तक भला जाय, इसकी मादकता उतनी ही बढ़ती है, पर इस कथन में सन्देह है। हिन्दू साधु, यथा-जोगी, वैरागी और मुमलमान फक्त तथा भीखमगे गाँजे का अधिक उपयोग करते हैं। गरीब लोग और सभी प्रकार के भूत्य (नौकर-चाकर), यथा-मईम, घसिहारे, जुलाहे, मजदूर आदि, इसे पीते हैं। वह अपराधियों और ठगों द्वारा भी यात्रियों को पिलाया जाता है ताकि वे बेहोश हो जायें और तब उनकी सम्पत्ति लूट ली जाय। इस उद्देश्य से गाँजे को काले धतुरे के बीज तथा चीनी में मिलाकर इसकी मिठाई बना लेते हैं।

### चरस

इसके रेजिन को चरम कहते हैं, जिसमें समियतत्व रहता है और इस (रेजिन) को अलग से सग्रह किया जाता है। वस्तुत यह सान्द्रित रेजिन-निस्त्राव है, जिसे कैनाविस सटाइवा की पत्तियों और पुष्पमुण्डकों या पुञ्जीभूत जूकियों (gnulated species) से समृद्धि किया जाता है। इन बात का कोई प्रमाण नहीं है कि चरन को मैदानों में तैयार किया जाता है। इस देश में चरस तैयार करने की कई रीतियों का वर्णन किया जा चुका है। कभी-कभी चमड़े के वस्त्र या जैकेट पहन कर पुलप, सूर्योदय होते ही प्रात काल, जबकि ओम की नूदे प्राण चुकी रहती हैं, कैनाविस मटाइवा के खेत में, वस्त्रों को पौधों से रगड़ते, धर्षण करते हुए गुजरते हैं। इस क्रिया में पौधों में रेजिन उनके (चमड़ेवाले) वस्त्रों में चिपक जाता है जिसे उत्तरच लिया जाता है। इमी को व्यापार में गाँजा का रेजिन (नरस) कहते हैं। कुल्लू तथा पर्वतीय क्षेत्रों में, ऐसा कहा जाता है कि, पुष्पमुण्डकों को हथेलियों के बीच भला जाता है और जा रेजिन इस प्रकार हथेलियों में चिपक जाता है उसे खुरच लिया जाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि पौधों ने पैरों को रोदकर रेजिन एकत्रित किया जाता है। कभी-कभी पुष्पी शाखाओं का कपड़े के एक टुकड़े पर पीटा जाता है और जो धूसर श्वेत चूर्ण इस प्रकार गिरता है उसे एकत्रित कर निया जाता है।

यारकन्द में कैनाविस सटाइवा खूब उत्पन्न होता है और तुर्किस्तान के बोखारा तथा अन्य स्थानों में इसकी खेती भी बड़े पैमाने पर की जाती है। रूमियों ने कुछ वर्ष

पहले अपने देश में इसकी सेती वर्जित कर दी और अब जो कुछ उम देश में आयातित होता है वह यारकन्द से । वस्तुत भारत में जो भी चरस आता है वह कश्मीरराज्य के लेह से होकर तथा थोड़ा कुर्लू में होकर आता है । इसके (चरस के) सग्रहण के लिए लेह में एक कोष्टागार (depot) की स्थापना की गयी थी । आवकारी प्राधिकारी (Customs Authorities) के प्राक्कलन (estimate) के अनुसार १८९२-९३ ई० में कुल आयात ५,००० मन हुआ था, किन्तु यह वर्ष अपवादस्वरूप था । सामान्यतया ३,००० में ४,००० मन आयात होता था ।

**भाँग** —भाँग, सिंदि, मब्जी या पत्ती कैनाविम सटाइवा की सूखी पत्तियों को कहते हैं, जिन्हे पुकेसरी या स्त्रीकेसरी पीघो से एकत्रित किया जाता है, चाहे ये पौधे खेती द्वारा उत्पन्न किये गये हो या स्वयंजात हो । “भाँग” शब्द कभी-कभी स्त्रीकेसरी पुष्पमुण्डकों तथा पीघे की पत्तियों के लिए भी व्यवहृत हुआ है तथा हरी और सूखी पत्तियों के लिए भी । यह भी भम्भव है कि पुकेसरी पुष्पमुण्डक भी भाँग में मिले हुए हो, क्योंकि भाँग तैयार करने की रीति वडी अपरिष्कृत है—पीघे को सुखाकर डड़े से पीटकर या कड़ी जमीन पर पटककर उसकी पत्तियाँ अलग कर लेते हैं इसे अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि पुकेसरी पुष्प गुण में पत्तियों की अपेक्षा अधिक स्वापक नहीं होते जब कि स्त्रीकेसरी पुष्पमुण्डक अधिक स्वापक होते हैं ।

नामान्यतया भाँग का नाम सब्जी से बने पेय को दिया गया है । गाँजे को पीसकर पेय बना लिया जाता है, जैसा पुरी में गढ़जात गाँजे का बनाया जाता है—और उसे भी भाँग कहा जाता है । इसी कारण से भारत के अनेकों भागों, विशेषकर दक्षिण तथा पश्चिम में गाँजा और भाँग में कोई अन्तर नहीं रह गया है । यहाँ भाँग की सज्जा इसके उपभोग की एक सबसे सरल प्रक्रिया को, अर्थात् पीमने और पीने को दी गयी है जो कि निश्चय ही इसके स्वापक व्यवहार के विकास में धूम्रपान के पूर्व आरम्भ हुई होगी । यद्यपि “भाँग” अधिक व्यापक शब्द है और उत्तरी भारत में प्राय गाँजे को भी इसी में सम्मिलित कर लिया जाता है, पर दक्षिण भारत में ‘गाँजा’ शब्द अधिक प्रचलित है और कुछ स्थानों में तो ‘भाँग’ का भी इसी में समावेश हो जाता है । दक्षिण भारत में ‘भाँग’ नाम कोई जानता भी नहीं । भाँग का व्यवहार या तो वैसे ही (पत्ती के रूप में) या द्रव फाट के रूप में किया जाता है । भाँग के उपयोग का सबसे सरल तरीका यह है कि उसे ममाले (काली मिर्च—अनु०) के साथ पीस लिया जाता है और गोली बनाकर निगल जाते हैं मिठाई के रूप में भी इसका उपभोग किया जाता है । बनी हुई मिठाई को ‘माजूम’ कहते हैं । इसके बनाने का ढग यह है कि भाँग की पत्तियों को पीसकर चीनी में मिला दिया जाता है फिर उसे बर्फानुमा चौकोर काट दिया जाता है ।

भाँग दोनों प्रकार के पौधों से तैयार की जाती है—अधिकतर स्वयजात पौधों से तथा थोड़े परिमाण में कृषि द्वारा उत्पादित पौधों से। पौधे को काटकर धूप तथा ओस में बारी-बारी से रखा जाता है। जब पत्तियाँ सूख जाती हैं तो उन्हें (पीटकर) अलग कर लिया जाता है और मिट्टी के बर्तन में दबाकर सुरक्षित रख देते हैं। गाँजा बनाने में पैरों से रौद्रते समय जो चूरा, कचरा गिरा बचा रहता है उसे भी भाँग कहते हैं। भाँग बनाने के लिए पत्तियों को सगृहीत करने का समय भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न है, पर सामान्यतया इसके सग्रहण का समय कम ऊँचाई वाले प्रदेशों में मई और जून है तथा ऊँचे प्रदेशों में जून और जुलाई है। कुछ स्थानों से उपलब्ध होनेवाली भाँग (अन्य स्थानों की अपेक्षा) उत्तमकोटि की मानी जाती है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि खेती करके उपजाये हुए भाँग के पौधे से अधिक उत्तम गुण (Superior quality) का भेषज तैयार होता है।

सुखाभास (Euphorbia) के उद्देश्य से हेम्प-भेषजों का व्यवहार एशिया तथा अफ्रीका में अतिप्रचलित है। यह निर्विवाद रूप से तय हो चुका है कि मादकता लाने के लिये कैनाविस का उपयोग सर्वप्रथम एशिया में आरम्भ हुआ। इससे यूरोप तथा सुदूर पूर्व के देश अब तक कुछ कम प्रभावित रहे हैं। भूमध्यसागरीय समस्त पूर्वी छोर तथा अफ्रीका के उत्तरी भाग में, जो अटलाण्टिक महासागर तक चला गया है, भाँग पीने की प्रथा (चलन) धीरे-धीरे फैल गयी है। अफ्रीका का पूर्वी तट भी इससे नहीं बचा है और महाद्वीप के मध्य भाग में तो इसका इतना प्रभाव हो गया है कि इससे एक प्रकार का खतरा उत्पन्न हो गया है जिसे रोकना कठिन जान पड़ता है। यह अमेरिका (जमेका, ब्रैजील, मैक्सिको, सयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा) तक पहुँच गया है जहाँ इसका सिगरेट के रूप में मैरिहुआना (Marijuana) नाम से वूम्रपान किया जाता है। वस्तुतः, सयुक्तराज्य अमेरिका के अल्पवयस्क नवयुवकों के बीच मैरिहुआना का वूम्रपान एक बहुत बड़ी समस्या होती जा रही है। मिस्र-निवासी कैनाविस सटाइवा से निर्मित हशिश (चरस) का वूम्रपान करते हैं। इस भेषज का व्यवहार उत्तरी अफ्रीका में ट्रिपोली स मोरक्को तक बहुत अधिक होता है और इन भागों में यह अफ्रीम की अपेक्षा अधिक पसन्द किया जाता है। सम्पूर्ण अंतीरिया में हशिश का वूम्रपान अत्यधिक प्रचलित है। इसकी जादत प्राय गरीबों, यथा—ऊँटहारों तथा खच्चरवालों में पायी जाती है। अफ्रीका के पश्चिमी तटवासियों में छिटपुट स्थानों में इसके प्रति आसक्ति है, पर कागो निश्चो जाति में, वाहे वह जहाँ कही भी रहती हो, यथा-लाइवेरिया—यह आसक्त और अधिक दिखायी पड़ती है। वे इसकी खेती करते हैं और इसकी हरी या सूखी पत्ती को पाइप (चिलम) पर कोयले का अगारा रखकर पीते हैं। लोआगो तट पर

हेम्प की पत्तियों एवं बीजों को पानी की नलियों के छोटे टुकड़ों में (water-pipes) रखकर पीते हैं। उससे और दक्षिण हॉटेनटाटाम (Hottentots), बुशमेन (Bushmen) और काफिरों (Kaffirs) के बीच हेम्प का धूम्रपान एक भर्वप्रिय प्रथा हो गयी है। उसे या तो अकेले ही वे पीते हैं या तम्बाकू के साथ। पूर्वी अफ्रीका में भी, ज़ीलों के बीच के क्षेत्र को छोटकर, हेम्प का धूम्रपान वहु प्रचलित है। वे स्वयं कृपि द्वारा जो हेम्प उत्पन्न करते हैं उभी का धूम्रपान करते हैं। हेम्प की खेती पहले टर्की में सूबे हुई, किन्तु गत शताब्दी के अन्त में इसका निषेध कर दिया गया पर उसमें इसका प्रचलन उपयोग नहीं बन्द हो गका। हेम्प ने बनाये हुए एमरार (Esrar) नाम के पदार्थ का तम्बाकू के माथा धूम्रपान किया जाता है। हेम्प को दूसरे रूप में चवाकर भी जाया जाना है। शीरिया में हेम्प की खेती होती है और उसमें रेजिन सावधानी पूर्वक नगृहीत कर लिया जाता है। दमास्कस में कई ऐसे स्थान हैं जहाँ अफ्रीम तथा हृशिश का धूम्रपान किया जाता है और फार्न में भी यही बात पायी जाती है। उज्ज्वेक तथा तातार हेम्प के बटे ही आदी होते हैं।

भारत में हेम्प का व्यवहार बहुव्यापक है। बगाल और विहार में गाँजा का धूम्रपान बहुतायत से होता है और भाँग का उपयोग कम होता है, उत्तरप्रदेश में गाँजा, भाँग, चरस तीनों का व्यवहार बहुत अधिक होता है। पजाव में चरस और भाँग का अत्यधिक उपयोग होता है, भिन्न में भाँग का अत्यधिक उपयोग होता है और गाँजा तथा चरस का कम। बम्बई और मद्रास तथा मध्यभारत में गाँजे की खपत बहुत अधिक होती है और भाँग की कम तथा चरस की बहुत कम। कुछ भागों में भाँग का व्यवहार सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से होता है। भारतीय हेम्प इरस कमीशन (१९९३-९४ ई०) ने निष्कर्ष निकाले थे कि हेम्प का परिमित उपयोग किसी प्रकार की जारीरिक क्षति नहीं पहुँचाता। उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला था कि इसका परिमित उपयोग मस्तिष्क पर किसी भी प्रकार का हानिकर प्रभाव नहीं डालता। लोगों का यह विश्वास कि हेम्प से आदमी पागल हो जाता है कमीशन के सामने उपलब्ध आंकड़ों (१९९२) में प्रमाणित नहीं हो सका। कमीशन का यह भी कहना था कि इसका परिमित उपयोग किसी प्रकार की नैतिक हानि नहीं पहुँचाता और इस कथन पर विश्वास करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि हेम्प उपभोक्ता के चरित्र पर गलत प्रभाव डालता है। हाँ, इसका अत्यधिक परिमाण में सेवन करने से शारीरिक एवं बौद्धिक हास होता है तथा मनुष्य में चारित्रिक दुर्बलता एवं भ्रष्टता उत्पन्न हो जाती है जो धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। इसके अतिरेक से आत्मसम्मान की भावना क्षीण हो जाती है, फलतः नैतिक पतन हो जाता है।

**मनोवैज्ञानिक प्रभाव :** चोपडा और चोपडा ( १९३९ ई० ), भारत में भेपज-व्यनन का एक विस्तृत एवं व्यापक नवेक्षण करके निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे— “स्वापक एवं शामक उद्देश्य से हेम्प-रेजिन का उपयोग प्राचीन एवं व्यापक है। हेम्प-भेपज का उपयोग मुख्यतः सुखानाम ( Euphoria ) के उद्देश्य से समूचे विश्व में होता है। उसके नेवन में गर्कान दूर होती है, नोट लेव आती है और बैचेनी से राहन मिलती है। अन्यमात्रा में नेवन उत्तरने से भूस बढ़ती है, जो कभी-कभी तो इतनी बढ़ जाती है कि केवल भोजन में उभली तूसि नहीं होती। उसके नेवन में पानन बढ़ता है, पर कठिन्यत भी हो जाती है। यदि वहूत दिनों तक नगातार नेवन किया जाय तो भूम्ब मारी जाती है और आमधिक विकार पैदा हो जाता है। हेम्प भेपज मूल्यतः प्रभन्तिक ( Cerberus ) पर प्रभाव आलता है, और उन किया में उनका अफोम एवं ऐन्कोहॉल के मदृग प्रभाव होता है। व्यक्तिवैनशण्य एवं निर्मित पदार्थों ( बीपधियों ) के शक्तिवैभिन्न के कारण उनकी किया ( प्रभाव ) अनिश्चित होती है। अफीम, मारफीन या हेरोइन के स्वानेवाले ( व्यानो ) को भेपज की आवश्यकता उनलिए होती है कि वह अपने को नामान्य म्यति में रख सके, इनके अतिरिक्त, हेम्प-भेपज-नर्दी उमी आनन्दात्मक स्त्वति में बना रहना चाहता है जिनमें भेपज उभे पूर्णता है। उसकी यह आवश्यकता अधिकार्थत मनोवैज्ञानिक है, यदोकि यदि उसे हेम्प न नेवन करने दिया जाय तो उसमें कोई विशेष शरीरक्रियानन्वन्धी व्यवहार नहीं परिलक्षित होता। मायूआ एवं भिगारियों के कुछ वर्गों में नज़िे का धूम्रपान गार्वभीम हो गया है। यदि बार-बार पिया जाय तो नशा चढ़ जाता है और आत्मसंयम जाता रहता है। नशे में मरन आदमी बाचाल एवं हैमोट हो जाता है, आत्मसंयम भी बँठता है और अन्त में जाग्रत अवस्था में ही नित्तविभ्रम ( delirium ) जैसा प्रलाप करता है। इसीलिए हेम्पभेपज को सुगमाभानक ( euphorics ), उत्तामप्रद ( euphoriants ), चित्त-विभ्रामक ( deliriant ) और निद्राजनक ( hypnotics ) कहा जाता है। अधिक मात्रा में वे स्त्रविधि ( निष्ठव्याटता ) उत्पन्न करते हैं तातुपरान्त मूर्च्छा और हृदयातिपात ( cardiac failure ) ने मूल्य हो जाती है। गर्जे का अत्यधिक धूम्रपान, खासतौर से उन लोगों द्वारा जिन्होंने अभी पीना शुरू ही किया है, मनुष्य के मानसिक विकार पैदा करता है और उसको विकिप्त और पागल तक बना देता है। हेम्प भेपज में बैदेनाहर गुण भी होता है यद्यपि अफीम तथा बैलागेना से कम। रक्त परिसचरण एवं श्वसन-क्रिया में कोई विशेष परिवर्तन नहीं लक्षित होता, यद्यपि पिंगी हुई भाँग को धोलकर पीने से प्रचुर मूत्रलता का होना बताया जाता है। डॉ जे० बूके ( Dr J Bouquet—१९५१ ई० ) का ऐसा कथन है कि कैनाविम एक ऐसा भेपज है जो मस्तिष्क पर

अत्यधिक प्रभाव ढालता है। यह कल्पनाशक्ति को अत्यधिक उत्तेजित करता है और स्मरणशक्ति को असाधारण रूप से उद्दीप करता है, इनके अतिरिक्त यह उल्लास, वैश्व एव आनन्द की स्थिति उत्पन्न करता है जो सेवन करनेवालों के लिए अत्यधिक आकर्षक होती है।

**गुण तथा उपयोग.**—कैनाविस का उपयोग बेदनाहर, निद्राजनक एव व्याकुलता-निवारक औषधि के रूप में होता है। इसके चिकित्सीय प्रभाव की बहुत कम निश्चित जानकारी है पर ऐसा कहा जाता है कि कुछ लोगों में यह सुखाभास (यूफॉरिया) पैदा करता है और प्राय अर्धशिर पीड़ा (अधकपारी) से मुक्ति दिलाता है। इस भेषज के व्यापक उपयोग में सबसे बड़ी वाधा इसके विभिन्न नमूनों का शक्ति-वैधिक्य है। समय-समय पर इस भेषज से निर्मित असाधारण शक्तिवाले द्रव्यों (औषधियों) के अनिष्टकर प्रभाव के कारण चिकित्सक इसकी विनिहित मात्रा के प्रति भी अत्यधिक सावधान रहते हैं। इसके मात्रा-निर्धारण का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि पहले इस भेषज से निर्मित द्रव्य को आरोही (क्रम से बढ़ते) परिमाण में दिया जाय जब तक कि इसका प्रभाव परिलक्षित न हो जाय।

**उत्पादन और व्यापार.** भाँग वन्य अवस्था में उगे हुए पौधों से उपलब्ध होती है, अत इसकी खेती के क्षेत्रफल का ठीक-ठीक आंकड़ा नहीं दिया जा सकता। चरस भारत में नहीं पैदा होता। पहले इसका आयात मध्य एशिया (यारकन्द) से होता था, पर अब बन्द हो गया है। गाँजा ही ऐसा उत्पाद है जिसके लिए कैनाविस की खेती अनुज्ञासि (लाइसेन्स) प्राप्त करके की जाती है। बगाल, विहार, मध्यभारत और बम्बई में गाँजे के खेत का कुल क्षेत्रफल ५३८ हेक्टेयर्स प्राक्कलित किया गया था। मद्रास में गाँजा तथा भाँग दोनों का सयुक्त क्षेत्रफल (जिसका अगल-अलग आंकड़ा नहीं उपलब्ध है) ११२५ हेक्टेयर्स था। हेम्प की अवैध खेती शायद ही कही पायी जाती हो।

**भारत में हेम्प भेषज का उत्पादन एव उपभोग**  
क्षेत्रफल, जिस पर हेम्प की हेम्पभेषज जो उपलब्ध हुआ हेम्पभेषज जो प्रयुक्त हुआ  
खेती की गयी (हेक्टेयर्स) (किलोग्राम) (किलोग्राम)

तन्तु (रेशे) के लिए भेषजके लिए गाँजा	भाँग	गाँजा	भाँग	चरस
१९४४ ई० ११० ५ ६५० ५	४१०,५०९	६४६,७००	२०३,६८४	४३९,२१६ ५६५
१९४५ ई० ,	६१३	४१६,८०७	६३८,०७२	२२८,८४७ ५२४,३७७ ४९
१९४६ ई० ,	४३८	३२३,५३७	२१४,६१८	२१४,६६० ४३८,६३० —
१९४७ ई० ,	२०७	१४९,०३७	२१०,६३९	१५३,५६० २०५,६६८ —

बगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और मध्यभारत में इस भेषज का उपयोग गांजे के रूप में सर्वाधिक होता है और भाँग का उपयोग केवल अल्पमात्रा में होता है। पंजाब में चरस और भाँग दोनों का उपयोग होता है, जब कि उत्तर प्रदेश में तीनों का ही व्यवहार होता है।

### सन्दर्भ :—

(1) Report, Hemp Drugs Commission, 1893-94, (2) Lewin, L, 1931 Phantastica, (3) Wealth of India Raw Materials, 1950, 11, 58, (4) Yegna Narayan Iyer, A. K., 1944, Field Crops of India, 479, (5) Trease, G E, 1952, Text Book of Pharmacognosy, 212, (6) Todd, A R, 1943, The Hemp Drugs, Endeavour, 68, (7) Mukerji, B, 1953, Indian Pharmaceutical Codex, 1, 50, (8) Bouquet, J, 1951, Cannabis, Bulletin on Narcotics 111, 1, 22, (9) Chopra, R N and Chopra, G S, 1939, The Present Position of Hemp Drugs Addiction in India, Ind Jour Med Res (Memorandum No 31), Calcutta, (10) Report, Traffic in Opium and other Dangerous Drugs, 1944, (Government of India)

### कैरम कार्वी (अम्बेलिफेरी )

*Carum carvi* Linn (Umbelliferae)

कैरावे सीड (The Caraway Seed)

नाम—स०—सुषवी (इसे 'कृष्ण जीरक' और मगरैला को 'सुषवी' कहते हैं—अनु०), फा०—करोया, अ०—करोया, कराव्या, हि०—शियाजीरा, (स्याह जीरा), जीरा, व० जीरा, प० जीरा—स्याह, त०—शिमाइ-शेम्बू, ते०—शिमाइसापू, सि०—कालूदुरू, कश्मी—गुन्धुन, बम्ब०—विलायती—जीरा।

स्याह जीरा दोनों गोलादृधों के गर्म प्रदेशों में बहुतायत से पाया जाता है। यह उत्तरी और मध्य यूरोप से लेकर काकेशस, फारस, तिब्बत और साइबेरिया तक पैदा होता है। यह हिमालय के उत्तरी प्रदेशों में बन्ध अवस्था में पैदा होता है। इसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए भोजन के मिरचादि व्यजन के रूप में तथा अपूर्णगाला (वेकरी) में बनाये गये पदार्थों और कुछ प्रकार के पनीरों में मसाले के रूप में होता है। इस महत्त्व के कारण इसकी खेती विश्व के अनेक भागों-यथा, मोरक्को, जर्मनी, नार्वे, उत्तरी अमेरिका, हालैण्ड, रूमानिया आदि में की जाती है। भारतवर्ष में इसकी

खेती जाडे को फसल के रूप में मैदानों में तथा गर्मी की फसल के रूप में पहाड़ियों पर यथा,—वालितस्तान, कश्मीर, कुमार्यौ, गढ़वाल, चम्बा आदि में ९,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर की जाती है।

इन वीजों से एक मूल्यवान वाष्पशील तेल, जिसमें कार्बोन (Carbone) पर्याप्त मात्रा में होता है, प्राप्त होता है। यह तेल रगविहीन या हल्के पीले रंग का होता है जिसमें तेज गन्ध एवं जीरा के फल का सुवास होता है। इसमें तेल की उपलब्धि ३.५ प्रतिशत से ५.२ प्रतिशत तक होती है जो पूरे खडे वीज से किये हुए आसवन अथवा मोटे पिसे हुए चूर्ण से किये हुए आसवन पर निर्भर करती है। इसमें ८ से १२ प्रतिशत स्थिर तेल, प्रोटीन, कैल्सियम ऑक्जलेट, रजक द्रव्य (colouring matter) और रेजिन भी उपलब्ध होता है। वाष्पशील तेल में कार्बोन, जो एक कीटोन है और लिमोनिन, जो एक टर्पीन है, पाया जाता है एवं अल्पमात्रा में डाइहाइड्रोकार्बोन, कार्बिअॉल, डीहाइड्रोकार्बिअॉल होता है। यदि ऐसा तेल प्राप्त करना हो जो ऐल्कोहॉल में अत्यन्त विलेय हो तथा जिसमें कार्बोन अधिक परिमाण में हो तो पूरे वीज का उपयोग करना चाहिये। वन्य अवस्था में उत्पन्न स्याह जीरा के वीजों से आसवित तेल का आपेक्षिक गुरुत्व अधिक होता है और इसलिए अधिक पसन्द नहीं किया जाता। औषधि में इसका प्रयोग कम ही होता है, पर शराब को सुस्वादु बनाने के लिए, सावुन को सुगन्धित करने के लिए और इत्र-तेल व्यवसाय में इसका उपयोग अधिकतर होता है। कश्मीर के भिन्न-भिन्न स्थानों से उत्पादित स्याह जीरा में उपलब्ध तेल की मात्रा निम्नलिखित पाठी गयी (चोपडा १९४७ ई०)।

तेल को उपलब्धि	आपेक्षिक घनत्व	वर्तनाक २० सें० पर
वागवानपुरा (५,५०० फुट)	४.३ प्रतिशत	० ९०९५ १५ सें० पर १.४९१
गुरेज (७,९०० फुट)	६.८ प्रतिशत	०.८९०२ १५ सें० पर १.४८६
स्कार्ह (७,७०० फुट)	८.५ प्रतिशत	० ८९०७ १५ सें० पर १.४८५

स्याह जीरा तेल का उपयोग मुख्यतः सुवासन के उद्देश्य से होता है और औषधि में वातानुलोमक के रूप में। इसका उपयोग कुछ औषधियों के उत्त्वेशकारक और पेट में भरोड़ लानेवाले प्रभाव को दूर करने के लिए होता है। खाज (Scabies) के इलाज के लिए चिकित्सकों ने स्याहजीरा के तेल ऐल्कोहॉल और रेडी के तेल का घोल विनिहित किया है। कार्बोनरहित तेल, जिसमें नाम मात्र के लिए कार्बोन रहता है, बाजार में स्याह जीरा के हल्के तेल के नाम से बेचा जाता है जो सस्ते सावुनों को

सुगन्धित करने के काम आता है। मान्य तेल में कम से कम ५३ से ६३ प्रतिशत कार्बों होना चाहिये।

**कृषि** इस पौधे के लिए शुष्क जलवायु अपेक्षित है। इसकी अभिवृद्धि अच्छी जोतो हुई भूमि में, जिसमें ट्यूमस (पत्ती आदि की खाद) पर्याप्त मात्रा में हो, अच्छी होती है। इसकी लवाई छीटकर या पक्कियों में जो १२ इच्छी की दूरी पर हो, की जा सकती है। यह एक द्विवर्षीय पौधा है, फिर भी इसकी खेती वार्षिक पौधों के साथ जैसे, वामन मटर (dwarf peas), सरसों या साग पत्ती वाली फसल (field leaves) के साथ की जा सकती है। पकने से पहले ही फलों को एकत्रित कर लिया जाता है। भलीभाँति पके हुए फल की भी लवाई की जा सकती है। पौधों को सुखाकर फल को पीट लिया जाता है। फलों की उपलब्धि ६ से १६ हेक्टरेट तक होती है जो भूमि की प्रकृति पर निर्भर करती है।

स्याहजीरा की खेती हालैण्ड में खूब होने लगी है। स्याहजीरा की खेती का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन क्रमशः बढ़ता जा रहा है और १९२६ ई० में ४,५००० टन बीज की उपज हुई थी। १९२७ ई० में स्याहजीरा की कुल निर्यात ६०,००,००० किलोग्राम हुआ था जिसे मुख्य उपभोक्तादेशों—जर्मनी, सयुक्त राज्य अमेरिका, जैकोस्लोवाकिया, ग्रेटब्रिटेन आदि में भेजा गया था। स्याहजीरा एवं उससे निकाले हुए तेल का उपयोग इन देशों में उपर्युक्त विभिन्न औद्योगिक कार्यों में होता है। भारतवर्ष में वन्य अवस्था में उत्पन्न स्याहजीरा बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हो सकता है यदि इसकी फसल को दूरस्थ स्थानों से संग्रहीत करने की उचित व्यवस्था की जाय। इसमें परिवहन-व्यवस्था अत्यधिक होता है जो व्यापारिक दृष्टि से लाभग्रद नहीं है। भारत में व्यापक पैमाने पर इसकी खेती की जाय तो अर्थ-लाभ हो सकता है क्योंकि इसकी खपत बढ़ते हुए सावुन, सौदर्य प्रसाधन और परिमल उद्योग में तुरन्त होगी।

### सन्दर्भ :—

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co , 1928, Report, (3) Wealth of India, Raw Materials, 1950, 11, 88, (4) Chopra et al, 1947, Jour, Sci Industr Res, 6, 12, (5) Schmidt, E, 1950, Ber, 83 (2) 193, (6) Trease, G E, 1952, A Text Book of Pharmacognosy, 444

### कैरम कॉप्टिकम (अम्बेलिफेरी)

**Carum copticum Benth & Hook f (Umbelliferae)**

पर्याय :—ट्रैकिस्पर्मम अम्मी (*Trachyspermum ammi* Linn) Sprague  
बिशौप्स बीड, लैवेज, आजवा सीड्स (The Bishop's Weed, Lovage, Ajava Seeds)

नाम .—स०-यवानी, हि०-अजवायन, व०-जोवान, वम्ब०-अजवान, ओवा, त०-  
ओमन, ते०-ओमम, अ०-कोमूए मुलूकी, फा०-जिनियान, नानखवाह

### क्यूमिनम साइमिनम (अम्बेलिफेरी)

**Cuminum cymimum Linn. (Umbelliferae)**

क्यूमिन (Cumin)

नाम—स०-जीरक, जीरा, अ०-कमूना, फा०-जीरा, हि०-जोरा, जीरा, व०-जीरा  
म०-जिरेगिरे, त०-सीरागम्, ते०-जिलकारा, जीरका, कन्न०-जीरिंगे, मल०-जोरेकम, प०-  
जीरा सुफेद, सिं०-जीरो ।

भारत में अजवाइन के बीज और जीरा के सूखे फल थाइमॉल के समृद्ध ज्ञात हैं,  
यद्यपि ओरिगैनम (*Origanum*) एवं ओसिमम (*Ocimum*) के स्पीशीज, तथा मेन्था विरिडिस  
(*Mentha viridis*) और थाइमस सर्पिलम (*Thymus serpyllum*) से उपलब्ध वाष्पशील  
तेल में भी थाइमॉल पायी जाती है । थाइमॉल अथवा थाइम कपूर अनेकों पौधों से  
मिलने वाले वाष्पशील तैलों में पाया जाता है । उन पौधों में सर्व प्रमुख है थाइम  
अथवा थाइमस वल्गैरिस (*Thymus vulgaris* Linn.) इसकी पत्तियों एवं पुष्प-मुण्डकों से  
सामान्यतः थाइमॉल आसवित किया जाता है । यह थाइमस जिंगिस (*T. Zygis* Linn.)  
से भी निकाला जाता है । थाइमस वल्गैरिस सदा हरा रहने वाला एक छोटा पादप है ।  
जो लैबिएटी (Labiateae) कुल के अन्तर्गत है । यह स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस और इटली  
का पौधा है, पर यूरोप और अमेरिका के अन्य भागों में भी और खासकर न्यूयार्क-  
राज्य और जर्मनी में इसकी व्यापक पैसाने पर खेती की जाती है । अधिकाश वाणिज्यों-  
पर्यागी वस्तु जर्मनी निर्यात करता है । मोनार्डा पंकटैटा (*Monarda punctata* Linn.),  
(लैबिएटी कुल) के तेल में भी ६० प्रतिशत थाइमॉल उपलब्ध होता है और मोनार्डा  
डाइडिमा (*Monarda didyma* Linn.) में भी । उक्त दोनों ही पौधे उत्तरी अमेरिका  
के हैं । इनके अतिरिक्त थाइमॉल, पिपेरिटोन (*Piperitone*) से भी निर्मित किया  
जाता है जो आस्ट्रेलिया के मिट्टेमी (*Myrtaceae*) कुल की चौड़ी पत्तियों वाले पेपरमिन्ट  
यूकैलिप्टस ऑलिव्स (*Eucalyptus olives*) के वाष्पशील तैल में पर्याप्त मात्रा में उप-

लब्ध होता है, और सिद्धोनेलॉल से भी निर्मित किया जाता है जो दक्षिण एशिया के गैमिनो (Graminae) कुल के सिद्धोनेला धास, सिम्बोपोगॉन नार्डस (*Cymbopogon nardus* Linn,) के वाष्पशील तैल से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है।

इस सम्बन्ध में कैरम कॉप्टिकम (पर्याप्ति-ट्रैकिस्पर्मम अमी) के बीज विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अजोवान, (अजवायन) जैसा इसका नाम है, भारतीय चिकित्सा में अतिसार, अतानी-अर्गिनमान्द्य ( atonic dyspepsia ) हैंजा, उदर शूल, आघ्नान ( flatulence ), अजीर्ण ( अपाचन ) आदि में बहुत दिनों से प्रयुक्त होती आयी है। इसमें वातानुलोमक, उद्दीपक, टॉनिक और उद्वेष्टरोधी गुण होते हैं। इसके फल की महक सुगन्धित होती है और यह स्वाद में तीक्ष्ण ( pungent ) होता है। पान-सुपारों के साथ अथवा अकेले ही चबाने के काम में लाया जाता है। इसके फल में २ से ४ प्रतिशत सफेद से लेकर भूरे रंग का वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है जिसमें ३५ से ६० प्रतिशत थाइमॉल रहता है। इसके तैल से थाइमॉल के क्रिस्टल सरलता से प्राप्त होते हैं जो भारत में 'अजवायन के फूल' के नाम से बिकता है। तैल के अवशेष भाग में पैरा-साइमीन, अल्फा-पाइनीन, डाइपेण्टीन, अल्फा-टर्पिनीन और कार्बोक्रॉल रहता है। यह मिश्रण थाइम के तैल के सदृश होने के कारण व्यापार में थाइमीन नाम से जाना जाता है। अजवायन का शुद्ध या थाइमॉल-रहित तैल भारत में पूतिरोधी और सुगन्धित वातानुलोमक के रूप में व्यवहृत होता है इसका प्रभाव तथा उपयोग थाइमॉल के सदृश होता है जो एक शक्तिशाली पूतिरोधी है और जिसका चिकित्सा में विविध प्रयोग होता है, यथा-ज्ञुकाम और चर्म रोग के इलाज में तथा मुख प्रक्षालक और आन्त्र कृमिधन के रूप में। कभी-कभी इसका उपयोग सावुन में तथा परिमल में भी किया जाता है।

जीरे का जल वह जल है जिसमें से वाष्पशील तैल तथा थाइमॉल भाप के आसवन से निकाल लिया जाता है। इसका उपयोग भारत में सामान्यतः वातानुलोमक के रूप में होता है और विश्वास किया जाता है कि आघ्नान और मरोड में, खासकर बच्चों के लिए यह बड़ा उपयोगी होता है।

जिस फल से वाष्पशील तैल निकाल लिया जाता है उसमें २० प्रतिशत वसीय तैल और १५ से १७ प्रतिशत प्रोटीन रहता है। इसलिए रेचित ( exhausted ) फल का व्यवहार पशुओं के चारे के लिए किया जा सकता है, जैसा जर्मनी में किया गया है। जर्मनी से आयातित ताजी वृटी में ० १२ प्रतिशत पीत-भूरा सगध तैल उपलब्ध होता है, जिसमें कुछ फिलैंड्रीन (Phellandriene) और लगभग १ प्रतिशत थाइमॉल प्राप्त

होता है। भारतीय वृटी में, ऐसा बताया गया है, अल्प मात्रा में अल्का और बीटा फिलेण्ड्रोन और एक पैराफिन जिस पर अन्वेषण नहीं हो पाया है, उपलब्ध होता है।

यह पौधा (कैरम कॉस्टिकम) सारे भारत में पैदा होता है और इसकी खेती भी की जाती है, यह मुख्य रूप से इन्दौर में तथा उसके चारों ओर हैदराबाद (डेकन) में प्रचुर मात्रा में होता है। हैदराबाद में लगभग ७,००० से ८,००० एकड़ भूमि में इसकी खेती होने की सूचना मिली थी और १ से १५ लाख रुपये की कीमत की अजवायन का प्रत्येक वर्ष निर्यात किया जाना बताया गया था। वडे बीज वाली किस्म मुख्यत घरेलू उपयोग में लायी जाती है। यह कुर्नल, गुण्टकुल जिले में पैदा होती है। इसकी खेती बगाल, मध्य-प्रदेश और मध्य भारत में भी की जाती है। यह भारत में अक्टूबर से नवम्बर तक मेंडो पर बोयी जाती है, हर ६ डच के फासले पर बीज बोये जाते हैं। अधिक खाद इसके लिए हानिकर बतायी जाती है, पर सिचाई बार-बार अपेक्षित होती है। फरवरी से मई तक इसके फूलने का और मई से जून तक फल लगने का समय है। अजवायन का तेल थाइमॉल का एक महत्वपूर्ण स्रोत था और इसका फल प्रथम महायुद्ध के पहले, इसके आसवन एवं थाइमॉल निकालने के लिए प्रचुर मात्रा में यूरोप, खासकर जर्मनी और सयुक्त राज्य-अमेरिका को, निर्यात किया जाता था। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में तथा उसके बाद भारत में भी इसके फल का आसवन तथा थाइमॉल का औद्योगिक निर्माण व्यापक पैमाने पर संगठित किया गया था। फिर भी अजवायन के तेल से थाइमॉल का निष्कर्षण बाद में अलाभकारी पाया गया और थाइमॉल के सश्लेषणात्मक स्रोत था अन्य वानस्पतिक स्रोतों की प्रतिद्वन्द्विता में यह नहीं टिक सका। यदि तेल की उपलब्धि अधिक हो जाय और प्रति एकड़ फल की उपज बढ़ जाय तो इस उद्योग के पुनर्जीवित होने की पूरी सम्भावना है। यह बिल्कुल सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा बताया गया है कि सिचलिस में उगाये गये फलों में ९ प्रतिशत तेल पाया जाता है जिसमें ३८ प्रतिशत थाइमॉल विद्यमान रहता है, जबकि भारतीय फलों में ४ प्रतिशत वाष्पशील तेल उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में भारतीय अजवायन में जितना तेल उपलब्ध होता है सिचलिस के फलों से उसका दुगुना तेल निकलता है, यद्यपि वह तेल थाइमॉल की प्राप्ति की दृष्टि से कुछ निम्न कोटि का होता है। भारत में इसकी सावधानी से खेती करने के लिए उचित अनुसधान की आवश्यकता है, विशेषकर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि गत कुछ वर्षों से इस स्रोत से थाइमॉल तैयार करने का उद्योग देश में पुनर्ऊजीवित किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त व्युमिनम साइमिनम नामक एक अन्य पौधा है जिसकी खेती समूचे भारत में प्रचुर मात्रा में खेतों और बगीचों में की जाती है। इससे जीरा का तेल प्रभूत

मात्रा में मिलता है जिसका मुख्य सघटक क्यूमिनिक ऐल्डहाइड है जिसे पुन आसानी से कृत्रिम ढग से थाइमोल के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। भारतवर्ष में जीरा का अधिक व्यवहार रसवाले व्यञ्जनों में मसाले के रूप में होता है। यह देशीय औपचिंह में उद्दीपक और वातानुलोमक के रूप में भी व्यवहृत होता है।

**कृषि :**—क्यूमिनम् साइमिनम् एक वर्षी पतला पौधा है जो मिश्र और सीरिया के लिए देशीय है किन्तु भारत के सभी राज्यों में, केवल आसाम और बगाल को छोड़कर, इसकी खेती होती है। इसके पैदा होने के मुख्य क्षेत्र पजाब और उत्तर प्रदेश है। जयपुर में खालसा क्षेत्र में इसकी खेती लगभग १३,९३० एकड़ में की जा रही है तथा लगभग २,००० एकड़ में वर्मवर्ड में, जिसका अधिकांश भाग उत्तरी गुजरात में है। मद्रास के कोयम्बटूर, कुप्पा और कुर्नूल जिलों में इसकी खेती सीमित क्षेत्रों में की जाती है। भारत में जीरे की फसल दो ऋतुओं में होती है, या तो दक्षिणी-पश्चिमी मानसून प्रारम्भ होने के पूर्व या उत्तरी-पश्चिमी मानसून के समाप्त हो जाने के बाद। इसके अभिवृद्धि काल में गर्मी या आद्रता या अधिक वर्षा हानिकर होती है। पहली फसल के लिए इसके बीज अप्रैल के अन्त में या मई के प्रारम्भ में बो दिये जाते हैं, और दूसरी फसल के लिए लगभग अक्टूबर के अन्त में। इसकी बुआई छीटकर होती है और प्रति एकड़ ३० से ३५ पौड़। जब तक फल पक नहीं जाता तब तक हल्की पर बार-बार सिन्चाई आवश्यक होती है। घास की निराई भी आवश्यक होती है। बुआई के २ से ३ महीने के बाद फल पकता है और परिपक्व हो जाने पर पौधे को जड़ से उखाड़ लेते हैं फिर सुखाकर पीट लिया जाता है। एक एकड़ में २५० से ३०० पौड़ उपज होती है पर कभी-कभी ४०० पौंड पैदावार की भी सूचना मिली है। सीवर्स (१९४८ई०) के अनुसार यह पौधा जलोत्सारण वाली उर्वर रेतीली दोमट भूमि में जहाँ जमने के समय ३-४ महीने तक ताप मन्द और सम रहता है खूब पत्तपत्ता है। घासों की निराई आवश्यक होती है क्योंकि पौधा छोटा और कोमल होता है। इसलिए उन स्थानों में जहाँ मजदूरी महँगी पड़ती है, फलों को हाथ से छीटकर बोने के बजाय इतनी दूर-दूर पकितयों में बोया जाना चाहिये कि कल्टिवेटर मशीन का अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। जब पौधा सूखने लगता है और फलों का श्याम-हरित रंग बदल जाता है तब फसल काटने लायक हो जाती है। बताया जाता है कि भूमध्य सागरीय प्रदेशों में १०० से १००० पौड़ प्रति एकड़ पैदावार होती है, औसतन अच्छी स्थितियों में उपज ५०० पौंड प्रति एकड़ होती है। स्याह जीरा (कैरावे), डिल (सोवा), ऐनीसी आदि की तरह यह सुगन्धित फल सुस्पष्ट उद्दीपक और वातानुलोमक गुणों से युक्त होता है। रसा, शोरवा (सूप) आदि को सुवासित करने के लिए इसका खूब व्यवहार होता है और

रसा का मसाला (करी पाउडर) अचार और चटनी आदि का घटक है। भारतीय औषधि में भी स्थाह जीरा के स्थान पर जो अधिक रुचिकर स्वाद युक्त होता है, कुछ हद तक इसका व्यवहार होता है।

**आर्थिक पक्ष** —जीरा का सुगन्धित फल, जिसे वाणिज्य में बीज कहा जाता है, खड़ा एवं चूर्ण दोनों रूपों में विक्री है। जब व्यापार के उद्देश्य से इसका चूर्ण बनाया जाता है तो उसे डतना महीन होना चाहिये कि ४ नम्बर की चलनी से आसानी से चाला जा सके। पैगे (१९४५) के अनुसार फलों में ९.५ प्रतिशत से अधिक कुल राख नहीं होना चाहिये न हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में अविलेय राख १.५ प्रतिशत से अधिक और न ५ प्रतिशत से अधिक वाह्य पदार्थ होना चाहिये। फलों से, आसवन द्वारा २.५ से ४.५ प्रतिशत गाढ़ा पीत वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है जो फलों के समान महकता है, पुराने फलों में तैल कम निकलता है। बगलोर के स्थानीय बाजार से उपलब्ध फलों से २.३५ प्रतिशत वाष्पशील तैल निकलता है। अनेक तरह के सुस्वाद द्रव्यों में और खासकर पूर्वीय ढग की रसदार रसोई के व्यञ्जनों में जीरे के तेल का उपयोग, इसके फलों के स्थान पर लाभ के साथ किया जाता है। वस्तुत मध्ययुग में जीरा सर्वाधिक उपयुक्त होने वाले मसालों में से एक था। साबुन को सुवासित करने तथा पेय द्रव्यों को सुस्वाद बनाने के लिए भी इसका व्यवहार होता है। औषधि में, कभी-कभी इसका उपयोग वातानुलोभक के रूप में किया जाता है। क्यूमिनऐलिडहाइड में बड़ी तीव्र गध होती है, यह 'कैसी' (Cassie) जैसे सश्लेष्ट पुष्प परिमल तैयार करने में अति सूक्ष्म मात्रा में प्रयुक्त होता है। मुख्यत पश्चु चिकित्सा में इस तेल का उपयोग होता है। प्राय जीरा के तेल में सश्लेषित क्यूमिन ऐलिडहाइड अपमिश्रित कर दिया जाता है, इसकी उपस्थिति विश्लेषणों द्वारा नहीं जानी जा सकती। यदि क्यूमिन ऐलिडहाइड बहुत अधिक अपमिश्रित हो तो ध्रुवण-घूर्णन द्वारा ज्ञात हो जाता है। रेचित (exhausted) फलों में १७.२ प्रतिशत प्रोटीन और ३० प्रतिशत वसा रहता है। मे पशुओं को खिलाने के लिए बहुत उपयोगी है। भारतवर्ष विदेशों को विशेषत स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स, मलाया और पूर्वी अफ्रीका को पर्याप्त मात्रा में जीरा निर्यात करता है। भारत में उसका औसत वार्षिक निर्यात १९४५-४६ ई० से १९४९-५० ई० तक के ५ वर्षों में १६०० टन था जिसका मूल्य २३,०८,००० रु० था। १९४४-४५ ई० से १९४६-४७ ई० तक के तीन वर्षों में भारत में अफगानिस्तान से लगभग १६० टन जीरा वार्षिक आयात भी किया गया, जिसका मूल्य २,४०,३९७ रु० था। भारतवर्ष में इसके व्यापार के प्रमुख केन्द्र जबलपुर, रतलाम, जयपुर और गगापुर हैं।

हाल के वर्षों में थाइमॉल का अकुश कृमि (हुकवर्म) के सक्रमण में आन्त्रकृमिन्द्र के रूप में तथा पूतिरोधी रूप में भी उपयोग होने से और अनेक आघिस्त्वामिक औषधियों के घटक रूप में व्यवहृत होने से डसका वाणिज्यिक मूल्य बहुत अधिक वढ़ गया है। भारतवर्ष अपने कच्चे माल के समृद्ध भण्डार से न केवल थाइमॉल की माँग-पूर्ति कर सकता है अपितु पर्याप्त मात्रा में निर्यात भी कर सकता है। जर्मनी ने अपने यहाँ कृषि द्वारा उत्पन्न थाइमस वल्गैरिस से आसवन द्वारा थाइमॉल निकाल कर और अपरिष्कृत फिनाल से सश्लेषण द्वारा थाइमॉल उपलब्ध कर विश्वबाजार पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। सश्लेषित थाइमॉल का बाजार अब अधिकाधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है। सन् १९१४ ई० से पूर्व थाइमॉल मुख्यतः प्राकृतिक साधनों से ही प्राप्त किया जाता था। अब यह न केवल अपेक्षाकृत सस्ते मेटान्क्रिसॉल से ही तैयार किया जाता है बल्कि इसके लिए पिपेरिटोन नामक कीटोन के रूप में एक अन्य स्रोत भी उपलब्ध हो गया है। आस्ट्रेलिया के यूकेलिप्टस से, जो उस देश में बहुत आसानी से और कम खर्च में कही भी उगाया जा सकता है, यह पर्याप्त मात्रा में पैदा किया जा सकता है। यद्यपि अजवायन के तेल से बहुत बड़े परिमाण में थाइमॉल उपलब्ध होता है, फिर भी प्रथम महायुद्ध के पहले भारत में फलों से आसवन द्वारा तेल निकालने का कोई प्रयास नहीं किया गया था।

यद्यपि भारत के अनेक भागों में पर्याप्त मात्रा में थाइमॉल का उत्पादन किया जा चुका है, फिर भी यहाँ इस औषधि के औद्योगिक निर्माण करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। बाजार में मिलनेवाले प्राय सभी बीजों का प्रत्यक्षतः आशिक रूप में आसवन हुआ रहता है क्योंकि उनमें तेल की मात्रा बहुत कम रहती है। उपलब्ध अजवायन के तेल में केवल ४ से ६ प्रतिशत थाइमॉल प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि इस तैल से थाइमॉल निकाल लिया गया रहता है। १९२४ ई० में 'उद्योग और वाणिज्य विभाग' हैदराबाद के तत्त्वावधान में वहाँ (हैदराबाद में) उत्पन्न होनेवाले अजवायन के बीज से थाइमॉल के औद्योगिक निर्माण के वस्तुत परीक्षण किये गये। ऐसा पाया गया कि बीज के भार के हिसाब से तेल की उपलब्धि केवल २ प्रतिशत हुई और तेल के भार का ३६.९७ प्रतिशत थाइमॉल उपलब्ध हुआ। इससे यह प्रकट हुआ कि विदेशी बीजों की तुलना में ये बीज निम्न कोटि के थे। उत्पादन का मूल्याकान करने पर यह पाया गया कि आयातित भेषज की तुलना में इसका बाजार भाव कभी नहीं टिक सकता, जब तक कि औद्योगिक निर्माण के उपोत्पाद यथा तेल निस्सरित बीज (डोरो के चारे

तथा खाद के रूप में ), ओमम जल ( Omum water ) और थाइमीन तेल का भी उपयोग न किया जाय । बाजार में मिलनेवाले बीज और तेल से थाइमाँल का औद्योगिक निर्माण खतरे से खाली नहीं है और सम्भवतः लाभकारी नहीं हो सकता । प्रथम महायुद्ध के दिनों में विश्व के अन्य भागों में इस पांधे के खेती के प्रयास किये गये । सिचिलिस ( Seychelles ) तथा माण्टिरिया ( Montserrat ) से आये हुए नमूनों के बीजों से विश्लेषण करने पर क्रमशः ९ प्रतिशत और ३०१ प्रतिशत तेल उपलब्ध हुआ, जिसमें क्रमशः ३९ एवं ५४ प्रतिशत थाइमाँल विद्यमान पाया गया । उक्त अंकड़े भारतीय बीजों से प्राप्त तेल ( लगभग २०८५ से २९१ प्रतिशत ) की तुलना में बहुत अधिक है । इसलिए भारत के उपयुक्त स्थानों में वैज्ञानिक पढ़ति द्वारा अजवायन की समुचित योती करने पर और अधिक घ्यान दिया जाना चाहिये । यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो इस भेषज के व्यापार पर बहुत बुरा असर पड़ेगा । जब तक बीजों की कोटि ( कवालिटी ) समुन्नत नहीं की जायगी तब तक भारत उच्चकोटि के बीज उत्पन्न करने वाले अन्य देशों का भुकावला नहीं कर सकेगा । सशिलष्ट थाइमाँल के बढ़ते हुए इस उद्योग को प्रोत्साहन देना आवश्यक है ।

### सन्दर्भ

- (1) Chopra and Chandler, 1928 *Anthelmintics and their uses in Medical and Veterinary Practice*, (2) Finnemore, 1926, *The Essential Oils* ; (3) Lakhani Sudborough and Waston, 1921, *J Ind Inst Sci*, 4, 59 , (4) Inugantu, Bhate and Habib Hasan, 1924 *Bull Dept. Indust. and Comm*, Nizam Govt Pub , (5) Chopra and Mukerjee, 1932, *Ind Med. Gaz.*, 67, 361 , (6) Krishna, S. and Badhwar, R. L., 1953, *Jour. Sci Indust Res (Supp)* 12A, 288, 267 , (7) Sobti and Puran Singh, 1923 *Perfume Essen Oil Rec.*, 14, 399 (8) *Bull. Imp Inst, Lond.* 1918, 16, 30; (9) Sobti and Puran Singh, 1903, *Perfume Essen. Oil. Rec* , 78, Oct., (10) Myrayama, 1921, *J. Pharm Soc Japan*, No. 475, (11) Small, J, 1944. *Chem Abstr.* 1609, (12) *Wealth of India* , Raw Materials, 1950, II, 369 , (13) B. P. C , 1949, (14) Wehmer, 1935. *Die Pflanzensstoffe*, Supp., 204, (15) Trease G. E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 449.

### कैसिया अंगुस्टिफोलिया (लेग्यूमिनोसी)

*Cassia angustifolia* Vahl (Leguminosae)

भारतीय अथवा तिन्नेवेल्ली सेन्ना (Indian or Tennevelly Senna)

नाम—स०-भूमिभरि, भूपदा ('भूलिवल्ली' या 'स्वर्णपत्री'-अनु०), हिं०-सनाय, गु०-नात-की-साना, व०-सोना-मुखी, सोन-पात, म०-सोनामुखी त०-नीलाविरै, ते०-नेला-तागेडु, कन्न०-नेलावारिके, मल०-नीला वाका।

पाश्चात्य औषधि में सनाय की पत्तियाँ अपने मृदुविरेचक (laxative) एवं रेचक (purgative) गुणों के लिए प्रसिद्ध हैं। कन्फेक्शनो सेन्नी (Confectio sennae) और पुलविस ग्लिसराइजी कम्पोजिटस (Pulv glycyrrhizac Co.) ये दोनों भेषजकोश की लोकप्रिय औषधियाँ हैं। इस भेषज की सक्रियता कैथारिक अम्ल के कारण है, इसके अन्य सघटक हैं इमोड़िन (ट्राइआँक्सी-मेरिल-एन्थ्राकिनोन), क्राइसोफैनिक अम्ल आदि। ये पत्तियों में विद्यमान रहते हैं, और फलियों में भी। फलियाँ जब हरी होती हैं तो अधिक सक्रिय होती हैं। अरबों को इस भेषज का पता सदियों से रहा है, और ऐसा माना जाता है कि भारतीय एवं पाश्चात्य चिकित्सा में इसका प्रवेश उन्हीं के माध्यम से हुआ। अरबी हकीम आज भी सनाय के गुणों की विरेचक के रूप में प्रशंसा करते हैं और बनपक्षा जैसे उपयुक्त भेषज के साथ मिला कर इसका व्यवहार हृदयपेय (cordial) के रूप में किया करते हैं। लिटिंग भेषज कोश में कैसिया की दो किस्मों को मान्यता दी गयी है—(१) अलेक्जेण्ड्रियन सेन्ना और (२) तिन्नेवेली सेन्ना। अलेक्जेण्ड्रियन सेन्ना कैसिया एक्यूटिफोलिया (*C. acutifolia* Delile) के अपने आप उगने वाले पौधों से उपलब्ध होता है, जो अफ्रीका और सूडान में पैदा होता है। इस जाति की पत्तियाँ कैसिया अगुस्टिफोलिया की पत्तियों की अपेक्षा छोटी और पतली होती हैं। कैसिया अगुस्टिफोलिया की खेती तिन्नेवेली, मधुरा और त्रिचनपल्ली में व्यापक पैमाने पर की जाती है। हाल ही में इसकी खेती मैसूर और जम्मू में शुरू की गयी है जो बहुत ही सन्तोपजनक रही है। कैसिया एक्यूटिफोलिया की खेती भारत में होती है (cultivated Alexandrian) तिन्नेवेली सनाय (कैसिया अगुस्टिफोलिया) की पत्तियाँ समपिच्छकी (paripinnate) होती हैं और पत्रक (leaflet) जिनका, उपयोग भेषज के लिए किया जाता है, १-२ इच्च लम्बे, ० २-० ६ इच्च चौड़े, चिकने और पीत-हरित वर्ण के होते हैं। एक तीसरी किस्म कैसिया अबोवेटा (*C. obovata*) है जो दक्षिण में उत्पन्न होती है, और देशी सनाय के नाम से विकती है। इसका उपयोग साधारण सनाय में

अपमिश्न करने के लिए किया जाता था, भेषजकोश मे इसे मान्यता नहीं दी गई है। कैसिया अगुस्टफोलिया की फलियाँ १४-२८ इच लम्बी, लगभग ०.८ इच चौड़ी हरिताभधूसर से श्यामधूमर रग की होती है, जिनमे श्यामधूसर रग के चिकने, अधोमुखी अडकार, ५-७ बीज होते हैं। अलेक्जेण्ड्रियन सनाय की अपेक्षा इसकी फलियाँ अधिक लम्बी और पतली होती हैं और फलावरण का वह भूरा भाग जो बीज के ऊपर धेरे रहता है अधिक बड़ा होता है। वर्त्तिका (Style) का अवशिष्ट भाग टिन्नेवेली सनाय में स्पष्ट लचित होता है जब कि अलेक्जेण्ड्रियन सनाय मे नहीं होता। इसकी फलियाँ औपधीय और आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान होती हैं और ब्रिटिश एवं अमेरिकी भेषजकोशों मे उन्हे मान्यता प्राप्त है।

**कृषि :** कैसिया अगुस्टफोलिया की खेती प्राय दक्षिण भारत की शुष्क भूमि मे की जाती है। कभी-कभी धान की फसल काट लेने के बाद उसी खेत मे इसे बो दिया जाता है। इसकी हल्की सिंचाई की जा सकती है, अर्ध सिंचित फसल की तरह इसकी खेती की जा सकती है। अधिक पानी इसके लिए हानिकर होता है। इसकी बोवाई या तो छीटकर की जाती है या खूँटी से गड्ढा बनाकर उसमे बीज डालकर। प्रतिएकड़ १५ पौण्ड बीज बोया जाता है। बीज का आवरण कड़ा होता है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके ऊपरी सतह को कुछ घिस दिया जाय ताकि बीजाकुरण सम्भाव और शीघ्रता से हो सके। घिसने का काम बालू के साथ बीज को खरल मे डालकर हल्का-हल्का कूटकर किया जाता है इसके पौधे के लिए कड़ी धूप और कभी-कभी हल्की वर्षा (फुहार) आवश्यक होती है। उगने के समय लगातार वर्षा से पत्तियों का गुण बिनष्ट हो जाता है। पौधों को प्राय ३-५ महीने तक बढ़ने के लिए छोड़ दिया जाता है और जब पहले पहल फूल लगने लगता है, तो डठल सहित फूल को तोड़ दिया जाता है, ताकि अगल-बगल से शाखाएँ फूटे। जब पत्तियाँ प्रौढ़ होकर मोटी एवं नीली हो जाती हैं, तो हाथ से उन्हे सूत लिया जाता है। दूसरी बार पत्तियों को लगभग १ महीने बाद सूता जाता है और पौधों को फूलने फलने के लिए छोड़ दिया जाता है। पत्तियों को सूखने के लिए कड़ी भूमि पर छायादार स्थान मे पतली सतह मे फैला दिया जाता है। पत्तियाँ भलीभांति सूख जायें, इसलिए उन्हे हमेशा उलटते पलटते रहते हैं। जब पत्तियाँ अच्छी तरह सूख कर पीताभ-हरित रग की हो जाती हैं तो उनकी श्रेणी निर्धारण करके उनको जलीय दबाव (hydraulic compression) से पैक करके गाँठ बना दिया जाता है। इसकी फलियाँ सुखा कर पीट दी जाती हैं जिससे बीज अलग निकल आता है और फिर बीजों को गत्ते के बक्सो में पैक कर दिया जाता है।

शुज्क भूमि मे की गयी सनाय की खेती से ३०० पौड़ सूखी स्वच्छ पत्तियाँ और ७५-१५० पौड़ फलियाँ पैदा होती हैं, और आर्द्ध भूमि मे ७५० से १२५० पौण्ड तक पत्तियाँ और १५० पौण्ड फलियाँ प्राप्त होती हैं। आर्द्ध भूमि से एकत्रित किया गया भेषज अधिक मूल्यवान होता है। मद्रास मे कितनी एकड़ भूमि मे इसकी खेती होती है और कितना उत्पादन होता है, इसका व्यौरा नीचे दिया गया है।

वर्ष क्षेत्रफल पैदावार

वर्ष (एकड़)	↓		फलियाँ (टन)
	पत्तियाँ (टन)	पैदावार (टन)	
१९३८-३९	४,९९९	१,१९७	२०७
१९३९-४०	५,२१२	१,४३९	२४७
१९४०-४१	६,७२७	१,९९५	३४३
१९४१-४२	५,८१७	१,६३७	२९३
१९४२-४३	३,४१७	१,२३९	२०१
१९४३-४४	९९२	३५०	५५
१९४४-४५	६०७	२१४	३४
१९४५-४६	१,१७८	४२९	६६
१९४६-४७	१,६३५	५४०	८८
१९४७-४८	२,००२	४८६	८०

औषधि मे सनाय का महत्व इसके विरेचक गुणो के कारण है। कोष्ठबद्धता के लिए यह विशेष स्प से उपयोगी है। यह वृहदान्त्र ( Colon ) के क्रमाकुञ्चक सचालन ( peristaltic movement ) को बढ़ाती है। सनाय मे मरोड पैदा करने की जो प्रवृत्ति होती है वह लवणीय मृदु विरेचक या ऐरोमेटिक के साथ मिला कर सेवन करने से जाती रहती है। फलियो का विल्कुल वही चिकित्सीय प्रभाव होता है जो पत्तियो का, किन्तु पत्तियो की अपेक्षा मरोड कम होती है। सस्तम्भी कोष्ठबद्धता ( spastic constipation ) और वृहदान्त्र शोथ मे सनाय दी जाती है।

सघटक मारिन ( Maurin १९२२ ई० ) के अनुसार सनाय की पत्तियो मे लगभग १३—१५ प्रतिशत ऐन्थ्राविवनोन व्युत्पन्न पाये जाते हैं, जो मुक्त और सलग्न रूप मे विद्यमान रहते हैं। स्टॉल तथा अन्य लोगो ने ( १९४१ ई० ) दो क्रिस्टलीय ग्लाइकोमाइड निकाले थे जिनको वे सेनोसाइड “ए” और “बी” कहते हैं। फेयरवेन्स ( १९५१ ई० ), इस भेषज की ३० प्रतिशत सक्रियता का कारण एक तीसरे प्रकार

के ग्लाइकोसाइड की बताते हैं, जो अभी तक अलग नहीं किया जा सकता है। सनाथ में पीत पलैवोनॉल रजक पदार्थ, कैम्पफिरोल तथा इसके ग्लाइकोसाइड एवं आइसोरैनेटिन भी पाये जाते हैं और एक स्टेरोल तथा उसके ग्लाइकोसाइड, म्युसीलेज, कैलसियम आँक्जलेट और रेजिन भी होते हैं। फलियों के भी वही सघटक होते हैं जो पत्तियों के। मॉरिन को तिन्नेवेली फलियों में १ ३ प्रतिशत ऐन्थ्राकिवनोन व्युत्पन्न उपलब्ध हुआ और ऐलेकजेपिण्ड्यन में १ ४ प्रतिशत। पत्तियों की अपेक्षा फलियाँ कम मरोड़ पैदा करती हैं, क्योंकि उनमें रेजिन कम होता है।

### सन्दर्भ

- (1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) *Seaborne Trade Statistics of British India Year ending 31 March 1930*, (3) Tutin, F., 1913 *J C S Trans*, 2006, (4) *Wealth of India, Raw Materials*, 1950, II, 94, (5) Trease, G. E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 414, (6) Fairbairn and Saleh, 1951, *J Pharm Pharmacol*, 3, 918, (7) Forsdike, J. L., 1949, *J Pharm. Pharmacol* 34, (8) Stoll, A., et al, 1949, *Helv Chim. Acta*, 32 (6), 1892, (9) Stoll, A., et al, 1950, *Helv Chim. Acta*, 33 (2) 313, (10) Abrol, B K., Kapoor L. D., Jamwal, K. S., 1955, *Jour Sci Indust. Res* (in press).

### कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस (कीनोपोडिएसी)

*Chenopodium ambrosioides* Linn. (Chenopodiaceae)

मेक्सिकन चाय, जेरुसेलम ओक (Mexican Tea, Jerusalem Oak)

कीनोपोडियम २५० से अधिक जातियों वाला शाकीय पौधों का एक बड़ा जीनस है जिसका वितरण विश्वभर में प्राय सर्वत्र है। इसकी लगभग ८ जातियाँ भारत में पैदा होती हैं। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम (*Chenopodium ambrosioides var. antihelminticum* Gray)—पर्याय कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम लिन० ) या अमेरिकी कर्मसीड ( कृमिनीज ) इस समय सर्वाधिक विस्तृत रूप से व्यवहृत होने वाले कृमिनाशकों में से एक है। कोलम्बस के काल में यह अमेरिकी इण्डियनों द्वारा उपयोग में लाया जाता था और इसकी पत्तियों और बीजों से तैयार किया गया फाण्ट दक्षिणी अमेरिका में आन्ध्रकृमियों को मारने के लिए दीर्घकाल तक एक घरेलू औषधि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। बामलर तथा फिलोर्ग (Baumler and Fribourg) ने



हो जाती है। यदि पौधो के पूर्णत प्रौढ होने तक लवाई न की जाय तो बीजों के झड जाने से बहुत नुकसान होगा और फलत तेल की उपलब्धि कम हो जायगी। पौधों को काटकर खेत में तब तक छोड़ दिया जाता है जब तक कि वे अशत् सूख न जायें, किन्तु उनको इतना नहीं सूखने दिया जाना चाहिये कि बीज झड जायें। इस अवस्था में उनका आसवन किया जाता है। आसवन बड़ी मावधानी के साथ किया जाना चाहिये क्योंकि आसवन की गति और मधनित्र के जल के तापमान का प्राप्त तेल के औपधीय गुण पर वडा भृत्यपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अगर केवल बीज के लिए फसल उगायी जाय तो प्रति एकड १००० पौड बीज पैदा हो सकता है। अनुकूल वर्षों में तेल का उत्पादन ४० पौड प्रति एकड तक हो सकता है, किन्तु कई क्षेत्रों में सामान्यत उत्पादन कम रहता है। १९३९ ई० में अमेरिका में २४० किसानों में से हर एक ने औसत ४ एकड भूमि पर इसकी खेती की थी और कुल मिलकर ३८,००० पौड तेल प्राप्त किया था। एक समय इसका फल अमेरिका के भैषजकोश में मान्य था, किन्तु अब इसका परित्याग कर दिया गया है। फल जिससे तेल निकाला जाता है कुछ गोलाकार होते हैं और वहधा धूसर-बभ्रु (greyish brown) वर्ण की पतली फल-भित्तियों से ढँके रहते हैं। बीज बारकर, बभ्रु या कृष्ण वर्ण की, वृक्काकार और चमकदार होते हैं और उनमें यूकेलिप्ट्स की तरह की एक तीव्र गध होती है तथा स्वाद कड़वा और तीक्ष्ण होता है। अमेरिका में बहुत दिनों तक कीनोपोडियम के बीजों का वडा व्यापार था किन्तु आजकल कीनोपोडियम के बीजका वहाँ कभी-कभी ही निर्यात होता है क्योंकि वडे पैमाने पर वाल्टमोर में (वाल्टमोर अँगल) तथा इलिनोइ में (वेस्टर्न आयल) तेल का आसवन किया जाता है।

रासायनिक सरचना एव गुण — कीनोपोडियम का सक्रिय तत्त्व एक वाष्प-शील तैल है (०.४-१.० प्रतिशत) जो इस श्रेणी के अधिकाश पदार्थों की तरह विभिन्न घटकों का सम्मिश्रण होता है। इस तैल का कोई निश्चित व्यवहाराक नहीं है और जब इसे १००° से० पर हवा में गर्म किया जाता है तो प्रचण्ड रूप से विस्फोट करता है। इसके भिन्न-भिन्न नमूनों के भौतिक गुणों में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। इसका रग पाण्डु-पीत से चमकदार स्वर्णीय-पीतवर्ण तक हो सकता है। विभिन्न नमूनों के तैल की विषालुता में वडा अन्तर होता है। तेल की रासायनिक सरचना का विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है। यद्यपि छोटी-छोटी विस्तार की बातों के सम्बन्ध में मत-विभिन्नता है किन्तु निम्नलिखित सरचना को प्रामाणिक माना जा सकता है।

(१) भिन्न-भिन्न नमूनों में कुल तेल का ६०-७७ प्रतिशत भाग ऐस्कैरिडोल रहता है। निट्रिश औषधकोश (बी पी) ६५ प्रतिशत भार (w/w) से कम को मान्यता

जही देता। इसकी एक नुनिन्नित रामायनिक नरनना हि जो  $C_{10} H_{16} O_2$  है।

(३) स्टेर्निडेन के एक मामायनियों का कुछ अव, ग्राउकोल ऐनहारांड्राइड वा उन्हें अनुरूप ला टार्डेट, कुल तेन का ५ परिमत या उमरे जधिर।

(४) किनिन एवं ग्राउकोलार्न ला एक गिरण जिसमें नाइमोन (Cymene), नहसान्डिनीन, एवं चार रीबो-विन आदि जो शुल्क बिनाकर ३० प्रतिशत होता है।

(५) नरनन नुट्र जारा में निनपर्स के यांग-न्यू, मुआत लूटिलिंग अम्ब और मेडिन्स्टीर्जिट गा ० ५ परिमत।

**कीनोपोडियम के अत्यं ग्रोत.**—यद्यपि कीनोपोडियम ग्रोत अमेरिका वा देशीर फ्रान्स है, यह एक अमेरिका भारत में व्याप देता है एवं विद्य होता है। तिनिस्टान में इसी ५० लाखियाँ गिरा होती है, तिन्हु अब तक देवल २ में ही बोर्डोर भवाय ता तेज दार हो पाया है। मुआत्रा में गाय एवं घूर्णी हीम नमृत के अन्य दूर्द स्तरों में रीनोलीचिन राता गया है। भारत में इसी ६-८ वारियाँ पैदा होती है। यह जान ने दी दार है जि रीनोपोडियम को गोरी लिंगे धोन में भी की जा रही है और यह दिन दर निर्दित नहीं है और अपेक्ष एविगाम प्राप्त जिये जा सकते हैं। ऐसा दर्द प्रभाव एवं अमेरिका में पेस्टन (Peston) के समीप किया गया है ज्यां १५ मील दूर्द लोग ५ मील जौहे होपफल में इसी गोली की गयी और प्रति २० लार ५०,००० - ५०,००० पोष्ट ला बोगत यांगिक डलाइन हुआ। मुआत्रा में दूरी नामन न्यान पर तथा ग्राया में यह पीपा घरी नामकता के नाम उगाया गया है और तेज भी निरान्य नाम है जि न्हु यह तेल नरनना में ग्राया अमेन्की तेन में गुरु निन होता है।

### भारतीय कीनोपोडियम

#### कीनोपोडियम एम्ब्रोनिभार्योडिम लिन०

नाम - नरनन - पर शायामोद्राग। यह एक गोंधा, वृद्धारी, २-४ फुट ऊँचा, गधवुन, ग्रन्थिद गोंधों (Glandular lumps) वाला शाकीय पाया है जो वगान, भिनहट और इक्षित भारत में पाया जाता है। उभये कूल अत्यन्त छोटे होते हैं और पनीशार आदका ग ग्रन्थिद रहते हैं। गमने पौधे में एक अपूर्णीय गध पाया जाता है। ग्रन्थि काल कुछ गोलाकार रोड़े चापटे होते हैं और एक पतली कलशिति वीजो को देके रहती है। वीज छोटे (नगभग छुट्टे छन) वर्तुल (orbicular) व लुवर्ण के चिकने और चमकदार होते हैं और अद्याद में काजवा और तीक्ष्ण होते हैं। इसके ग्रन्थिलोमो में एक बीपधीय महत्व का वापणील तेल मिलता है, विशेषकर कलमिति के रोमो में।

यह पौधा अमेरिकी कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम का धनिष्ठ सम्बन्धी है और उसी के स्थान पर इसका उपयोग होता आया है। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस के प्रतीकी रूपी (typical forms) का वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम से विभेद कर पाना सदा सम्भव नहीं है क्योंकि इनके बीच वाले पादपो में कोई विशेष अन्तर नहीं होता, किन्तु विभेदमूलक एक लक्षण यह है कि कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस के स्पाइक पत्तीदार होते हैं जबकि वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम में यह बात नहीं पायी जाती। भारतीय कीनोपोडियम तैल मुख्यतः कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस से निकाला जाता है और इसमें ऐस्कैरिडोल की मात्रा ४०-५० प्रतिशत रहती है। इसमें विद्यमान हाइड्रो-कार्बन के स्वरूप में भिन्नता होने के कारण यह अमेरिकी तैल से भिन्न होता है। अमेरिकी भेषजकोश की अपेक्षाओं को यह पूरा नहीं कर पाता है किन्तु कृमिनाशक के रूप में इसका महत्त्व सुस्थापित हो चुका है और इसकी खुराक अधिक मात्रा में ५-२० बूँद तक भारतीय भेषजकोशीय सूची ( इण्डियन फार्माकोपियल लिस्ट ) में निश्चित की गयी है।

**कीनोपोडियम बोट्रिस ( *C. boottii* Linn )** यह बहुत ही तीव्र सुवास वाला एक ग्रन्थिल शाकीय पौधा है जो १-३ फुट ऊँचा होता है और हिमालय प्रदेश में कश्मीर से सिक्किम तक पाया जाता है। भारीय आसवन करने पर इसके ताजे पौधों से ००३-००४ प्रतिशत मात्रा में एक पीत वाष्पशील तैल निकलता है जिसकी गध बटी ही असुचिकर होती है और जिसमें ५ प्रतिशत ऐल्डिहाइड एवं कीटोन होते हैं और १ प्रतिशत फिनैल वर्ग। इसमें ऐस्कैरिडोल नहीं होता। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअॉयोडिस के स्थानापन्न के रूप में इसे काम में लाया गया है। फास एवं दक्षिण यूरोप में, यह जुकाम और ह्यूमरल ( humoral ) दमा की बीमारी में इसका उपयोग किया जाता है।

**कीनोपोडियम ऐल्बम —( *C. album* Linn )** नाम—हिं० वेथु ( वथुमा ) साग, व—चन्दन वेतु, वेथु साग, त०—परपुकिकराइ, त०—पप्पुकुरा। यह एक छोटा गधहीन पौधा है जो कृपि द्वारा तथा वन्य दशा में समूचे भारत में १४००० फुट की ऊँचाई तक कई रूपों में पैदा होता है। पश्चिमी हिमालय में यह खाद्यशाक एवं धान्य शस्य के रूप में पैदा किया जाता है। इस पौधे में एक वाष्पशील तैल, कोलेस्ट्रोल के सदृश एक यौगिक, अमोनिया तथा ऐमीन मुक्त तथा सलग्न दोनों ही रूपों में पाया जाता है। वीजों का विश्लेषण करने पर ( शुष्क भार के आधार पर ) प्रोटीन १५४-१६८, वसा ५८-८१, नाइट्रोजन रहित मार ४७७-५००, अपरिष्कृत तन्तु (crude fibre) १८४-२१.५ एवं राख ४८-७० प्रतिशत मात्रा में मिले। फलों में प्राप्त स्थिर तैल में २.२९ प्रतिशत अमावृनीकरणीय पदार्थ, २० प्रतिशत

निनोलेनिक अम्ब, और सूख्न मात्रा में ऐस्कॉर्पिओल मिलते हैं। १०० ग्राम कीनोपोडियम ऐत्वम में कैरोटीन ७ १-९ व ५० ग्राम और विटामिन गी ६६-९६ मि० ग्राम विद्यमान रहता है। इन पादप की वृद्धि में मैरनीगियम घटा गहायक होता है। इसनिए इन पौधे के इन भूमि में जितना मैरनीगियम है, पता लगाया जा सकता है। कीनोपोडियम व्लाइटम (C. lumen Hook f.) (प०-कुपाल्ड) काष्ठीर में पाया जाता है तथा कीनोपोडियम मूरेन (C. murena) (प०-वाहु, कुरुण, खरतुआ) भारत के बहुत से भागों में पाया जाता है जो ग्राद-शास्त्र के स्प में उपयोग में लाया जाता है।

इन खेतों के महुच्च और देनते हुए इनकी खेती दार्जितिंग जिले में मगरु नामक स्थान पर तथा नेमूर राज्य के वगनोर नियत दागानों में भी दुम की गई थी। बोटैनिक्स लुवे आंक इण्डिया के निरेश ने प्रतिवेश में मुठ्ठ वर्ष पूर्व यह मुझाव दिया गया था कि बार्वे के भारी रो वीजों को परायियों में विरत स्प में बोना चाहिये और नव पादपों जो १८-१९ तथा की दूनी पर नमी शिशाओं में प्रतिगेपित करना चाहिये। मगरु में जो कीनोपोडियम ऐस्ट्रोमिअंसोउम उगाया गया था, वर वृहदाकार हो गया था और उनसे बीज भी महुन मिले, हिन्दु बीजा भे गंवल ० ४८ प्रतिशत तेल निरला, जब कि ३ प्रतिशत गी आदा दी गयी थी। तर्जु रास्तों में दगान में ज़खी खेती याणिगियम लूटिंग में गगड़ नहीं लिया हुआ, और वहाँ इनकी खेती बन्द कर दी गयी। प्रमुख ग्रद के नेतृत्वों ने कीनोपोडियम ऐस्ट्रोमिअंसोउम वैराइटी ऐन्येलामिण्टम में तुट बीज तुर्मेस्तान ने प्राप्त तिये थे और जम्मु और काष्ठीर में कई स्थानों पर दृग्दो अशुरिन काने का परीक्षण प्रयोग किया। नभी स्थानों में १०-१५ दिन के अन्दर बीज अकुन्ति हो गये और न्याभाविक गीनि ने फूल और कफ दिये। ८००० ग्र ५००० फुट सी डेंचार्ट पर उगाये गमने पौधों ने उनती कलन दाल में नकार रखने वार्षीय आगजन हारा ग्रमग ११६ प्रतिशत और ० ८२ प्रतिशत पाण्डुर्जीन वर्ष का सेन और ग्रमग ८५ तथा ७२ प्रतिशत ऐस्कॉर्पिओल प्राप्त हुआ। १०० तथा ३००० पुट सी डेंचार्ट पर उगाये गये पौधों की भी लवाई जी गयी और आगजन किया गया। उन स्थानों के पाइया में ग्रमग ० ७५ तथा १ १५ प्रतिशत तेल तथा ६९ ५ ग्र ६६ ४ प्रतिशत ऐन्वैरिटाल की उपलिथ हुई जो वृद्धि भैयजकोश के मानक (६५ प्रतिशत) की तुलना में अच्छी ही रही। जम्मु (१०० फुट) के पादपों की विभिन्न प्रोटाक्स्याओं में सग्रहीत तिये गये भैयजों के नमूनों से निकाले गये ऐस्कॉर्पिओल की मात्रा में उत्तरोन्तर वृद्धि दिखाई दी। पहली लवाई में कलो निकलने के समय सग्रहीत किये गमने से २७ ९ प्रतिशत तथा कफ के पकने के ममय सग्रहीत नमूने से

६९ ९ प्रतिशत ऐस्कैरिडोल उपलब्ध हुआ, हूसरी लवाई में पके फलों से और अधिक ऐस्कैरिडोल उपलब्ध हुआ अर्थात् ७५ ५ प्रतिशत। लेखकोंने यह देखा कि वीजों के पूर्णत परिपक्व हो जाने पर लवाई करने से उनमें ऐस्कैरिडोल अधिकतम भाग में मिलता है।

भारतीय तथा अमेरिकी तेल कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअँयोडिस तथा कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम, दोनों से निकाले गये भारतीय कीनोपोडियम तेल का परीक्षण सर्वश्री हेनरी और पैगेट ने 'बेलकम व्यूरो आफ साइण्टफिक रिसर्च' नामक संस्था में किया था। उनके अनुमान के अनुसार तेल की उपलब्धि कम थी, कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअँयोडिस से ० १७ प्रतिशत मिला और कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम से ० २४ प्रतिशत। भारतीय वीजों से निकाले गये तेल का रग अपेक्षाकृत कुछ हल्का था तथा उसकी गध भी अमेरिकी कृमिवीजों, कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअँयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम से निकाले गये तेल के गध से कुछ भिन्न थी।

अमेरिकी कृमिवीज तेल की तुलना में भारतीय तेल के स्थिराक नीचे दिये गये हैं—

तेल का स्वरूप	विशिष्ट घनत्व १५° से ० पर	घुवणधूणकि
कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिअँयोडिस (भारतीय)	०.९३९९	+०.०७'
कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम (भारतीय)	०.९०८०	-१.६'
अमेरिकी कृमिवीज तेल	०.९६६९	-५.६'

प्रभाजी आसवन के परिणामों के अनुसार अमेरिकी कृमिवीज तेल की तुलना में सम्मिश्र भारतीय तेल की सरचना लगभग इस प्रकार है—

सम्मिश्र भारतीय तेल (प्रतिशत)	अमेरिकी कृमि- वीज तेल (प्रतिशत)
हाइड्रोकार्बन	३०-४०
बल्फा-टर्पिनीन	५
पैरा-साइमीन	१५
कीनोपोडियमटर्पीन	१०
ऐस्कैरिडोल	६५
अवशेष	५

उपरोक्त विवरण से प्रकट होगा कि भारतीय कीनोपोडियम तेल, अच्छे अमेरिकी कीनोपोडियम तेल से इस अर्थ में भिन्न होता है कि उसमें सक्रिय तत्व ऐस्कैरिडोल कम

मात्रा में होता है, अर्थात् केवल ४६ प्रतिशत, जब कि अमेरिकी तेल में वह ६५ प्रतिशत या उससे अधिक होता है। दूसरा अन्तर तेल में विद्यमान हाइड्रोकार्बन के स्वरूप के मम्बन्ध में है। अमेरिकी तेल में ३० प्रतिशत हाइड्रोकार्बन होता है जिसका आधा भाग साइमीन होता है और शेष आधा भाग टर्पिनीन और वामावर्त्त टर्पिन का सम्मिश्र। इसके विपरीत भारतीय तेल में विद्यमान हाइड्रोकार्बन में पेरा-माइमिन तथा अल्प मात्रा में दक्षिण ध्रुवणधूर्णक टर्पिन रहता है। अमेरीकी भेपजकोश में इस तेल की निम्न-लिखित मान्यताएँ दी हैं —

२०° सें० पर तेल का विशिष्ट घनत्व ० ९५५ से ० ९८०, ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ८ गुना भाग में विलेय, २५° में० पर १०० मि भी दृश्य व में ध्रुवण-धूर्णीक-४०° और —१०° के बीच। इनलिए मम्मिश्र भारतीय तेल, स्पष्टत इन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करता।

**आर्थिक पक्ष**—दोनों तेलों में ऊपर जो अन्तर दर्शाया गया है उसको देखते हुए भारतीय तेल बहुत निम्नकोटि का समझा जा सकता है, किन्तु भारतीय तेल का रोगियों पर परीक्षण करने पर जो परिणाम उपलब्ध हुए हैं वे सन्तोषप्रद रहे हैं। चाण्डलर ने उसका परीक्षण अकुण्डकृमि की तथा गोलकृमि की बीमारी में किया था और परिणाम उत्साहवर्धक रहे। इसलिए इसके आगे की मम्मावनाओं के मम्बन्ध में अनुभवान करना बाछीय है। अमेरिका में किये गये अनुभानों में यह स्पष्ट हो गया है कि सधन खेती में उसके तेल का स्वरूप एवं गुण और समून्नत किया जा सकता है। बोवाई की और समुचित ध्यान दिये बिना और पर्याप्त मात्रा में उर्वरक दिये बिना, मामूली ढग में देती करने पर इसकी उपज बहुत कम होती है। भारतवर्ष में इन सभी वातों की ओर सम्यक ध्यान दिया जा सकता है और थासानी गे इन अपेक्षाओं की पूर्ति की जा सकती है। फिर, अमेरिका में इलिनोइ राज्य के किंवद्दी नामक स्थान में स्थित रिसर्च डिपार्टमेण्ट के प्रधान उच्चलू पे कोनान्दज (W A Konant) द्वारा किये गये अनुभवान को देखते हुए यह लगता है कि कम तेल की उपलब्धि का बहुत कुछ कारण सम्भवत हमारी आसवन की दोपूर्ण प्रणाली है। नेल्सन ने आसवन की प्रणाली पर बहुत जोर दिया है और यह कहा है कि मुख्य सक्रिय घटक अस्थायी होता है और पानी के साथ उबालने पर यह अनै अनै अपघटित हो जाता है। इसलिए उन्होंने यह सुझाव दिया था कि भाषीय आसवन उच्चतर दबाव पर द्रुतगति से किया जाना चाहिये, सघनित्र को गरम रखना चाहिये और आसुत गरम जल को तेल से शीघ्र अलग करके फेंक देना चाहिये। रसेल का कहना था कि “आसवन की प्रणाली एक

ऐसा कारक ( factor ) है जो तेल में बहुत परिवर्तन पैदा कर देता है" उन्होंने यह भी कहा "द्वितीय आसवन से अर्थात् भाप का अच्छा प्रवाह रखने से, ऐसा तेल प्राप्त हुआ था जो अमेरिकी भेषजकोश की सभी अपेक्षाओं को पूरा करता था और जिसमें ऐस्ट्रॉक्सिडोल उच्च प्रतिशत मात्रा में था।" उनका यह कहना था कि भपके ( distilling retort ) में जब भाप का दबाव ८० से १०० पौंड का था तो तेल को मात्रा में तथा विशिष्ट घनत्व में कोई अन्तर नहीं आया, पर जब भाप का दबाव ४०-६० पौंड पर कर दिया गया तो विशिष्ट घनत्व घट गया। आसवन में समय ( मध्नित्र के विसर्जन छोर के आसुत तेल को देखने से ) ८ से १० मिनट लगा था और मन्द गति से आसवन करने पर विशिष्ट घनत्व कम हो गया। इसलिए और अधिक सावधानी के साथ आसवन करने से और उक्त सभी वातों का समुचित ध्यान रखने से तेल के स्वरूप और गुण के और समुचित होने की बहुत सम्भावना है। यद्यपि ऐसे हाँल द्वारा १९२१ ई० में कार्बन टेट्राक्लोराइड के कृमिनाशक गुणों का पता लगाने के बाद से कीनोपोडियम तेल का महत्व कुछ कम हो गया है किन्तु अभी भी इसकी बहुत अधिक माँग है। इसका उपयोग न केवल कार्बनटेट्राक्लोराइड के विकल्प या स्थानापन्न के रूप में किया जाता है, बल्कि इसके साथ मिलाकर भी अब इसका प्राय उपयोग किया जाता है। सोपर ( १९२४ ई० ) ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इन दोनों भेषजों का अनुपात विद्यमान कृमियों के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिये। अमेरिकी अकुशकृमि ( Necator ) के सक्रमण में केवल कार्बन टेट्राक्लोराइड देना और गोल-कृमि ( Ascaris ) के सक्रमण में केवल कीनोपोडियम देना ही अधिक प्रभावी होता है, किन्तु अकुशकृमि ( Ankylostoma ) के सक्रमण में इन दोनों को मिलाकर देने से ( कीनोपोडियम का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रखकर ) रोग दूर हो जाता है, क्योंकि भारत में इन परजीवियों का सम्मिश्र सक्रमण अपवाद की अपेक्षा नियम सा बन गया है, इसलिए कीनोपोडियम की माँग यहाँ बराबर बनी रहेगी। कार्बन टेट्राक्लोराइड की सेवनविधि की सरलता को देखते हुए और कीनोपोडियम तेल की तुलना में इसके अत्यधिक सस्ते मूल्य को देखते हुए ( कीनोपोडियम तेल ३२ रु० प्रति पौंड, कार्बन टेट्राक्लोराइड केवल २ रु० द आना प्रति पौंड ) जनसमूह के उपचार के लिए विस्तृत पैमाने पर कीनोपोडियम का उपयोग करना, हो सकता है, सम्भव न हो। किन्तु यदि रखना चाहिये कि कार्बन टेट्राक्लोराइड के साथ मिलाकर देने से कीनोपोडियम तेल की मात्रा अत्यल्प ( १० घन से० मी० ) रखी

जाती है, पर अकेले कीनोपोडियम तेल देने पर इसकी मात्रा ३० घन से०मी० रहती है। मैप्लस्टोन ( Maplestone, १९३१ ई० ) ने गोलकृमि के सक्रमण के उपचार के लिए ५ ग्रेन सैण्टोनिन और १०० घन से. भी कीनोपोडियम तेल मिलाकर और कैपसूल के माध्यम से सेवन कराकर अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त किये थे। इन सब तथ्यों को देखते हुए इसकी काफी मांग होगी। इसलिए कीनो-पोडियम की कृषि और उसके तेल का उत्पादन करना हमारे लिए उचित ही है। औपचार्य उपयोग के अतिरिक्त पशुचिकित्सा में भी इसका बहुत अधिक उपयोग किया जाता है। घरेलू जानवरों और कृषि-पशुओं के आन्तर्कृमि के उपचार के लिए इसको व्यवहार में लाया जाता है। एक बूटी होने के नाते, यह भारत के मैदानी इलाकों में खूब पनपेगा और बगाल और उसके पडोस के कुछ प्रान्तों में इसकी परीक्षणात्मक कृषि करना समुचित होगा। कपूर तथा उनके सहकर्मियों ने यह बताया है कि ९०० से ३००० फुट को ऊँचाई पर यह पादप सुस्थापित हो चुका है और अमेरिका की तुलना में यहाँ इसकी फसल और इसके तेल का उत्पादन अनुकूल है। कीनोपोडियम तेल के वाणिज्यिक आसवन के लिए कश्मीर के निचले प्रदेशों के उपयुक्त क्षेत्रों में इसकी खेती का प्रसार किया जा रहा है।

### सन्दर्भ:—

- (1) Henry, T A and Paget, H, 1921, *J C S Trans*, 1714;
- (2) Finنمore, 1926, *The Essential Oils*, (3) Konantz, W A 1924, *J Amer Pharm Assoc*, 12, 201, (4) Nelson, 1920, *J Amer Chem Soc*, 42, 1286, (5) Russell, 1922 *J Amer Pharm Assoc*, 255;
- (6) Soper, 1924, *Amer Jour Hdg*, 4, 699, (7) Chopra, R N, and Chandler, A C, 1928, *Anthelmintics and Their Uses in Medical and Veterinary Practice*, (8) Chopra, R N, and Mukherjee, B, 1931 *Ind Med Gaz*, 4, 699, (9) Maplestone and Mukherjee, 1931, *Ind. Med Gaz*, 66, 622, (10) Wealth of India Raw Materials, 1950, II, 127, (11) Kapoor, L D, Handa, K L and Chopra, I C, 1953, *Jour. Sci Indust Res* 12A, 7, 311, (12) Kapoor, L D, Handa, K L, Chopra, I C, Abrol, B K, Ishwar Chander, 1955 *Jour. Sci Indust. Res*, (in press).

### क्राइसैन्थमम सिनेरैरिफोलियम ( कम्पोजिटी )

*Chrysanthemum cinerariaefolium* ( Trev. ) Bocc.  
( Compositac )

पर्याय—पाइरेथ्रम गिनेरैरिफोलियम

पाइरेथ्रम ( Pyrethrum )

यह एक नीलाभ, वहूवर्षी पौधा है जो १८-२४ इच्छ केंचा होता है, जिसकी पातियाँ बारीकी से कटी रहती हैं और जिसके बहुत से पुष्पमुण्डक होते हैं, जो डेजी ( daisy ) से मिलता-जुलता होता है। क्राइसैन्थमम कॉमिनियम (*Chrysanthemum coccineum*) की अपेक्षा क्राइसैन्थमम निनेरैरिफोलियम में अधिक पुष्प-मुण्डक और बीज होते हैं, किन्तु इसमें रोग और क्षति प्रतिरोध की क्षमता कम होती है। क्राइसैन्थमम सिनेरैरिफोलियम ढाल्मेशिया, हरज़ेगोविना तथा माण्डनीयों का देशीय है तथा इसकी खेती अल्जीरिया, ढाल्मेशिया, ऑस्ट्रेलिया, नाजील, युल्गोरिया, चीन, जापान, फास, इटली, ईरान, स्पेन और स्विट्जरलैण्ड में वाणिज्यिक पैमाने पर की जाती है। इश्लैण्ड और अमेरिका में भी इसकी खेती थार्म्म कर दी गयी है। ऐड्रियाटिक समुद्र के पूर्वी तट पर पैदा किये जाने वाले क्राइसैन्थमम सिनेरैरिफोलियम को ही ढाल्मेशियाई पाइरेथ्रम कहा जाता है। जापानी पाइरेथ्रम जो क्राइसैन्थमम सिनेरैरिफोलियम से ही लिया गया है, देसने में ढाल्मेशियाई पाइरेथ्रम जैसा लगता है। ढाल्मेशियाई एवं जापानी फूलों में सक्रिय तत्व (पाइरेथ्रिन) की मात्रा क्रमशः ० ३८ से ० ५८ और ० ५८ से १ २१ प्रतिशत होती है। केनिया के पाइरेथ्रम में पाइरेथ्रिन की मात्रा अधिक बतायी जाती है, अर्थात् १ ४३ से १ ०८९ प्रतिशत। द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भिक वर्षों में पाइरेथ्रम की परीक्षणात्मक खेती कर्शीर तथा नीलगिरि की पहाड़ियों में शुरू की गयी थी। परिणाम भी आगाम्रद निकले थे और उसकी खेती की आवश्यकता उम समय विशेष दृष्टि से अनुभव की गयी थी जब युद्ध के दौरान विदेशी स्थानों से इसकी आपूर्ति बन्द हो गयी थी। इसकी खेती का क्षेत्र झुत्याति से विस्तृत कर दिया गया था ताकि कम से कम भारत मरकार के प्रतिरक्षा विभाग की आशिक आवश्यकता पूरी की जा सके। इसके विस्तार का व्योरा नीचे दिया गया है—

नीलगिरि में इसकी कृषिमूलि का क्षेत्रफल १९४४-४७ की अवधि में १८६८ एकड़ था, तथा १९४४-४५ १९४५-४६, १९४६-४७ के वर्षों में इसके फूलों का उत्पादन क्रमशः १,०७,९१२, ९६,५६१ तथा ८९,१२९ पौंड रहा। तब से इसकी कृषिमूलि का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर कम होता गया, और १९४९-५० में यह क्षेत्रफल ६०० एकड़ रह गया और उत्पादन केवल २२६० पौंड। भारत के अन्य भागों में भी

## कश्मीर में पाइरेशम का उत्पादन

१ मन = ८२ पौंड)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ में)	फूलों का उत्पादन (मन)	परिमाण वेचा गया (मन)	विक्रय मूल्य (मन/रुप)
१९४०	—	५५	६	१००
१९४१	३२२	३३	२७	१००
१९४२	८९६	३७३	३७६	१००
१९४३	१,३५०	१,४६९	१,४८२	९०
१९४४	१,६००	१,४३६	१,४००	९०
१९४५	१,७४४	२,१५४	२७	६०
१९४६	१,७४४	१,५८५	१०	५०
१९४७	१,७४४	७८८	२	४०
१९४८	—	—	३	४०

इसकी खेती के प्रयास किये गये हैं तथा कुल, पालमपुर, मधूरभज, कुमार्यू, आसाम, मैसूर, ट्रावकोर और कोडाइकैनाल में उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं। १९४७ में कश्मीर के बाहर पाइरेशम के कृषि की कुल भूमि अनुमानत २००० एकड़ थी। इस पौधे को देहरादून, सहारनपुर, घारवाड, पूना, सकन्द और राँची में उगाने के प्रयत्न असफल रहे। जम्मू की रोपणी (१०० फुट) में परीक्षणात्मक पैमाने पर उगाये गये पाइरेशम के पौधों से ० ९३ प्रतिशत पाइरेशिन आर्द्धतारहित आधार (moisture free basis) पर मिला था।

कृषि अच्छी तरह जलोत्सरित रेतीली भूमि में, शुष्क जलवायु में पाइरेशम खूब पनपता है। लाल लैटराइट दोमट भूमि भी इसके लिए उपयुक्त होती है। यह पहाड़ी ढलानों पर तथा बजर भूमि में पैदा हो सकता है, किन्तु बहुत अच्छी भूमि, जल का लगा रहना तथा कठोर पाला इसके स्वस्थ विकास के लिए अनुकूल नहीं होते हैं। बोवाई सामान्यत वसन्त या शरद क्रृतु में की जाती है। कश्मीर में शरद क्रृतु में बोये गये बीज बहुत अच्छे जमते हैं, जब कि आसाम में, सर्वाधिक नवोद्धिद (Seedling) मार्च में बोये गये बीजों से प्राप्त होते हैं। बोने के लिए बीज चुने हुए पादपों से तव इकट्ठा करना चाहिये, जब फूल पूर्णत प्रौढ़ हो गये हों और बीज झड़ने की स्थिति में आ गये हों। भण्डारण की अवधि में उनकी जीवन-अमता (viability) का हाल

होने लंगता है। बोने के पहले बीजों को भिगोकर थैले में बद करके आर्द्र वालू में गाड़ देना चाहिये। तैयार की गयी क्यारियों में जहाँ जलोत्सारण की अच्छी व्यवस्था हो, उन्हें बराबर-बराबर बोना चाहिये। एक पौण्ड बीज से लगभग १५,००० नवोद्धिद मिल जाते हैं। क्यारियाँ अच्छी तरह जोती हुई मुलायम रेतीली भूमि में तैयार की जाती हैं। कम उपजाऊ भूमि में गाय का खूब सडा हुआ गोवर खाद के रूप में डाल देना चाहिये। बीज बो देने के बाद उन पर मिट्टी छिड़क दी जाती है और क्यारियों को तिनके की चटाइयों से छा दिया जाता है। मौसम जब सूखा हो, तब सूर्यास्त के बाद नियमित रूप से क्यारियों में पानी देते रहना चाहिये।

बीज १०-१५ दिनों में अकुरित हो जाते हैं और प्ररोह के निकलने के बाद छायाद्वार आवरण को हटा दिया जाता है। जब नवोद्धिद २-६ इच लम्बे हो जाते हैं तब भूमि को खाद की दूसरी खुराक दी जाती है। मल की खाद (night soil) देना ज्यादा अच्छा होता है। क्यारियों को बराबर निराते रहना चाहिये। नवोद्धिदों को (४-५ इच कँचे) मेडो पर ७-१२ इच की दूरी पर प्रतिरोपित करना चाहिए और (मेडो की) कतारों में १-२ फुट की दूरी रखनी चाहिये। कतारों में १८ इच का फासला रखने से एक एकड़ में लगभग २०,००० बेहन लगाये जा सकते हैं। बसन्त ऋतु में बोये गये बीजों के बेहन अप्रैल-जुलाई में प्रतिरोपित किये जा सकते हैं और शरद ऋतु में बोये गये बीजों के बेहन अक्टूबर-नवम्बर में। अगर ऐसा न हो सके तो बेहनों को रोपणी (नर्सरी) की क्यारियों में ही पड़े रहने देना चाहिए और उन्हें दूसरे वर्ष बसन्त के आरम्भ में प्रतिरोपित करना चाहिये। कलम (cuttings) या विपाटों (splits) से भी पादप उगाये जा सकते हैं जैसा कि केनिया में किया जाता है। विपाट बेहत से बढ़े होते हैं, इसलिए आसानी से उनको लगाया जा सकता है, और इससे नर्सरी की क्यारियों में बीज उगाने की आवश्यकता भी दूर हो जाती है। इस तरह लगाये गये पौधे फूलते भी जल्दी हैं, किन्तु वर्धी प्रजनन (vegetative propagation) की प्रथा चलन में नहीं है, क्योंकि उससे पादपों का जीवन घट जाता है। आवश्यकता होने पर ही भूमि को पानी दिया जाता है। भूमि अच्छी तरह से जलोत्सारित होनी चाहिये और इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि पानी इकट्ठा न होने पाये। पहले वर्ष दो निराई और बाद के वर्षों में एक निराई होनी चाहिये।

अधिक मात्रा में नाइट्रोजनी खाद देने से प्ररोह की वृद्धि अधिक होती है किन्तु इससे पुष्पन क्रिया दब जाती है। होकाइडो के बागानों में मुख्य खाद जो उपयोग में लायी जाती है वह गोशाला का कूड़ा-करकट होता है और साथ ही मल, पादप-राख, भछलियों की खली, चूने का सुपर फास्फेट सहायक खाद के रूप में दिया जाता है।

मोशाला की वाद माधारणत प्रतिरोपण के भवय दी जाती है और सहायात्र वाद फूलों को चुन लेने के वाद दी जाती है। प्रतिरोपण के एक वर्ग के अन्दर पीढ़े फूलों लगते हैं, जिन्हें उपज बहुत कम होती है। पजाव में मार्म के अन्त में पुष्पण प्रारम्भ हो जाता है और मर्म के अन्त तक चलता रहता है। कम्भीर में पुष्पण का मौसम चून-जुलाई तक रहता है, और गद्वाग में वरावर वर्ष भर फूलते रहते हैं। बीज बोने के बाद तीसरे वर्ष बाजार में भेजने लायक पहली फूल प्राप्त होती है और लवार्ड का काम हर साल ३-४ वर्षों तक नालू रहता है। जब पुष्प-मुण्डक तीन चौथाई रुल जाते हैं तो उन्हें इकट्ठा कर लिया जाता है। ऐसा देखा गया है कि पुष्प-मुण्डकों के विकास के साथ-साथ सफिल तत्त्वों की मात्रा भी बढ़ती जाती है और जब सभी विम्बपुष्पफ (dise florets) सिल जाने हैं तब जल्दी तत्त्व फी मात्रा अग्रिमतम हो जाती है। सिद्धान्तत फूलों को ठीक उस भवय चुनना आहिये जब अन्तिम पुष्पक गिलने पर आ गये हो, जिन्हें वाणिज्यिक देती में ऐसा दरना व्यवहार्य नहीं हो पाता। फिर परिरक्षी गुण (Keeping quality) पर प्रीत्ता का प्रभाव पड़ता है, अधिक प्रीत्त पुष्पों में विद्यमान भवित्व तत्त्व अप्रौढ़ या प्राय प्रौढ़ पुष्पों में नजिक तत्त्व दी ध्येया अधिक द्रुतगति से अपघटित होते हैं। पुष्पों को जाधारणत हाथ में चुना जाता है। यूरोप के कुछ भागों में तपा अमेरिका में एक कल्पुलनुमा उपयरण ज्ञाम में लाते हैं जो पुष्प-मुण्डकों को गूतकर एक पात्र में गिरा देता है जो इस प्रयोजन के लिए उपयोग के पिछले भाग में बना रहता है।

ऊंचाई के अनुगार उपज भी मात्रा में अन्तर रहता है। केनिया में ५०००-६००० फुट की ऊंचाई पर औसत उपज ८५० पौंड प्रति एकड़ होती है और अनुकूल स्थितियों में ७८० पौंड तक पैदावार हुई है। ८५००-९५०० फुट की ऊंचाई पर प्रति एकड़ उपज ११२०-१६८० पौंड होती है। रुम्भीर में जहाँ ५०००-८००० फुट की ऊंचाईयों तक लाभप्रद कृषि सम्भव है, अधिकतम उपज ६००० फुट की ऊंचाई पर मिलती है। ९० पौंड प्रति एकड़ की औसत उपज केनिया की उपज की तुलना में बहुत है। आगाम में ४०००-६००० फुट की ऊंचाईयों पर ४०० पौंड प्रति एकड़ की उपज बतायी जाती है, कुमायूं (यू० पी०) का परीक्षणात्मक येती में २ वर्ष की आयु वाले पादपों से ५४ पौंड कुप्र पुष्प-मुण्डक की उपज हुई, मैसूर में ७५ पौंड प्रति एकड़ की उपज बतायी गयी है। उठीसा में की गयी परीक्षणात्मक येती से औसत ४० पौंड प्रति एकड़ उपज मिली है। ठण्डक और नमी से उपज घट जाती है। गर्भों के मौसम के आरम्भ में फूलों की चुनाई के बाद, पादपों की हरकी छटाई आवश्यक होती है ताकि पौधे हृष्ट पुष्ट बने रहें। अच्छी तरह सम्भाल कर रखे गये घगानों से ८-१० वर्षों

तक उपज मिल सकती है। पादपों के लगाये जाने के तीसरे वर्ष के बाद एकत्रित किये गये फूलों में पाइरेश्न की मात्रा धीरे-धीरे घट जाती है। ३-४ लवाई के बाद उपज अलाभकर होने लगती है और पौधों का पुन प्रतिरोपण शुरू किया जाता है।

कश्मीर में पुष्प-मुण्डकों को साधारणत धूप में सुखाते हैं। उनको तिनके की चटाइयों पर हल्की सतह में फैला दिया जाता है और बीच-बीच में फूलों को उलटा-पलटा जाता है, ताकि वे समान रूप से सूखे। रात को उनको सायेदार जगह में रखा जाता है। ५-७ दिनों में निर्जलीकरण (dehydration) की क्रिया पूरी हो जाती है और फूलों को अच्छी तरह सुखा तब समझ लिया जाता है जब अगुलियों से हल्का दबाने पर उनका चूरा बन जाता है। कश्मीर में ऐसा देखा गया है कि सायेदार स्थानों में सुखाये गये पुष्पों की अपेक्षा धूप में सुखाये गये पुष्पों में पाइरेश्न की मात्रा अधिक होती है। शुरू में तीन दिनों तक धूप में सुखाकर फिर सायेदार स्थान में सुखाने से सर्वाधिक सन्तोषप्रद पदार्थ मिलता है। पाइरेथ्रम के फूलों को सुखाने की मशीन भी बनायी गयी है। केनिया में जो मशीन पसन्द की जाती है उसमें गर्म हवा का प्रवाह एक के ऊपर एक करके रखी हुई छिछली थालियों से होकर गुजरता है जिनमें फूल रखे रहते हैं। सुखाने की सही अवस्था तब आती है जब फूल को अगूठे और अगुलियों के बीच दबाने पर वह चूरा नहीं हो जाता, बल्कि चूरा तब बनता है जब उसे चुटकियों में रखकर पूरते हुए मसाना जाये। उस अवस्था में फूलों में लगभग १० प्रतिशत थार्ड्रेटा रहती है, फूलों का प्राकृतिक रंग बना रहता है और उनको बहुत कम चिति पहुँचाये ही पैक किया जा सकता है और गांठ में बन्द किया जा सकता है। आवश्यकता से अधिक सुखाये गये पुष्प भगुर होते हैं और पैक करने में टूट जाते हैं। चूर्णिकृत भेषज ताजी दशा में पीत रंग का होता है, पर कुछ महीनों तक सग्रहागार में रखे जाने पर, अथवा जब फूल पुराने हो और उनको ठीक ढांग से नहीं तैयार किया गया हो, तो उसका रंग भद भूरा हो जाता है। सुखाये गये एवं चूर्णिकृत पुष्पमुण्डकों में एक विशिष्ट सुखद गध होती है। उनका स्वाद तीक्ष्ण और कटु होता है और उनसे ओष्ठ और जिह्वा में अवसन्नता की सवेदना पैदा होती है। वायुरोधी रगीन शीशा के भाण्डों में या आशिकरूप से रिक्तीकृत टीन के डब्बों में रखने से ये ठीक बने रहते हैं।

**रासायनिक सरचना** इन पुष्पमुण्डकों के मुख्य सक्रिय तत्व पाइरेश्न १ और पाइरेश्न २ हैं। पुष्पों के विभिन्न भागों में इनकी विद्यमानता तथा भारत के विभिन्न भागों से एवं अन्य स्रोतों से सग्रहीत किये गये पुष्पों में इनका सकेन्द्रण किस परिमाण में है यह नीचे दिखाया गया है —

पाइरेथ्रिनो की प्रतिशतता

द्रग	पुष्प-भृष्टक	सिले पुष्प	
प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत	
ऐकीन (फल)	२२७	४५४	
पात्र (ट्रिस्टिलि)	०२६	०२७*	
नहृपत्र चक्र के शल्क (Intralocular calc.)	०१५	—	
विस्व-पुष्पक (डिस्क पटोरेट)	सूक्ष्म	०४८	
बर्त-पुष्पक (रे फोरेट)	सूक्ष्म	०१८	
तना	०१५	—	
ज्ञोत	पाइरेथ्रिन १	पाइरेथ्रिन २	कुल पाइरेथ्रिन
	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
कदम्बीर (तन्मयं)	०३५	०५७	०९२
कदम्बीर (चारामुखा)	०२२	०६२	०९४
पजाव (पालमपुर)	०२२	०६८	०९०
पजाव (छुल्ल)	०३५	०४०	०७५
उ० प्र० (देहराहून)	०६३	०१५	०३८
उ० प० (गढवाल)	०२०	०२८	०५७
मद्राम (कोठड्डमैनाल)	०७६	०६५	१३८
मद्राम (फूनूर)	०४८	०८५	०८९
आमाम	—	—	१४१
चडीमा (भयूर भज)	—	—	११५
मैमूर (वगलोर)	—	—	०८०
श्री लका (हगाला)	०४७	०५७	१०४
केनिया	०७७	०५६	१३३
टाल्मेशिया	०३५	०६३	०९८
जापान	०३८	०६३	१०१

पुष्पो के ओलियोरेजिन गार से स्टाइगर और रुजिस्का (Staudinger and Ruzicka) द्वारा अलग किये पाइरेथ्रिन १ और पाइरेथ्रिन २, श्यान (viscous) तैलीय द्रव होते हैं जो हाइड्रोकार्बन फिलायको में विलेय होते हैं। जल-अपघटन करने पर पाइरेथ्रिन १ से एक असतृप्त कीटोनी ऐल्कोहॉल, पाइरेथ्रोलोन (Pyrilachrolone) तथा

\* पात्र तथा शल्क पत्र में

क्राइसैन्थमम मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल मिलते हैं और पाइरेश्म २ से पाइरेश्लोन और क्राइसैन्थमम डाई-कार्बोक्सिलिक अम्ल मिलते हैं। अभी हाल के अनुसधानों से पता चला है कि पाइरेश्न १ और पाइरेश्न २ ऐसे पदार्थों के मिश्रण हैं जिनमें क्राइसैन्थमम मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल, तथा क्राइसैन्थमम डाई-कार्बोक्सिलिक अम्ल एक या शायद अनेक कीटानों से एस्टरीकृत होते हैं। एक नया कोटोन सिनेरोलोन अलग किया गया है, और इसके तथा क्राइसैन्थमम मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल और क्राइसैन्थमम डाइ-कार्बोक्सिलिक अम्ल के सहयोग से उपलब्ध एस्टर क्रमशः सिनेरिन १ और सिनेरिन २ कहलाते हैं (नार्डिंगर-Gnadinger, 423)। ये पाइरेश्न वहुत असतृप्त यांगिक होते हैं, जिनकी सक्रियता हाइड्रोजनीकरण करने पर जाती रहती है। हवा और धूप में २०-२५° तापमान पर रखने से तीन दिनों के अन्दर ही पृथक्कृत पाइरेश्नों का ९७ प्रतिशत भाग अपघटित हो जाता है। वाणिज्यिक योगों में पाइरेश्न एवं सिनेरिन के अनुपात में अन्तर रहता है और तदनुसार उनकी कीटनाशी शक्तियों में भी अन्तर रहता है। पाइरेश्न, सिनेरिन की अपेक्षा, १३ गुना अधिक विषालु होते हैं, तथा घरेलू भविष्ययों के उन्मूलन में पाइरेश्न १ और सिनेरिन १, पाइरेश्न २ और सिनेरिन २ की अपेक्षा क्रमशः चार गुना अधिक प्रभावी होते हैं। पुष्पों से ओलियोरेजिन निकालने के लिए वहुत से विलायक और विलायकों के मिश्रण काम में लाये गये हैं। ऐल्कोहॉल, ऐसिटोन तथा मिट्टी के तेल के सम्मिश्र द्वारा पुष्पों का सार निकालकर, तत्पश्चात् समानीत दाब (reduced pressure) में ६०° से० नीचे आसवस द्वारा ऐल्कोहॉल और ऐसिटोन से विलग करके १०-१२५ प्रतिशत पाइरेश्न उपलब्ध किया गया है। पाइरेश्म में पाइरेश्न, सिनेरिन, फिनॉली पदार्थ (Phenolic bodies), तथा मोनो-एव डाई-क्राइसैन्थमम अम्लों के अतिरिक्त प्रोटो-कैटेचुइक, आइसोवैलेरिक, कैप्रोइक, लॉरिक, पामिटिक, ओलैइक और लिनोलैइक अम्ल मुक्त तथा सलग दोनों रूपों में पाये जाते हैं। कोलीन तथा स्टैचिड्रीन भी इसमें विद्यमान होते हैं। पुष्पों से एक वाष्पशील तैल ( $0.07$  प्रतिशत) उपलब्ध होता है, जिसमें एक पैराफिन ( $C_{14} H_{30}$ , गलनाक  $48-46^{\circ}$ ) एक पदार्थ गलनाक  $62^{\circ}$ , एक फिनॉल और सम्भवत् पामिटिक तथा ब्युटिरिक अम्ल विद्यमान रहते हैं। नीलगिरि से प्राप्त पुष्पों का विश्लेषण करने पर प्रतिग्राम पुष्पों में बीटा-कैरोटीन  $0.69$  माइक्रोग्राम, और कुल कैरोटिनांयड  $4.7$  माइक्रोग्राम प्रतिग्राम पाया गया।

नियततापी (warm-blooded) प्राणियों के लिए पाइरेश्न प्राय अविषालु होते हैं जब उनका भौखिक सेवन कराया जाय, किन्तु यदि रक्त में इनका प्रवेश करा दिया जाय तो उनका सुस्पष्ट विषालु प्रभाव पड़ता है और क्रिया का मूल्य स्थान भेह-रज्जु

(Spinai cord) होता है। कुछ ऐसे व्यक्तियों को जिनको पाइरेथ्रिन से ऐलर्जी है त्वक्क्षोष (dermatitis) या त्वचा के अन्य रोग हो जाते हैं। पुष्पो या निष्कर्षों का विपालु प्रभाव सम्भवत पाइरेथ्रिन के कारण नहीं पड़ता, क्योंकि वे (पाइरेथ्रिन) ९३ प्रतिशत का सकेन्द्रण होने पर भी अक्षोभक (non-irritant) होते हैं, वल्कि उनमें (पुष्पो या निष्कर्षों में) विद्यमान फेनॉली घटकों के कारण पड़ता है। पाइरेथ्रिन एक स्स्पर्श-विष (contact poison) है जो कीड़ों के लिए बड़ा विपालु होता है। इसका उपयोग चूर्ण के रूप में या छिड़काव द्वारा किया जा सकता है। छिड़काव के लिए उपयुक्त तरलमार, इमल्दान और निलधन तैयार किये गये हैं। तत्तु और पत्तियों में भी पर्याप्त कोट्ट-नाशक तत्क्रिया रहती है और पाइरेथ्रम के चूर्णों में जो इन विशिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं कभी-कभी वृत और पत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। भलेखिया रोधी औपथियों में पाइरेथ्रम के योगों का महत्वपूर्ण स्थान है और इनसे खेती और उद्धान-कृषि को बहुत से कीड़ों से सुरक्षा मिलती है। परजीवी कीड़ों से पशुधन की रक्षा करने के लिए पाइरेथ्रम का छिड़काव किया जाता है। इस हेतु भारी तेल में तैयार किये गये इमल्दान विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। साधारणतः ऐसा किया जाता है कि मानक सान्द्र (standard concentrate) तैयार कर लिये जाते हैं और प्रयोग करने से पहले उसे भारी तेल में आवश्यकतानुसार मिलाकर तत्तु (dilute) कर लिया जाता है। इसमें ५ प्रतिशत पाइरेथ्रिन तेल मिला देने से परजीवियों के विशुद्ध इसका प्रत्यपसारी (recurrent) प्रभाव बढ़ जाता है और तेल की गध दब जाती है। यूका रोग (Pediculosis) और स्केबीज में पाइरेथ्रम का बाह्यलेप बड़ा प्रभावी होता है। कुल पाइरेथ्रिन की ० ७५ प्रतिशत मात्रा उर्जवसा (urcaf), पेट्रोलेटम तथा पैराफीन में मरहम बनाकर लेप करने से स्केबीज में बढ़ा लाभ होता है। पशुचिकित्सा में ऐस्केरिस लिनियाटा (*Ascaris lineata*) तथा अन्य आवृपरजीवियों के विशुद्ध कीटनाशक के रूप में यह उपयोगी होता है। पाइरेथ्रन सान्द्रों को भण्डारण करने के पूर्व (प्रति उपचार्यका) (ऐटी-ऑक्सीडेन्ट) के साथ बन्द पात्रों में रखना चाहिये। प्रतिस्थापित (substituted) डाइहाइड्रोक्सीबेंजीन, ऐमिनो ऐन्थ्राकिनोल उच्च फिनॉल वर्ग, भल्लातक (मिलावा) के कटे छिलके से प्राप्त द्रव के सल्फोनेशन उत्पाद या अन्य एक्स्वक्त योगिकों को मिलाकर रखने से पाइरेथ्रम के सक्रिय तत्वों की जैविकीय स्थिरता बनी रहती है। भारत में ऐसे जलीय इमल्दान शीकर (sprays) विकसित किये जा चुके हैं जो जैविकी दृष्टि स्थायी होते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सैनिक उपयोग के लिए बड़ी मात्रा में ऐसे पाइरेथ्रम क्रीम तैयार किये गये थे जो चिकनाई रहित थे और मच्छरों को भगा देते थे।

कई अन्य क्लोरीनिट (chlorinated) मधिलए उत्पाद मुख्यतया डाइक्लोरो-डाइफैनिल ड्राइक्लोरोइथेन (डी. डी. टी.) और हेक्साक्लोरो-वेन्जीन जिनका कीटनाशी प्रभाव बहुत ही थधिक है, वाणिज्यिक पैमाने पर तैयार किये गये हैं, और इन्हें पाइरेथम के स्थान पर उपयोग में लाया जा रहा है, किन्तु कृषि और गोमालाओं में इनका उपयोग खतरे से बाली नहीं है। चूहों को ऐसा आहार देने पर जिसमें डी. डी. टी. की मात्रा १,०००,००० भाग में ५ भाग था, उनका यकृत छतिग्रस्त पाया गया। दुधारू पशुओं को ऐसा चारा खिलाने पर जिसमें डी. डी. टी. के अवशेष मिले हो उनके दूध में डी. डी. टी. का अश पाया जाता है। पाइरेथम के यौगिक कोई विपालु अवशेष नहीं छोड़ते और कृषि कारों में उनका उपयोग खतरा नहीं पैदा करता।

भारत में उपजे पाइरेथम का कुछ अश कीटनाशी औषधियों के उत्पादन में व्यवहृत होता है और कुछ निर्यात होता है। इस समय भारतीय उद्योग में खपने वाली मात्रा लगभग ५० टन वार्षिक है। १९५० ई० के फरवरी-मई की अवधि में भारत से ९३८ हन्डरेट पाइरेथम निर्यात किया गया था, जिसका मूल्य ९३,५७२ रुपया था। इसी अवधि में २०० टन पाइरेथम का पुनर्निर्यात किया गया। जिसका मूल्य ३,१९,००० रुपया रहा। अवटूबर १९४९ ई० से जनवरी १९५० की अवधि में इसका कोई निर्यात नहीं हुआ। देश में पाइरेथम के फूलों की वार्षिक आवश्यकता अनुमानत ४०००-६००० टन की है किन्तु वास्तविक उत्पादन इससे बहुत कम है, यद्यपि पाइरेथम की खेती बढ़ाने की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। हाल के वर्षों में देशीय पाइरेथम की मात्रा बहुत घट गयी है। नीलगिरि में जितनी भूमि इसकी खेती के अन्तर्गत है उसके एक भाग में अब वाटल (Wattle) की कृषि की जा रही है। क्लोरीनिट कीटनाशी यौगिकों का परिसीमन (लिमिटेशन) अब अधिकाधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा है और इस कारण सम्भव है कि पाइरेथम की मात्रा बढ़े। भारत में इस बात की पर्याप्त चेतना आ गयी है कि देश में पाइरेथम कीटनाशीयों के विकास के लिए एवं इसके व्यापक उपयोग को बढ़ावा देने के लिए संगठित प्रयास आवश्यक है।

### सन्दर्भ :—

- (1) *Wealth of India , Raw Materials*, 1950, II 143, (2) Gnadinger, C B, 1945, *Pyrethrum Flower*, (3) Chopra, R N, Kapoor, L D, Handa, K L, and Chopra, I C, 1947 *Indian Farming* 8, 78, (4) Chopra, R N, Kapoor, L D, Handa, K L, Chopra I C, and Nayer, S L, 1948, *Jour. Sci Industr. Res*, 7, 532, (5) *Bull Imp Inst*, Lond., 1930, 28, 300

## सिनकोना कॉर्टेक्स (रचूविएसी)

**Cinchona Cortex (Rubiaceae)**

सिनकोना छाल, पेरुवियन छाल, जेसुइट्स छाल

Cinchona bark, Peruvian bark, Jesuits bark

सिनकोना की छाल और उसके ऐल्केलॉयडो की, मलेरिया के उपचार में मूल्यवान औषधि होने के नाते, सम्पूर्ण विश्व में व्यापक माँग है। समूचा भारतवर्ष मम्भवत सभार में सबसे अधिक मलेरियाग्रस्त देश है, इसलिए इस भैयज की यहाँ अत्यधिक आवश्यकता है। सिनकोना जाति के अन्तर्गत ६५ स्पीशीज के सदाहरित कुप और वृक्ष आते हैं जो दक्षिणी अमेरिका के एण्टीज माउन्टेन्स (Andes Mountains) के मध्य और पश्चिमी शृंखलाओं के पूर्वी ढाल पर उगते हैं। ये कोस्टारिका से बोलिविया की दक्षिणी सीमातक समुद्र तीव्र तक से २,५०० फुट से ९,००० फुट तीव्र तक पाये जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सिनकोना की छाल का यूरोप में प्रवेश १६३९ ई० में चिनकोन की काउण्टेस (Countess of Chinchon) द्वारा हुआ। ऐसी किंवदन्ती है कि जब वह अपने पति के साथ पेरु में थी जो उस समय वहाँ के राज्यपाल थे, उसे शीत द्वारा हो आया और लोकसा के कोरिजिडोर (Corrigidor) द्वारा भेजी गयी छाल के सेवन से स्वस्थ हुई। लोकसा का कोरिजिडोर स्वयं उसके बाबू साल पूर्व इसी ज्वर से पीड़ित हुआ था, तब वह सिनकोना की छाल से ही स्वस्थ हुआ था। काउण्टेस को इस छाल के निरोगकारी गुणों पर इतना विश्वास हो गया कि उसने उसे अपने पति के सम्बन्धियों के पास स्पेन भेजा। स्पेन से इसकी व्याप्ति इटली में फैली और १७वीं शताब्दी के मध्य तक जेसुइट्स (पादरियो) के द्वारा इसका फास तथा इरलैण्ड में प्रवेश हुआ। भारत में अगरेजों के आगमन के साथ साथ इस भैयज का भी यहाँ प्रसार हुआ और उसने उन सभी अनिश्चित प्रभाव वाली औषधियों का, जिनका प्रयोग भारतवर्ष में मलेरिया के उपचार में होता था, स्थान ग्रहण कर लिया। १८२० ई० में फान्सीसी रसायनक ऐलेटिएर (Collector) ने किवनीन (कुनैन) को पृथक किया जो उम समय छालों का प्राय सम्पूर्ण ऐल्केलॉयड था।

इसकी छाल का प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में बढ़ गया कि ऐसा भय होने लगा कि विश्व-माँग की पूर्ति में दक्षिणी अमेरिका से प्राप्त इसकी छाल समाप्त हो जायगी। अत इसकी कुछ स्पीशीज को अन्यदेशों में उगाने का प्रयत्न किया गया, और १८५२ ई० में डच लोग जावा में सिनकोना वृक्षउ गाने में सफल हुए। भारत सरकार ने शीघ्र ही यहाँ सिनकोना के उत्पादन की सम्भावना और उससे प्राप्त होने वाले प्रभावकारी

परिणामों पर ध्यान दिया। १८६० ई० में सर क्लीमेण्ट बार० मार्क्सम (Sir Clement R. Markham) के प्रयत्न से दक्षिणी भारत में नीलगिरि की पहाड़ियों में सिनकोना वृक्षों को सफलता पूर्वक उगाया गया, और जब यहाँ सुचारू रूप से उनकी वृद्धि होने लगी तो १८६४ ई० में रगीघाटी के मग्पू (Mungpoo) स्थान पर और वर्मा के कारेन पहाड़ियों में भी इनकी खेती आरम्भ की गयी।

सिनकोना की मुख्य स्पीशीज जिनकी छापि भारत वर्ष में की गयी थी वे सिनकोना ऑफिसिनैलिस (*Cinchona officinalis*), सिनकोना कैलिसाया (*C. calisaya*), सिनकोना सक्सिस्लब्बा (*C. succirubra*), प्रसकर (*Hybrid*) स्पीशीज सिनकोना रोबस्टा (*C. robusta*) और सिनकोना लेजेरिअना (*C. ledgeriana*) हैं, किन्तु सिनकोना मिक्रान्था (*C. micrantha*), सिनकोना लैन्सिफोलिया (*C. lancifolia*), सिनकोना कॉर्डिफोलिया (*C. cordifolia*), सिनकोना ट्रिआनी (*C. trianae*), सिनकोना पाल्यू-डिअना (*C. paludiana*), सिनकोना जोजेफिअना (*C. josephiana*), सिनकोना काल्सोपेरा (*C. calsopeira*) इत्यादि को भी यहाँ उगाया गया है।

इनमें से सिनकोना सक्सिस्लब्बा (लाल छाल) सबसे अधिक दृढ़ (रोधी) तथा सर्वाधिक सरलता से छृष्ट योग्य सिद्ध हुयी है। इनमें कुल ऐल्केलॉयड १० प्रतिशत तक पाये जाते हैं। किन्तु उसमें विविडोन और सिनकोनीन का परिमाण विविनीन से अधिक रहता है। दक्षिणी भारत में इसका उत्पादन अधिक होता है और समुद्र की सतह से ४,५०० से ६,००० फुट की ऊँचाई तक यह प्राप्त होता है।

यह वर्मा की टोमेन्यू पहाड़ियों में, मध्यभारत के सत्पुड़ा पहाड़ियों में तथा पश्चिमी बगाल के मग्पू स्थित सरकारी रोपण स्थली में भलीभांति उत्पन्न होता है। जावा में इसके मूल स्तरम् पर सिनकोना लेजेरिअना का कलम लगाने (grafting) के लिए इसको उगाया जाता है।

### सिनकोना ऑफिसिनैलिस (सिनकोना कोण्डामिनिया)

*C. officinalis* Linn (*C. condaminea* Humb & Bonpl.)

#### भूरी छाल या पीली छाल

इसका उत्पादन नीलगिरि में उट्टकमण्ड के निकट २,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई पर और श्रीलंका में किया जाता था किन्तु सिङ्किम की जलवायु में इसका उत्पादन नहीं किया जा सका। इस स्पीशीज में कुल ऐल्केलॉयड का परिमाण अधिक होता है और विगत कुछ वर्षों में विविनीन का परिमाण भी बढ़ गया है। इससे जो छाल उपलब्ध होती है उसे वाणिज्य में क्राउन या लोक्सा छाल कहते हैं।

सिनकोना कैलिसाया (*C. callosa* Wedd.) से पीले छाल की उत्पत्ति होती है, और वह समुद्र की सतह से १५०० से ३००० फुट की ऊँचाई पर अधिक उत्पन्न होती है। यह नीलगिरि भी मेयर घाटी तथा सिंधिकम में पायी जाती है। १००० ग्राम बच्ची कैलिसाया छाल में, ३० ग्राम विवनीन रालफेट राहित ६० ग्राम एल्केलॉयड की प्राप्ति होती है। इस स्पीशीज को भी भारतीय जलवायु में भलीभांति उगाया जा रहा है।

सिनकोना हाईनिंडा या लेजरसकर (*C. ledgeriana* X *C. succirubra*) यह सिनकोना लेजेरिआना से अधिक दृढ़ (रोधी) होता है, और इसकी खेती वगाल के कुछ ही क्षेत्रों में की जाती है। सिनकोना रोबस्टा (*C. officinalis* X *C. succirubra*) मद्रास में ३५०० से ६००० फुट की ऊँचाई पर नदुवत्तम स्थान में उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण भारत में चगनेवाले सिनकोना वृक्ष का २२ प्रतिशत इसी स्पीशीज से प्राप्त होता है। एक अन्य सकर (*C. officinalis* X *C. ledgeriana*) मग्नु में उत्पन्न होता है।

सिनकोना लेजेरिआना (*C. ledgeriana* Moulis) जो लेजर छाल का स्रोत है, एक कमजोर, अनियमित रूप से किन्तु शीघ्रता ने बढ़नेवाला पादप है जिसकी अधिकतम ऊँचाई २० फुट होती है। कुछ वनस्पतिज्ञ इसे सिनकोना कैलिसाया की बैराइटी समझते हैं। इसके पर्ण चिकने, मोटे और उपाण्ड, पुष्प पीले, और फल अण्डाभ—भालाकार (*ovoid-lunccolate*), ८-१३ मि० मि० लम्बे होते हैं। इसकी उत्पत्ति ३००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर होती है। मुख्यतया इनी का उत्पादन वगाल में किया जाता है—( १९४८-४९ ई० में ४३८२ एकड़ में से ३६३४ एकड़ में सिनकोना लेजेरिआना की खेती हुई थी )। दक्षिणी भारत में टिनेवेली जिले तथा बनामलाई पहाड़ियों पर भी कृषिप्रदारा इतका उत्पादन किया जाता है। खासी और जयतिया पहाड़ियों पर ( ५००० फुट ऊँची ) जो रोपण-स्थली हैं उनमें लगाये गये वृक्षों से १९५२ ई० तक छाल निकालने की आशा की जाती थी। इसकी छाल में विवनीन की मात्रा अधिक होती है—( १४ प्रतिशत तक ), किन्तु इस स्पीशीज का सर्वधन कठिन है और इमकी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से नहीं की जा सकती। भारतवर्ष में उपलब्ध सिनकोना वृक्षों का ७२ प्रतिशत इसी स्पीशीज से प्राप्त होता है।

रथानीय माँग की पूर्ति के लिए उपरोक्त मुख्य स्पीशीज ही इस देश में उत्पन्न किये जाते हैं और अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी इन स्रोतों से यथासभव अधिक से अधिक छाल उपलब्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

**कृपि :** सिनकोना, विशेषकर सिनकोना लेजेरिआना, का सर्वधन ऊण जलवायु में ३००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर भलीभांति होता है। सिनकोना की वृद्धि के लिए

आवश्यक है कि साधारण उच्चताप ( $60^{\circ}$ - $75^{\circ}$  फारेन हाइट) हो जिसमें कम से कम असमानता हो, वर्ष भर नियमित रूप से अच्छी वर्षा ( $100$ - $150$  इन्च) हो, हल्की, अक्षत (virgin) बनभूमि हो जो कार्बनिक पदार्थों से समृद्ध हो, जहाँ जलोत्सरण भलीभांति होता हो तथा जो जलाक्रन्ति (water-Jogging) की समावना से रहत हो। सिनकोना के लिए अम्लीय-भूमि (पी-एच ४-५-६) चाहिये। इसके सफल उत्पादन के लिए भूमि के ऊपरी १ फुट के स्तर में ०-८ प्रतिशत नाइट्रोजन और निचली तृतीय फुट के स्तर पर कम से कम ० १ प्रतिशत नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है। तीव्र वायु के झोको से सुरक्षित ढालुआ भूमि श्रेयस्कर होती है। मद्रास के कुछ भागों में जहाँ वर्ष भर में ४-५ इन्च वर्षा होती है तथा पर्याप्त समय तक सूखा भी रहता है, सिनकोना का उत्पादन किया गया है। भारतवर्ष में बगाल तथा मद्रास में इसकी खेती होती है।

**प्रवर्धन (Propagation),**—सिनकोना का प्रवर्धन बीजद्वारा या पौधों के अन्य भागों से किया जाता है। सिनकोना की सभी जात स्पीशीज अत्यन्त विषमयुग्मजी (heterozygous) हैं, और कायिक प्रवर्धन (vegetative propagation) की विविधाँ ही एकमात्र उपाय है जिससे सतति में छुने हुए पितृ गुण को स्थिर रखा जा सकता है। भारतवर्ष में बीजों द्वारा प्रजनन विधि ही साधारणत अपनायी गयी है, क्योंकि अपेक्षाकृत यह अल्पव्ययसाध्य है और सर्वोत्तम स्पीशीज के बीज भी सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। सिनकोना के बीज बहुत छोटे तथा हल्के होते हैं,  $38000$  बीजों का भार एक औंस ही होता है। वेहन ढालुआ भूमि पर  $12 \times 4$  फुट की क्यारियों में रोपा जाता है तथा छप्पर से छेंक दिया जाता है। क्यारियों की भूमि के ऊपरी स्तर में २-३ इच्च की गहराई तक बालू तथा पत्तियों की साद जो समान मात्रा में मिली रहती है हाथ से भलोभांति दबा दिया जाता है ताकि सभी स्थान एक रूप से ठोस और समतल हो जायें। बीज-क्यारियों या रोपणी की भूमि में किसी भी दशा में पशुओं की साद नहीं मिलानी चाहिये। सग्न करने के पश्चात् बीजों को यथासम्भव शीघ्रता से बोंदेना चाहिये क्योंकि रखने से उसकी अकुरण-क्षमता कम हो जाती है। बीजों को सतह पर धनेहृप से छीट दिया जाता है। बीजों को यथास्थान रखने के लिए उनके ऊपर महीन रेत छिड़क दी जाती है और कुहारे द्वारा क्यारियों को हल्के पानी से सीच दिया जाता है। इन क्यारियों की धूप से रक्षा करनी चाहिये। जलवायु के अनुसार बोने के पश्चात् ३-६ सप्ताह में बीज उग आते हैं। जब बीजाकुर एक इच्च केंद्रे तथा दो जोड़े पत्तियों वाले हो जाते हैं, तो उन्हे रोपणी-क्यारियों में लगा दिया जाता है। इन क्यारियों

को बीज की क्यारियो के ही समान सावधानी से तैयार किया जाता है, किन्तु इनमें रेत या पत्तियों की खाद का स्तर अधिक मोटा होता है। चार चार इच की दूरी पर एक नुकीली छड़ी (खूटी) द्वारा छोटे छोटे गडे बनाकर इनका प्रतिरोपण पक्षियों में किया जाता है। आसाम और बगाल में बीज की क्यारियों में पौधों की दूरी १५ इच तथा पक्षियों के बीच की दूरी २ इच और रोपणी क्यारियों में पौधों के बीच की दूरी ४ इच के लगभग होती है। साधारणत छप्पर द्वारा इनको छाया प्रदान की जाती है और यदि वर्षा ८० इच से अधिक न हो तो सुदृढ़ फर्न या छोटी ऊँचाई वाले पाम (ताल) के पादपों से छाया प्रदान की जाती है। जब पौधे बढ़ जाते हैं तो छाया क्रमशः हटा दी जाती है। नव पादप जब १८-२४ इच ऊँचे और १४-१८ माह के हो जाते हैं तब वे रोपस्थली (खेतों) में लगाये जाते हैं। लगाने का समय वर्षान्तिर्गत आरम्भ होने से पहले होता है।

पौधों के बीच की दूरी कितनी हो यह भूमि की समृद्धि (उर्वरता), ऊँचाई और स्पीशीज के ऊपर निर्भर करती है। किसी किसी रोपस्थली में पौधों के बीच की दूरी  $6 \times 6$  फुट होती है, पर अधिक तर  $4 \times 4$  फुट की दूरी ही रखी जाती है और प्रति एकड़ भूमि में २४०० पौधे लगाये जाते हैं। पौधों को अपेक्षाकृत निकट लगाना अच्छा समझा जाता है क्योंकि इस प्रकार पौधों की छाया पृष्ठीय मूलिकाओं (superficial rootlets) को सूर्यप्रकाश से सुरक्षित रखती है और धासों को बढ़ने नहीं देती। इससे वृक्षों के स्तम्भ सीधे और निशाच होकर ऊपर बढ़ते हैं। छाल की वृद्धि के समय उसका प्रकाश से पृथक रहना भी, ऐल्केलॉयड के उत्पादन में वृद्धि का कारण होता है। बढ़ते समय जब वृक्ष एक दूसरे को दबाने लगते हैं तो उनमें से कुछ पौधों को निकाल दिया जाता है, इस प्रकार अपेक्षाकृत समय से पहले ही कुछ छाल मिल जाती है, तथा बागानों को भी निश्चित लाभ पहुँचता है। छोटे वृक्षों को छाया की आवश्यकता पड़ती है, इसकी पूर्ति छापेदार वृक्षों को २० फुट की दूरी पर लगाकर की जाती है। मून्साग बागान (रोपणस्थली) में एल्नस नेपालेन्सिस, एरीशिना इण्डिका और अल्विजिआ स्टिपुलाटा (*Alnus nepalensis*, *Erythrina indica* and *Abies stipulata*) को छापेदार वृक्ष के रूप में लगाया जाता है। एल्नस-नेपालेन्सिस एक ऊँचा तथा सीधा वृक्ष है जिसके मूल ग्रन्थी में नाइट्रोकारी जीवाणु होते हैं तथा भूमिकटाव रोकने में विशेष लाभकारी होता है। दक्षिण भारत में इस कार्य के लिए ग्रैविलिअ-रोबस्टा (*Gravillia robusta*) का साधारणत उपयोग किया जाता है। इस प्रकार सिनकोना

की रोपस्थली में साधारणत प्रत्येक वर्गकार क्षेत्र में २४ सिनकोना पादप होते हैं तथा छायेदार वृक्ष २० फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं। रूस के काकेगस क्षेत्र में सिनकोना का उत्पादन वाष्णविक श्रौर द्विवार्षिक स्त्र्य के रूप में किया जाता है। शीत ऋतु में अत्यधिक ठण्ड पड़ने के कारण नवोदयिज या कर्तन को काच्चू में रखना पड़ता है। वसन्त-ऋतु में एक एकड में ४४००० पौधों के हिसाब से  $12 \times 12$  इच्च की दूरी पर खेतों में लगाये जाते हैं और शरद-ऋतु में काटे जाते हैं। समूचे पादप को ऐन्केलॉयड निकालने के काम में लाते हैं। महायुद्ध के वर्षों में भारतवर्ष में उत्पादन की एक सशोधित विधि का परीक्षण किया गया था किन्तु आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न होने के कारण त्याग दी गयी थी। सिनकोना लेजेरियाना की कृषि के लिए अक्षत भूमि वरेष्य होती है किन्तु इस प्रकार की भूमि सीमित होने के कारण, सिनकोना क्षेत्रों को साफ करके उनमें उत्पादन आवश्यक हो जाता है। जावा में सिनकोना सक्सिसरुज्जा के स्कन्ध के ऊपर सिनकोना लेजरियाना के चुने हुए स्ट्रेन्स strains की कलम लगाने की प्रथा है, क्योंकि सिनकोना सक्सिसरुज्जा ऐसी भूमि में भी अंकुरित हो जाता है जो सिनकोना लेजेरियाना के लिए अनुपयुक्त होती है। सिनकोना रोबस्टा का प्रयोग भी स्कन्ध वृक्ष के रूप में किया जा सकता है।

भारतवर्ष में कायिक प्रवर्धन (vegetative propagation) की विधि पर पर्याप्त कार्य किया गया है। दक्षिणी भारत के बागानों में, विवनीन की अधिक उपलब्धि के लिए चुनी गयी सिनकोना लेजेरियाना के क्लोन के ऊपर किये गये परिक्षणों से ज्ञात होता है कि खण्ड मुकुलन (patch budding) की सशोधित जाफना विधि, जिसमें खण्ड, छालों द्वारा ढका रहता है ८१-९५ प्रतिशत सफलता प्रदान करती है, और नाकामुरा की पार्श्व रोपण (side grafting) विधि से ४७ प्रतिशत सफलता मिलती है। लकड़ी में किये गये परीक्षण से ज्ञात होता है कि पौधे के अग्रभाग के कर्तन (cutting) से उससे निचले भाग के कर्तन की अपेक्षा अच्छा परिणाम मिलता है। सिनकोना लेजेरियाना एवं सिनकोना सक्सिसरुज्जा के अग्रभाग के छोटे कर्तनों से क्रमशः ४४ ८ तथा ७९.१ प्रतिशत कलमों में जड़ें निकल आयी। सिनकोना सक्सिसरुज्जा के स्कन्ध पर सिनकोना लेजेरियाना का कलम दीर्घ-उपरोपण (Cleft grafting) विधि से लगाने से यह प्रगट होता है कि दक्ष कलम लगाने वालों के द्वारा ९० प्रतिशत कलमों लग जाती हैं। चापोपरोपण (inarching) की अपेक्षा आँकिसन साधित (auxin treated) गूटी (कलमों) द्वारा प्रवर्धन अधिक सरल बताया जाता है। ऐसा कहा जाता है, इसमें समय कम लगता है और यह अधिक सुविधाजनक होता है। २ से

३ वर्ष पुरानी शाखाओं की गूटी लगायी जा सकती है। मगपू में किये गये परीक्षण प्रयोगों में, सिनकोना लेजेरिक्सना की जो गूटी लगाई जानेवाली थी उनको मिट्टी लगाने के पहले, लैनोलिन में इन्डोल व्यूटिरिक अम्ल के २ प्रतिशत का लेप लगाकर २४ घन्टे तक रखा गया था। ऐसा देखा गया कि चार महीनों के अन्दर ही ८८ प्रतिशत कलमों में सूख जड़े निकल आयी। कठोर दारुवाले कर्तनों को ००२ प्रतिशत इन्डोल व्यूटिरिक अम्ल के धोल में २४ घन्टे तक रखने पर २० प्रतिशत कर्तनों में ही जड़े निकली।

संग्रहण पेड़ों की छाल का निकाला जाना चौथे वर्ष से ही आरम्भ कर दिया जाता है जब कि पौधों का वार्षिक विरलन आवश्यक हो जाता है। काटी गयी टहनियों तथा अस्वस्थ उखाड़े गये वृक्षों की छाल को, ऐल्केलॉयड निकालने के काम में लाया जाता है। जब पेड़ १०-१२ वर्ष के हो जाते हैं तो उनमें ऐल्केलॉयड की मात्रा अधिक-तम रहती है और तब सभी पेड़ों से छाल निकाली जाती है। वृक्ष की शाखाओं को अलग कर दिया जाता है, और जमीन से ५ फुट ऊपर तक छोड़कर तनों को काट दिया जाता है। पेड़ के ठूठों को खनकर बाहर निकाल लिया जाता है, जड़ों को साफ़ कर लिया जाता है और छाल को अस्थि-क्षुर (bone knife) द्वारा अलग कर लिया जाता है। तनों और शाखाओं को ऊपर से धीरे-धीरे ठोकने से छाल ढीली हो जाती है और आमानी से अलग हो जाती है।

छाल का सुखाना 'एकत्रित छाल को धीरे-धीरे सुखाया जाता है, और भी अच्छा हो यदि उन्हे छायादार स्थान में सुखाया जाय। वर्षा ऋतु में, इसी प्रयोजन के लिए बनाये गये विशेष प्रकार के छायादार स्थानों में अथवा कृत्रिम ताप देकर इन्हें सुखाया जाता है। छाल को लम्बी अवधि तक १७५° फारेनहाइट से ऊपर के तापमान पर या धूप में खुला न रखना चाहिये। साधारणत ऐसा किया जाता है कि छाल की सूखे मौसम में अलग किया जाता है और समय समय पर उन्हें उलट पुलट कर सुखाया जाता है।

सुखाने के समय उनमें न तो फफूदी पड़नी चाहिये और न किण्वन आना चाहिये। ठीक तरह से सुखायी गयी छाल कई महीनों तक ज्यों की त्यो बनी रहती है और उसमें कोई अवहास नहीं आता। सूखी छाल को बोरो में बन्द कर दिया जाता है और प्रत्येक बोरे में १०० पौँड छाल भरी जाती है। सुखाते समय उनके भार में लगभग ७० प्रतिशत की कमी आ जाती है।

**स्थानापन्न द्रव्य :** सिनकोना लैन्सिफोलिया [*C. lancifolia* Mutis कोलम्बियन छाल], सिनकोना ओवेटा (*C. ovata* Ruiz & Pav.) (नरजाद छाल), रेमिजिया पिंडकुलेटा (*Remyia pedunculata* Flueck क्यूप्रिया छाल) तथा रेमिजिया पुर्डियाना

( *Remijia purpurea* Wedd ) की छाल वहुधा सिनकोना की छाल के स्थान पर प्रयुक्त की जाती है ।

भारत में किवनीन के सम्भरण-स्रोत . भारत में किवनीन की वार्षिक स्थपत इस समय लगभग २,००,००० पौण्ड है जो निम्नलिखित दो स्रोतों से उपलब्ध होती है । —

( अ ) भारत में सिनकोना के दो बगान हैं जिन पर राजकीय स्वामित्व है और जिनमें किवनीन के उत्पादन के लिए फैक्टरियाँ भी हैं । इनमें से एक बगाल के दार्जिला जिले में मगध नामक स्थान पर है और दूसरा नीलगिरि में उटकमण्ड के समीप नेदुवत्तम नामक स्थान पर है । पहले नीलगिरि में निजी स्वामित्व वाले कई बगान थे किन्तु उधर कुछ वर्षों में उनकी दशा इतनी बिगड़ गयी कि नहीं के बराबर हो गये । बगाल में सिनकोना कृषि के सुर्पर्टेंडेण्ट सी० सी० काटडर के अनुसार निजी बगानों के सिनकोना की छाल बाजार में बहुतायत से मिलती थी, अब यह सर्वथा दुलेभ हो गयी है । जब यह बाजार में आती भी है तो अपने घटिया गुणों के कारण बाजार भाव से कम मूल्य पर विकती है ।

( ब ) दोनों फैक्टरियों द्वारा उत्पादित किवनीन की मात्रा कुल मिलाकर १,००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष से अधिक नहीं होती है, इसलिए इसे बड़ी मात्रा में बाहर से मेंगाया जाता है । भारतवर्ष में किवनीन के न्यून उत्पादन का कारण यह रहा है कि सिनकोना की खेती बहुत कम भूमि में की जाती है । बगाल और मद्रास में राजकीय बगानों में सिनकोना का उत्पादन कितने क्षेत्रफल में होता है यह नीचे दिखाया गया है । इसके अतिरिक्त सिनकोना की खेती के लिए ३८,००० एकड़ अतिरिक्त उपयुक्त भूमि की भी सूचना मिली है ।

वर्ष	कुल एकड़ भूमि	वर्ष	कुल एकड़ भूमि
१९३९-४० ई०	५३२२ १०	१९४४-४५ ई०	७६४४ ०७
१९४०-४१ ई०	५४३७ ५९	१९४५-४६ ई०	९२३७ ६३
१९४१-४२ ई०	५६०७ ५९	१९४६-४७ ई०	१०५३७ ७३
१९४२-४३ ई०	५९५५ ९७	१९४७-४८ ई०	११७७७ ५३
१९४३-४४ ई०	६५०८ ६९	१९४८-४९ ई०	१३०१७.१३

भारत में किवनीन ( कुनैन ) की आवश्यकता ।

भारतीय जनता के दृष्टिकोण से किवनीन एक ऐसा भेषज है जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता है और यह बात इस तथ्य से स्वतं स्पष्ट हो जाती है कि देश में मलेरिया का रोग सर्वाधिक व्यापक है और इसके निरोध एवं उपचार के लिए किवनीन का

उपयोग किया जाता है। इस रोग का यहाँ इतना व्यापक होना ही इस मांग के लिए पर्यासि कारण है कि इस बहुमूल्य भैपज की सप्लाई पर्यासि मात्रा में होनी चाहिये। ऐसा बाँका गया है कि भारत में मलेरिया के १० करोड़ रोगी विना उपचार के रह जाते हैं, और ८० लाख से कुछ कम पर रोगियों को सम्यक् अथवा आशिक उपचार मिल रहा है। यह जहरी नहीं है कि ये अफिडे विलकुल सही हो, किर भी इनसे इतना तो स्थृत ही हो जाता है कि देश में इस रोग से कितने ज्यादा लोगों को कष्ट मिल रहा है। इससे अत्यधिक मृत्यु होने के अतिरिक्त रोगी कार्य करने में अक्षम हो जाते हैं और उनकी यह अक्षमता अस्थायी भी होती है और स्थायी भी। इससे जो आर्थिक क्षति पहुँचती है और आर्थिक क्षति के फल स्वरूप देश को जो दण्ड भुगतना पड़ता है वह अत्यधिक है। जहाँ तक विवनीन के उत्पादन का प्रस्तुत है, भारत अभी भी उससे आधे से कम का उत्पादन करता है जितने की यहाँ वार्षिक उपत है। कुल २,००,००० पौंड में से १,१०,००० पौंड विवनीन तो बाहर से मगायी जाती है और यहाँ केवल ९०,००० पौंड ही पैदा की जाती है। कृष्णन के अनुसार १,४०,००० पौंड विवनीन का आयात होती है और केवल ७०,००० पौंड का यहाँ उत्पादन होता है।

कई सिलिष्ट मलेरियारोधी भैपजों के उत्पादन से विवनीन को स्थिरता में परिवर्तन आ गया है। इन सिलिष्ट भैपजों को बटी मात्रा में यहाँ हर साल बाहर से मगाया जाता है। यह भी बता दिया जाय कि जहाँ तक मलेरिया के तीव्र आक्रमण के लक्षणों को नियन्त्रण में लाने का सम्बन्ध है, विवनीन अब भी अन्य सिलिष्ट भैपजों की तुलना में अच्छा ही पड़ता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी मलेरियारोधी सिलिष्ट औपचार्य अभी भारत में तैयार नहीं होती। इसलिए आपात काल में, जैसे कि युद्ध के समय, यदि इमका बाहर से आना बन्द हो जाय तो भारत को मलेरिया के उपचार के लिए मुख्यत सिनकोना के ऐल्केलॉयडो पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। इसलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि सिनकोना बागानों को बगर बढ़ाया न जाय तो वर्तमान बगानों में उत्पादन तो जारी रखा ही जाय। हाल में चालू किया गया "नैशनल एण्टीमलेरिया कन्ट्रोल" नामक संस्थान, १० करोड़ लोगों को मलेरिया से सरक्षण प्रदान कर चुका है और यथा समय वह देश भर में यह सरक्षण प्रदान करने लगेगा। स्वाभाविक है कि इससे सभी प्रकार के सिलिष्ट मलेरियारोधी भैपजों की आवश्यकता कम हो जायगी।

**विवनीन के अतिरिक्त सिनकोना छाल से प्राप्त होने वाले अन्य ऐल्केलॉयड़ :**

भारतवर्ष के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि चिकित्सावृत्तिवालों ने सिनकोना

छाल के सभी ऐल्केलॉयडो में केवल क्विनीन (कुनीन) को ही मान्यता दे रखी है। लैफिटनेण्ट कर्नल आर नावुल्स एवं सिनियर ह्लाइट (Lieut—Col. R. Knowles and Senior-White) द्वारा तैयार किये गये एक प्रकाशित ग्रथ में मलेरिया के उपचार का जो इतिहास दिया गया है इसको देखन से प्रकट होता है कि क्विनीन सल्फेट का नैत्यक (roulline) उपयोग एक आकस्मिक घटना मात्र है उसमें कहा गया है—“यह निश्चयात्मक तथ्य से बहुत दूर है कि सिनकोना छाल से उपलब्ध होने वाले सभी ऐल्केलॉयडो में क्विनीन ही उपयोग के लिए सबसे अच्छा है। क्विनीन तथा सिनकोनिडीन दोनों ही मलेरियारोधी क्षमता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी है।” मलय स्टेट में कउलालामपुर में फ्लेचर (Fletcher) द्वारा किए अनुसंधान कार्य से तथा “कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन” में जो अनुभव प्राप्त हुए है उनसे यह प्रकट होता है कि क्विनीन के अतिरिक्त अन्य सभी ऐल्केलॉयड भी जो सिनकोना छाल से उपलब्ध होते हैं मलेरिया के उपचार में बहुत प्रभावी होते हैं अगर इनको उसी मात्रा में दिया जाय जिस मात्रा में क्विनीन दी जाती है। छाल के कुल ऐल्केलॉयडो को “कारमाइकेल हाँस्पिटल फॉर ट्रापिकल डिजीजेज” में तथा “कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन” के वहिरण विभाग में, सिनकोना फेन्रिफ्यूज के रूप में, कई वर्षों तक सफल परिणामों के साथ व्यवहृत किया गया है। ऐसा मालूम होता है कि मलेरिया के उपचार में सिनकोना के अन्य ऐल्केलॉयडो का जो प्रभाव पड़ता है, उसे चिकित्सकों द्वारा पर्याप्त मान्यता नहीं दी गयी है। यदि मलेरिया रोकने में उनका प्रभाव क्विनीन के बराबर न भी पड़ता हो तो भी उनका प्रयोग करना अच्छा होगा। जो लोग क्विनीन स्तरीद सकते हैं उनके लिए क्विनीन को मलेरिया की औषधि बना रहने दिया जाय, किन्तु कुल ऐल्केलॉयडो को जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसे मूल्य पर उपलब्ध कराया जाय जिसपर जनता उसे स्तरीद सकती है।

**सिनकोना छाल का रसायन :**—सिनकोना का सबसे महत्वपूर्ण ऐल्केलॉयड क्विनीन है। इसके अतिरिक्त बीस और ऐल्केलॉयड सिनकोना से पृथक किये गये हैं, जिनमें सिनकोनिडीन, क्विनिडीन तथा सिनकोनीन महत्वपूर्ण है। ये ऐल्केलॉयड क्विनिक एवं सिनकोटैनिक अम्लों के लवण के रूप में विद्यमान रहते हैं और सिनकोना की विभिन्न जातियों में इनके सकेन्द्रण की जो सापेक्षिन मात्रा होती है, उसमें अन्तर रहता है। सिनकोना लेजेरिआना, सिनकोना कैलिसाया तथा सिनकोना आफिसिनैलिस का प्रमुख ऐल्केलॉयड क्विनीन है, जब कि सिनकोना सक्सिसरूना का प्रमुख ऐल्केलॉयड सिनकोनीन है। पादपों में कुल ऐल्केलॉयडो की मात्रा ८ से १२ वर्ष की वायु तक

बढ़ती जाती है और उसके बाद वह घटने लगती है। पादपो के रसारोहण (Ascent of sap) काल में ऐल्केलॉयड बनने लगते हैं। टहनियो में ऐल्केलॉयडो का सकेन्द्रण कम रहता है और तने के नीचे की ओर उनका सकेन्द्रण बढ़ता जाता है और मूल की छाल में सर्वाधिक रहता है। सिनकोना लेजेरियाना के तने की छाल में कुल ऐल्केलॉयडो का ९० प्रतिशत विवनीन होता है जब कि मूल की छाल के कुल ऐल्केलॉयडो में विवनीन लगभग ६० प्रतिशत होता है। पत्तियों में लगभग १ प्रतिशत ऐल्केलॉयड होता है। सुदूरपूर्व में सिनकोना की कृषि के आरम्भिक वर्षों में सिनकोना सक्रिस्तन्ना के कुल ऐल्केलॉयड औपधीय प्रयोजनों के लिए 'विवनेटम' के नाम से व्यवहृत किये जाते थे। भारत में जब सक्रिस्तन्ना का स्थान अन्य जातियों ने ले लिया तो क्रमशः विवनेटम की जगह 'सिनकोना फेनिप्यूज' का प्रयोग होने लगा जिसमें विवनीन निकाल लेने के बाद अवशिष्ट ऐल्केलॉयड होते हैं। राष्ट्रसघ ( League of Nations ) के भलेरिया कमीशन ने विवनेटम के सम्बन्ध में यह पुनर्निर्धारित किया था कि इसमें विवनीन, सिनकोनिडीन तथा सिनकोनीन सम भाग में मिश्रित रहते हैं और कमीशन ने एक नया उत्पाद चालू किया जिसे 'टोटाक्वीन' या 'टोटाक्विना' कहते हैं। व्रिटिश भेषजकोश में 'टोटाक्वीन' के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि इसमें सिनकोना के कुल क्रिस्टली ऐल्केलॉयड-विवनीन, सिनकोनिडीन, सिनकोनीन तथा विवनिडीन-७० प्रतिशत से कम नहीं होते और उनमें विवनीन का अश दूसे कम नहीं होता। भलेरियारोधी भेषज के रूप में व्यवहृत करने के लिए सिनकोना फेनिप्यूज के भौतिक गुणों एवं सरचना में अन्तर रहता है और यह 'टोटाक्विना' के मानक का ही होना चाहिये। विवनीन एवं विवनिडीन समावयवी हैं और ये क्रमशः वामावर्त एवं दक्षावर्त हैं। मेथाँविसल ग्रूप की विद्यमानता के कारण ये दोनों सिनकोनीन एवं सिनकोनिडीन से भिन्न होते हैं। मूलानुपाती ( empirical ) सूत्र की दृष्टि से विवनीन को मेर्थांवसी-सिनकोनिडीन एवं विवनिडीन को मेर्थांवसी-सिनकोनीन माना जा सकता है।

सिनकोना के प्रमुख ऐल्केलॉयडों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है— अर्थात् विवनिडीन के व्युत्पन्न तथा विपमचक्रीय बलयक्रम ( heterocyclic ring system ) के व्युत्पन्न जो पहले “अणु का द्वितीयार्ध कहलाता था। इस द्वितीयार्ध की सरचना चारों ऐल्केलॉयडों में एक सी ही है। विवनीन का पूर्ण सरलेषण १६४५ ई० में घोषित किया गया था।

भारत (मग्पू) में पैदा होने वाले सिनकोना की प्रमुख जातियों की जड़ों, तनों तथा आखाभों की छाल से जो महत्वपूर्ण ऐल्केलॉयड उपलब्ध होते हैं उनकी मात्रा, सारणी न० ५ में दिखायी गई है।

## सारणी-५

	विवरीन प्रतिशत	सिनको- निडीन	विवरी- डीन	सिनको- नीन	अक्रिस्ट- लीय	कुल
<b>सिनकोना लेजेरिआना</b>						
मूल	{ छाल एल्केलायड का	{ ५११ ०४४ ६८४ ५९	०५३ ०६८ ०७१ ७४७	०६८ ०९१ ९५		
स्कथ	{ छाल एल्केलायड का	{ ४१४ ०३६ ७१५ ६२	०४४ ०२५ ०६० ५७९	०२५ ४३ १०४		
शाखा	{ छाल एल्केलायड का	{ १९८ ००९ ६६४ ३१	०१४ ०२० ०५७ २९८	०२० ६७ १९.१		
<b>सिनकोना सकर</b>						
(हाइब्रिड)						
मूल	{ छाल एल्केलायड का	{ ३१० ०६३ ५०५ १०३	०५० १२२ ०६९ ६१४	१२२ १९९ ११२		
स्कथ	{ छाल एल्केलायड का	{ २८७ ०३३ ६३२ ७३	०३४ ०४६ ०५४ ४४४	०४६ ७५ १०१ ११९		
शाखा	{ छाल एल्केलायड का	{ १७९ ०२१ ५४२ ६४	०२९ ०४४ ०६६ ३३०	०२९ ६२ १३३ २००		
<b>सिनकोना</b>						
आॅफिसिनैलिस						
मूल	{ छाल एल्केलायड क	{ १७६ ०४९ ४२३ ११८	०५२ ०६६ ०६३ ४१६	०६६ ११९ १५१		
स्कथ	{ छाल एल्केलायड का	{ २५६ ०८९ ५७९ २०२	०१३ ०३७ ०४७ ४४२	०३७ २९ ८४ १०६		
शाखा	{ छाल एल्केलायड का	{ १४४ ०४९ ६१३ २०८	००९ ०१९ ०१४ २३५	०१९ ३८ ८१ ६०		
<b>सिनकोना सनिसर्लव्हा</b>						
मूल	{ छाल एल्केलायड का	{ १४२ ११२ १९७ १५५	०३७ ३०० १३० ७२१	३०० ४१७ १८०		
स्कथ	{ छाल एल्केलायड का	{ १७४ १४७ २८६ २४१	०२० १६३ १०५ ६०९	१६३ ३३ २६८ १७२		
शाखा	{ छाल एल्केलायड का	{ ११६ ०८२ २९० २०५	०२० ११० ०७२ ४.००	११० ५० २७५ १८०		

### सिनकोना छाल के कुल ऐल्केलॉयड सिनकोना फेनिफ्यूज

“सिनकोना फेनिफ्यूज” पद अस्पष्ट है। १९०३ ई० से पहले सिनकोना सविसर्वा के कुल मिश्रित ऐल्केलॉयडो को ‘सिनकोना फेनिफ्यूज’ कहा जाता था। १९०३ ई० के बाद, सिनकोना लेजेरिआना तथा इससे और सिनकोना सविसर्वा से उत्पन्न सकर (hybrid) की छाल से किवनीन निकाल लेने के पश्चात् अवशिष्ट ऐल्केलॉयडो के मिश्रण को मिनकोना फेनिफ्यूज कहा जाने लगा। इस मिश्रण में कुछ मात्रा किवनीन की मिला दी जाती थी, ताकि सरचना में वह भौलिक सिनकोना फेनिफ्यूज के सदृश हो जाय। यह चूर्ण एवं टिकिया के रूप में यहाँ जनता को बेचा जा रहा है और इसकी कीमत शुद्ध किवनीन (कुनैन) से कम होती है। जैसा यह आमतौर से मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि इसमें छाल के सार एवं किवनीन के उपोत्पादो का मिश्रण रहता है जिसे किवनीन निर्माता किसी तरह निकाल देना चाहते हैं। इनमें से कुछ मिश्रण उत्कृष्ट कोटि के होते हैं जिसमें ऐल्केलॉयडो की मात्रा बहुत ज्यादा होती है और बहुत में अनुभवी चिकित्सक इन्हें चिकित्सीय दृष्टि से किवनीन जैसा ही लाभकर मानते हैं। कुछ मिश्रण निश्चय ही घटिया होते हैं और उनमें ऐल्केलॉयडो का अश बहुत कम होता है। विभिन्न नमूनों की सरचना तथा उनमें विद्यमान ऐल्केलॉयडो की मात्रा विश्लेषण करने पर कितनी मिली यह नीचे दिखाया गया है।

किवनीन	—	—	—	२७—१५५ प्रतिशत
सिनकोनिडीन	—	—	—	३४—३५० "
सिनकोनीन	—	—	—	१८६—३३५ "
किवनिडीन	—	—	—	४५—२२८ "
अक्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड	—	—	—	१७०—५४९ "

### अन्य ऐल्केलॉयडो का प्रभाव

गुद्दसन, हेनरी तथा मैक्फाई ( १९३० ई० ) द्वारा पक्षियों के मलेरिया पर जो प्रयोग किये गये थे उनसे प्रकट हुआ है कि सिनकोना के ऐल्केलॉयडो में सर्वाधिक प्रभावी हाइड्रोकिवनीन था और उसके बाद नम्बर था क्रमशः किवनिडीन, किवनीन, सिनकोनिडीन तथा सिनकोनीन का। अन्तिम चारों ऐल्केलॉयड लगभग समान ही प्रभावी हैं। डेन्स एवं जोस ने सभी प्रकार के मलेरिया में किवनीन, किवनिडीन तथा सिनकोनीन का उपचारात्मक प्रभाव एक सा ही पाया। सिनकोनीन अवसाय पैदा करता है पर उनकी विपालुता में कोई अन्तर नहीं रहता। सिउका (Cucc) ने इसी तरह कांतुलनात्मक परीक्षण किवनेटम के साथ किया था और उसे शुद्ध किवनीन

हाइड्रोक्लोराइड जैसा ही प्रभावी पाया। इससे यह प्रकट होता है कि जहा तक मलेरिया पर सिनकोना छाल के क्रिस्टली ऐल्केलॉयडो की क्रिया का सम्बन्ध है और सुदम्य तथा दुर्दम तृतीयक (benign and malignant tertian) परजीवियों पर इनकी विशिष्ट क्रिया का सम्बन्ध है, इनमें कोई अन्तर नहीं है। किवनीन की विपालुता के सम्बन्ध में फ्लेचर के जो निष्कर्ष हैं वे हमारे अपने अनुभव से मेल नहीं खाते। इससे हृदय पर अवसादक प्रभाव पड़ने की और मुच्छी की सम्भावना रहती है, इससे आकस्मिक मृत्यु की घटनाएँ हो चुकी हैं, विशेषत ऐसे रोगियों में जो काला-जार जैसे कृशकारी रोगों से ग्रस्त थे। उपरोक्त वातों से यह स्पष्ट है कि केवल शुद्ध किवनीन को प्रयोग में लाने से बहुत वर्वादी हुई है, साधारण मलेरिया के उपचार के लिए किवनीन के स्थान पर अपेक्षाकृत सस्ते और उसी की तरह प्रभावी ऐल्केलॉयडो को काम में लाया जा सकता है, और मँहगे एवं सुपरिकृत ऐल्केलॉयडो को गम्भीर मलेरिया के रोगियों के लिए आरक्षित रखा जा सकता है। सुनियन्त्रित रूप से किये गये परीक्षणों से ऐसा पाया गया है कि प्रतिकिलो शरीर भार के हिसाब से सिनकोना फेनिप्यूज ० १ ग्रेन की मात्रा में देने से किवनीन से कम लाभदायक रहा है पर प्रतिपांड शरीर भार के हिसाब से इसी मात्रा में यह किवनीन जैसा ही प्रभावी रहा है। सिनकोना फेनिप्यूज किवनीनम तथा किवनेटम में किसी को भी व्यवहृत किया जा सकता है, पर इसी दशा में जब यह जात हो कि उसमें कुल क्रिस्टली ऐल्केलॉयड ७० प्रतिशत या उसके लगभग हैं तो पता चल जायगा कि उसका १० ग्रेन ७ ग्रेन किवनीन के बराबर है। यदि ऐसा करना वाढ़नीय नहीं समझा जाता तो छाल के कुल ऐल्केलॉयडो के सल्फेट का प्रयोग किया जा सकता है। समग्र भारत में बिगत कई वर्षों से मलेरिया के उपचार में सिनकोना फेनिप्यूज का प्रयोग सन्तोषप्रद परिणाम के साथ किया गया है। कलकत्ता के “कारमाडकेल हॉस्पिटल फॉर ट्रॉफिकल डिजीजेज” में जो मिश्रण प्रयुक्त किया जाता है वह यह है —

सिनकोना फेनिप्यूज (भारतीय)	—	—	१० ग्रेन
साइट्रिक अम्ल	—	—	२० "
मैग्नीशियम सल्फेट	—	—	२० "
लिकोरिम (मुलेठी) का सार	—	—	१ ड्राम
वर्जिनियन शून का सीरप	—	—	१० बूद
सीरप तथा जल समझाग	—	—	१ बौस

मात्रा एक सप्ताह तक भोजन के २ या २२ घण्टे बाद प्रतिदिन तीन बार १ लौंस की मात्रा देनी चाहिये । उसके बाद २४ दिनों तक दिन में दो बार इसी मात्रा में इसका सेवन कराया जाना चाहिये । इससे मतली और वमन की सम्भावना रहती है क्योंकि रवाहीन ऐल्केलॉयड मुँह में चिपका रह जाता है । फिर भी अधिकाश रोगी इसे अच्छी तरह बरदाश्त कर लेते हैं, अगर यह ठीक गमय से दिया जाय—अर्थात् भोजन के ढाई घटा बाद जप पेट खाली रहता है । अगर मतली आये या वमन हो, तो सिनकोना फेनिफ्यूज लेने में पहले एक हजार भाग जल में १ भाग ऐड्रिनैलिन की १५ मिनिम की मात्रा, अथवा १ मिनिम टिक्कचर आयोडीन को योडे जल में मिलाकर ले लेने से वमन रुक जायगा । यदि आवश्यक हो तो अफीम का टिक्कचर भी ५ से १० मिनिम की मात्रा में दिया जा सकता है । फ्लेचर ( १९२५ ई० ) इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सिनकोना फेनिफ्यूज जिसमें ७ से १० प्रतिशत क्विनीन हो, दिन में दो बार १० ग्रेन की मात्रा में देने से चिकित्सीय दृष्टि से क्विनीन जितना ही प्रभावी होता है और उससे अधिक विपालु नहीं होता ।

सिनकोना से निर्मित औषधियाँ तिक्क, बरय एवं क्षुधावर्धक के रूप में व्यवहृत होती हैं । अपने स्तान्धक प्रभाव के कारण इसका व्याय अथवा अम्ल-फाण्ट गरारो के रूप में कभी-कभी प्रयुक्त किया जाता है । क्विनीन तथा टोटाक्विन का विस्तृत उपयोग विशेष कर मलेरिया के लिए किया जाता है । यद्यपि इनके स्थान पर अब सशिल्ष्ट औषधियों का प्रयोग होने लगा है, तथापि अभी अनेक वर्षों तक पर्याप्त परिमाण में डनके व्यवहृत होते रहने की सम्भावना है । जहाँ पर मलेरिया ग्रस्त रोगियों का उपचार बिना पर्याप्त चिकित्सीय निरीक्षण के करना पड़े, वहाँ मेपाक्रिन की अपेक्षा क्विनीन का ही उपयोग किया जाना चाहिये । क्विनीडीन का प्रयोग अलिन्द विकम्पन ( auricular fibrillation ) में किया जाता है ।

### सन्दर्भ :—

- (1) Report, *Drugs Enquiry Committee*, 1931 , (2) Goodson, J A Henry, T A, and Macfie, J W, S, 1930, *Biochem Jour*, 24, 4, 874, (3) Reports, *Cinchona Plantation Factory, Bengal*, 1920-29, (4) *Sea-borne Trade Statistics, India*, 1928—30 (5) *Proceedings Celebration of the 300th Anniversary of the Use of Cinchona*, 1931, St Louis, Mo, U.S.A (6) *Wealth of India, Raw Materials*, 1950, II, 163, (7) Chopra R, N, Mukherji B, and Chopra I C, 1950 *A Treatise*

on *Tropical Therapeutics*, 381, (8) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 533

### सिन्नामोमम कैम्फोरा (लॉरेसी)

*Cinnamomum camphora* (Linn.) Nees and (Eberm.)  
(Lauraceae)

कपूर वृक्ष Comphor, Tice

नाम—कपूर, कर्पूर, कर्पूरम

कपूर बहुप्रचलित औषधियों में से एक है जिसको भारत के प्रायः हर घर में कई प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाया जाता है। कपूर की आवश्यकता के लिए भारत प्रायः विदेशों पर ही सर्वथा निर्भर करता है। चीन, जापान, फारमोसा और बोनियो के कपूर की यहाँ के बाजार में अच्छी विक्री होती है। कपूर का वृक्ष लम्बा सुन्दर और सदाहरित होता है जो चीन, जापान, एवं फारमोसा के लिए देशज है और इसका प्रवेश तथा इसकी कृषि, भारत सहित अन्य कई देशों में, शोभावर्धक वृक्ष के रूप में अथवा कपूर के स्रोत के रूप में की गयी है। वर्षने प्राकृतिक आवास स्थान में १०० फुट तक ऊँचा होता है और इसका धेरा ६-८ फुट तक होता है। किन्तु भारत में इसका विकास रुद्ध हो जाता है। कपूर (सिन्नामोमम कैम्फोरा) के कई प्रकार हैं और व्याकृति-विज्ञान की दृष्टि से तो कुछ में कोई विभेद नहीं किया जा सकता है, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से वे सर्वथा सुस्पष्ट होते हैं। कुछ में कपूर पाया जाता है और कुछ केवल सुवासित तेल देते हैं। कपूररहित पादपों को जो प्राकृतिक गुणों में सिन्नामोमम् कैम्फोरा से मिलते-जुलते दिखते हैं अलग जाति का बताया जाता है, किन्तु अधिकाश लोगों की राय में यह केवल इसका एक भिन्न रूप (form) है। कपूर बनता है तेल कोशिकाओं में जो वृक्ष के सभी अंगों में पायी जाती है। इन कोशिकाओं का निर्माण तभी आरम्भ हो जाता है जब वृक्ष के अग अभिवृद्धि करने लगते हैं और इन कोशिकाओं में एक पीतवर्ण तेल भर जाता है जिसमें धीरे धीरे कपूर जमा होता जाता है। कपूर का निर्माण एक एन्जाइम द्वारा होता है जो वृक्षों के वर्धनशील अवयवों में विद्यमान रहता है, विशेषकर कैम्बियम के भीतरी ऊतकों में। काष के प्रत्येक परतों में, उनके निर्माण के साथ-साथ, कपूर अधिकाधिक बनता जाता है।

कृषि · भारत में इस पादप की सफल कृषि देहरादून, सहारनपुर, कठकता, नीलगिरि तथा मैमूर में की गयी है। नीलगिरि में यह पादप ७०००

फुट की ऊँचाई तक और श्रीलका में ५००० फुट की ऊँचाई तक खूब होता है। ४०००-६००० फुट की ऊँचाई पर यह सर्वाधिक पनपता है किन्तु तभी जब कि तापमान १५ डिग्री से नीचे न जाय। भारत के सभी भागों में, जहाँ ४० इच्छृष्टि होती है, इस पौधे की कृषि की जा सकती है, किन्तु वाणिज्यिक दृष्टि से उष्ण क्षेत्रों के बाहर इसकी खेती के लाभकर होने की सभावना कम है और उष्ण क्षेत्रों में भी आर्थिक लाभ ज्यादा नहीं हो सकता। बताया जाता है कि मलाया में, कम उपजाऊ लैटेराइट मिट्टी में यह पादप खूब पनपता है। किन्तु उम सम्बन्ध में भारत में किये गये कार्यों से पता चलता है कि इसकी सफल खेती के लिए उपजाऊ, जलोत्सारित बलुई टुमटु मिट्टी आवश्यक होती है। गहराई से जोती गयी चिकनी मिट्टी वाली भूमि भी इसके लिए अनुकूल पड़ती है, किन्तु पत्ती की खाद और बालू को सहायता से भूमि को रघित बना देना चाहिये। कृत्रिम खाद देने की भी सिफारिश की गयी है। बीज, कलम, शाखा-कतरनो, एवं मूल के अन्त भूस्तारी (root-suckers) द्वारा यह पौधा उगाया जा सकता है, किन्तु बीज द्वारा इसका प्रवर्धन प्रचलित प्रणाली है। बीजों को, सग्गहण के बाद यथासम्भव शीघ्र रोपणी (नर्सरी) में बो देना चाहिये। इसके लिए हल्की उपजाऊ रेतीली टुमटु मिट्टी वाली क्यारियाँ तैयार की जाती हैं जिनमें जलोत्सारण की अच्छी व्यवस्था रहती है हल्लाकराई स्टेट (नीलगिरि) में आमतौर से यह पणाली अपनायी जाती है कि भरपूर मात्रा में शोला (shola) मिट्टी और गोबर का खाद देकर तैयार की गयी ऊँची क्यारियों में बीज को बो दिया जाता है। उगने के ६ महीने बाद नवोद्भिदों को ऐसी टोकरियों में प्रतिरोपित रूर दिया जाता है जिनमें बरावर-बराबर मात्रा में, लूब सड़ी गोबर खाद और बालू का सम्मिश्रण भरा रहता है। जड़ों और शीर्षों के अन्तिम छोर काट दिये जाते हैं। टोकरियों में तब तक मिट्टी भरना जरूरी होता है जब तक कि तमे उसी स्तर तक न ढक जायें जिस तक उन्हे क्यारियों में ढके रहना है। नवोद्भिदों को खेत में ६-१२ फुट के अन्तर से २ घनफुट गहरे गड्ढों में रोप दिया जाता है। प्रतिरोपण का काम जनवरी-फरवरी की अवधि में किया जाता है, जब बेहन लगभग एक वर्ष के हो गये रहते हैं। अबटूबर-नवम्बर में दोहरी जोताई कर खेत तैयार किया जाता है और गड्ढे दिसम्बर में खोदे जाते हैं। पौधों के दोनों तरफ ६-८ फुट का अन्तर रहना चाहिये। इससे अधिक अन्तर रखना भूमि को बर्बाद करना है। दोनों तरफ ६ फुट का अन्तर रखने से एक एकड़ मृमि में १२१० पादप आ सकते हैं। देहरादून में प्रतिरोपण का समय जुलाई का महीना है जब बेहन ४ या १६ माह के हो गये रहते हैं।

**कपूर तैयार करने की प्रणाली :** कपूर की सर्वोत्तम उपज ५० वर्ष से ऊपर के वृक्षों से मिलती है। उपरोक्त देशों में, जहाँ इसकी खेती इसी शताब्दी में शुरू की गयी है, उपज के कम होने का यही कारण है कि वृक्ष वहाँ काफी पुराने नहीं हो पाये हैं। पेरी (Parry) ने कपूर तैयार करने की प्रणाली का वर्णन इस प्रकार किया है—“वृक्षों को गिरा दिया जाता है और नयी डालियों और टहनियों को काट कर छिद्रित घड़ों में पैक कर भापीय ताप द्वारा उन्हें गर्म किया जाता है। भाप घड़ों में प्रविष्ट होकर कतरने को सतृप्त करती है जिससे कच्चा कपूर ऊर्ध्व पातित होकर घड़े पर रखे गये मिट्टी के बर्तनों में जाकर जम जाती है। अपरिष्कृत कपूर बर्तन में रखा जाता है और उससे एक तरह का तेल कुछ मात्रा में निसृत होता है जिसे एकत्र कर लिया जाता है। यही तेल कपूर तेल कहलाता है। किन्तु अधिकाश तेल मामूली भभकों में पानी और कतरनों को डाल कर और उनका आसवन करके बनाया जाता है। अपरिष्कृत उत्पाद, प्रयुक्त काष्ठ का लगभग ३ प्रतिशत होता है। तेल क्रिस्टलीय कपूर से निथार लिया जाता है जिसमें इसका विलेय रूप में काफी अश रहता है। तत्पश्चात् इसे भभके में डालकर दो तिहाई भाग आसवन कर लिया जाता है। कपूर का अधिकाश भाग अवशेष में रह जाता है जिसे ठड़ा करके दबाया जाता है जिससे और कपूर अलग हो जाता है। इस क्रिया को कई बार किया जाता है जब तक कपूर मिलता रहता है। जो अवशेष बच जाता है वह वाणिज्यिक कपूर का तेल होता है।” अपरिष्कृत कपूर को सामान्यत विना बुझा चूना और चारकोल के साथ ऊर्ध्वपातन प्रक्रिया से शोधित किया जाता है। पहले कपूर के तेल का कोई मूल्य नहीं समझा जाता था, किन्तु आज सैफाँल बनाने में इसका बहुत अधिक उपयोग किया जाता है। सैसाफास का कृत्रिम तैल बनाने और हेलियोट्रोपिन का सश्लेषण करने के लिए सैफाँल को सस्ते परिमल के रूप में काम में लाया जाता है। जापान, यूरोप और अमेरिका में अपरिष्कृत उत्पाद से कपूर को परिष्कृत करते हैं। अपरिष्कृत उत्पाद में ९० प्रतिशत कपूर रहता है। ऊर्ध्वपात करके इसे बड़े-बड़े कक्षों में पहुँचाया जाता है जहाँ छोटे-छोटे क्रिस्टल के रूप में यह सघनित होता है, जिसको कपूर का फूल कहते हैं। जलीय दवाव देकर, इन्ही क्रिस्टलों से प्रचलित कपूर खण्ड तैयार किये जाते हैं। देहरादून में किये गये परीक्षणात्मक कार्यों से प्रकट होता है कि पत्तियों का आसवन करके कपूर प्राप्त किया जा सकता है किन्तु प्राप्ति, वाणिज्यिक उद्योग के रूप में लाभकर नहीं होगी। वृक्ष के विभिन्न अंगों में कपूर का सकेन्द्रण भिन्न-भिन्न मात्रा में रहता है। मूर्मिस्थ जड़ों में अधिकतम कपूर रहता है। भारत के विभिन्न भागों में उगाये जाने वाले वृक्षों के विभिन्न अंगों में कितना प्रतिशत कपूर एवं कपूर तेल रहता है यह नीचे के विवरण से ज्ञात हो जायगा।

भारत में उगाये जाने वाले कपूर वृक्ष के विभिन्न अगों में कपूर नी मात्रा :-

वृक्ष उगाने के स्थान	अग	वाण्पशील तेल कपूर की प्रतिशत कपूर तेल की की उपज की प्रति- शत मात्रा	मात्रा प्रतिशत मात्रा
नीलगिरि	हरी पत्तियाँ	१०	० १०० ७
मद्रास	"	२६२	० ९९
बर्मा	"	१५१	० ४८
कोचीन	"	२३३	० ३२
देहरादून	"	४०४	० ३८

कपूर तेल वह अवशिष्ट है जो कपूर के ऊर्ध्वपातित होने पर बच जाता है।

भारत में कपूर का उत्पादन : बहुत समय पहले १८९६ में हूपर ने ऊटकमण्ड में उगाये गये कपूर वृक्ष की पत्तियों का आसवन किया था। और ५० पौण्ड पत्तियों से १ प्रतिशत तेल प्राप्त किया जिसमें १० से १५ प्रतिशत मात्रा कपूर की थी। उत्तरी भारत में कपूर की खेती की सभावनाओं के सम्बन्ध में होवार्ड, रावर्ट्सन तथा साइमन्सन ने विस्तृत अध्ययन किया है और उनके अनुसधान १९२३ में इण्डियन फॉरेस्ट रिकार्ड्स में प्रकाशित हुए हैं। भारत में प्राकृतिक कपूर ज्यादा नहीं पैदा होता। नीलगिरि में हल्लाकराई स्टेट में लगभग ८ वर्गमील का क्षेत्र है, जिसमें २०-६० वर्ष के वृक्ष हैं जिनका समय-समय पर कपूर के लिए विदोहन किया जाता है। पत्ती के वजन के आधार पर लगभग १ प्रतिशत कपूर प्राप्त किया जाता है। हल्लाकराई स्टेट में कपूर का वार्षिक उत्पादन लगभग ५०० पौण्ड है और तेल का १५० पौण्ड और इन दोनों ही उत्पादों को तैयार बाजार मिल जाता है। कपूर का प्रति एकड़ उत्पादन लगभग ६० पौण्ड और तेल का १० पौण्ड होता है और अनुकूल स्थितियों में प्रति एकड़ १८० पौण्ड तक उत्पादन हो जाने की सम्भावना है। अमेरिका में कपूर की अनुमानित उपलब्धि प्रति एकड़ १२५-१५० पौण्ड है और अल्जीरिया के बागानों में प्रति एकड़ उपज २६८ पौण्ड है। श्रीलंका के बागानों में आसुत कपूर का प्रति एकड़ उत्पादन अनुमानित १२०-१३० पौण्ड है।

कपूर के अन्य सम्भव स्रोत : आँसिमम अथवा कैम्फर वेसिल की कई जातियों, विशेषकर आँसिमम कैनम ( *O. canum* ) तथा आँसिमम किलिमैडशारिकम ( *O. kilimandscharicum* ) की पत्तियों से भी आसवन द्वारा कपूर निकाला जाता है।





थी। प्राकृतिक कपूर की कीमते सशिलष्ट कपूर की कीमतों का अनुगमन करती है और सशिलष्ट कपूर की कीमत तारपीन तेल की कीमत पर निर्भर करती है।

### सन्दर्भ :-

(1) Hooper, 1896, *Pharm Jour* 2, 21, (2) Howard, Robertson and Simonsen, 1923, *Ind For Rec*, 9, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) *Wealth of India Raw Materials* 1950, II, 173, (5) Raghvan, M S, 1940, *A Note on the Possibilities of Camphor Cultivation in South India* (Govt. Press, Madras), (6) Burkhill, I. H., 1935, *A Dictionary of Economic Products of the Malaya Peninsula*, (7) Rao et al, 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 160, (8) *Kew Bull*, 1920, 45, 1921, 129, (9) Howard et al, *Ind For Rec*, 1923, 9, 309, (10) *Wealth of India, Raw Materials*, 1950, II, 13, (11) Narielwala and Rakshit, 1942, *Report, Essential Oils Committee*, 12, (2) Rakshit, 1938, *Perfume Essen Oil Rec*, 29, 402, (13) *Brill Imp Inst London*, 1914, 39, 14, 217, (14) *Annual Report, F R I*, 1942-43, 91, (15) Mularay and Waston, 1926, *Proc. Ind Chem Soc*, 3, 2631 (16) Berry and Sarin, 1936, *Chem and Industry*, 605, (17) Parry, E J, *The Chemistry of Essential Oils, The Manufacture of Camphor*, (18) Parry E J, 1950, *Indust Chem*, 24, 302, 113, (19) Trease, G E, 1952, *Text, Book of Pharmacognosy*, 259

### सिन्नामोमम तमाला

*Cinnamomum tamala* Nees and Eberm, (Lauraceae)  
भारतीय कैसिया लिग्निया—(Indian Cassia Lignea)

नाम :—स०-तमालक, तेजपत्र, हि० और ब० तेजपात, गु०-तमालपत्र, त०-तालिश-प्पत्तिरी, ते० तालिसपत्री।

यह मध्यम आकार का सदाहरित वृक्ष है जो हिमालय के उष्ण एवं अर्धोष्ण क्षेत्रों में खासी और जयन्तिया की पहाड़ियों में और पूर्वी बगाल में वन्य अवस्था में पैदा होता है। यह जाति तेजपात की पत्तियों का स्रोत है जो उत्तरी भारत में मसाले के रूप में विस्तृत रूप से व्यवहृत होती है। वृक्ष की छाल को व्यापार में भारतीय कैसिया छाल या भारतीय कैसिया लिग्निया कहते हैं, और यह सिविकमवर्ती हिमालय

के पाद मे पैदा होने वाले वृक्षों से सग्रहीत किया जाता है। तेजपत्र मुख्यतः सिलहट जिले के जयन्तिया परगना मे उगाया जाता है। इस क्षेत्र के अनेक बागान स्वयं जात हैं और कुछ मे वृक्ष लगाया गया है और उनका कुल क्षेत्रफल लगभग ६०० एकड़ है।

इसकी छाल कुछ ज्यादा खुरदरी होती है और असली दालचीनी या सिन्नामोमम जीलैनिकम की छाल की अपेक्षा अधिक मूल्य पर विकती है। यह असली दालचीनी छाल मे अपमिश्रण करने के लिए बहुत उपयोग मे लाया जाता है। इस पादप की छाल के बाहरी हिस्से का असवन करने पर उससे एक बाणशील तेल निकलता है जो पाण्डु पीत रग का होता है। कैसिया तेल का मुख्य घटक भिन्नामिक ऐलिड्हाइड है और वाणिज्यिक किस्म के तेलों मे यह ७० मे ८५ प्रतिशत् मात्रा मे पाया जाता है। यद्यपि यह ऐलिड्हाइड भी श्री लका के दालचीनी की छाल के तेल का मुख्य घटक है, किन्तु दोनों के गध और सुवाम मे बड़ा अन्तर है। सिन्नामन के तेल मे जो सम्बद्ध पदार्थ हैं जैसे पाइरनीन, नानिल ऐलिड्हाइड आदि, उनका गध सुकोमल एवं मधुर होता है, किन्तु कैमिया के तेल मे विद्यमान सिन्नामिक ऐलिड्हाइड, टर्पीन आदि से पराभूत रहता है जिनमे तेल मे कुछ अलूचिकर गध आ जाती है। कैसिया की छाल और तेल का बहुत बड़ा व्यापार वर्ष्वई मे होता है, किन्तु अधिकांश पुनर्नियर्ति होता है, न कि वान्त्विक नियर्ति। सिन्नामोमम तमाला का भारत मे कितना व्यापार है, उसके बारे मे निश्चित सूचना नहीं प्राप्त की जा सकती, किन्तु यदी प्रतीत होता है कि अगर असली भारतीय छाल का नियर्ति होता भी है तो बहुत ही कम। बाजार मे सशिलष्ट सिन्नामिक ऐलिड्हाइड के था जाने से तथा कैमिया तेल का सस्ते टर्पीनो के साथ अपमिश्रण होने से इम तेल का व्यापार बहुत घट गया है। पत्तियो का उपयोग मुख्यतः मसाले के रूप मे किया जाता है। कश्मीर मे पान की पत्तियो के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। यूरोप के पाक विज्ञान मे इन पत्तियो का है। त्रिफला एवं काम्पिल्य (Kamala) के साथ गगने मे यह स्वच्छक (clarifier) के स्पष्ट मे प्रयुक्त किया जाता है। तेजपत्ते की पत्तियाँ वातानुलोमक होती हैं, घूल (उदर) एवं अतिसार मे इनका उपयोग किया जाता है। इमकी पत्तियो का तेल दालचीनी की पत्तियो के तेल से मिलता जुलता है और इममे डेक्स्ट्रोऐटफा-फिल्मेण्ड्रीन और ७८ प्रतिशत् युजिनॉल होता है। जो वाणिज्यिक बाणशील तेल, माधुन को सुगंधित करने एवं औपधियो मे प्रयुक्त किया जाता है, वह मिन्नामोमम कैमिया से प्राप्त किया जाता है और चीन से उसका आयात किया जाता है।

**सिन्नामोमम ग्लैण्डुलिफेरम (C. glanduliferum Meissn)** नेपाल का कपूर काठ :—यह एक बड़ा पादप है जो दक्षिणी हिमालय में कुमार्यू से पूर्व की ओर आसाम, खासिया पहाड़ियों एवं सिलहट तक होता है। इस वृक्ष की छाल स्थक, पाण्डु-बम्बु, अति सुगन्धियुक्त होती है और ताजी कटने पर कपूर की तीव्र गंध देती है। भारतीय भेपजकोप में इस पादप के प्रति और अधिक ध्यान देने की शिफारिंग की गयी है। इसके काठ और पत्तियों से एक क्रिस्टलीय उत्पाद मिलता है जिसे शिमेल एण्ड कम्पनी ने दक्ष-कपूर बताया है। इसे सस्साफास तेल के स्थानापन्न के रूप में व्यवहृत करने का सुझाव दिया गया है। सस्साफास तेल सस्साफास आफिसिनेल की जड़ से उत्पलब्ध होता है जो वर्जिनया एवं टेनेसी में पैदा होता है। सस्साफास तेल कीमती होता है और अधिकांशत इसका उपयोग साबुन तथा परिमल पदार्थ बनाने में किया जाता है। परन्तु इस बात में सन्देह है कि सिन्नामोमम ग्लैण्डुलिफेरम वस्तुत सस्साफास तेल के उत्तम स्थानापन्न का काम दे सकता है।

### सिन्नामोमम जीलैनिकम (लॉरेसी)

**Cinnamomum zeylanicum Breyne (Lauraceae)**

सिन्नामोमम, सीलोन सिन्नामन

नाम —स०—तमालपत्र, गुडल्वक, हिं, गु०, म० ते० और व—दालचीनी,  
त०—कन्नालवगन्ते, इलायगम, कन्न०—दालचीनी, लवग पत्ती,  
सिंहली—कुरुन्डू, प०—दारचीनी, किरा, वम्ब०—तज, दालचीनी।

सिन्नामोमम कुल के कई जातियों जैसे सिन्नामोमम जीलैनिकम, सिन्नामोमम तमाल आदि वृक्षों की छालों के लिए “सिन्नामन” की सज्जा दी जाती है। असली सिन्नामन या सिन्नामोमम जीलैनिकम भारत में प्रचुरता से नहीं पैदा होता। यह पादप पश्चिमी तट पर कोकण से दक्षिण की ओर वन्य दशा में पैदा होता है और तेनासरीम (बर्मा) के जगलो ये भी पाया जाता है। इसकी परीक्षणात्मक खेती दक्षिण भारत में भी शुरू की गयी थी किन्तु इसका उत्पादन व्यापारिक स्तर तक नहीं आ सका। भेपज बाजार से जितना भी इसका सम्भरण होता है, वह प्राय सब का सब श्री लका से आया रहता है, जहाँ यह पादप वन्य दशा में पैदा होता है। वहाँ इसकी कृषि वाणिज्यिक पैमाने पर होती है। वहाँ दक्षिणी प्रात में गाले जिले में तथा पश्चिमी प्रात के नेगोम्बो के इलाके में इसके बड़े-बड़े बागान हैं। हल्की श्वेत रेतीली मिट्टी या किंचित कठोर मिट्टी इसके लिए बनकूल पड़ती है, और क्यारियों में बीज बोकर और फिर नवपादपों

का प्रतिरोपण कर इसका प्रवर्धन किया जाता है। प्रतिरोपण के बाद दूसरे या तीसरे वर्ष में इनका स्थूल कर्तन किया जाता है ताकि प्ररोह निकले, जिनमें से केवल ५ या ६ को दो वर्ष तक, या तब तक, जबतक कि छाल पर कार्क की परत जमने से वह भूरे रग का न हो जाय, वहने दिया जाता है। ये प्ररोह जब ६-८ फुट ऊंचे और ० ५-२ डच के व्यास के हो जाते हैं तो इनमें छाल निकाली जाती है। ये (सूखने पर पतली छड़ियों (विल) के रूप में बैचों जाती हैं जिनमें अनेक अत्यत पतले और भगुर विवल होते हैं जिनके भीतरी सतह पर वहुधा खड़ी धारियों के निशान होते हैं। इनके माथ भारतीय कैनिया लिनिया (सिन्नामोम तमाला) आदि की अपेक्षाकृत अधिक सूख मोटी, एवं कम सुवाम वाली छाल का वहुधा अपमिश्रण किया जाता है।

दालचीनी का औषधि में केवल एक सीमित मात्रा में ही उपयोग किया जाता है। इसमें वातानुलोमक, स्तम्भक एवं क्षुधावर्धक गुण होते हैं और आत के विकारों के लिए दी जाने वाली अनेक औषधियों में यह एक घटक होता है। दाँत दर्द और तथिकार्ति (neuralgia) में इसका वाह्य प्रयोग किया जाता है, किन्तु इसका सर्वाधिक उपयोग ममाला या व्यजन के रूप में किया जाता है। क्योंकि इसमें एक वाप्पशील तेल होता है जो रसदार व्यजनों को मनोरम सुवाम देता है।

### रासायनिक सरचना तथा आर्थिक पक्ष

दालचीनी तेल में वाप्पशील तेल (० ८-१ ४ प्रतिशत), फ्लोवाटैनिन, भ्युसिलेज, कैल्मियम आँक्जेलेट और स्टार्च विद्यमान रहते हैं। इस तेल का प्रमुख घटक सिन्नामिक ऐलिडहाइड है यथापि फिरेण्डीन, पाइनीन, लिनैलूल, कैरियोफिलीन, युजिनाँल आदि भी इसमें सूक्ष्म मात्रा में रहते हैं। निटिश भेपजकोप में ऐलिडहाइड की मात्रा—५५-६८ प्रतिशत तक सीमित कर दी गयी है, किन्तु असली तेल में इसकी मात्रा ७५ प्रतिशत तक हो सकती है। पत्तियों से भी, आसवन करने पर एक काले रग का तेल मिलता है, जो मिन्नामान छाल के तेल से वहुत भिन्न होता है। इसमें एक गध होती है जो लवग के गव से मिलती जुलती है और वडे अनुपात में (७०-८० प्रतिशत) युजिनाँल होता है तथा मिन्नामिक ऐलिडहाइड, पाइनीन, लिनैलूल आदि का सूक्ष्म अश होता है।

दालचीनी की कृपि का प्रमुख केन्द्र श्री लका है जहाँ इसके उत्पाद का बड़ा व्यापार होता है जो निम्नलिखित आकड़ों को देखने से स्पष्ट हो जायगा। १९१९ ई० और १९२० ई० में कितनी भूमि इसकी कृपि के अन्तर्गत थी और इसके उत्पादों का कितना नियर्ति हुआ यह नीचे के आकड़ों से विद्यत हो जायगा।

	क्षेत्रफल (एकड़)	छाल (पौड़)	छाल का तेल (ओस)	पत्ती का तेल (ओस)
१९१९	३५,०८३	७७,००,५६०	६६,७७३	२,२९,९२८
१९२०	३४,६६२	३९,३३,५५२	७३,२४६	२,६५,९७६

तब से नियर्ति व्यापार बहुत कम हो गया है १९२६ई० में केवल २५,००० एकड़ भूमि पर इसकी कृषि की गयी थी, और ४८३,००० पौण्ड छाल बिकी थी जिसके अन्तर्गत १३,३०,००० पौण्ड ऐसी कतरने थी जिनका आसवन के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता था। इसका कारण शायद यह है कि पहले तेल चर्वण नियर्सिस (Chewing gum) और चाकलेट के घटक के रूप में औद्योगिक पैमाने पर प्रयुक्त किया जाता था, किन्तु अब सिन्नामिक ऐलिंडहाइड जैसे स्थानापन्न पदार्थ सस्ता होने के कारण प्रयुक्त किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, सिन्नामन की उपज केवल प्रति एकड़ ५० से १०० पौण्ड होती है, जब कि नारियल (खोपडे) की १००० से २००० पौण्ड और चाय की ४०० से ६०० पौण्ड। इसलिए दालचीनी की कृषि की लोकप्रियता बहुत घट गयी है और नेगम्बो जिले के बहुत से वागान जहाँ केवल दालचीनी पैदा की जाती थी, वहाँ अब धीरे धीरे नारियल की कृषि को स्थान मिलता जा रहा है। किन्तु १९४८ई० में इसकी कृषि की भूमि में कुछ वृद्धि हो गयी और ३३०७७ एकड़ भूमि इसकी खेती के अन्तर्गत रही। १९४६ई० में श्री लका से ६०,००० हडरवेट (छाल) क्विल, १०,००० हडरवेट (छाल) कतरने, १३,००० ओस छाल के तेल और ११,५६,००० ओस पत्ती के तेल का नियर्ति हुआ।

दक्षिण भारत में इसकी कृषि कभी बड़े पैमाने पर नहीं हुई और इसकी उपज साधारणत आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यवहृत हो जाती थी। इसकी पत्तियों का तेल थोड़ी मात्रा में उत्तरी एवं दक्षिणी कर्नाटक में एवं भलावार में पैदा किया जाता था, जिसका नियर्ति कर दिया जाता था। आसवन करने से हरी पत्तियों से लगभग १ प्रतिशत काला तेल निकलता है। इस हेतु तीक्ष्ण एवं तिक्क मिचामन की पत्तियों को, आशिक रूप से जल पूर्ण मिट्टी के वर्तनों में, कम्बकर भर दिया जाता है और तब उनका आसवन किया जाता है। पानी के नापमान को कभी भी कवयनाक तक नहीं जाने दिया जाता और आमवन में १६ घण्टे लग जाने हैं। सघनित में एकत्र तेल पानी से अधिक भारी होने के कारण, तल में बैठ जाता है और ऊपर से जलाच्छादित होने के कारण, वाष्पीभूत नहीं हो पाता। श्रीलका में पत्तियों को आसवन से पहले समुद्र जल से मसृणित किया जाता है। दक्षिण कर्नाटक में पत्तियों के बजन का ० ७५ प्रतिशत तेल उपलब्ध हो जाता है। उत्तर मैगलोर डिवीजन में तेल

का औसत वार्षिक उत्पादन लगभग ₹६०० पौण्ड होता है। दानचीनी की पत्तियों का तेल, युजिनॉल की मात्रा (८०-९५ प्रतिशत) की दृष्टि से लवग के तेल के समान्तर ठहरता है, क्योंकि युजिनॉल के रूपने ने ही यह परिस्थल एवं नामान् (Sinhulsa) उद्योगों के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। इनके फालों में भी कुछ वीपरीय नैल प्राप्त होता है।

भारत में दानचीनी की कृषि को नम्नावनाएं तम नगरा वालाप्रद नहीं हैं। श्रीलङ्का की दालचीनी के छाल का तेल निश्चित रूप ने थ्रेष्ट कोटि का होता है और बाजार में उपलब्ध नर्वोत्तग तेल होने की दृष्टि एवाति प्राप्त है। यदि दालचीनी की मौती वहाँ लाभप्रद नहीं है, तो वहाँ इमझी नैरी करनेवालों को इसमें नैरी आविष्कार मिल सकता है। सिन्हार्मायम जीर्णनिकाम को निचिलिंग में भी उपजाया गया है, किन्तु इनमें प्राप्त नैल भारतीय दालचीनी के तेल ने गिन्न ओर निम्न कोटि का होता है।

### संदर्भ :-

- (1) Guru, 1921, *The Chemistry of Essential Oils and Perfumes*, (2) Finnemore, 1926 *The Essential Oils*, (3) Schimmel & Co., 1928, *The Reports*, (4) *Proc. Inst. of Ind.*, Rev. Materials, 1950, II, 178, (5) *B.I.I. Rep. Inst. Ind.*, 1921, 19, 319, (6) Chowdhury, 1944, *Ind. Farming* 5, 563, (7) Tracey, G. E., 1952, *Text Book of Pharmacy* 05

### सिंहुलस कोलोसिन्थिस (कुकरविटेसी)

#### *Citrullus colocynthis Schrad (Cucurbitaceae)*

पर्याय — गोगेसिन्थिन उद्योरिण (*Colocynthi vulgaris Schrad*)

नाम — स० महेन्द्रवास्ती, उद्दू—इन्द्रगण, हि० और त०—इन्द्रायण, माकाल, ग० इन्द्राक, उन्द्रानन, उन्द्रावण, म०—वृन्दवान, उन्द्रायण, त० पेगमुद्दी, नैरिटु-मट्टी, त० एतिपुच्छा, पापगुउम, र०—पानमेनकेकायि, तुम्तीतायि, भत० पेयगोम्बुद्धि।

इन्द्रायण नम्पूर्ण भारत में विस्तृत रूप रे पायी जाती है। यह भारत के शुष्क पश्चिमोत्तर प्रान्तों में तथा मध्य और दक्षिणी भारत में प्रचुरति अवरया में उगती है और पश्चिम एवं गिर में तथा कारोमण्डल के तटवर्ती क्षेत्रों में भागान्तर रूप में पायी जाती है। इसके फल जाऊं में पकते हैं और उत्तरी भारत में दिसम्बर और जनवरी के महीनों में जड़ी बूटी बेचने वाले इमठी विक्री करते हैं। भारत में साधारणतया

मूल और सम्पूर्ण फल, बीज निकाल कर उपयोग में लाये जाते हैं, जब कि त्रिटिश भेपजकोश में केवल गूदे को मान्यता दी गयी है। भारतीय इन्द्रायण की किसी आयातित किसी से कुछ भिन्न होती है, और वे प्राय गोलाकार सतरे के फलों के बराबर या उनसे कुछ छोटे होते हैं, तथा उनके बाहरी पृष्ठ पर हरित और पीताभवत चित्तियाँ विद्यमान रहती हैं। बाजार में सिटुलस कोलोसिन्थिस के स्थानापन्न द्रव्य पाये जाते हैं, उत्तरी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में कुकुमिस ट्राइगोनस, (*Cucumis trigonus*), कुकुमिस स्यूडोकोलोसिन्थिस (*C. pseudocolocynthis*) एवं कुकुमिस हार्डविकाई (*C. hardwickii*) प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं और इनके फल प्राय इन्द्रायण के फलों में अपमिश्रित कर देते जाते हैं। वे चिकने और आकार में दीर्घायत (*oblong*) होते हैं और इस प्रकार उनमें इन्द्रायण के गोल फलों से भेद किया जा सकता है। इन्द्रायण की कृषि व्यवस्थित रूप से भारत में कहीं भी नहीं की जाती, सिवाय सूरत एवं कराची के जहाँ पर इनकी खेती अपोद वालू (सेंडब्रिप्ट) को रोकने के लिए केवल प्रायोगिक स्तर पर की जाती है।

फल जब ताजा रहता है तो इसका गूदा रस से युक्त तथा स्पन्जी होता है, किन्तु जब सूख जाता है तब यह पीले सफेद रंग का हो जाता है और अन्दर का गूदा पीताभ रंग का तथा परिमाण में कम हो जाता है। गूदा छिलके से चिपके रहने के कारण कठिनाई से अलग होता है इसलिए भारतीय इन्द्रायण बाजार में छिलका-रहित शायद ही पाया जाता है जो कुछ भी छिलका-रहित इन्द्रायण बाजार में पाया जाता है वह भूमध्यसागरीय तट से आयात किया जाता है। शुष्क फल के १०० ग्राम में गूदा, बीज और छिलका का अनुपात क्रमशः १५ ६२ २३ होता है। औसतन १२-१५ प्रतिशत शुष्क गूदा फल से उपलब्ध होता है। पीढ़े के सभी भाग अत्यन्त तिक्क होते हैं और उनमें ऐल्केलॉयड तथा कोलोसिन्थिन नामक तत्त्व सूक्ष्म अश में पाये जाते हैं।

इन्द्रायण भारतीय चिकित्सा में व्यवहृत होने वाला एक प्राचीन भेपज है। ऐसा उल्लेख किया गया है कि इसका फल विरेचक होता है और वह पैतृता (Billousness) मलबन्ध, ज्वर में लाभकारी तथा आन्त्र परजीवियों को नाश करने में सक्षम होता है। अधिक मात्रा में सेवन करने से यह अत्यधिक मरोड़, अवसन्नता और कभी कभी रक्तयुक्त आस्थाव उत्पन्न करता है। इसके जड़ का प्रयोग जलोदर, कामला, मूत्र-विकारों एवं आम बात में होता है। यूनानी हकीम इस औषधि का उपयोग तीन विरेचन के लिए जलोदर, कामला और भिन्न-भिन्न गर्भाशय सम्बन्धी रोगों, विशेषत अनार्तव में करते हैं। रोमन और ग्रीक चिकित्सा में भी इस औषधि का उल्लेख है।

सामान्य मात्रा में भी इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है, केवल अन्य विरेचक औपचियों की सहायक औषधि में ही इसका उपयोग है।

**रासायनिक सघटन.** भारतीय और यूरोप की इन्द्रायणों के सघटन में रासायनिक दृष्टि से वस्तुत कोई भेद नहीं है दोनों का शरीरक्रियात्मक प्रभाव अपने ऐल्केलॉयड एवं तिक्त तत्त्व कोलोसिन्थिन के कारण होता है। ऐल्केलॉयड बहुत ही थोड़ी मात्रा में रहता है और इसको शुद्ध रूप में पृथक नहीं किया जा सका। भारतीय इन्द्रायण के नमूने का ग्रासायनिक विश्लेषण कलकत्ता के “ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन” में किया गया था जिसका परिणाम निम्नलिखित है।

	गूदा	सम्पूर्ण फल (बुष्क)
पैट्रोलियम ईथर	सत्त्व	० ६१
सल्फ्यूरिक ईथर	सत्त्व	३ १७
ऐल्कोहॉली	सत्त्व	१० ९०

सामान्यत तिक्त तत्त्व की मात्रा सूखे गूदे में दो प्रतिशत से कम नहीं होती जो क्रिटिश भेषजकोश में दिये भानक के अनुसार ठीक पाया जाता है। जिस पदार्थ को हम कोलोसिन्थिन (सिटूलिन) के नाम से जानते हैं, और जिसे ग्लाइकोसाइड माना जाता रहा है, वह अब एक ऐल्केलॉयड तथा क्रिस्टलीय ऐल्कोहॉल, सिटूलाल का एक मिश्रण पाया गया है। गूदे में अल्फा-इलैटेरिन, हेण्ट्रियाकोण्टेन, एक फाइटोस्टेरॉल एवं वसीय अम्लों का एक मिश्रण भी पाया जाता है।

इन्द्रायण का उपयोग चिकित्सा में तीव्र विरेचन के लिए होता है, ठोस सत्त्व के रूप में यह आधुनिक औषधि निर्माण की बहुत सी विरेचन की गोलियो (पिल्स) से भी व्यवहृत होती है। यद्यपि भारत में इन्द्रायण का उपयोग पर्याप्त मात्रा में होता है, तथापि इसके फल और इससे बनी औषधियाँ बहुत बड़ी मात्रा में प्रतिवर्ष यूरोप, अरब और सीरिया में मँगाई जाती हैं। स्पेन और साईप्रस में इन्द्रायण के फलों की खेती विशेषत बाहर भेजने के उद्देश्य से की जाती है। वास्तव में आयातित इन्द्रायण फल और ठोस सत्त्व यहाँ बाजारों में भारतीय इन्द्रायण से बनी औषधि की अपेक्षा अधिक मिलता है। फल और बीज कभी-कभी अफ्रीका के कुछ भागों में आहार के लिए काम में आते हैं। बीजों में भी एक ऐल्केलॉयड, पोलीसेरोइड या ग्लाइकोसाइड, एवं एक या एक से अधिक एन्जाईम (जो बीटा-ग्लाइकोसाइडो और टैनिन का अपचयन करता है) पाया जाता है। सक्रिय तिक्त तत्त्व में से पीतवर्ण का एक क्रिस्टलीय पदार्थ बहुत थोड़ी मात्रा में पृथक किया गया है जो  $176^{\circ}$  से० पर गलता है।

### सन्दर्भ :—

(1) Power and Moore, 1910, *J. C. S Trans*, 99, (2) Chopra et al, 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770, (3) *Widalath of India, Raw Materials*, 1950, II 185, (4) Badhwar and Griffith, 1946, *Ind For*, 72, 64, (5) Agarwal and Datt, 1934, *Curr Sci*, 3,250, (6) Alimchandani et al 1949, *Jour Ind Chem Soc*, 26, 515, 519

### सिट्रस औरैन्शिफोलिया (रुटेसी)

*Citrus aurantifolia* (Christm.) Swingle (Rutaceae)  
पर्याय.—सिट्रस मेंटिका वैराइटी ऐसिडा (*Citrus medica* var *acida*)

कागजीनीबू वृक्ष—The Lime Tree

नाम—हि० कागजी निम्बु, ब०—कागजी निम्बु, पाती नेबू, गु०—खाटालिम्बु, त०—एल्युमिच्ची, ते०—निम्बू, कन्न०—लिम्ब, निम्ब, मल०—एस्नी चिनारकम।

### सिट्रस लिमन (रुटेसी)

*Citrus limon* (Linn.) Burm. (Rutaceae)

पर्याय.—सिट्रस मेंडिका वैराइटी लिमोनम (*Citrus medica* var *limonum*)

नाम—हि०—बडानीबू, जम्बीरा, पहाड़ीनिम्बु, पहाड़ीकागजी, ब०—बडानेबू, गोरा नेबू, गु०—मोटुलिम्बु, म०—इडलिम्बु, थोरालिम्बु, कन्न०—बीजपूरा, बिजोरी, त०—पेरिया येलूमिच्चई, ते०—बीजपूरम।

जमीरीनीबू वृक्ष—The Lemon Tree

नीबू के रस मे प्रतिस्कर्वी गुण होने के कारण नीबू का फल चिकित्सा मे अतिशय प्रसिद्ध है, प्राय सब देशो मे यह भोजन का आवश्यक अग समझा जाता है। चिकित्सा एव सुगन्ध मे नीबू का विशेष महत्व है। ताजे नीबू के बाहरी फलभिति से एक पीले रंग का कडुका, वाष्पशील, सुगन्धित तेल निकाला जाता है। चिकित्सा मे इसका मूल्यवान उपयोग सुवासक, वातानुलोमक और क्षृधा-वर्धक गुण के लिए होता है। हिमालय की उष्ण घाटियो मे नीबू स्वत जगली रूप मे भी उत्पन्न होता है। मैदानो मे ४००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती की जाती है। छोटा कागजी नीबू भारतवर्ष मे सर्वत्र उगता है। विभिन्न आकार के छोटे, बडे तथा रंग मे सिन्न-भिन्न नीबू प्राय सर्वत्र ही मिलते हैं। मद्रास मे १७,००० एकड मे इसकी खेती होती है, जो सबसे अधिक है। बम्बई, बगाल, पजाव, मध्यप्रदेश,

हेंदरावाद, दिल्ली, पटियाला, उत्तरप्रदेश, मैसूर और बड़ोदा में भी यह पैदा होता है। पहाड़ी नीबू या जम्बीरी नाम से प्रसिद्ध बड़ा नीबू एक ही सजाति का है, परन्तु आकार में बड़ा होने से और खुरदरी, पतली और ढीली त्वचा रहने के कारण कागजी नीबू (Lime) से भिन्न है। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में जगली नीबू का वृक्ष स्वतंत्र होता है, जो ४,००० फुट की ऊँचाई पर होता है। नीबू घरेलू वगीचों में भी लगाया जाता है। उत्तरप्रदेश, बम्बई, मद्रास, मैसूर में छोटे नीबू बोये जाते हैं। हर तरह की मिट्टी और ऊँचाई पर यह उत्पन्न होता है। तिचाईं वाली एवं बरसात पर निर्गंर करने वाली दोनों प्रकार की भूमि में यह सूख उग सकता है।

इन फलों की देती पर भसार के दूसरे भागों में जितना ध्यान दिया गया है, उसकी अपेक्षा भारत में बहुत कम ध्यान दिया गया है। नीबू का उद्योग सिसली में बहुत अधिक उन्नति पर है, और इससे कुछ कम कैलेन्डिया (इटली) में है। परन्तु इसके वृक्ष संसार के बहुत में भागों में प्रचुर रूप से उत्पन्न होते हैं, विशेषत स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, कैलिफोर्निया, फ्लोरिडा, वेस्टइण्डीज और न्यू साउथवेल्स में। नीबू का रस, नीबू का तेल और इससे बननेवाली दूमरी वस्तुएँ जैमे—साइट्रिक अम्ल, साइट्रस पेकिटन आदि बहुत बड़ी मात्रा में भारत में अन्य देशों से आयात की जाती है। १००० से १५०० ग्रॅम नीबू का तेल मामान्यत प्रतिवर्प भारत में दूसरे देशों में समुद्रमार्ग से आता है, जिसका मूल्य लगभग ५०,००० से ६०,००० रुपये होता है। नीबू के रस, शर्वत तथा इसमें घने अन्य पेय का किस मात्रा में आयात होता है, कोई निश्चित लेपा-जोखा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बड़ी मात्रा में ये वस्तुएँ आयात होती हैं। गुण की दृष्टि से भारतीय नीबू का छिलका, सिसली में आने वाले नीबू के छिलके के समान ही होता है और यह अनुमान लगाया गया है कि यदि भारतीय नीबू से तेल निकाला जाय तो, व्यापारिक दृष्टि से यह असफल नहीं होगा। कागजी नीबू में वाप्पशील तेल की मात्रा वडे नीबू की अपेक्षा कम रहती है, परन्तु कागजी नीबू में रस और साइट्रिक अम्ल की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है। १०० घ० सेमी० कागजी नीबू के रस में साइट्रिक अम्ल की औसत मात्रा ५९ प्रतिशत होती है, जब कि वडे नीबू के इतने ही रस में ३७ प्रतिशत होती है। इसमें स्पष्ट है कि यदि वडे नीबू के उत्पादन का कार्य बहुत वडे पैमाने पर प्रारम्भ किया जाय तो यह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होगा। नीबू का उत्पादन कठिन नहीं है, इसके लिए आर्द्र और छायादार जलवायु चाहिये, जहाँ शुष्क तथा वृद्धिप्रद वायु और पर्याप्त धूप उपलब्ध हो। ऐसी परिस्थितियाँ भारत

मे सुलभ है और इसके लिए अधिक खर्च की भी जरूरत नहीं। यदि ठीक प्रकार से भूमि का चुनाव किया जाये तो समुचित सीचने की व्यवस्था भी हो सकती है। कतिपय कृषि शास्त्र के विशेषज्ञों ने घाट की पर्वत श्रेणियों के जलोत्सारित निचले प्रदेशों मे इसकी खेती के लिए मुझाव दिया है। उनके इस चुजाव पर गम्भीरता से और भलीभांति विचार करना चाहिये। वास्तव मे भारतवर्ष मे इसकी खेती की जो परिस्थितियाँ विद्यमान हैं वे किसी भी अवस्था मे कैलिफोर्निया, फ्लोरिडा और न्यू साउथवेल्स की परिस्थितियों से कोई बुरी नहीं है, इन सब जगहों मे नीदू की खेती अभी हाल मे प्रारम्भ की गयी है और शीघ्रता से बढ़ी है। 'कैलिफोर्निया फूट ग्रोवर्स एक्सचेंज', जो वहाँ नीदू के उद्योग का नियन्त्रण करता है, की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि सहकारिता के प्रयास से एव आधुनिक वैज्ञानिक कृषि के उपकरणों के प्रयोगो से कितनी अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। वर्ष के लगभग ४ महीनों मे कैलिफोर्निया मे कुहरा छाया रहता है जो कि नीदू की खेती के लिए हानिकारक है। कुहरे के समय कृत्रिम ऊज्जा से फल के बगीचों को ताप पहुँचाकर नीदू की फसल को कुहरे से होनेवाली हानियो से बचाया जा सकता है। यदि इन देशों मे ऋतु के प्रतिकूल होने पर भी नीदू का उद्योग इतने बड़े रूप मे पनप सकता है, तो यह समझ मे नहीं आता कि इसकी खेती भारत में बड़े पैमाने पर क्यों नहीं को जा सकती और क्यों नहीं कच्चे माल और उसके उपलब्ध उपोत्पाद का उपयोग यहाँ किया जा सकता।

### सन्दर्भ :—

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*,
- (2) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*,
- (3) *Year Book of Agriculture*, 1930, U S A Publication,
- (4) *Wealth of India*, Raw Materials, 1950, II, 188,
- (5) *Agric Marketing in India, Report. Marketing Citrus Fruits*, 1943, 43, 12

### कॉल्चिकम ल्यूटियम ( लिलिएसी )

*Colchicum luteum Baker ( Liliaceae )*

### भारतीय कॉल्चिकम

नाम — स० — हिरण्यतुथा, हि० — हिरन-तूतिया, सूरिङ्गान, उर्दू — सूरिङ्गाने तल्ख, प० — सूरिङ्गान-इ-तल्ख

कॉल्चिकम ऑट्मेल के घनकन्द ( कार्म ) और बीज त्रिटिश मेषजकोष मे मान्य है, और पाश्चात्य चिकित्सा मे गाऊट की उत्कृष्ट औषधि के रूप मे इनका अत्यधिक उपयोग होता है। यह पौधा मध्य यूरोप मे सब स्थानों मे पाया जाता है, परन्तु भारत

नहीं मिलता। अनेको बार प्रयत्न किया गया कि यह स्पीशीज भारत में उत्पन्न हो सके, परन्तु इसमें बहुत कम सफलता मिली। यद्यपि कॉल्चिकम ऑटमेल भारत में उत्पन्न नहीं होता तथापि इसका अच्छा स्यानापन्न द्रव्य कॉल्चिकम ल्यूटियम के रूप में प्राप्य है। यह पश्चिमी शीतोष्ण हिमालय में बहुत अधिक तथा भरी से लेकर कश्मीर एवं चम्बा तक खुली चराणाह वाली भूमि में या जगलो की बाहरी सीमा पर मिलती है। अफगानिस्तान एवं उत्तरी भारत में इस औपचिं की बहुत ख्याति है। इसका काला, भूरा-सूखा सत्त्व, छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में, जो इसके धनकन्द से तैयार किया जाता है, बाजार में पसारियों के यहाँ मिल सकता है।

#### कृषि :

इस पौधे को पैदा करने के लिए इसके बीजों को व्यारियो में अथवा सदूकों में मई मास में या उसके बाद ही बोकर मिट्टी से हल्का ढूँक दिया जाता है और ऊपर से छाया का प्रबन्ध कर दिया जाता है। बीज अकुरित होने में कभी कभी बहुत समय लेते हैं। वे हन जब एक साल का हो जाता है, तब उनको ३ फुट के अन्तर में खेतों में रोप दिया जाता है। धनकन्द का सग्रहण पौधों के २ साल का होने पर प्रारम्भ होता है। कश्मीर की घाटी, झरी, दोमेल, किस्तवार और बघवाह की पहाड़ियों में धनकन्द जून और जुनाई में सग्रह किया जाता है और वार्षिक सग्रह लगभग ५०-१०० मन आंका जाता है।

भारत के बाजारों में मामान्यत इसकी दो किम्मे विकती हैं—एक मीठी और दूसरा कड़ई। कड़ई किस्म कॉल्चिकम ल्यूटियम है, जिसमें कॉल्चिसीन ऐल्केलॉयड पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहता है। मीठे किस्म के सुरञ्जान में भी एक ऐल्केलॉयड की अत्यल्प मात्रा रहती है, परन्तु वह सक्रिय नहीं होता। कॉल्चिकम ल्यूटियम वा सुरञ्जानेतरख की, मीठे किस्म की सुरञ्जाने शीरी से, इसके कटु स्वाद द्वारा एवं आकार में छोटा, काले रंग का तथा धनकन्द के जालिका रूपी (reticulated) होने से भेद कर सकते हैं। धनकन्द काट में कुछ शकुच्चत या चौड़ा अडवत या लम्बा तथा समतल-उत्तल (platno-co-wcs), रंग में भूरा या भूराधूसर और पारभासी या अपारदर्शक होते हैं। समतल पाथर पर लम्बाई में एक नाली (groove) रहती है। पृष्ठ भाग पर लम्बाई में अनिश्चित और अनियमित धारियाँ होती हैं। ताजे धनकन्द की लम्बाई १५-३५ मिमी और व्यास १०-२० मिमी होती है। सूखे धनकन्द सुगमता से टूट जाते हैं, विभग (fracture) भूरभूरा होता है, विभजित सतह इवेत एवं मण्डमय होता है धनकन्द गध रहित तथा स्वाद में कटुआ और तीक्ष्ण होता है।

अरब के लोगों को इसका चिकित्सीय गुण अच्छी प्रकार ज्ञात था। कश्मीर हमैंडैकटाइल या सुरञ्जने तख्त का उपयोग, विशेषत गठिया आमवात तथा यकृत और प्लीहा के रोगों में पहले एवं आज भी यूनानी हकीम रसायन एवं मृदुविरेचक के रूप में करते हैं, गठिया में इसको मुसव्वर के साथ में और वाजीकरण के लिए सोठ और पिप्पली के साथ में देते हैं। आमवातजन्य या अन्य सूजन पर इसको केसर एवं थण्डे के साथ मिलाकर लेप के रूप में लगाते हैं। ज्ञाताकन (Cicatrization) बढ़ाने के लिए इसकी जड़ का चूर्ण ब्रणों पर छिड़का जाता है। हिरण्यतुथा या हिरल त्रूतिया अफगानिस्तान तथा उत्तरी भारत में एक स्थानितलव्ध औषधि है—यह काला, भूरा, सूखा सार है जो कॉल्चिकम ल्यूटियम तथा अन्य जातियों के जलीय सार से तैयार किया जाता है। भारतीय चिकित्सा में त्रूतिया (copper sulphate) और कॉल्चिकम ल्यूटियम की जड़ से बनाये आंख के अजन के लिए 'तुथम' या 'तुत्तञ्जन' शब्द आता है। कॉल्चिकम ल्यूटियम के घनकन्दो को भीठे किस्म वाले सुरञ्जन अथवा एक दूसरे पादप नार्सिसस तजेता (*Narcissus tazetta*) के घनकन्दो से प्राय अपमिश्रित किया जाता है। नार्सिसस तजेता फारस में प्रचुर परिमाण में उगता है और ऐसा समझा जाता है कि इसके गुण भी सुरञ्जन के समान ही हैं। एक किस्म, जिसे कॉल्चिकम स्पेसिओसम (*C. speciosum* Stev.) नाम से जाना जाता है, सामान्य रूप से बड़धिस और खुरासान में उत्पन्न होता है और वहाँ से भारत में आता है। भारतवर्ष के बाजारों में सुरञ्जन के बीज प्राय नहीं बेचे जाते। डाइमाक, वाडेन और हूपर (१८९३) के अनुसार लाहौर से प्राप्त कडवे सुरञ्जन में ईयर का सार जिसमें ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है, १ ३१ प्रतिशत पाया गया, और फारस से प्राप्त भीठे सुरञ्जन (*Merendera persica*) में ० ६९ प्रतिशत पाया गया। कॉल्चिकम ल्यूटियम के घनकन्द की परीक्षा 'कलकत्ता स्कूल ऑफ ड्रॉफिकल मेडिसिन' में की गयी। वे देखने में अपने साधारण आकृति में कॉल्चिकम आटमेल के घनकन्दो से मिलते जुलते हैं। रासायनिक विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि इनमें भारी मात्रा में स्टार्च, लघुमात्रा में तैलीय रेजीनी पदार्थ तथा एक तिक्त ऐल्केलॉयड पाया जाता है। अमेरिकी भेवजकोश में निर्धारित आमापन विधि से आमापन करने पर पाया गया कि कॉल्चिकम ल्यूटियम के हवा में सुखाये गये घनकन्दो में ऐल्केलॉयड ०.२१ से ० २५ प्रतिशत की मात्रा में होता है, तथा बीजों में ० ४१ से ०.४३ प्रतिशत की मात्रा में। इसके प्राप्त ऐल्केलॉयड में वही गुण होते हैं जो मान्यता प्राप्त कॉल्चिकम आटमेल के ऐल्केलॉयड कॉल्चिसीन में होते हैं। अमेरिकी भेवजकोश यह अपेक्षा रखता है कि घनकन्दो में ० ३५ प्रतिशत ऐल्केलॉयड होना चाहिये, और बीजों में ० ४५ प्रतिशत। किन्तु ब्रिटिश

भेपजकोश मे इस सम्बन्ध मे कोई मानक नहीं निर्धारित किया गया है। उसमे केवल इतनी ही सिफारिश की गयी है कि वीजो का उपयोग टिक्कर तैयार करने के लिए किया जाना चाहिये तथा धनकन्द का उपयोग कॉल्चिकम का सार या मदिरा तैयार करने के लिए। ऐल्केलॉयड कॉल्चिसीन पर उच्च तापमान का दुष्प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है इनलिए धनकन्दो को ग्रीष्म के आरम्भ मे ही संग्रहीत कर लेना चाहिये और ६५° से नीचे के तापमान पर सुखा लेना चाहिये। इस निर्देश की ओर ध्यान देने मे ऐन्केलायड की मात्रा मे वृद्धि की सम्भावना रहती है। कॉल्चिकम ल्यूटियम के सूखे वीज भूरे, इवेत रग के अण्डाकार अथवा अनियमित रूप से गोल (व्यास २-३ मि. मी.), गन्धहीन एव तिक्क होते हैं। ये ओपवीय होते हैं और सार या टिक्कर के रूप मे इनका उपयोग उन्हीं प्रयोजनो के लिए किया जाता है जिनके लिए इन्हे धनकन्दो का किया जाता है। वीज गाम तीर से भारतीय वाजागो मे नहीं विकते। भारतीय कॉल्चिकम के धनकन्दो मे पर्यास स्टार्च तथा ऐल्केलॉयड कॉल्चिसीन (मूखे धनकन्द का ० २१—० २५ प्रतिशत) रहता है। वीजो मे ० ४१ से ० ५३ प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहता है।

कॉल्चिसीन का गुण-कर्म • मुख्य ऐल्केलॉयड कॉल्चिसीन  $C_{22} H_{30} O_6 N$  पीत पत्रक, क्रिस्टल के रूप मे, अथवा इवेताभ पीत रवाहीन पाउडर के रूप मे पाया जाता है, और जब उसे आद्र करके गरम किया जाता है तो वह सूखी घास की तरह की एक गन्ध देता है। यह स्वाद मे बटा कड़वा होता है और प्रकाश मे खुला रखने पर कुछ काले रग का हो जाता है। तनु सनिज अम्ल या क्षार मे उवालने पर यह जलापघटित हो जाता है और इसमे मेथिल ऐल्कोहोल तथा कॉल्चिसाइन (colchicine) ( $C_{21} H_{23} O_6 N$ ) प्राप्त होते हैं। इसका प्रभाव बहुत कुछ उसी प्रकार का होता है जैसा कॉल्चिसीन का, किन्तु कॉल्चिसीन अधिक सक्रिय और विवालु होता है। बड़ी मात्राओ मे लेने पर कॉल्चिसीन आन्त्रशूल तथा प्रवाहिका पैदा करता है और वमन लाता है। अपरिज्ञत भेपज से तथा कॉल्चिसीन से निर्मित ओपवियाँ सेलिसिलेट के रूप मे गाउट के उपचार मे प्रयुक्त की जाती है। इनका प्रयोग अनुभव जन्य विलनिकल परिणामो के आधार पर किया जाता है। इधर हाल के वर्षो मे कॉल्चिसीन का विस्तृत उपयोग पादप प्रजनन के लिए किया गया है ताकि कोशिकाओ मे वहुगणिता (polyploidy) आ सके। इस काम के लिए कॉल्चिसीन की भिन्न भिन्न शक्ति का धोल प्रयुक्त किया जाता है और उनके प्रयोग की विधि एव अवधि मे भिन्न भिन्न पौधो के हिसाब से अन्तर रहता है। इस ऐल्केलॉयड का प्रभाव कोशिकाओ के विभाजन के समय तर्कु तत्र (spindle mechanism) पर पड़ता है और विभक्त गुण सूत्रो (chromosomes)

को पृथक होने से रोक देता है। ऐसा भी कहा जाता है कि कैसर की कोशिकाएँ इस ऐल्केलॉयड के प्रभाव से एक्स-किरणों से शीघ्र प्रभावित होती हैं सम्भवत इस कारण से कि ऐल्केलॉयड सूत्री-विभाजन (mitosis) पर प्रभाव डालता है। उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि कॉल्चिकम ल्यूटियम या सुरज्जाने-तल्ख के बीज और धनकन्द जो बाजार में मिलते हैं वे औषधीय प्रयोजनों के लिए कॉल्चिकम औटस्नेल के बीज और धनकन्दों के स्थान पर प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इस पादप, को अब 'इण्डियन फारमाकोपियल लिस्ट' में मान्यता मिल गयी है, तथा ब्रिटिश भैषज-कोश में इसे स्थानापन्न द्रव्य के रूप में मान्यता मिल गयी है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Datt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) Chopra *et al*, 1929, *Ind. Jour. Med. Res.*, 16, 770, (3) *Wealth of India Raw Materials*, 1950, II, 307, (4) Henry, T A., 1949, *The Plant Alkaloids*, (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 151, (6) Chandra Sekharan, S. N and Parthasarathy, S V, 1948, *Cytogenetics and Plant Breeding*, (7) Chopra, R N, Kapoor, L D., Handa, K L, and Chopra, I C, 1947, *Jen. Sci. Indust. Res.*, 6, 480, (8) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946

### डाटूरा स्ट्रैमोनियम ( सोलैनेसी )

*Datura Stramonium Linn. ( Solanaceae )*

पर्याय :—डाटूरा टैटुला (*Datura tatula* Linn.)

जिम्सन बीड, स्टिक बीड, मैडेपुल, थार्न एपुल, स्ट्रैमोनियम

नाम—स०—धतूरा, उन्मत्त, कनक, शिवप्रिय, हिं०, व, म० और गु०—वत्तुरा,

सादा धुतूरा, त०, ते०, कन्न० और मल०—उम्मत्ता, प०—तत्तुर, दत्तुरा।

प्राचीन भारतीय वैद्यों को धतूरे का ज्ञान था। वे इस भेषक को मादक, वसन्त-कारक, पाचक और विरोहण (healing) में उपयोगी मानते थे। वैदिक काल के लोग यह जानते थे कि इसके बीजों का धूम्रपान दमा के उपचार के लिए उपयोगी है। इसकी विषालुता का ज्ञान लोगों को भलीभांति था और साहित्य में तो आत्महत्या एवं मानव-हत्या के उद्देश्य से इसके प्रयोग का बहुधा उल्लेख मिलता है। धतूरे की सूखी पत्तियों एवं फलों का उल्लेख ब्रिटिश एवं अमेरिकी भैषजकोशों में श्वासरोग एवं कुकुरखासी आदि में उद्देश्योदीय (antispasmodic) के रूप में मिलता है। इसकी

पत्तियो एवं बीजो में हाइओसियामीन, ऐट्रोपीन और हाइओसीन ऐल्केलांयड विद्यमान रहते हैं जो सक्रिय तत्त्व हैं। डाढ़ूरा स्ट्रैमोनियम भारत का देशीय पौधा है। यह हिमालय के समगीतोष्ण प्रदेश में—कश्मीर से लेकर सिक्किम तक—सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता है।

कृपि धूरे की खेती के लिए छूब चूनेदार भूमि अनुकूल पड़ती है। वसन्त क्रृतु में इसे ३-३ फुट की ऊंची पर डिलो में बोकर उपजाया जा सकता है, बाद में उनमें से पौधे निकाल कर विरल कर दिये जाते हैं, ताकि पौधों की ऊंची १० फुट हो जाय। धूरे पर तुपार का बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है, इसलिए इसकी खेती के लिए छायादार स्थान अधिक उपयुक्त होता है। जब इसके फल पूर्णत परिपक्व हो जाते हैं पर देखने में हरे रहते हैं और कुछ सूर्य के प्रकाश में या छाये में ही सूख गये होते हैं, तब समूचे पौधे को काट लिया जाता है। पत्तियों को पौधों से तोड़कर अलग सुखाया जाता है। जब फल फटने लगते हैं तो उन्हें झकझोर कर बीजों को निकाल लिया जाता है। पत्तियों की उपज प्रति एकड १०००-१५०० पौण्ड होनी चाहिये तथा बीजों की उपज लगभग ७०० पौण्ड। नाइट्रोजेनी उर्वरक (खाद) पौधों की काफी अभिवृद्धि करता है एवं पौधों में सेल्केलांयड की भी वृद्धि करता है। कॉल्चिसीन की अभिक्रिया में क्षुप चतुर्गुणित (टेट्राल्पायेड) होते हैं, और उनमें द्विगुणित (डिप्लायेड) पौधों की अपेक्षा ऐल्केलांयड अधिक होते हैं।

भारत में औपधि में व्यवहृत होने वाली धूरे की अन्य जातियाँ हैं डाढ़ूरा इन्नोक्सिआ (*D. innoxia* Mill.) और डाढ़ूरा मीटल (*D. metel* Linn.)

डाढ़ूरा इन्नोक्सिआ, पर्याय—डाढ़ूरा मीटल (*D. metel* Auctt) (non Linn) यह एक स्थूल, वार्षिक क्षुप है जिसकी ऊंचाई ३-४ फुट होती है। यह वसन्त मैनिसको का पादप है पर अब तो दक्षिण प्रायद्वीप के पश्चिमी भागों एवं भारत के कुछ अन्य भागों में भी पैदा होता है। इस पौधे से भारी अर्थात्, स्वापक गध निकलती है। भारत में इसका उपयोग ठीक उन्हीं प्रयोजनों के लिए किया जाता है जिनके लिए डाढ़ूरा स्ट्रैमोनियम का। इस पौधे का महत्व इसलिए है कि सम्भवत यह स्कोपोलामीन ऐल्केलांयड का स्रोत है। स्कोपोलामीन का उपयोग शल्य क्रिया और प्रसव के पूर्व निश्चेतक के रूप में, नेत्र चिकित्सा तथा वायुयान या जल्यान द्वारा यात्रा करते समय बमन आदि विकारों के शमन के लिए किया जाता है।

डाढ़ूरा मीटल (*D. metel* Linn.) पर्याय—डाढ़ूरा फैस्चुओसा (*D. fastuos* Linn), डाढ़ूरा ऐल्वा (*D. alba* Nees), डाढ़ूरा फैस्चुओसा वैराइटी ऐल्वा (*D. fastuos* var *alba* (Nees) C B Clarke) —यह कुछ अरोमिल विस्तारी पौधा

है जो कभी-कभी बढ़कर क्षुप रूप का हो जाता है। यह सारे मारत में पैदा होता है। व्यापार के लिये यह प्राय स्वयंजात (जगन्नी) पीधो से एकत्रित किया जाता है। पहाड़ियों पर जून के महीने में तथा मंदानों में जुलाई के महीने में बीज बोकर इसे उपजाया जा सकता है। पत्तियों की उपज एवं ऐल्केलॉयड की मात्रा पर कटाई (Pruning) का तथा कलिका रहित कर देने का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। काट-चाँट करने से पीधे की ऊँचाई, पत्तियों की स्थिता, शुष्क भार एवं ऐल्केलॉयड की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, पर कलिकाओं को तोड़ देने से इनमें वृद्धि होती है। डूरा मीटल का प्रमुख ऐल्केलॉयड स्कोपोलामीन है। औषधि में इसकी सूखी पत्तियों का उपयोग ठीक उसी उद्देश्य से होता है जिस उद्देश्य से स्ट्रैमोनियम एवं वेलडोना की पत्तियों का करते हैं। पूर्वीय अफीका में डगकी हरी पत्तियों का उपयोग कपड़ा रगने के लिए किया जाता है।

डाटूरा स्ट्रैमोनियम वैराइटी इनर्मिस (*D. stramonium* var. *inermis*) के बीज आँकमफोर्ड ग्रिटेन से मगाकर परीक्षणात्मक कृपि के लिए जम्मू और कश्मीर में बैये गये और जम्मू की नर्मरी से सगृहीत की गयी पत्तियों से कुल ऐल्केलॉयड ० १८ प्रतिशत उपलब्ध हुआ जबकि यारिदा (७००० फुट) से सगृहीत की गयी पत्तियों से ० २९ प्रतिशत ऐल्केलॉयड मिला। यारिदा के स्थानीय डाटूरा स्ट्रैमोनियम से कुल ऐल्केलॉयड ० ४२ प्रतिशत उपलब्ध हुआ।

**टिप्पणी :**—देश की भाषाओं में श्वेत धत्तूरा उसे कहते हैं जिसमें श्वेत फूल निकलते हैं और काला धत्तूरा उसे कहते हैं जिसमें रगीन फूल निकलते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि पुष्पों का रग स्पीशीज का द्वोतक नहीं है, एक ही स्पीशीज के पीधों में श्वेत, नीलाखण अथवा नील पुष्प हो सकते हैं।

**डाटूरा स्ट्रैमोनियम एवं डाटूरा मीटल का रसायन और उपयोग :** भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पैदा होने वाले डाटूरा स्ट्रैमोनियम से ऐल्केलॉयड की मात्रा में उल्लेखनीय विभिन्नता पायी जाती है, जो ० ४७ से ० ६५ प्रतिशत तक होता है। डाटूरा मीटल के मिथ्रित भारतीय बीजों में ० २३ प्रतिशत कुल ऐल्केलॉयड उपलब्ध होता है, जिसमें मुख्यतः दो भाग हाइओसियामीन का और एक भाग हाइओसीन होता है, साथ ही थोड़ा एंट्रोपीन भी विद्यमान रहता है। सम्पुट (*capsule*) में कुल ऐल्केलॉयड ० १ प्रतिशत होता है जिसमें मुख्यतः हाइओसीन रहता है। बीजों में ० २१६ प्रतिशत हाइओसीन, ० ०३४ प्रतिशत हाइओसियामीन और नाम मात्र का एंट्रोपिन रहता है। डाटूरा मीटल की पत्तियाँ एवं बीज भारतीय भेषजकोष द्वारा मान्य बना दी गयी थीं और इससे बने

गैलेनीय (galenical) तथा अन्य योगों जैसे टिचर, प्लास्टर आदि का बहुधा प्रयोग होता था। स्वापक तथा वेदनाहर गुणों वाली दोनों स्पीशीज तन्त्रिकात्ति (न्यूरैलिजना) में उपयोगी होते हैं और उद्देष्टरोधी के रूप में व्यवहृत होते हैं। धृतरा में बेलाडोना के सदृश ही गुण रहता है। दमा का दौरा रोकने के लिए इसकी पत्तियों का सिगरेट बनाकर पीया जाता है। पार्किन्सनता (Parkinsonism) के इलाज में भी इनका उपयोग किया जाता है। धृतरा गोली, टिकिया, टिक्कर एवं सत्व के रूप में व्यवहृत किया जाता है। धृतरे का मरहम जिसमें लैनोलिन, पीला मोम एवं पैट्रोलेटम रहता है, अर्श के उपचार में व्यवहृत होता है। इसकी पत्तियाँ फोड़ा-फुन्सी तथा मछली के काटे जख्मों के लिए एवं पत्तियों का रस कान-दर्द में उपयोगी होता है। इसके फलों से निचोड़े हुए रस को बालों की रूसी एवं झड़ते हुए बालों को रोकने के लिए शिरोवल्क (स्काल्प) पर लगाया जाता है। स्ट्रैमोनियम आयुर्वेदिक औषधि 'कनक आसव' का एक प्रमुख घटक है, जिसका उपयोग खाँसी दमा तथा क्षय रोग में शामक, कफोत्सारक, उद्देष्टरोधी तथा वेदनाहर के रूप में होता है। डाढ़ूरा स्ट्रैमोनियम के बीज इसकी पत्तियों से अधिक प्रभावशाली होते हैं, किन्तु इनमें बड़ी मात्रा में (१६-१७ प्रतिशत) एक निश्चित तेल रहने के कारण इनसे किन्हीं स्थायी औषधियों का बना सकना बहुत कठिन है। बीजों का प्रयोग आत्महत्या या मानव हत्या के लिए भी किया गया है। इससे आक्रान्त व्यक्ति का गला सूख जाता है, सिर चकराने लगता है, पैर लड़खड़ाने लगते हैं और वह विक्षिप्त हो जाता है, वाणी स्पष्ट नहीं निकलती तथा आँखों से दिखाई भी नहीं पड़ता, रोगी मूर्छित हो जाता है और अन्ततोगत्वा मृत्यु का शिकार हो जाता है।

तने के ऊपर की पत्तियों एवं शाखाओं में आधार की ओर पत्तियों एवं शाखाओं की अपेक्षा ऐल्केलॉयड अधिक रहता है। साफ सौसम में इसमें कुल ऐल्केलॉयड की जो मात्रा होती है, वह वर्षा होने के बाद बहुत कम हो जाती है। वस्तुत यह अन्तर बहुत अधिक होता है, इसलिए अधिक ऐल्केलॉयड प्राप्त करने के लिए पत्तियों को उपाकाल में ही चुन लेना चाहिये न कि शाम को, क्योंकि सायकालीन पत्तियों में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम होती है। छाये में सुखायी गयी पत्तियों में धूप में सुखायी पत्तियों की अपेक्षा अधिक ऐल्केलॉयड होता है। जो पत्तियाँ पौधे में ही सूखती हैं उनमें, तोड़कर सुखायी गयी पत्तियों की अपेक्षा, अधिक ऐल्केलॉयड होता है, उस दशा में तने और मूल में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम हो जाती है, सम्भवत इसलिए कि इन अगों में विद्यमान ऐल्केलॉयड का कुछ भाग पत्तियों में छला जाता है। उन पत्तियों में अपेक्षाकृत अधिक ऐल्केलॉयड पाया जाता है,

जिन्हे तोड़ने के बाद सुखाने के पहले एंजाइम नष्ट करने के लिए  $100^{\circ}$  से<sup>०</sup> तापमान पर १५ मिनट तक रखा जाता है। कलियो को तोड़ देने से पत्तियों की प्राप्ति अधिक हो जाती है।

आर्थिक पक्ष · डाढ़ूरा स्ट्रैमोनियम से निर्मित औषधियों की माँग बहुत अधिक है। इनसे बने गैलेनिकी योगो के अतिरिक्त श्वासरोग में व्यवहृत होनेवाले सिगरेटों एवं धूमन चूर्णों का भी यह प्रमुख घटक है। अमेरिका में इस पौधे की खेती औषधीय प्रयोजनों के लिए की गयी है। भारत में धूरे की इतनी अधिक सम्भरण को देखते हुए भी यह आश्चर्य की बात है कि धूरे से निर्मित औषधियाँ एवं ऐल्केलॉयड हाइओसियामीन और हाइबोसीन का आयात हमें बाहर से करना पड़ता है। डाढ़ूरा मीटल में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम नहीं होती है और यह इतना अधिक पैदा होता है कि इसका उपयोग न केवल साधारण गैलेनिकी योगो के रूप में अपिन्तु ऐल्केलॉयड हाइबोसियामीन तथा हाइबोसीन के निस्सारण के लिए भी लाभदायक होगा। भारत में गैलेनिकल और टिक्चर थोड़ी मात्रा में तैयार किये जाने लगे हैं और यह बताया जाता है कि कलकत्ता में एक फर्म स्कोपोलामीन हाइड्रोनोमाइड का उत्पादन करने लगी है, किन्तु इस उत्पादन की मात्रा इस महान देश के लिए अत्यत्प है।

### सन्दर्भ :—

(1) *Wealth of India , Raw Materials*, 1952, III, 14 , (2) Datt, N B 1928, *Commercial Drugs of India* 117, (3) Santapau, H , 1948, *J Bombay Nat Hist , Soc* , 47, 659, (4) Gerlack, 1948, *Econ Botany*, 2436, (5) Greenway, 1941, *Bull Imp Inst Lond* , 39, 231, (6) Tummin Katti, 1938, *Proc Indien Sci Congress* 20, 204 , (7) Kapoor, L D , Handa, K L and Chopra, I C , 1953 , *Jour Sci Indust Res* , 12 A, 313

### डिजिटैलिस लैनेटा (स्क्राँफुलैरिएसी)

*Digitalis lanata Ehrh ( Scrophulariaceae )*

ग्रीशियन फॉक्सग्लोब, वूली फॉक्सग्लोब

( Grecian Foxglove, Woolly Foxglove )

डिजिटैलिस सहिण्य (hardy) शाकीय पौधों का एक जीनस है। यह एशिया और बूरोप का देशीय पौधा है, इसकी कुछ जातियों की खेती विश्व के कई भागों में की

जाती है। भेषजीय महत्ववाली डिजिटैलिस परप्यूरिया और डिजिटैलिस लैनेटा, इन दोनों जातियों को भारत में लाया गया है, और औपधीय उद्देश्य से अब इनकी खेती भी होने लगी है।

डिजिटैलिस लैनेटा एक बहुवर्षीय या द्विवर्षीय पौधा है, जिसकी ऊँचाई २-३ फुट होती है। यह मध्य एवं दक्षिणी यूरोप का भेषज है। अब इसकी खेती इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा कनाडा में होती है। भारत में इसकी खेती कश्मीर में लगभग ७,००० फुट की ऊँचाई पर होती है। यह पौधा दुमट मिट्टी में खूब पनपता है और इसकी खेती की बही पद्धति है जो डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती की है। यारिखा (कश्मीर) में इसकी खेती अर्ध-वाणिज्यिक पैमाने पर होती है। सूखी पत्तियों की वार्षिक उपज प्रति एकड़ २४० पौण्ड होती है। डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियाँ डिजिटैलिस के सदृश ही विशिष्ट शरीर क्रियात्मक प्रभाव उत्पन्न करती हैं, किन्तु इनका प्रभाव डिजिटैलिस की पत्तियों की अपेक्षा अधिक सशक्त और कम सच्चयी (Cumulative) होता है। यह एक हृदव्यत्य (Cardiac) सक्रिय ग्लाइकोसाइड डिजांक्सन का स्रोत है जो इस जीनस की अन्य जातियों में नहीं पाया जाता। डिजांक्सन कुछ भेषजकोशों में मान्य है।

**सघटक :** डिजिटैलिस लैनेटा को हरी ताजी पत्तियों में तीन प्राकृतिक ग्लाइकोसाइड होते हैं, जिनके नाम हैं लैनेटोसाइड ए, बी और सी। लैनेटोसाइड ए और बी डिजिटैलिस परप्यूरिया के आदि ग्लाइकोसाइड-परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड ए और बी से निकटतम सम्बन्धित है और एक एसिटिल ग्रूप का विलोपन करके इनको परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड ए और बी में परिवर्तित किया जा सकता है। लैनेटोसाइड 'सी' से जल-अपघटन के बाद डिजांक्सन उपलब्ध होता है जिसे सन् १९३१ ई० में स्मिथ ने क्रिस्टलीय रूप में एसिटिक अम्ल तथा ऐल्कोज के साथ अलग किया था इन लैनेटोसाइडों को निकालने के लिए हरी-ताजी पत्तियों को एक उदासीन लवण के साथ पीस दिया जाता है, ताकि निष्क्रिय हो जायें। तत्पश्चात् पीसे हुए पदार्थ को एथिल एसिटेड के साथ मिलाकर निःसूत किया जाता है और ग्लाइकोमाइडों को तनु ऐल्कोहॉल से पुन क्रिस्टलित कर लिया जाता है। इस प्रकार से उपलब्ध पदार्थ, लैनेटोसाइड ए (४६ प्रतिशत) लैनेटोसाइड 'बी' (१७ प्रतिशत) तथा लैनेटोसाइड 'सी' (३७ प्रतिशत) का मिश्रण रहता है। डिजांक्सन एक द्वेत क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल तथा क्लोरोफार्म में अल्पविलेय तथा तनु ऐल्कोहॉल में विलेय होता है। यह पत्तियों के कुल ग्लाइकोसाइड से प्रभाजी निष्कर्षण (fractional extraction) द्वारा उबलते हुए क्लोरोफार्म अथवा एथिल एसिटेट की सहायता से पृथक कर लिया जाता है। अल्पविलेय प्रभाग ऐल्कोहॉल से क्रिस्टलित कर लिया जाता है। अम्ल जल-अपघटन (acid hydrolysis)

के उपरान्त डिजॉक्सिन से डिजॉक्सिजेनिन और डिजिटांक्सोज़ प्राप्त होते हैं। डिजॉक्सिन थीक वही हृदयल्य प्रभाव उत्पन्न करता है जो डिजिटैलिस करता है। इसकी शक्ति वरावर वनी रहती है और यह शीघ्र ही अवशोषित होकर वहिर्गत हो जाता है। यह तैयार डिजिटैलिस (Prepared Digitalis) की अपेक्षा तीन सौ गुना अधिक अन्तिशाली होता है और द्रुत डिजिटैलिस प्रभाव के लिए विशेष स्प से महत्वपूर्ण है। मीखिक सेवन से घटे भर मे ही हृदय पर डिजिटैलिस का विगिष्ट प्रभाव उत्पन्न करता है, और ६ घटे मे इसकी अधिकतम क्रिया परिलक्षित होती है। इसका अन्त शिरा (Intravenous) इजेक्शन देने पर तुरत प्रतिक्रिया होती है, जो ५-१० मिनट मे ही परिलक्षित हो जाती है, और १-२ घन्टे मे इसका अधिकतम प्रभाव हो जाता है। जैसा कि डिजिटैलिस के सेवन करने मे होता है, इसके सेवन से भी मतली, वमन और हृदयिक प्रतिक्रिया (tachycardia) उत्पन्न हो जाती है। डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियाँ तथा बीज दोना ही सक्रिय होते हैं। बीजो मे ३० प्रतिशत पीताभहरित, गाढ़ा मैला वसोय तेल होता है।

**उपयोग .** प्राय डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियो का उपयोग केवल लैनेटोसाइडो तथा डिजॉक्सिन के तैयार करने के लिए होता है। इसकी पत्तियाँ पश्चिमी हिमालय मे किसी भी परिमाण मे पैदा की जा सकती हैं, यदि भैपजिक प्रतिष्ठान डिजॉक्सिन एव लैनेटोसाइडो का उत्पादन अपने हाथ मे ले। सम्प्रति ये ग्लाइकोसाइड विदेशो से मँगाये जाते हैं, जब कि कच्चा माल भारत मे प्राप्य है।

### सन्दर्भ :-

(1) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 521, (2) *Wealth of India Raw Materials*, 1952 III, 61, (3) Bal, S N , Gupta, B , Bosc, A N and Bosc, S , 1952, *Ind Jour Pharm*, 14, 189

### डिजिटैलिस परप्यूरिया (स्क्राफुलैरिएसी)

*Digitalis purpurea Linn (Scrophulariaceae)*

फॉक्सग्लोव (Foxglove)

डिजिटैलिस परप्यूरिया को लोग प्राय फॉक्सग्लोव के नाम से जानते हैं। यह एक द्विवर्षीय वही वनी ज्ञानीय क्षुप पौधा है जो २-६ फुट ऊँचा होता है, एव ५,०००-६,००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। यह मूलत पश्चिमी यूरोप मे पैदा हुआ परन्तु अब तो सप्ताह के अनेक भागो मे उपजाया जाता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं, जो समान शरीर-क्रियात्मक कार्य करती हैं पर उनकी शक्ति की मात्रा मे अन्तर होता है।

उदाहरणार्थ डिजिटैलिस कम्पनुलेटा (*D. campunulata*) या डिजिटैलिस ऐल्वा (*D. alba*) की अपेक्षा डिजिटैलिस परपूरिया अधिक प्रभावशाली होता है, किन्तु आस्ट्रिया से आने वाले डिजिटैलिस एम्बिगुआ (*D. ambigua*) में डिजिटैलिस परपूरिया के बराबर ही चिकित्सीय क्रियाशीलता पायी जाती है। अनेक वर्षों तक इंग्लैण्ड में उत्पन्न पत्तियाँ, बाजार में मर्वेत्तम भानों जाती थीं किन्तु बाद में जर्मनी एवं आस्ट्रिया ने अच्छी कोटि (कवालिटी) की पत्तियाँ बड़े परिणाम में विश्व को दी। प्रथम महायुद्ध के दिनों में जर्मनी से इनका निर्यात होना बन्द हो गया था और अमेरिकियों ने अपने संसाधनों के विकास के प्रयाम किये। कैलिफोर्निया, ऑरेगॉन और वाशिंगटन में डिजिटैलिस वन्य अवस्था में पैदा होता है, इन पौधों से सगृहित पत्तियाँ औपधीय उपयोग के प्रयोजनों के लिए प्रभावशाली और पर्याप्त शक्ति सम्पन्न पायी गयी। अमेरिका में पैदा होने वाली जातियों में एक डिजिटैलिस लूटिया (*D. lutea*) है जो चिकित्सीय दृष्टि से उतनी ही अच्छी है जितनी डिजिटैलिस परपूरिया। वस्तुत जठरात्र प्रदेश पर अपेक्षाकृत बहुत कम विपैला प्रभाव ढालने के लिए यह प्रसिद्ध है।

भारत में प्रति वर्ष डिजिटैलिस बहुत अधिक परिमाण में व्यवहृत होता है। इसके अनुमान इसी वात से लगाया जा सकता है कि मेसर्सं स्मिथस्टैनिस्ट्रीट एण्ड कम्पनी, जो कलकत्ते में रासायनिक निर्माण की फर्म है, ने १९१२ ई० में लिखते हुए कहा था कि वह फर्म अकेले ही भारत में पैदा होने वाली ३ से ४ हॉण्डरचेट पत्तियों का उपयोग कर सकती है, वशतें कि वे पत्तियाँ उतनी ही क्रियाशील हो जितनी कि आयातित पत्तियाँ। तब से खपत पर्याप्त मात्रा में बढ़ गयी है। डिजिटैलिस से वनी कुछ औपधियाँ जिनका उपयोग इस देश के चिकित्सकों द्वारा किया जाता है, बाहर से मँगायी जाती है। इस समस्या का केवल आर्थिक पक्ष ही नहीं है, अपितु औपधीय दृष्टिकोण से इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिये कि विदेशी से भारत को आयातित डिजिटैलिस से वनी औपधियाँ अल्पकाल में ही अपनी २० से ४० प्रतिशत शक्ति खो देती हैं। लेखक एवं उसके सहयोगियों ने, कुछ वर्ष पूर्व, भारत में पैदा होने वाले डिजिटैलिस के गुणों का इस दृष्टि से अनुसधान किया था कि क्या भारतीय पत्ती डिजिटैलिस एवं उससे निर्मित औपधियाँ विदेश से आयातित होने वाली पत्ती एवं औपधियों के स्थान पर लाभ के साथ व्यवहार में लायी जा सकती है। इस अनुसधान का परिणाम यह हुआ है कि कलकत्ता का बगाल केमिकल एण्ड फारमार्न्युटिकल वर्क्स नामक प्रतिष्ठान प्रतिवर्ष लगभग १ टन पत्तियों का उपयोग कर सकता है और ये सभी पत्तियाँ भारत में (कश्मीर में) में पैदा होती हैं।

भारत के विभिन्न स्थानों में पैदा होने वाले डिजिटैलिस की पत्तियों के विकित्सीय प्रभाव का विवेचन करने से पूर्व इस देश में इसकी कृपि, सचयन-रीति, सुखाने एवं सग्रहण (भराडारण) के ढग के मम्बन्ध में सक्षिप्त विवरण दे देना अप्रासादिक न होगा।

### भारत में डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती ।

जहाँ तक मालूम हैं डिजिटैलिस की कोई भी जाति भारत के लिए देणीय नहीं है किन्तु डिजिटैलिस परप्यूरिया एक लम्बे असे से विभिन्न पर्वतीय बागों के किनारे शोभावर्धन पादप के रूप में लगाया जाता है। १८८० ई० में महारनपुर के सरकारी बागों में, तथा मसूरी के पर्वतीय बागों में इसे पैदा करने के प्रयाम किये गये ताकि इसकी पत्ती औपधीय प्रयोजनों के लिए भर्वदा सुलभ हो सके। किन्तु पौधा खूब फूला फला नहीं, जैसी सूचना थी, पत्तियाँ उससे बहुत कम उपलब्ध हुई थीं और उनकी उत्पादन-लागत बाहर से आयातित होनेवाले डिजिटैलिस से कुछ अधिक पड़ती थी। इसलिए उस समय उन स्थानों में इसकी व्यवस्थित खेती की योजना स्थगित कर दी गयी। कुमार्यू के बागों में यह पौधा अधिक पनपा और १९१२ ई० में इसकी पत्तियों की रासायनिक परीक्षा मार्टिण्डेल ने की और सक्रियतत्त्वों की दृष्टि से निर्धारित मानक से उन्हें कुछ ऊपर ही पाया। इस पौधे की खेती अन्य स्थानों में भी की गयी और दार्जिलिंग (हिमालय) के निकट मगपू एवं वर्मा के सिनकोना बागानों के अधिकारियों ने इसकी खेती का काम हाथ में ले लिया। नीलगिरि की पहाड़ियों पर भी इसे लगाया गया और वहाँ स्वयंवपित बीजों से यह खूब अभिवृद्ध हुआ। सिनकोना बगानों ने इसे गवर्नर्मेण्ट मेडिकल स्टोर डिपो को ३ आना प्रति पौण्ड के भाव से भग्भरण किया। मगपू के खुले मैदानों में समुद्र की सतह से ६,००० फुट की ऊँचाई पर लगाये जाने में खूब अच्छा पैदा होता है और उसे देखरेख की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। हजारों नवपादप अपने आप उगते हैं और उसके पोषण के लिए रोपणियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। नया बागान लगाने से पूर्व झाड़-झालाड साफ कर दिया जाता है और भूमि को १ फुट गहरा खोद दिया जाता है। फिर रस्ती की सहायता से सौधी पक्कियों में २ फुट के फासले पर पौधे रोप दिये जाते हैं। इस प्रकार प्रतिएकड़ १०,८०० पोधे रोपे जाते हैं। लगभग १२ महीने तक पौधों की अभिवृद्धि होती है तथा इस बीच उनको दोबारा छाटने की और जाडे के दिनों में एक बार निराई की आवश्यकता हो सकती है। इस प्रकार उपजाये जाने पर पौधे खूब बढ़ते हैं, और पत्तियाँ अच्छी फसल देती हैं।

डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती इस समय मुख्यत कश्मीर के यारिखा, तन्मार्ग आदि स्थानों में होती है। मगपु (दार्जिलिंग) में और नीलगिरि की पहाड़ियों पर अब इसकी खेती का परित्याग कर दिया गया है, किन्तु इस क्षेत्र में यह पादप वहाँ की प्रकृति का अभ्यस्त हो गया है। लगभग २० वर्ष पहले कश्मीर में इसकी खेती व्यापारिक दृष्टि से प्रारम्भ की गयी थी। माँग की कमी के कारण खेती को बड़ा धक्का पहुँचा और औसत वार्षिक उत्पादन घट गया। हाल में फिर से वाणिज्यिक पैमाने पर इसकी खेती यारिखा (कश्मीर) में प्रारम्भ की गयी है। चिकित्सीय दृष्टि से सक्रिय पौधों की मैदानी क्षेत्रों में खेती करने का प्रयास सफल नहीं हो पाया है।

उन चुने पादपों से जिनकी पत्तियों में ग्लाइकोसाइड ऊँची मात्रा में विद्यमान हो, सम्हित किये गये बीजों से फॉक्सग्लोब का प्रवर्धन किया जाता है। यह एक कैल्सियम-असह (calcifuge) पादप है, जो हलकी और रेतीली भूमि में, जिसमें मैग्नीज का भी कुछ अश मिला हो, अच्छा पैदा होता है। इसको ऊपर की हल्की छाया अधिक अनुकूल पड़ती है और ऐसी ही छायादार भूमि में इसकी सर्वोत्तम खेती होती है। जमीन खूब अच्छी जोती हुई होनी चाहिये जिसमें पत्ती की खाद काफी पड़ी हो। बीजों को बारीक बालू में मिश्रित कर दिया जाता है ताकि बुआई सर्वत्र समान रूप से हो सके, और मार्च या अप्रैल में खूब तैयार क्यारियों में बोया जाता है। एक एकड़ रोपने के लिए ४-८ औस बीजों से पर्याप्त बेहन प्राप्त किये जा सकते हैं। जब नवोद्भिद २-३ इच्च के हो जायें तो उन्हें खेतों में २-२ फुट की दूरी पर बनायी गयी मेडो पर १½ फुट के फाँसले से प्रतिरोपित किया जाता है। प्रतिरोपण कार्य आद्रै मौसम में करना अधिक अच्छा होता है। जिन क्षेत्रों में इसकी खेती होती है उनमें से प्राय अधिकाश में स्वयं विप्रित बीजों से प्रचुर मात्रा में नवोद्भिद उपलब्ध हो जाते हैं और इन्हे खूब तैयार भूमि में प्रतिरोपित करने के लिए संगृहीत कर लिया जाता है। फसल में कभी भी घास पात नहीं जमने देना चाहिये और खेतों को वर्ष भर में एक या दो बार गोड़ देना चाहिये। पत्तियों की उपज बढ़ाने के लिए सत्रुलित मात्रा में कृत्रिम खाद भी डाली जा सकती है। पादप हूसरे वर्ष में लगभग अप्रैल' के अन्त में या मई के आरम्भ में फूलने लगता है, फिर फल लगते हैं और अन्त में सूख जाता है। अनुकूल स्थितियों में मूलस्तम्भ पुनरुज्जीवित हो जा सकता है और पौधा एक या दो वर्ष तक और जीवित रह सकता है।

पत्तियों का सचयन —डिजिटैलिस भारत में, लगभग अप्रैल के अन्त में और मई के आरम्भ में फूलने लगता है। जब पौधा पूर्ण विकसित होता है और प्रत्येक डाल पर दो तिहाई फूल पूर्णत खिल गये रहते हैं, तो पत्तियों का सचयन प्रारम्भ हो

जाता है और गर्मी भर सचयन होता रहता है। यूरोप और अमेरिका में भी पत्तियाँ गर्मी भर सगृहीत की जाती हैं—जुलाई से लेकर सितम्बर तक जब तक पौधा फूलता रहता है। गर्मी के प्रारम्भ में—लगभग जून में, फूलों के खिल जाने से ठीक पूर्व—सगृहीत की गयी पत्तियाँ सर्वोत्तम होती हैं। ऐसा कहा जाता था कि दो वर्ष की अवस्था वाले पौधे से पत्तियों का सचयन करना चाहिये किन्तु अनुसधानों ने दिखा दिया है, कि एक वर्ष की अवस्था वाले पौधों से सगृहीत पत्तियों में ग्लाइकोसाइड की मात्रा उतनी ही होती है, जितनी दो वर्ष की अवस्था वाले पौधों से सगृहीत पत्तियों में। भारत वर्ष में पौधों की आयु का विचार किये बिना ही उनसे पत्तियाँ इकट्ठी कर ली जाती हैं। यहाँ उन्हे हाथ से तोड़ा जाता है जिसमें पत्तियों का तना (वृन्त), जो मोटा और गूदेदार होता है, सगृहीत नहीं हो पाता। नीचे आधार पर की दुरे रंग की पत्तियाँ एवं तने के ऊपर की छोटी पत्तियाँ छोड़ दी जाती हैं। वस्तुतः प्रयेक पौधे की तीन-चौथाई पत्तियाँ ही चुनी जाती हैं। चुनते समय नयी और पुरानी पत्तियाँ सब एक में मिल जाती हैं। सचयन करने में मौसम का कोई खास विचार नहीं किया जाता। सचयन के समय प्राय वर्षा ऋतु का आरम्भ रहता है और मौसम प्राय कुछ नम सा होता है। कश्मीर में एक वर्ष और दो वर्ष की अवस्था वाले पौधों से सचयन जून से लेकर अक्टूबर तक होता है।

**मुरझाना एवं सुखाना :**—इस देश में प्रत्येक दिन की एकत्रित पत्तियाँ बांस के मचान पर पतली सतह में फैलाकर मुरझाने के लिए ३६ घटे तक छोड़ दी जाती हैं। और समय-समय पर किष्वन को रोकने के लिए उसे उलट-पलट दिया जाता है। अततोगत्वा किसी 'सिरको' या चूल्हे पर १५०° फारेनहाइट तापमान पर पत्तियों को सुखा लिया जाता है। वर्षा के दिनों में चूल्हे के उपयोग के बिना पत्तियों को पूर्ण रूप से सुखाना कठिन है, किन्तु चूल्हे पर सुखाते समय तापमान अधिक हो जाने पर पत्तियाँ खराब हो जाती हैं। भारतीय पत्तियों के बारे में हम लोगों का अनुभव है कि धूप में या हवा में सूखी हुई पत्तियों में जैसा कि कश्मीर से आयी हुई पत्तियाँ होती हैं—चूल्हे पर सुखायी गयी पत्तियों की अपेक्षा क्रियाशीलता अधिक काल तक पायी जाती है। कश्मीर में पत्तियाँ खुली हवा में सूखने के लिए पतली सतह में फैला दी जाती हैं और हनके सूखने में ७ से १० दिन लग जाते हैं।

**भण्डारण :**—सूख जाने पर पत्तियों को छायादार अँधेरे स्थान में रख दिया जाता है। फर्श पर उन्हे गाँज कर धूल, मिट्टी और प्रकाश से बचाने के लिए चटाइयों से ढंक दिया जाता है। अमेरिका में किये गये श्री हैचर के अनुसधान कार्यों से स्पष्ट हो गया है कि वहाँ पर इस भेषज के सरक्षण के विषय में किसी भी प्रकार के पूर्वोपाय

या सावधानी की आवश्यकता नहीं है जैसा कि कहीं-कहीं पर पत्तियों को बायुरोधी टिनों में जिनके तल छिद्रित हो और जिनमें ताजा जला चूना रख दिया गया हो, वह कर सुरक्षित किया जाता है। हम लोगों का अनुभव है कि गर्म और आद्र जलवायु में जैसा कि भारत में पाया जाता है—इस प्रकार का पूर्वोपाय या सावधानी न अपनाने से पत्तियों की भेषजीय सक्रियता काफी घट जाती है। डिजिटैलिस की पत्तियों में जो बायुरोधी बोतलों में बन्द कर हमारी प्रयोगशाला में रखी गयी थी, सक्रियता भली-भर्ति सुरक्षित बनी रही, अपेक्षाकृत उन पत्तियों के जिन्हे आद्र वातावरण में विशेष-कर गर्मी के दिनों में खुला छोड़ दिया गया था। कभी-र में पैदा होने वाली पत्तियाँ भेषजीय गुण में निटेन या अन्य देशों से आयातित पत्तियों के समान होती हैं। मगपू में उपजने वाले डिजिटैलिस की भी पत्तियाँ भेषजीय गुण में अच्छी होती हैं, पर नीलगिरि से प्राप्त होने वाली पत्तियाँ गुण में निम्नकोटि की होती हैं।

**भारतीय पत्तियों की शारीरक्रियात्मक एवं चिकित्सीय सक्रियता :** सन् १९१३ ई० में डॉ० गार्डन शार्प ने भारत में पैदा होने वाले डिजिटैलिस का जैविकीय आमापन किया था। उन्हे ज्ञात हुआ कि सरसरी तौर पर परीक्षण करने से भारत में पैदा होने वाली पत्तियाँ सभी तरह से इर्लैण्ड तथा जर्मनी की स्वयं जात या आशिक रूप से खेती करके उपजायी गयी पत्तियों के समान ही होती हैं। उनका स्वाद ठीक वैसा ही कड़ुवा था। बारीकी से छानबीन करने पर यह पाया गया कि भारतीय पत्तियों का वृन्त और शिरान्यास अपेक्षाकृत कुछ अधिक स्थूल होता है। यूरोपीय पत्तियों की अपेक्षा भारतीय पत्तियाँ अधिक काली एवं सख्त थीं पर दक्षिणी डूलैण्ड में कृषि द्वारा पैदा की गयी पत्तियों से बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। भारतीय पत्तियों से तैयार किये गये टिक्कर अधिक काले थे एवं उनमें अधिक रेजिनी पदार्थ थे, अपेक्षाकृत उन टिक्करों के जो निटेन एवं जर्मनी में उगाये पत्तों से तैयार किये गये थे। मगपू में पैदा होने वाली पत्तियों से मेंढक प्रणाली द्वारा जैविकी आमापन करने तथा मानव हृदय पर चिकित्सीय परीक्षण प्रयोग करने पर अच्छे परिणाम मिले। डॉ० शार्प ने घोषणा की कि मगपू में पैदा होने वाले डिजिटैलिस परप्यूरिया की पत्तियाँ कम से कम, शक्ति में निटिश एवं जर्मन पत्तियों के बराबर थीं, पर नीलगिरि में पैदा होने वाली पत्तियाँ तत्सम प्रभाव पैदा करने में असमर्थ रही। मन् १९२० ई० में कैम्ब्रिज की फार्माकालॉजिकीय प्रयोग-शाला के डॉ० डगलस काउ ने मगपू एवं नीलगिरि में पैदा होने वाली पत्तियों से मेसर्स स्मिथ स्टैनिस्ट्रीट एण्ड कम्पनी द्वारा निर्मित टिक्कर का आमापन सतोपजनक परिणाम के साथ किया था।

कश्मीर से आयी हुई नमूने की पत्तियों का जैविकी आमापन एवं विलिकल परीक्षण करने पर अच्छे परिणाम प्राप्त हुए थे। अब कश्मीर में डिजिटैलिस व्यापक पैमाने पर उपजाया जाता है। पत्तियां धूप में सुखाकर टीन के वायु-रोधी फ्ल्यू में बन्द कर दी जाती हैं। कश्मीर पर वर्षा का उतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि पूर्वीय हिमालय पर जहाँ मग्पू वसा हुआ है। इसलिए कश्मीर में पत्तियों को चूल्हे की सहायता विना भी धूप में सुखाना सभव है। कश्मीर में डिजिटैलिस के पैदा करने की बड़ी सम्भावनाएँ हैं। इन पत्तियों से निर्मित ताजे टिक्कर का रोगियों पर प्रभाव, प्रति १०० पौण्ड शरीर भार में ७-७ ड्राम की मात्रा में देने से, भलीभांति पड़ा।

**उष्ण कटिबंधी प्रदेशों में डिजिटैलिस से निर्मित औषधियों की शक्ति में विभिन्नता :** उपर्युक्त कथन के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कुछ भागों में अच्छी कोटि की डिजिटैलिस की पत्तियाँ पैदा की जा सकती हैं। उक्त तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण है जब इस बात को ध्यान में लाते हैं कि डिजिटैलिस की पत्तियों तथा उनसे निर्मित औषधियों की गुणों के स्थायित्व में उष्णकटिबंधी जलवायु में हास हो जाता है, जैसा कि लेखक तथा उसके सहयोगियों द्वारा ( १९२५-२६ ई० ) में दर्शाया गया है। 'हैचर' ( Hatcher ) की विधि से जैविकी आमापन विलियों और मेढ़कों पर किये गये थे और 'कुण्डसन एवं ड्रेस बाक' ( Kundson and Dresbach ) की विधि से रासायनिक आमापन किये गये थे। उपर्युक्त विधियों में से किसी से भी डिजिटैलिस द्वारा निर्मित द्रव्य की भेषणीय सक्रियता का ठीक ठीक आमापन नहीं किया जा सका अतः विलिकल परीक्षण भी उसी टिक्कर से किया गया। रोगी पर डिजिटैलिस का प्रभाव ३६ से ४८ घण्टे के अन्दर, टिक्कर की औसत मात्रा १५ घन सेन्टीमीटर ( अथवा ४५२ ड्राम ) प्रति १०० पौण्ड शारीरिक भार के हिसाब से दिये जाने पर, पड़ता है पर यदि टिक्कर की शक्ति में हास हो गया हो तो इस औसत मात्रा में काफी वृद्धि करनी पड़ती है। उपर्युक्त दोनों विधियों द्वारा दर्शाया गया कि विख्यात इग्लिश तथा अमेरिकी फर्मों द्वारा निर्मित टिक्कर की शक्ति में थोड़े समय में ही २० से ४० प्रतिशत हास हो जाता है। निर्माण के तुरन्त बाद भेजे गये ताजे टिक्कर भी यहाँ पहुँचने पर तत्काल ही जब आमापित किये गये तो ज्ञात हुआ कि परिवहन की अवधि में उनकी शक्ति में हास हो गया। यह हास डिजिटैलिस के ग्लाइकोसाइडों में कुछ अज्ञात परिवर्तनों के कारण होता है। ऐसे टिक्कर ११० के अनुपात में तनुकृत किये जाने पर कुछ श्याम रंग के होते हैं जबकि अच्छे टिक्कर हल्के हरे रंग के होते हैं यद्यपि

ये टिक्चर विल्ली को अन्त शिरा मार्ग द्वारा दिये जाने पर और अधिक विषेले हो जाते हैं और इसलिए इनकी लघुतर अल्पतम घातक मात्रा पर्यास शक्तिहीन होती है जहाँ तक उनकी चिकित्सीय सक्रियता का सम्बन्ध है। यह भी दिखाया जा चुका है कि कश्मीर अथवा मगपू में पैदा होनेवाली डिजिटैलिस परप्यूरिया की पत्तियों से निर्मित ताजे टिक्चर में साधारण शक्ति दिखायी पड़ी। डिजिटैलिस की पत्तियाँ भी बहुत जल्दी खराब हो जाती हैं, यदि उनको उचित ढग से न सुखाया जाय और यदि उनका भण्डारण गलत ढग से किया गया हो।

उपयोग डिजिटैलिस का उपयोग मुख्यत हृद्वाहिका तन्त्र (कार्डियो-वस्कुलर सिस्टम) पर प्रभाव डालने के लिए किया जाता है। यह प्रकुचन सकोच (systolic contraction) में वृद्धि लाता है और क्षति-अपूर्त (decompensated) हृदय की क्षमता को बढ़ाता है। इससे हृद-गति मन्द हो जाती है, और मूत्रलता के साथ हृद-शोथ में कमी आ जाती है। यह रक्ताधिक्य हृदपात (congestive heart failure), अलिन्द स्फुरण (auricular flutter), तथा अलिन्द विकम्पन (fibrillation) में हृदपेशी उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। हाल ही में यह दिखाया गया है कि यह रक्त के स्कन्दन (coagulation) में वृद्धि लाता है और शरीर में विद्यमान हैंपैरिन के प्रतिस्कन्दक प्रभाव को दूर करता है। इसका स्थानीय प्रभाव क्षोभक (irritant) होता है और डिजिटैलिस के ग्लाइकोसाइडो से बने एक मरहम का उपयोग ब्रणों को साफ रखने के लिए किया जाता है। जल जाने पर, ताप से क्षति-ग्रस्त कोशिकाओं को परिरक्षण में, यह टैनिक अम्ल या सिल्वर नाइट्रोट की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। साधारणत यह टिकिया, पाउडर या तैयार डिजिटैलिस की टिक्चर, पुटक (cachet), वर्तिका (सपोजिटरी) और इन्जेक्शन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। चिकित्सीय मात्रा में देने पर यह भेपज साधारणत मन्द विषालु प्रभाव पैदा करता है, इसलिए इसकी मात्रा को इस प्रकार नियमित करना चाहिये, जिससे विषालु प्रभाव न पड़े। डिजिटैलिस से बनी औपचार्यों की शक्ति डिजिटैलिस के मानक पाउडर के रूप में व्यक्त करनी चाहिये। इसके मानकीकरण के लिए श्री चौपडा द्वारा परिवर्तित (modified) हैंचर और ब्रॉडी (Hatcher and Brody) की 'विल्ली-विधि' से विश्वसनीय परिणाम मिले हैं। इस विधि से जक्कि तथा विषालु दोनों का ही आमापन हो जाता है। डिजिटैलिस के विषालु प्रभाव के अन्तर्गत शिरोवेदना, थकान, व्याकुलता (malaise), निद्रालुता (drowsiness), मतली और वमन आ जाते हैं। दृष्टि धुवली पड़ जाती है। साइनस अतालता (Sinus arrhythmia) इसके मन्द विषालु प्रभाव के रूप में, समय से पूर्व ही उत्पन्न हो सकता है। प्रवेगी अलिन्द या

निलय हृदक्षिप्रता (Paroxysmal auricular or ventricular tachycardia) गम्भीर परिणाम पैदा करते हैं, वैसी अवस्था में भेपज का सेवन तुरन्त ही बन्द कर देना चाहिये। डिजिटैलिस की विपाक्तता के कारण जो मृत्यु होती है उनमें भवसे अधिक निलय विकम्पन (ventricular fibrillation) के कारण ही होती है।

**सघटक :** डिजिटैलिस के सघटक कई ग्लाइकोसाइड हैं। पत्तियों में समूचे सक्रिय ग्लाइकोसाइड की सान्द्रता लगभग १ प्रतिशत होती है। तीन सुपरिभापित क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड—डिजिटौक्सिन, जिटौक्सिन, और जिटैलिन—पत्तियों से अलग किये गये हैं, इन सब में हृद-क्रियाशीलता पायी जाती है और ये मूलत नैसर्जिक ग्लाइकोसाइड समझे जाते हैं। डिजिटौक्सिन और जिटौक्सिन अब क्रमशः परपूरिया ग्लाइकोसाइड 'ए' तथा परपूरिया ग्लाइकोसाइड 'बी' से निकले हुए माने जाते हैं जो पत्तियों में वर्तमान रहते हैं और पत्तियों में विद्यमान ऐजाइमों के जलापघटन द्वारा क्रमशः डिजिटौक्सिन और ग्लूकोज तथा जिटौक्सिन और ग्लूकोज बन जाते हैं। उसी तरह यह सभव है कि जिटैलिन भी पत्तियों में वर्तमान नैसर्जिक ग्लाइकोसाइडों का जल-अपघटनीय उत्पाद हो। डिजिटौक्सिन पत्तियों में लगभग ० २—० ३ प्रतिशत की मात्रा में विद्यमान रहता है। यह एक रगविहीन, गधविहीन, अत्यन्त कड़वा क्रिस्टलीय पदार्थ है, जो जल में अविलेय तथा ऐल्कोहॉल एवं ब्लोरोफार्म में विलेय होता है। यह सर्वाधिक शक्तिवान डिजिटैलिस ग्लाइकोसाइड है, इसकी क्रियाशीलता न्यूर्ण डिजिटैलिस की अपेक्षा १००० गुना अधिक होती है। जठरात्र प्रदेश में यह अत्यन्त शीघ्र पूर्णरूप से अवशोषित हो जाता है। डिजिटैलिन हृदय पर कार्य करने वाला एक सक्रिय ग्लाइकोसाइड है जो डिजिटैलिस परपूरिया के बीजों में वर्तमान रहता है और पहले जिसका वर्णन डिजिटैलिनम विरम (Digitalinum verum) नाम से किया गया है। यह अनभिशात सक्रिय ग्लाइकोसाइडों की बड़ी मात्रा के साथ एवं निष्क्रिय सेपोनिनो के साथ बीजों में वर्तमान रहता है, (उपलब्ध, लगभग ० ३ प्रतिशत हेक्सा-ऐसीटेट के स्तर में)। निष्क्रिय सेपोनिनों से ही डिजिटौनिन, जिटौनिन और टिजेनिन अलग किये गये हैं। बीजों में पीत ऐम्बर वर्ण का मृदु स्वाद वाला एक वर्मीय तेल लगभग ३१४ प्रतिशत पाया जाता है।

भारत में पैदा होने वाला डिजिटैलिस, विदेशों से आयातित होने वाले डिजिटैलिस का स्थान तीव्र गति से ग्रहण करता जा रहा है। भारत में अनेक औपध निर्माण करने वाली फर्में ताजी पत्तियों से निर्मित ताजे टिक्कर अपने ग्राहकों को बेच रही हैं। भारत में पैदा होने वाली डिजिटैलिस की पत्तियों से, जिनका सचयन तत्काल किया गया हो तथा जो भली भाँति सुखायी गयी हो, निर्मित टिक्करों का व्यवहार करके विशेष लाभ

प्राप्त किया जा सकता है। भारत में समुचित ढग से डिजिटैलिस की खेती करने का अविष्य बड़ा अच्छा दिसाई पड़ रहा है। डिजिटैलिम के उत्तम कोटि के बीज उत्पन्न किये जाने के परीक्षण यार्थ्याह भेपज फार्म (कश्मीर) में किये जा रहे हैं जहाँ वाणिज्यिक उद्देश्य से अच्छी किस्म की डिजिटैलिस पैदा की जा रही है। निटेन तथा अमेरिका से भेंगाये बीजों टारा जो पीढ़े उगाये गये उनकी पत्तियों में ९ यूनिट प्रति ग्राम की शक्ति पायी गयी, जबकि स्थानीय पौधों की पत्तियों का आमापन करने पर उनमें प्रति ग्राम ११.४२ से १२.५ यूनिट की शक्ति पायी गयी। इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय मानक से जो १२.५ यूनिट है भली भाँति की जा सकती है। कश्मीर में पैदा होने वाली सूखी पत्तियों का उत्पादन, मांग की पूर्ति के लिए शनै शनै बढ़ता जा रहा है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Chopra, Bose and De, 1925, *Ind Med Gaz*, 60, 93, (2) Chopra and Chose, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (3) Chopra and De, 1926, *Ind Jour Med Res* 13, 781, (4) Chopra and De, 1926, *Ind Med Gaz* 61, 117, 212, (5) Chopra and De, 1929, *Ind Med Gaz* 64, 312, (6) Wealth of India Raw Materials, 1952, III 60, (7) Luthra, J C, 1950, *Ind Farming*, II, II, (8) Chopra Chowhan and De, 1934, *Ind Jour Med Res*, 22, 271, (9) Trease, G E, 1952 *Text Book of Pharmacognosy*, 515, (10) Kapoor, L D, Hindu, K L, and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Industri Res* 12A, 313

### डलेट्रैरिया कार्डमोमम (जिंजिबरेसी )

*Elettaria cardamomum* Maton (Zingiberaceae)

लेसर कार्डमम, कार्डमम

नाम—ग०—उपनुष्ठिका, एडा, हिं०—आर ब०—जोटी डलायची, भ०—  
वैलदोडे, गु०—गलची, न०—गेनाककगलु, त०—एलाकै, कन०—  
एलाक्कि, मन०—येशाम।

डलायची एक वहवर्षी पौधा है जिसका मूलस्तान भौटा, मासल एवं तना पत्तीदार होता है। इसकी ऊँचाई ४ मे ८ फुट होती है तथा इसका पुष्पक्रम भूमि के सतह से ही आरम्भ हो जाता है और लम्बा शाखित होता है। यह पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत के लिए देशीय है और कर्नाटक, मैसूर, कुर्ग, वाडनाड, ट्रावकोर और कोचीन के

आर्द्ध जगलो मे पाया जाता है, वहाँ इसकी खेती भी यूरोपियन तथा भारतीय कुषको द्वारा चाय एवं रबड़ के बागानो मे की जाती है। कुर्ग एवं मैसूर के काफी बागानो के जलदरियो ( gullies ) और खड्डो ( ravines ) मे इसे उगाया जाता है क्योंकि ऐसे ही आर्द्ध और छायादार स्थानो मे यह सूख पनपता है। वर्मा, श्रीलका, कोचीन, चीन और मलाया द्वीपसमूह मे यह वन्य दशा मे पैदा होता है। बाजार मे अनेको किस्म की इलायची मिलती है।

किस्मे ।—कृषि द्वारा उपजाये हुए इलेट्रैरिया कार्डेमोमम की अनेको किस्मे होती है और उनके उत्पत्ति-स्थान पर आधारित उनके व्यापारिक नामो से इनके किस्मो को पहचानने मे भ्रम हो जाया करता है। इनके फलो के आकार के आधार पर दो भेद किये गये हैं। वे हैं ( १ ) इलेट्रैरिया कार्डेमोमम वैराइटी मेजर ( *E cardamomum var major Thw* ) जिसमे श्रीलका की वन्य देशीय इलायची अथवा वृहत्तर दीर्घायत इलायची या लम्बी इलायची भी शामिल है और ( २ ) इलेट्रैरिया कार्डेमोमम वैराइटी माइनर [ ( *E cardamomum var minor Watt* पर्याय इलेट्रैरिया कार्डेमोमम वैराइटी मिनुस्कुला—*E cardamomum var minuscule Buckill* ) ] इनमे खेती द्वारा उत्पन्न होने वाली सभी इलायचियाँ, विशेषकर जो मलावार और मैसूर की इलायची के नाम से ज्ञात हैं, शामिल हैं। बड़ी किस्म वाली इलायची आवृ ( प्रिमिटिव ) किस्म की है, जिससे खेती द्वारा उत्पन्न छोटी किस्म वाली इलायची निकली है। छोटी इलायची ( वैराइटी माइनर ) सामान्यतया भारत मे पैदा की जाती है। इसके अन्तर्गत अनेको प्रजातियाँ ( races ) शामिल हैं जिनके पौधो के आकार मे, पत्तियो के सतह की बनावट मे और पुष्ट गुच्छो और फलो के सम्मुटिकाओ ( capsules ) के स्वरूप मे अन्तर रहता है। सभी उपजातियो और प्रजातियो मे सकरण सफल होता है और उनमे जो अन्तर दिखायी देता है वह सम्भवत प्राकृतिक सकरण के कारण होता है। मलावार इलायची की खेती मुख्यत मैसूर और कुर्ग मे तथा थोड़ी-बहुत द्रावकोर मे होती है। दक्षिण भारत का वन्य प्ररूप ( type ) मलावार इलायची ही है, किन्तु एक के बारे मे सदेह है। मलावार इलायची की अपेक्षा मैसूर इलायची ऊँचे स्थानो पर उपजायी जाने के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह विभिन्न अवस्थाओ मे भलीभाति उगती है और इसे पानी की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती। यह विस्तृत खेती करने के योग्य है और त्रिवाकुर, अनामलाड और नेल्लिअम्पाथी की पहाड़ियो पर इसकी वृहत्तर खेती की जाती है। श्रीलका की देशी इलायची एक पुष्ट वैराइटी है जो श्रीलका के पश्चिमी जगलो मे सर्वत्र पैदा होती है और हात के वर्षो मे भारत मे इसको उगाया गया है। इन दो मुख्य किस्मो के

अतिरिक्त, कुछ और फिस्मो का हाल मे पता नहा है। मैसूरेन्सिग (Mysorensig) नामक एक वैराइटी है जो मध्यने दक्षिण भारत मे मायान्यतया पायी जाती है और कुछ क्षेत्रो मे डस्की सेती भी की जाती है। एह दूगरी फिस्म मजारावाद (मैसूर राज्य) के इलायची-द्वान मे उपजती हुई देखी गयी है जिसका नाम वैराइटी लैमिप्लोरा (Var. lappiflora) है।

**वितरण** —भारत मे इलायची की सेती केवल उन्ही प्रदेशो मे केन्द्रित है, जो इसके प्राकृतिक आवास (Natural habitat) है, पर उत्तरी रानीटिन का एक छोटा क्षेत्र ऐसा है जहां वह मुपारी के बगीचो मे गौण फसल के रूप मे उगायी जाती है। इसकी रूपि के प्रमुख क्षेत्र मे है —कर्नाटक का उत्तरी भाग, मैसूर मे यिमोगा, हगन और कादुर के जिले, कुरंगों पहाड़ियो, यद्रान मे नीलगिरि (नीलगिरि और मलावार वाडनार) के उत्तर एव दक्षिण के नीचे की पहाड़ियो एव नेलिभम्याथी और कीटैकेना की पहाड़ियो और पियाकुर एव कोचीन राज्य की इलायची की पहाड़ियो। विभिन्न राज्यो मे १,००,०००—१,२०,००० एकड़ भूमि मे हर वर्ष इलायची की सेती होती है। इस क्षेत्रफल वा ५० प्रतिशत विवाकुर-कोचीन मे, २३ प्रतिशत मैसूर मे, १३ प्रतिशत कुरंग मे और १३ प्रतिशत यद्रान मे पड़ता है। भारत के अतिरिक्त श्रीलंका ही ऐसा देश है जो बड़ी मात्रा मे इलायची उत्पन्न नहरता है (७,००० एकड़ भूमि, १९३८ ई० मे)। इलायची की कुछ सेती मध्य अमेरिका मे, विशेषकर ग्वाटेमाला मे की जाती है।

**उपयोग** —इलायची एक वाणिज्यिक महत्व की वस्तु है। अधिकांशत यह विदेशो को भेजी जाती है जहा उसका उपयोग मनाले एव वामक के रूप मे किया जाता है। इलायची का उपयोग मनाले एव चर्वण पदार्थ (gastroenteric) तथा शौषधि मे होता है। इलायची के बीजो मे एव बड़ी प्रिय गव होती है और एक विशिष्ट उष्ण एव हार का तिक्क स्वाद होता है। इसके बीजो का उपयोग उदार व्यञ्जन, केक, गोटी, रसोइ के बन्य पदार्थों तथा मदिना को गुवाहित करने के निम्न भी किया जाता है। मध्य पूर्व के देशो मे इलायची का उपयोग कृत्या (Cosic) को मुरामित करने के लिए किया जाता है। शौषधि मे इसका उपयोग वातानुलोमक भेषजो के एक घटक के रूप मे होता है। विटिण और अमेरिकी भेषजकोशो मे इसे मान्यता प्राप्त है और इसका उपयोग ऐरोमेटिक उद्दीपक, वातानुलोम तथा वामक के रूप मे किया जाता है। इसके बीजो मे एक प्रकार का तेल निकाला जाता है, जिसका उपयोग भेषजी (फार्मेसी) और इश बनाने मे किया जाता है। इसके बीजो मे यह (तेल) ४ मे ८ प्रतिशत की मात्रा मे रहता है। इस तेल मे पर्याप्त मात्रा मे

टर्पिनिल एसिटेट सिनिओल, मुक्त टर्पिनिअॉल और सभवत लिमोनीन भी विद्यमान रहते हैं। सकलेसपुर से लाये गये इलायची के भाष आसुत जलीय अश में ० ५ प्रतिशत वाष्पशील तेल पाया गया जिसके निम्नलिखित स्थिराक हैं —आपेक्षिक घनत्व ० ०९२०, ग्रैट<sup>३४</sup>, १ ४६०६, और D<sup>३४</sup>, O, सीनिअॉल की मात्रा ८० प्रतिशत। वाष्पीय आसवन द्वारा उपलब्ध मलाबार इलायची के तेल में बोनिअॉल पाया गया, किन्तु मैसूर इलायची के तेल में यह नहीं मिला।

उत्पादन भारत में इलायची की औसत वार्षिक उपज ३५,००० और ४०,००० हण्डरवेट के बीच होती है। गत कुछ वर्षों में पर्णजीवको (thrips) के आक्रमण के कारण कुछ क्षेत्रों में इसका उत्पादन बहुत घट गया है। अब उपयुक्त नियन्त्रण उपायों के अपनाने से कई क्षेत्रों में उपज बढ़ने की सूचना मिली है। १९०२-०३ ई० में भारत से विदेशों को निर्यात होने वाली इलायची की मात्रा २७०५ हण्डरवेट थी जो १९१९-२० ई० में बढ़कर १६,५५६ हण्डरवेट हो गयी किन्तु इसके बाद निर्यात में बड़ी गिरावट आ गयी, पर धीरे-धीरे १९३९-४० ई० में यह बढ़कर पुन १७,३८१ हण्डरवेट हो गयी। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, जबकि यूरोपीय बाजार बन्द हो गये थे, पुन गिरावट आयी थी। १९४५-४६ ई० से निर्यात पुनः आरम्भ कर दिया गया है। उक्त महायुद्ध के पूर्व आयात करने वाले प्रमुख देश थे—स्वीडेन, जर्मनी, न्यूजीलैंड, सयुक्तराज्य अमेरिका तथा मध्य पूर्व के देश। १९४७ ई० से अरब तथा स्वीडेन आयात करने वाले प्रमुख देश हो गये हैं।

ऐमोमम की कुछ स्पीशीज के बीज जिन्हे कार्डैमम भी कहा जाता है, असली कार्डैमम (*E cardamomum*) के सदृश होते हैं और कार्डैमम के सस्ते स्थानापन्न हैं। भारत में ऐमोमम ऐरोमेटिकम और ऐमोमम सुबुलैटम को खेती होती है।

ऐमोमम ऐरोमेटिकम (*Amomum aromaticum Roxb*) जिन्जिबरेसी (*Zingiberaceae*)

नाम—हि० और ब०—मोरग इलायची; म०—बेल्दोडा

यह पौधा पूर्वी बगाल और असाम के लिए देशीय है, तथा वहाँ के आस-पास के क्षेत्रों में भी पाया जाता है। हिमालय की तलहटी में आसाम तथा बगाल के आद्र जिलों में इसकी खेती की जाती है। इसके बीजों का उपयोग ममाले के स्त्र में होता है और वे औषधि में भी व्यवहृत होते हैं। इसके बीजों में लगभग १-१ २ प्रतिशत तेल होता है जिसमें सिनिओल बहुत अधिक परिमाण में होता है। इस तेल में इलायची की विशिष्ट गन्ध नहीं होती।

ऐमोमम सुबुलैटम (*Amomum subulatum Roxb*) ।

नाम—स०—एला, हिं० और व०—वडा इलायची, त०—पेरिया येलाके, फ०—काकिलाहे—कलाँ—

इस इलायची की खेती नेपाल, बगाल, सिक्किम और आसाम में पहाड़ी नदियों के किनारे पकिल स्थानों में की जाती है। इसके गहरे लाल-भूरे, गोलाकार (फलों की) समुटिकाओं (१ हच लम्बी) की प्रत्येक कोणिका में अनेक बीज होते हैं जो एक गढ़, शर्करायुक्त मज्जा द्वारा परस्पर चिपके रहते हैं। ये सामान्यतया बाजार में दूकानदारों द्वारा बेचे जाते हैं। ये बीज गुण में असली इलायची के बीजों के सदृश होते हैं जिनके स्थान पर प्रायः इनका उपयोग किया जाता है। मिठाइयों के बनाने में भी इनका उपयोग होता है। इन बीजों से प्राप्त तेल का जिसमें पर्याप्त मात्रा में सिनिअोल रहता है, सुवासन के लिए उपयोग होता है। देशीय एवं पाश्चात्य दोनों औषधियों में बड़ी इलायची का उपयोग अन्य उद्दीपक तिक्त और विरेचक औषधियों के साथ टिक्कर या पूर्ण के रूप में किया जाता है। आँखों में सूजन आ जाने पर उसके सशमन के लिए इसके तेल को पलकों पर लगाते हैं।

### सन्दर्भ :-

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) *Wealth of India , Raw Materials* , 1948, I, 68, 1952, III, 149, (3) Buskill, I H , 1935, *A Dictionary of Economic Products of the Malay Peninsula*, (4) Narasimhaswamy 1940, *Ind Jour Agric Sci* , 10, 1030, (5) *Agric Market India Rep* , 1947 Production and Marketing, Cardamom Marketing Ser No 59, 7.

**एफेड्रा जिरार्डिआना ( नीटेसी ) और सबद्ध स्पीशीज़**  
**Ephedra gerardiana Wall. (Gnetaceae) and Allied Species**

नाम—प०—अमसानिबा, बुतशुर, चेवा।

हाल के वर्षों के कुछ ही भैषजों ने चिकित्सा व्यवसाय का इतना अधिक ध्यान आकृष्ट किया है जितना एफेड्रीन ने, जो चीनी पौधे, 'मा हुवाङ्ग' एफेड्रा सिनिका (*Ephedra sinica*) में प्राप्त ऐल्कोलाईड है। इस विषय पर प्रयोगात्मक कार्य से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और प्रोफेसर वी इ रीड द्वारा सुसकलित एक अन्य सूची उन लोगों के लिए ध्यानाकर्षक होगी जो इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। चीन में इस भैषज का उपयोग गत पांच हजार वर्षों से होता चला आ रहा है। फिर भी एफेड्रा का आवाम (habitat) केवल चीन तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह बहुत सी जगहों में फैला हुआ है। ल्यू (Liu) ने बताया है कि यह समूचे

विश्व में फैला हुआ है। भारत वर्ष में इसकी अनेक जातियाँ हिमालय के शुष्क प्रदेशों में वहूतायत से पैदा होती है। एफेड्रा की कुछ स्पीशीज मैदानों में भी उपजती है, पर इनमें ऐल्केलॉयड नाम मात्र को या बिल्कुल ही नहीं होता है।

इस देश की देशी औषधियों में इम पौधे का उपयोग कभी नहीं किया गया है। अद्यपि एचिसन (Aitchison) के अनुसार एफेड्रा वल्नैरिस के कुछ भाग का उपयोग लाहील में औपवीय दृष्टि से किया जाता है, किन्तु न तो आयुर्वेदिक (हिन्दू) चिकित्सा में और न तिब्बी (मुसलमानी) चिकित्सा में इस भेषज का कोई उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि एफेड्रा की एक उपजाति, सम्भवत एफेड्रा इटरमीडिया (*E. intermedia*) असिद्ध 'सोम' नामक पौधा है, जिससे वैदिक काल के ऋषियों का अतिप्रिय पेय (सोम) तैयार किया जाता था, परन्तु इस बात की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता है। चिकित्सा में एफेड्रा के कमश बढ़ते हुए प्रयोग एवं इसकी उच्च मूल्य ने लेखक को भारतीय एफेड्रा के स्रोतों का अन्वेषण करने तथा उसके रासायनिक सघटन, गुणकर्म एवं क्लिनिकल उपयोगों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया (१९२६) ई०। इसमें मिलने वाले एक अन्य ऐल्केलॉयड, स्यूडो-एफेड्रीन की भी, यह देखने के लिए कि क्या चिकित्सा में इसका कोई उपयोग हो सकता है, सावधानी के साथ छानबीन की गयी।

चोपडा और उनके सहयोगी (१९२९ ई०) झेलम घाटी की पर्वत श्रेणियों पर उगने वाली दो जातियों का वर्णन करते हैं। ये जातियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्यों कि इनमें ऐल्केलॉयड की मात्रा बहुत अधिक होती है। इन दोनों में एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन के अनुपात में बहुत बड़ी मिलनता है।

(१) एफेड्रा वल्नैरिस (*E. vulgaris*) या एफेड्रा जेरार्डियाना (*E. gerardiana*) को देशी भाषा में जानुसार कहते हैं। यह एक छोटा, दृढ़ और प्राय ऊर्ध्व सूप है, जिसकी ऊँचाई सामान्यतया, १ से २ फुट होती है। यह हरिपाल जिला, कुर्म घाटी (१,००० फुट की ऊँचाई पर), हिमालय में (८,००० से १४,००० फुट की ऊँचाई पर) एवं सिक्किम के भीतरी प्रदेशों में भी समुद्र की सतह से १६५०० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसमें ०८ से १४ प्रतिशत तक ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है, जिसका लगभग आधा अश एफेड्रीन तथा शेष स्यूडो-एफेड्रीन होता है। यहाँ इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन स्पीशीज की हरी शाखाओं (टहनियो) और स्तम्भों में विद्यमान ऐल्केलॉयड की मात्रा में पर्याप्त अन्तर होता है। भारतीय एफेड्रा वल्नैरिस की हरी टहनियो में उसके स्तम्भों की अपेक्षा चौगुना तथा एफेड्रा इटरमीडिया की हरी टहनियो में स्तम्भों की अपेक्षा ६ गुना ऐल्केलॉयड रहता है।

(२) एफेड्रा इण्टरमीडिया वैराइटी टिबेटिका (*E. intermedia var. tibetica*) को देशी भाषा में 'हृम' (Teng-Indus) कहते हैं। यह एक छोटा और ऊर्ध्व सूप है। यह नित्राल की भीतरी धाटियों में शुष्क पहाड़ी ढालों पर ४,००० से ५,००० फुट जी ऊँचाई पर, गिलगिट, जास्कर और चेनाअर और कनावर (६,००० से ९,००० फुट की ऊँचाई पर) में तथा बलूचिस्तान में भी पाया जाता है। वैराइटी टिबेटिका में ०.२ मे १.० प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहता है जिसका ०.०२५ से ०.०५६ अंश एफेड्रीन और शेर स्थूलो-एफेड्रीन होता है।

एफेड्रा जेराडिपाना और एफेड्रा इण्टरमीडिया को भ्रमबश एफेड्रा एमिक्सेटिना (*E. quisetina*) मान लिया गया है जो अपूर्ण पौधा होता है, किन्तु एफेड्रा एमिक्सेटिना कालीय नहीं होता तथा इसके स्तम्भ न्योमले होते हैं और पत्तियाँ बहुत अधिक होती हैं जो गिर्वर पर पोरियो (porionod) में चिपकी रहती हैं, न कि उस खेत्र में जहाँ भी वे निकलती हैं। इनके भरम फलो, जड़ों, कालीय स्वान्धों तथा यादाओं में बहुत बहुत एफेड्रीन पाया गया। स्तम्भ ही इनमें वह भाग है जिसमें चर्वाधिक ऐल्केलॉयड मिलता है। इनमें अच्छी भाषा में ऐल्केलॉयड पाने के लिए यह आवश्यक है कि गिरिरकालीन तुपारपात होने के पूर्व पत्ताड (शरद) में ही इसका मग्नहण कर लिया जाय।

एफेड्रा फोलिकाटा (*E. foliata* Boiss.) जिसको देशीय भाषा में "कुचार" कहते हैं, बलूचिस्तान, सिन्ध, कुरंम घाटी, पश्चिम के भैदानो, मुख्यत दक्षिणी भाषों में और माल्टरेंज पर ३,००० फुट की ऊँचाई तक पैदा होता है। इसमें ऐल्केलॉयड नहीं होता है। भारत में उपजने वाले एफेड्रा की स्पीशीज के नंटी २ नामाकन के बारे में अभी ज्ञान तक भ्रम था। भारत में पैदा होने वाले इन औषधीय पौधों की महत्वपूर्ण जातियाँ कोन कोन भी हैं और कहाँ कहाँ होती हैं, इसका व्योरा नीचे दिया गया है। आगे के विवेचन में वही पुण्यना वर्गीकरण रखा गया है।

### एफेड्रा जिराडिभाना, पर्याय एफेड्रा वल्गैरिस

*E. gerardiana* Willd.—*E. vulgaris* Hook f., non A. Rich.

नाम — प०—अम्नानिया, बुदगुग, चैवा, बुतगुग, लदाखी-त्से, तीपत, श्रानो; चुशहर—राज्जी, बण्टा फाग।

यह जाति गर्म एवं पर्वतीय (*Alpinus*) हिमालय के शुष्क प्रदेशों में कश्मीर से लेकर नियंत्रित तक ७,००० से १६,००० फुट की ऊँचाई पर और पानी (चम्बा) लाहौल और स्पीति (कुल्लू), कनावर (वाशहर) के चीनी और किल्बा कैलाश श्रेणियों पर,

शाली-पहाड़ियों पर (उत्तरी शिगला) तथा कश्मीर और लद्दाख में यन्त्र-तत्र पाया जाता है। लाहौल घाटी में यह भाग (धार घाटी), चन्द्रा (कोवसर घाटी) और चन्द्रभागा (पत्तनघाटी) नदियों के जलग्रह क्षेत्रों में पाया जाता है। कश्मीर के दस्तामूला नामक स्थान में पाये जाने वाले इन पौधों में ऐलेलॉयड पर्याप्त मात्रा में रहता है। वैराइटी सैक्काटिलिम (*var. saccatilis Stapf*) अपेक्षाकृत अधिक लम्बा और आरोही होता है, यह गढ़वाल और कुमाऊँ में पाया जाता है। वैराइटी सिक्किमेन्सिस (*var. sikimensis Stapf*) ऊर्ध्व, पुष्ट, किन्तु कोमल होता है। वह सिक्किम में पैदा होता है। इसके प्रकन्द में फुटबाल के आकार की बड़ी बड़ी गाँठें होती हैं जिनका उपयोग तिब्बती लोग ईधन के रूप में करते हैं।

एफेड्रा इण्टरमीडिया (*E. intermedia* Schrenk and Mey)—यह घनी शाखाओं वाला ऊर्ध्व अथवा शयान (*prostrate*) क्षुप है जो पांगी, कनावर में सर्वत्र पाया जाता है, तथा कश्मीर, कुल्लू और जौनसार में कुछ कम मात्रा में पाया जाता है। इस पौधे की चार किस्मों का पता लगा है, जिनमें वैराइटी टिबेटिका भारत में पाया जाता है। एफेड्रा पैचिक्लाइडा (*E. pachyclada* Boiss.) इससे बिल्कुल मिलती जुलती स्पीशीज है जो चित्राल, बलूचिस्तान और अफगानिस्तान में पाया जाता है।

एफेड्रा मेजर-पर्याय एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस (*E. major* Hoëf., Syn. *E. nebrodensis* Tineo) यह एक ऊर्ध्व, यदाकदा आरोही, घनी शाखाओं वाला क्षुप है जिसकी ऊँचाई ६ फुट तक होती है। इसकी प्रोसेरा नामक वैराइटी [*var. prosera* (Fisch and Mey) Aschers., & Griseb.] लाहौल में पायी जाती है। इसकी टहनियाँ एफेड्रा जिरार्डिनाना की टहनियों से बहुत अधिक मिलती हैं।

एफेड्रा फोलिभाटा (*E. foliata* Boiss. & Kotschy) यह एक लम्बा आरोही क्षुप है, जिसमें खाद्य फल लगते हैं। यह दक्षिणी पजाब तथा राजस्थान के मैदानों में पाया जाता है। इस स्पीशीज की चार ज्ञात उपजातियों में वैराइटी सिलिभाटा [*var. ciliata* (Mey) Stapf.] भारतवर्ष में पाया जाता है। इसमें ऐलेलॉयड अधिक नहीं होता।

**कृषि** —जौपधीय उपयोगवाले एफेड्रा की सफल खेती सयुक्त राज्य अमेरिका इगलैण्ड, केनिया और आस्ट्रेलिया में की जा चुकी है। यह उत्तरी भारत में ८,००० फुट या इससे अधिक ऊँचाई पर ऐसे प्रदेशों में जहाँ वर्ष भर में बुल वर्षा २० इच से अधिक नहीं होती, उगाया जा सकता है। जम्मू और कश्मीर तथा कुल्लू घाटी का कुछ भाग एफेड्रा जिरार्डिनाना और एफेड्रा मेजर की खेती के लिए उपयुक्त स्थान है। इसके पौधे बीजों से, या स्तरण (*layers*) द्वारा, या प्रकन्दों के कर्तन द्वारा उगाये जाते

है। वसन्त के प्रारम्भ में दीज पक्कि से बनाये गये छिलो (छिद्रो) में २ इच के अन्तर पर, ०.५ इच की गहराई में बो दिये जाते हैं। पक्कियों की आपस की दूरी ३० इच होनी चाहिये। लगभग एक वर्ष तक सिचाई तथा निराई आवश्यक होती है। इसके पीछे ढूढ़ (रोधी) होते हैं और अत्यधिक सन्द्रिद्धी (xerophylic) परिस्थितियों में भी सतोषजनक रूप से बढ़ता है। भारतीय स्पीशीज, एफेड्रा मेजर, एफेड्रिन का सर्वाधिक सम्पन्न स्रोत है। लाहौल से सगृहीत पीधा में २५ प्रतिशत से अधिक ऐल्कोलॉयड होता है जिसका तीन चौथाई अंश एफेड्रीन होता है। एफेड्रा इण्टरसीडिया के हरे स्तम्भों में कुल ऐल्कोलॉयड ०.७ से २३२ प्रतिशत रहता है, जिसका लगभग दशाश एफेड्रीन होता है और शेष स्थूडो-एफेड्रिन। निट्रिड फर्मास्यूटिकल कोडेक्स में 'एफेड्रा' के अन्तर्गत 'एफेड्रा मिनिका और एफेड्रा एक्विमेटिना' की जो कि चीन के लिए देशीय है तथा एफेड्रा जिराडिआना (एफेड्रा मेजर को मन्मिलित कर) की, जो भारत के लिए देशीय है, शुष्क तरुण शान्वाएं होती हैं जिनमें कुल ऐल्कोलॉयड १२५ प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिये जिसे एफेड्रिन के रूप में परिकलित करते हैं। इण्डियन फर्माकोपियन लिस्ट में 'एफेड्रा' के अन्तर्गत एफेड्रा जिराडिआना और एफेड्रा मेजर की शुष्क, पतली एवं हरी, बैलनाकार दृष्टियाँ रहती हैं, जिनका सग्रहण शरद ऋतु में किया जाता है और जिनमें १ प्रतिशत से कम कुल ऐल्कोलॉयड नहीं होना चाहिये जिसे एफेड्रिन के रूप में परिकलित करते हैं। इसमें चीड़ के तरह की सुगंध होती है और अत्यधिक कपाय त्वाद होता है। एफेड्रा के चूर्ण (Pulvis Ephedra) का मानक वही रखा गया है जो विना पिसे हुए एफेड्रा का।

एफेड्रीन और स्थूडो-एफेड्रीन की रासायनिक सरचना—एफेड्रीन,  $C_{10} H_{18} O N$ , एक रग विहीन क्रिस्टलीय पदार्थ है, जिसका गलनाक  $41-42^\circ$  से० है। इसके हाइड्रोक्लोराइड रगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होते हैं जिसका गलनाक  $21^\circ$  से० है और जिसका विशिष्ट धूर्णन जल में  $342^\circ$  और ऐल्कोहॉल में  $-6.81^\circ$  होता है। इसके प्लैटिनिक क्लोराइड रगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होते हैं जिसका गलनाक  $186^\circ$  से होना है।

स्थूडो-एफेड्रीन अथवा आइसो-एफेड्रीन,  $C_{10} H_{16} ON$ , एफेड्रा जिराडिआना और एफेड्रा इण्टरसीडिया से एफेड्रीन के माथ उपलब्ध होता है और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ एफेड्रीन को गर्म करके तैयार किया जाता है। यह एफेड्रीन का दक्षिण ध्रुवण-धूर्णक समावयवी है जिसका विशिष्ट धूर्णन परिशुद्ध ऐल्कोहॉल में  $+50^\circ$  है तथा ईथर में क्रिस्टलन करने से प्राप्त क्रिस्टल का गलनाक  $118^\circ$  से० होता है।

यह धारक (वैस) एक उज्ज्वल, रगविहीन, लम्बी सूचिकाकार क्रिस्टलीय पदार्थ

है जो ऐल्कोहॉल में सुगमता पूर्वक विलेय है। इसका हाइड्रोक्लोराइड, रगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होता है जिसका गलनाक १७९° से० है। इसका आँक्जलेट अल्प अत्यधिक विलेय होता है, जब कि एफेड्रीन आंक्जलेट विलेय होता है और जल में क्रिस्टलन करने से सूखम सूचिका के आकार का होता है और जल में अल्पविलेय तथा ऐल्कोहॉल में उससे भी कम विलयशील होता है। एफेड्रीन आँक्जलेट की इस अल्पविलेयता के कारण उसे डी-स्यूडो-एफेड्रीन में सुगमता से बलग किया जा सकता है।

एफेड्रा के विभिन्न स्पीशीज के अनुमार एफेड्रीन तथा डी-स्यूडोएफेड्रीन के अनुपात में विभिन्नता पायी जाती है। इस भैपज का वास्तविक मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि इसमें एल-एफेड्रीन किस परिमाण में विद्यमान है। एफेड्रीन ऐल्केलॉयड कम से कम छ रुपो में पाया जाता है—एल-एफेड्रीन, डी-एफेड्रीन, डी एल-एफेड्रीन, एल-स्यूडो-एफेड्रीन, डी-स्यूडोएफेड्रीन, डी एल-स्यूडोएफेड्रीन। एल-एफेड्रीन तथा डी-स्यूडोएफेड्रीन ऐल्केलॉयडों को पृथक करने के बाद, एक तैलीय अवशेष बच जाता है जिसमें ऐल्केलॉयड की मात्रा काफी रह जाती है। इस तैलीय अवशेष से सिडनी स्मिथ ने दो और ऐल्केलॉयड पृथक किया जो एल-मेयिलएफेड्रीन और नॉर-डी स्यूडो-एफेड्रीन हैं। इसी तैलीय अवशेष को ममानीत दाव (reduced pressure) द्वारा आसवित करके एलमेथिल एफेड्रीन तैयार किया गया, और ऐल्कोहॉल में इसके आँक्जलेट को घुलाकर परिष्कृत किया गया। एल-मेथिल एफेड्रीन का ध्रुवण-धूर्णन २९२° है ( $[a] D=29.2^\circ$ )।

पोटेशीय मर्क्यूरिक आयोडाइड के धोल पर एल-एफेड्रीन तथा डी-स्यूडो एफेड्रीन ऐल्केलॉयडों की कोई विशिष्ट अभिक्रिया नहीं होती। इन ऐल्केलॉयडों के सल्फेट के १ प्रतिशत उदासीन धोल में उपरोक्त अभिकर्मक को डाला जाय तो कोई अवक्षेप नहीं प्राप्त होता, पर ३ प्रतिशत उदासीन धोल के प्रयोग से अवक्षेप प्राप्त होता है जो तनु अम्लों में शीघ्र विलेय हो जाता है। एल-मेथिल एफेड्रीन और डी एल-स्यूडोएफेड्रीन के धोल पर उक्त अभिकर्मक की अभिक्रिया इससे भिन्न होती है, इन ऐल्केलॉयडों के सल्फेट का १ प्रतिशत उदासीन धोल शीघ्र ही अवक्षेपित हो जाता है और ये अवक्षेप तनु अम्ल में नहीं विलेय होते।

सम्भवत एफेड्रीन का सबसे महत्वपूर्ण गुण उसकी स्थिरता है। इसके धोल, प्रकाश, वायु या गर्भी द्वारा अपघटित नहीं होते, और काल का स्पष्टत उनकी सक्रियता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ एफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड का धोल जो एक विसक्लमित एम्पुल में बन्द करके ६ वर्ष तक रखा गया था, ज्यों का त्यो बना रहा, और जब इन्जेक्शन द्वारा इसका प्रवेश मस्तिष्क सुषुम्ना-वेष्टित (Pithed) बिल्लियों के

शरीर मे कराया गया तो उसका स्वाभाविक रक्तदाब वर्द्धक (pressor) प्रभाव पड़ा। केण्डाल और विट्जमान (१९०७ई०) ने यह प्रदर्शित किया है कि एपिनेफीन की तुलना मे एफेड्रीन उपचयन (अक्सिडेशन) का अत्यधिक प्रतिरोधी है। डाइब्रोमो-फिनाल इण्डोफिनाल, मेथिलीन ब्ल्यू या इण्डगो कार्मीन द्वारा एफेड्रीन उपचयित नहीं होता, पर एपिनेफीन हो जाता है। स्यूडोएफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड भी अति स्थायी होता है। इसका १ प्रतिशत धोल अनेक समाह तक कमरे के ताप पर रखे जाने पर भी अपने गुणों को बनाये रखता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि अनिदिच्चत काल तक इसके गुण ज्यों के त्यो बने रह सकते हैं। इमका धोल बिना अपघटन के उबाला जा सकता है। सीरम (serum) मिलाकर रखने पर, घट्टों के उम्मायन (इनकुबेशन) के बाद भी, एफेड्रीन तथा स्यूडोएफेड्रीन दोनों की सक्रियता मे कोई कमी नहीं आती।

### एफेड्रा का नियर्ति

सभी विभिन्न स्पीशीज वानस्पतिक स्वरूप मे एक दूसरे से इतने मिलते जुलते हैं कि केवल रासायनिक विश्लेषण द्वारा ही उनका व्यापारिक दृष्टि से मूल्याकन किया जा सकता है। अच्छे कोटि के भेषजों मे निम्नकोटि के भेषज के अपमिश्रण की पूरी सम्भावना रहती है क्योंकि उसका पता लगाना बड़ा कठिन है। एफेड्रीन चिकित्सीय दृष्टि से एक बहुत ही मूल्यवान भेषज है। यदि इम भेषज के मग्नहण एवं ध्यानपूर्वक समुचित चयन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा गया तो भारतीय एफेड्रा, चीनी अथवा अन्य विदेशी एफेड्रा की प्रतियोगिता मे नहीं ठहर सकेगा। इस देश मे चोपडा एवं उनके सहयोगियों तथा कृष्णा एवं धोष द्वारा एतद्विषयक जो कार्य किया गया है उसमे नि सन्देह एफेड्रा जिराडिआना तथा एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस का व्यापारिक महत्त्व सुनिश्चित हो गया है, साथ ही इससे यह भी स्पष्ट हो गया है कि भारतीय एफेड्रा, एफेड्रीन की दृष्टि से उतना ही सम्पन्न है जितना चीनी एफेड्रा। भारतीय एफेड्रा की माँग भारत तथा अन्य देशों मे हो रही है। किसी भी भेषज के नियर्ति का ठीक-ठीक आंकड़ा प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन है क्योंकि बहुत से भेषजों का वर्गीकरण कस्टम विभाग के विवरण पत्रों मे एक साथ कर दिया जाता है। परिमित आकलन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत से १९२८-२९ मे एफेड्रा का नियर्ति लगभग २,००० मन हुआ था। ये आंकडे चीन के हाल के विकसित व्यापार के आकडो का एक अवश भर है। सम्पूर्ण चीन से एफेड्रा का नियर्ति प्रतिवर्ष लगभग ८,००० मन होता है। देश-विभाजन के पूर्व भारत मे एफेड्रा का प्रमुख स्रोत बलूचिस्तान था। इस देश मे

ही अब इसका स्रोत ढूँढ़ निकालने के प्रयास किये जा रहे हैं। लाहौल, पागी और कश्मीर में पैदा होनेवाला एफेड्रा व्यापारिक दृष्टि से पर्याप्त उपयुक्त है। हाल के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि सिक्किम में पैदा होनेवाला एफेड्रा, ऐल्केलॉयड की दृष्टि से समृद्ध है। इसके एक नमूने से १९६०७ प्रतिशत एफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड उपलब्ध हुआ।

विदेशी बाजारों में ऐसे एफेड्रा की माँग है जिसमें एफेड्रीन १ प्रतिशत से अधिक हो। भारत से भेजे गये कुछ ही एफेड्रा में इस अपेक्षित परिमाण में एफेड्रिन पाया गया। एफेड्रा की विभिन्न जातियाँ एक ही स्थान पर पायी जाती हैं, इसलिए सचयनकर्ता के लिये एक स्पीशीज से दूसरी स्पीशीज का भेद करना कठिन हो जाता है।

सर्वोच्च कोटि के एफेड्रा में निम्न श्रेणी के एफेड्रा के अपमिश्रण की सभावना सदा बनी रहती है। यह समस्या इस तरह से हल हो सकती है कि ऐसे कुशल व्यक्तियों को इस कार्य पर लगाया जाय जो सुगमता पूर्वक सबका भेद पहचानकर उपयुक्त स्थानों एवं उचित समय पर जाकर उनका सग्रह करें। वाणिज्यिक एफेड्रा में ऐल्केलॉयड की मात्रा में जो विभिन्नता पायी जाती है तज्जन्य कठिनाई को दूर करने के लिए वन-अनुसन्धान-संस्थान ( Forest Research Institute ) देहरादून ने यह सुझाव दिया है कि ऐसा एफेड्रा-सार बाजार में भेजा जाय जिसमें कुल ऐल्केलॉयड १८-२० प्रतिशत हो और जो भार में अपरिष्कृत भेषज का ५ प्रतिशत हो। निष्कर्षण में प्रक्रिया में ऐल्केलॉयड की क्षति ७-८ प्रतिशत से अधिक नहीं होती। निष्कर्षण में किसी जटिल यथा की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह निष्कर्षण प्रक्रिया उन्हीं क्षेत्रों में, जहाँ यह पौधा उत्पन्न होता है, वही सुगमता से सम्पन्न किया जा सकता है, इससे इसके परिवहन मूल्य में पर्याप्त कमी हो जाती है। शुष्कसत्त्व का उपयोग शुद्ध एफेड्रीन निर्माण के लिए किया जा सकता है। फाइन केमिकल्स, ड्रग ऐण्ड फार्मास्युटिकल्स पेनेल की रिपोर्ट ( १९४६ ई० ) के अनुसार सन् १९४५ ई० में भारतवर्ष में एफेड्रीन का उत्पादन ३,००० पौण्ड हुआ था। एफेड्रा की पूर्ति मुख्यत बलूचिस्तान से होती थी। देश विभाजन के उपरान्त बलूचिस्तान से इसका आना अनिश्चित हो गया है और भारत में एफेड्रीन का उत्पादन गिर गया है। भारत में वे स्थान जहाँ एफेड्रा उगता है सुगम है और इस भेषज का सड़कों के छोर पर ( road head ) मूल्य लगभग १५ रु० मन है। यह मूल्य लगभग उतना ही है जिस पर विभाजन से पूर्व बलूचिस्तान से यह प्राप्त किया जाता था। भारत में एफेड्रीन के नियमित सम्भरण के लिए एफेड्रा की चुनी हुई स्पीशीज का व्यापारिक स्तर पर यहाँ कृषि करना सम्भव है।

भारतीय एफेड्डा के वितरण स्थान । नीचे सारणी ६ में, भारत में उत्पन्न होनेवाली एफेड्डा की विभिन्न स्पीशीज का वितरण स्थान दिया गया है —

### सारणी ६

#### भारतीय एफेड्डा

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अम्युक्ति
एफेड्डा फोलिभाटा	बम्बई और सिन्ध के मैदान, साल्ट रेज ३,००० फुट तक, पंजाब, राजपूताना की अनुवर्त भूमि में प्राय समूह में (यूथी) आदि ।	टालवॉट द्वारा लिखित 'फारेस्ट फ्लोरा ऑफ बम्बई प्रेसिडेन्सी ऐण्ड सिन्ध' नामक ग्रन्थ का दूसरा खण्ड, पृष्ठ ५४१	X
एफेड्डा पिड्कुलैरिस (एफेड्डा फोलि- आटा)	पंजाब, राजपूताना और सिन्ध ।	हूकर जे० द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ निटिश इण्डिया' पन्नम खण्ड, पृ० ६४० और ८६३	X
एफेड्डा इटरमीडिआ	कश्मीर	हूकर जे० द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ निटिश इण्डिया', पृ० ८६३	X
एफेड्डा वल्गैरिस	अफगानिस्तान, बलूचिस्तान की उत्तरी, पश्चमी चट्टानी पहाड़ियाँ, भीतरी शुल्क एव मध्य-हिमालय, झेलम, चेनाब और सतलज ७,८०० फुट से १२८०० फुट, पश्चिमी तिब्बत १६००० फुट तक, कुमाऊँ और सिक्किम का भीतरी भाग तथा तिब्बत के सलरन भाग ।	आँफ नार्थ-वेस्ट ऐण्ड सेण्ट्रल इण्डिया' फारेस्ट फ्लोरा अँफ नार्थ-वेस्ट ऐण्ड सेण्ट्रल इण्डिया' फारेस्ट फ्लोरा जिराडिआना	पर्याय-एफेड्डा जिराडिआना

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अस्युक्ति
एफेड्रा जिरार्डिभाना	कुमायूँ, मुख्य हिमालय के बीच की श्रेणियाँ ६,५०० से १४,००० फुट तक तथा अति सामान्य रूप से तिव्वत के सीमावर्ती शुष्क भीतरी श्रेणियों पर शुल्करीली स्थानों में तथा घटानों के बीच।	ओस्मास्टोन लिखित 'ए प्लोरा बॉफ कुमायूँ' लिस्ट अंक द्वारा द्वारा लिखित 'ए प्लोरा एफेड्रा वल्गेरिस' (E. vulgaris) (H. Hook f. non A Rich)	पर्याय— एफेड्रा वल्गेरिस
एफेड्रा जिरार्डिभाना	उत्तरी डियोजन, अल्मोड़ा, अल्मोड़ा, अत्यधिक सामान्य।	गढवाल मध्य अल्मोड़ा, अत्यधिक गढवाल और अल्मोड़ा द्वारा लिखित 'डिस्कम्प्लिव लिस्ट बॉफ ट्रीज ऐण अब्स विट्कीन दी गैन्जेज ऐन्ड शारदा रिवर'	द्वारा X
वही	पर्वतीय हिमालय और पश्चिमी तिव्वत तथा सिक्किम। शीतोष्ण और पर्वतीय हिमालय तथा पश्चिमी तिव्वत के शुष्क प्रदेशों में ७,००० से १२,००० फुट तथा सिक्किम में १२,००० से १६,००० फुट।	हूकर, जे. द्वारा लिखित 'प्लोरा बॉफ निटिश इण्डिया' पचम खण्ड, पृष्ठ ६४० और ८६३	X
एफेड्रा जिरार्डिभाना	तिव्वत, श्री हूकर, जे. द्वारा वैराङ्गी वालिचाह कनावर, गढवाल और लिखित 'प्लोरा बॉफ कुमायूँ'।	तिव्वत, श्री हूकर, जे. द्वारा लिखित 'प्लोरा बॉफ निटिश इण्डिया' खण्ड पाच, पृष्ठ ६४० और ८६३	X

स्पोशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अन्युक्ति
ए जिर्डिबाना			
वैराइटी	गढवाल और	वही	×
बीटा-सैक्साटिलिस	कुमार्ये		
वैराइटी	सिक्किम	वही	×
गामा-सिक्किमेन्सिस			
एफेड्रा नेव्रोडेन्सिस	लाहौल एवं	वही	एफेड्रा
वैराइटी प्रोसेरा	पश्चिमी तिब्बत		जेरांडिबाना की थ्रेणी में वर्गीकृत
एफेड्रा पैचिकलाडा	गढवाल तथा गढवाल से पश्चिम की ओर १५,००० फुट की ऊँचाई तक	वही	पर्याय एफेड्रा इण्टरमीडिया
वैराइटी ग्लाउका	मगोलिया से कश्मीर तक	वही	×
वैराइटी टिबेटिका	अफगानिस्तान की सीमा पर पश्चिमी तिब्बत, अफगानिस्तान। विहार और उठीसा	वही	×
उत्तरी वरार के वन	हेन्स द्वारा लिखित एफेड्रा नहीं 'बॉटनी बॉफ विहार पाया जाता। एण्ड उठीसा'		
उत्तरी वरार के वन।	दिस्क्रिप्टिव बोटैनिकल लिस्ट	वही	
मध्य प्रदेश	विट द्वारा लिखित 'डिस्क्रिप्टिव बोटैनिकल लिस्ट, नार्दंर्ज एण्ड वरार फारेस्ट सकिल्स, सी पी'	वही	
	हेन्स द्वारा लिखित 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट बॉफ ट्रीज, श्रव्व एण्ड इकानामिक हर्ब बॉफ दी एस सी सी पी'	वही	

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अन्युलिं
एफेड्रा	छोटा नागपुर	हेन्स द्वारा लिखित 'ए फॉरेस्ट फ्लोरा बॉक	वही
पैचिकलादा		छोटा नागपुर।'	
वेराइटी टिचेटिका	गगा के गेदान	दृथी द्वारा लिखित 'फ्लोरा बॉक दि अपर गैज़ेटिक जैन', भाग १, २ तथा ३	वही
चटगांव और पहाड़ी प्रदेश		हाइनिंग द्वारा लिखित 'लिस्ट बॉक प्लाट्स बॉक दि चिटगांव ऐण्ड हिल ट्रैन्ट्स'	वही
जिला दार्जिलिंग		गैम्बुल द्वारा लिखित 'ट्रीज, श्रव्म ऐण्ड लाजं क्राइम्बर्स फाउण्ड इन दि दार्जिलिंग हिस्ट्रीकट	वही
बगाल		प्रेन द्वारा लिखित 'बगाल प्लाट्स'	वही
ऊपरी आसाम तथा सासी की पहाड़ियाँ		यू एन. काजीलाल द्वारा लिखित 'प्रिलि- मिनरी लिस्ट बॉक प्लाट्स बॉक अपर आसाम इन्क्लूडिंग सासी हिल्स'	वही
नीलगिरि तथा पुलनी की पर्वत श्रेणियाँ		पाइसन द्वारा लिखित 'दि फ्लोरा बॉक दि नीलगिरि ऐण्ड पुलनी हिल टॉप्स'	वही

स्पीशीज की विभिन्नता के कारण ऐल्कोलॉयड की मात्रा में अन्तर —  
श्री रीढ और ल्यू (1928) ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि सारे ससार में

एफेड्रा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इस पौधे की अनेको स्पीशीज का पता है पर उनमें से कुछ में ही सक्रिय तत्व पाया जाता है। अमेरिकी एफेड्रा की जातियों में प्राय एफेड्रीन नहीं उपलब्ध होता। यूरोपीय एफेड्रा में एक समावयविक ऐल्केलॉयड स्यूडो-एफेड्रीन दोनों पाये जाते हैं, दोनों में से किसी एक के ऐल्केलॉयड का परिमाण स्पीशीज पर निर्भर करता है। बन-अनुसंधान-संस्थान देहरादून के कृष्णा एवं घोप के साथ इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक (चोपडा) ने भारतीय एफेड्रा पर विस्तृत अध्ययन किया है, जिसके उपलब्ध परिणाम सारणी ७ एवं ८ में दिये गये हैं। विभिन्न क्षेत्रों से लगभग एक ही समय में सगृहीत एफेड्रा की तीन सामान्य स्पीशीज से प्राप्त कुल ऐल्केलॉयडों एवं एफेड्रीन की प्रतिशतता सारणी ७ में प्रदर्शित की गयी है। यह दुर्भाग्य की वात है कि सभी नमूनों में अक्टूबर एवं नवम्बर के महीनों का, जब कि एफेड्रीन की प्राप्ति सर्वाधिक होती है, आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। सारणी ८ में अभिलिखित अधिकाया नमूने वैयक्तिक सग्रहकर्ताओं द्वारा उपलब्ध हुए थे और वे सुविधानुकूल जून से सितम्बर तक के महीनों में सगृहीत किये गये थे। ये महीने तुलना के लिए आदर्श रूप नहीं हो सकते क्यों कि ऐल्केलॉयड पर वर्षा का जो प्रभाव पड़ता है वह उपेक्षणीय नहीं, और खास तौर से तो ऐसे क्षेत्रों (चक्राता) में जहाँ अत्यधिक वर्षा होती है। इस प्रसग का विवेचन अन्यत्र विस्तार से किया गया है।

## सारणी ७

स्पीशीज	तप्रह-मेत्र	तप्रह माह	कुल ऐल्केलॉयड	एफेड्रीन	प्रतिशत	प्रतिशत
एफेड्रा फोलिभाटा	—	—	—	० ०३	—	×
एफेड्रा इण्टरमीडिअ	रजमाक (वजीरिस्तान)	अगस्त १९२८	० १७	० ११	० ११	
	दाताखेल (वही)	सित १९२८	० १२	० ०९	० ०९	
	शिंगढ (वलूचिस्तान)	सित १९२९	० ४२	० १९	० १९	
	जाधाट (वलूचिस्तान)	सित. १९२९	० ९०	० ४८	० ४८	
	पागी (वाशहर)	जुलाह १९२९	१ ६२	० ०७	० ०७	
	स्पीति (कागडा)	जून १९२९	१ २०	० ०५	० ०५	
	गिलगिट (कश्मीर)	जुलाह १९२९	० ६७	—	—	
	नियावत एस्तोर (कश्मीर)	जुलाह १९२९	० ७५	० ०८	० ०८	

स्पीशीज

संग्रह-क्षेत्र

संग्रह माह कुल ऐल्कोलॉयड एफेड्रीन  
प्रतिशत प्रतिशत

कार्गिल (कश्मीर)	जुलाह १९२९	१ १७	० ०५
चीनी रेन्ज (वण्हर दिवीजन)	मई १९२९	२.३३	० ३८

एफेड्रा जेरार्डियाना और एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस	रजमक (वजीरिस्तान)	मई १९२९	१ ९७	१ ४३
--	-------------------	---------	------	------

एफेड्रा जेरार्डियाना और एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस	शाहीदुम (वल्लूचिस्तान)	अग० १९२९	१ ४०	० ९८
--	------------------------	----------	------	------

सारी (वही)	अग० १९२९	१ ३१	० ९०
------------	----------	------	------

शिगढ (वही)	अग० १९२९	१ ६७	१ १२
------------	----------	------	------

जार्धट (वही)	मित० १९२९	१ ३४	० ९६
--------------	-----------	------	------

नारग (कागन)	अग० १९२९	१ ९३	१०५०
-------------	----------	------	------

घत्तामुल्ला (कश्मीर)	अग० १९२९	१०२२	० ६८
----------------------	----------	------	------

फारी (तिब्बत फाटियर)	नव० १९२८	० २९	० १०
----------------------	----------	------	------

चक्राता	नव० १९२९	० ९३	० ७२
---------	----------	------	------

हजारा	मई १९२८	० ७४	० ४८
-------	---------	------	------

वारामुल्ला (कश्मीर)	नव० १९२९	१ २८	० ८०
---------------------	----------	------	------

लाहौल	अक्टू० १९२९	२ ७९	१ ९३
-------	-------------	------	------

प्लास कोहिस्तान			
-----------------	--	--	--

(ट्रास फाटियर)	सित० १९२८	१ १४	० ८४
----------------	-----------	------	------

कागन धाटी	जुलाह १९२८	१ दर्ते	१ २३
-----------	------------	---------	------

कागन	अक्टू० १९२९	२ १५	१ ५२
------	-------------	------	------

एफेड्रा एक्विसेटिना	चीन	—	१ ५८	० ९८
---------------------	-----	---	------	------

एफेड्रा सिनिका	चीन	—	१ २८	० ६५
----------------	-----	---	------	------

### सारणी C

स्पेस्ट्र	ऊँचाई फुट में	स्पीशीज	संग्रह माह	कुल	एफेड्रीन	कुल ऐल्को- लॉयड	प्रतिशत	ऐल्को- लॉयड	प्रतिशत	में एफेड्रीन प्रतिशत
			१९२९							

स्पीति (कांगडा)	८,०००-९,०००	ए इण्टरमीडिआ जून	१ २०	० ०५	४ १
-----------------	-------------	------------------	------	------	-----

क्षेत्र	केंचार्ड फुट मे	स्पीशीज सप्तमी १९२९	सप्तमी १९२९	फुल लॉयड	एफेड्रीन प्रतिशत	कुल लायड	एफेड्रीन मे प्रतिशत
गिलगिट (कश्मीर)	४,८९०	ए० इण्टरमीडिआ	जुलाई ०.६७	—	—	—	—
नियावत ऐस्टोर (कश्मीर)	७,८३६	„	„ ०.७५	० ०८	१००६	—	—
पागी (ब्राशहर डिवीजन)	८,५००	„	जुलाई १०६२	० ०७	४०३	—	—
फार्गिल (कश्मीर)	८,७३३	„	„ ११७	० ०५	४०२	—	—
शिंगढ (वलूचिस्तान)	९,०००	„	सितम्बर ०४२	०.१९	४५२	—	—
जार्घट (वलूचिस्तान)	८,०००	„	„ ०.९०	० ४८	५३३	—	—
रजमक बजीरिस्तान	८,५००	ए० नेब्रोडेन्सिस	जुलाई १७०	१००५	६१७	—	—
शहीदुम (वलूचिस्तान)	८,२००	„	अगस्त १०४०	० ९८	७००	—	—
सारी (वलूचिस्तान)	९,०००	„	„ १३१	० ९०	६८०	—	—
शिंगढ (वलूचिस्तान)	९,०००	ए० नेब्रोडेन्सिस	अगस्त १६७	११२	६७०	—	—
जार्घट (वही)	८,०००	„	सितम्बर १३४	० ९६	७१६	—	—
कार्डुङ्ग (लाहौल)	१०,०००	„	जुलाई २५६	१ ६३	६३६	—	—
नारग (कागन)	८,०००	ए० जेराडिआना	अगस्त १०३	१०३०	६७०३	—	—
घत्तामुल्ला (कश्मीर)	४,७००	„	अगस्त १.२२	०.६८	५५७	—	—
चक्राता	६,८८५	„	० २८	० १४	५००	—	—

इनसे यह स्पष्ट है कि इन तीनों स्पीशीज मे एल्केलॉयड की विभिन्नता अत्यधिक पायी जाती है। जहा तक कुल ऐल्केलॉयड का प्रश्न है, विभिन्नता उतनी अधिक नही होती, किन्तु जहा तक कुल ऐल्केलॉयड मे एफेड्रीन की मात्रा का सम्बन्ध है यह अन्तर विशेष रूप से दिखाई देती है। साधारणतया, एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस और एफेड्रा जिराडिआना के कुल ऐल्कोलॉयडो मे ६० से ७० प्रतिशत एफेड्रीन तथा एफेड्रा इण्टरमीडिआ मे लगभग १० प्रतिशत एफेड्रीन पाया जाता है। इसके अपवाद रूप मे वलूचिस्तान से उपलब्ध एफेड्रा इण्टरमीडिआ है, जिसमे कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है, किन्तु एफेड्रीन का अनुपात अधिक होता है। एफेड्रा इण्टरमीडिआ मे स्थूडो-एफेड्रीन सर्वदा अधिक होता है। कुल ऐल्केलॉयड मे एफेड्रीन का अनुपात, जैसा यहा दर्शाया गया है, सर्वश्री रीड और फेंग (Read and Feng)

द्वारा भारतीय एफेड्रा मे उपलब्ध एफेड्रिन के अनुपात से थोड़ा भिन्न है, जहाँ एफेड्रा इण्टरमीडिया मे एफेड्रीन कुल ऐल्केलॉयड का ३० से ४० प्रतिशत एफेड्रीन होना दर्शाया गया है। यह वैभिन्न एफेड्रीन के आमापन की रीति मे भिन्नता के कारण हो सकता है। यहाँ दी गयी एफेड्रीन की प्रतिशतता अपरिष्कृत पौधे से पृथक किये गये एफेड्रिन हाइड्रोक्लोराइड के भार पर आधारित है, न कि रीढ और फेन्ग द्वारा विकसित बाह्यूरेट (biuret) अभिक्रिया द्वारा उपलब्ध सभावित वेस की प्रतिशतता के आधार पर। भारतीय, चीनी, अमेरिकी और अफ्रीकी एफेड्रा मे विद्यमान ऐल्केलॉयड की मात्रा तुलना के लिए सारणी ९ मे प्रस्तुत की जा रही है।

## सारणी ९

देश	स्पीशीज	कुल ऐल्केलॉयड	एफेड्रीन प्रतिशत	स्पूडोएफेड्रीन प्रतिशत
भारतीय	एफेड्रा फोलिआटा	० ०३	×	×
	एफेड्रा इण्टरमीडिया	२ ३३	० ४०	१ ८
	एफेड्रा जिराडिंबना	२ १५	१ ०५२	×
	एफेड्रा नेवाडेन्सिस	२ ७९	१ ९३	×
चीनी	एफेड्रा सिनिका	१ ३१५	१,११८	०.२६३
	एफेड्रा एविसेटिना	१ ७५४	१ ५७९	०.२६४
अमेरिकी	एफेड्रा नेवाडेन्सिस ( <i>E. nevadensis</i> )	—	×	×
	एफेड्रा ट्राइफुर्का ( <i>E. trifurca</i> )	—	×	×
	एफेड्रा कैलिफोर्निका ( <i>E. californica</i> )	० ००१४	×	×
अफ्रीकी	एफेड्रा एलाटा( <i>E. alata</i> )	—	—	१ ०
ऊँचाई का प्रभाव :				

चीनी एफेड्रा के विषय मे यह दिखाया जा चुका है कि इन जातियो मे उनके उत्पत्ति स्थान की ऊँचाई के अनुसार एफेड्रीन की मात्रा मे भिन्नता पायी जाती है। कृष्णा और घोप के सहयोग से इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ( चोपडा ) ने हाल मे भारत के विभिन्न क्षेत्रो से सग्रहीत एफेड्रा पर किये गये अनुसंधानो से कुछ नये तथ्यो पर प्रकाश डाला है जो चीनी एफेड्रा के विषय मे अभिलिखित तथ्यो से मेल नहीं खाते। सारणी ८ मे देखा जा सकता है कि समुद्र की सतह से ९००० फुट की

कॅचार्ड पर स्थित दो भिन्न क्षेत्रों ( वलूचिस्तान के सारी और शिंगढ़ ) से सम्बन्धित एफेड्रा नेप्रोडेन्टिस्ट के नमूनों में एफेड्रिन की उपलब्धि ( ० ९० से १ १२ प्रतिशत ) में काफी अन्तर दिखायी पड़ता है। घत्तामुत्ला ( कश्मीर ) से नमूने के तौर पर सम्बन्धित एफेड्रा जेराडिगाना में एफेड्रीन की विद्यमानता ० ६८ प्रतिशत दिखायी पड़ती है, जब कि एफेड्रा की इसी जाति में, जो अपेक्षाकृत अधिक कॅचार्ड ( ६,८८५ फुट ) पर स्थित अन्य क्षेत्र ( चक्राता से ) सम्बन्धित किया गया था, एफेड्रीन कम पायी जाती है। इसलिए भारतीय एफेड्रा में विद्यमान एफेड्रीन की मात्रा से कॅचार्ड का कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता।

### वर्पा का प्रभाव :

भारतीय एफेड्रा की एक रोचक विशेषता यह है कि एफेड्रा के उत्पन्न होने वाले क्षेत्र की वर्पा का एफेड्रीन की मात्रा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। जितनी ही अधिक वार्षिक वृष्टि होगी, उतना ही कम ऐलेलायड उपलब्ध होगा। न केवल वार्षिक वृष्टि का ही एफेड्रीन की मात्रा पर कुप्रभाव पड़ता है, अपितु जब कभी भूसलाधार वृष्टि होती है तो एफेड्रीन की मात्रा बहुत कम हो जाती है। कई स्थानों पर यह बात देखी गयी है, उदाहरणार्थ, हजारा-स्थित कागन में, जहाँ इसका सम्बन्ध लगातार गहरी वर्पा के बाद सितम्बर में किया गया था, परिणामत एफेड्रीन की उपलब्धि अत्यल्प हुई। इसी तरह चक्राता में जुलाई और अगस्त के महीनों में भारी वर्पा होने के कारण अग्न्त और सितम्बर में सम्बन्धित एफेड्रा में एफेड्रीन की मात्रा अत्यल्प पायी गयी। लाहौल एवं कागन जैसे स्थानों में जहाँ नवम्बर के प्रारम्भ में हिमपाता आरम्भ हो जाता है, अवृद्धवर में सर्वाधिक एफेड्रीन उपलब्ध होता है। इसके विपरीत, चक्राता, वारामुल्ला और चीनी जैसे स्थानों में नवम्बर में सर्वाधिक एफेड्रीन पाया जाता है। भारतीय एफेड्रा में एफेड्रीन की मात्रा पर वृष्टि का कुप्रभाव सारणी १० में दर्शाया गया है।

### सारणी १०

स्थेत्र ( प्राप्तिस्थान )	औसत वार्षिक वृष्टि	औसत कुल ऐलेलायड प्रतिशत	औसत एफेड्रीन प्रतिशत
कागन	३-१०	१ ९०	१.२०
राजस्थान	२०	१ ४६	० ९०
कश्मीर	३२	१ १५	० ६५
वारामुल्ला	४५	० ९०	० ५२
चक्राता	७५	० ६३	० ४५

### ऋगु का प्रभाव

यह देखा जा चुका है कि एफेड्रा मे एफेड्रीन की मात्रा, उसके सचयन काल के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करती है। एफेड्रा के ऐल्कोलॉयड की मात्रा मे कठुन्जन्य विभिन्नता का अध्ययन करने के लिए इन तीनो स्पीशीज का मासिक सचयन भारत के विभिन्न क्षेत्रों से किया गया और उनमे विद्यमान ऐल्कोलॉयड का आमापन किया गया। पहला सग्रह अप्रैल के महीने मे जब कि पौधों मे नये प्ररोह निकलते हैं, किया गया और यह (सग्रह) कार्य कई महीनों तक चलाया गया जिसके अन्तगत इसके फूलने का काल और परिपक्वता की अवधि जो अक्टूबर तथा नवम्बर मे होती है शामिल है। तत्पश्चात् इसके सूखने तथा मुरझा जाने के लक्षण दिखायी पड़ने लगते हैं। चीनी एफेड्रा का परीक्षण करके रीड ( १९२८ ई० ) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि “एफेड्रा सिनिका और एफेड्रा एक्विसेटिना मे एफेड्रिन वी मात्रा मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, और वसन्त से लेकर शरद (पताड़) तक लगभग २०० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इससे शरद मे सग्रह करने की प्राचीन चीनी प्रथा का समर्थन होता है।” कश्मीर के एफेड्रा पर चौपडा और दत्त ( १९३० ई० ) द्वारा किये गये आमापन के फलस्वरूप एवं भारत के विभिन्न क्षेत्रों से संगृहीत एफेड्रा पर चौपडा, कृष्णा एवं धोष ( १९३१ ई० ) द्वारा किये गये आमापन के परिणामों मे यह स्पष्ट है कि भारतीय एफेड्रा मे विद्यमान ऐल्कोलॉयड से अप्रैल से नवम्बर तक कोई बढ़ा अन्तर नहीं पड़ता, और न प्रत्येक महीने मे पाया जाने वाला अन्तर ही एक सा और नियमित होता है, जैसा कि रीड ने दिखाया है। सभी विद्येयित नमूनों मे, एफेड्रिन की मात्रा मई के प्रारम्भ से घटने लगती है, जो वर्षा के दिनों मे घटती जाती है और अगस्त मे वर्धात् वर्षा के अन्त मे, न्यूनतग स्तर पर पहुँच जाती है। इसके बाद ऐल्कोलॉयड की मात्रा बढ़ने लगती है और शरद के महीनों मे अवधि अक्टूबर और नवम्बर मे अधिकतम हो जाती है और पुन शिशिर के महीने मे घट जाती है। इस प्रकार भारतीय एफेड्रा मे विद्यमान ऐल्कोलॉयड वी मात्रा मे, मई से लेकर अगस्त तक जो कमी होती है उसका कारण और कुछ नहीं, जपियु जलवायु है।

### भड़ारण का प्रभाव

इन भेषज मे विद्यमान एफेड्रीन वी मात्रा पर भराद्वारण का जो प्रभाव पड़ता है, उसका अध्ययन दिया जा चुका है, जो अैश्वोगिक गहराय की बात है। सार्वजी १९ मे दिये गये विद्येयितों के परिणामों से यह ज्ञान होता है कि यदि इस भेषज को

भल्ली भाँति हवा में सुआ कर, जीवाशुवृद्धि को रोकने के लिए गुरुते रधान में भडारण किया जाय, तो एफेड्रीन जी गामा में विना किसी हामग के फासी लम्बी अवधि तक इसे सुरक्षित रखा जा सकता है।

### नारणी ११

#### एफेड्रा के एफेड्रीन की मात्रा पर भडारण का प्रभाव

एफेड्रा को छिप्पम	सच्चाया तिथि	पिस्टेपण तिथि	फुल ऐल्कोलॉयड	एफेड्रीन प्रतिशत	शत
एफेड्रा दस्टरमीठिआ नवम्बर १९२८ ई०	मार्च १९२६ ई०	दिसंबर १९२९ ई०	२.०८	०५०	
चीनी मे		दिसंबर १९२९ ई०	६९०	०४८	
एफेड्रा खेराडिशाना जून १९२८ ई०	अगस्त १९२८ ई०	जून १९२९ ई०	०८६	०५५	
करमीर से		दिसंबर १९२९ ई०	०७६	०८७	
यही	अप्रैल १९२८ ई०	नवम्बर १९२८ ई०	०८३	०६३	
		जून १९२९ ई०	१०१	०६७	
		दिसंबर १९२९ ई०	०९२	०६०	

#### अन्य भारतीय पौधों में एफेड्रीन

चीपटा और टे ( १९३० ई० ) ने नाइट्रा कॉर्डिफोलिजा ( *Nida cordifolia* ) में एक अनुरापीभनुकरीभम (मिमीथोमिमेटिक) ऐल्कोलॉयड की विद्यमानता बतायी है, जिमवा गुण-फल विल्युल एफेड्रीन जैसा होता है और उन्होने समझा कि यह ऐल्कोलॉयड नि सन्देह एफेड्रीन था। तदन्तर, घोप और दत्त ( १९३० ई० ) ने दिखाया कि इस मिमीथोमिमेटिक ऐल्कोलॉयड में एफेड्रीन के नभी रारायनिक एव भीतिक गुण पाये जाते हैं। यह पौधा उष्ण एव उष्णोष्ण भारत में सर्वत्र पाया जाता है और श्रीलंका में सटको के फिनारे अन्य अन्तर्राष्ट्रीय में पाया जाता है। इनकी जड़े, पत्तियाँ एव बीज सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा में क्षुधावर्धक एव हृदयरूप के रूप में व्यवहृत होते हैं।

समूचे पौधे में (जिसमें पत्तियाँ, बीज, स्तम्भ तथा जटे सभी सम्मिलित हैं) ००८५ प्रतिशत ऐल्कोलॉयड पायी जाती है। बीजों में ऐल्कोलॉयड अधिक भाग में, ०३२ प्रतिशत, विद्यमान रहता है। इस (अनुसधान) कार्य में एक विचित्र बात

यह मालूम हुई कि वनस्पति जगत की विल्कुल दो भिन्न जातियाँ (divisions), में एफेड्रीन पाया जाता है, एफेड्रा जिम्नोस्पर्म (Gymnosperm) के अन्तर्गत आता है, जब कि साइडा कार्डिफोलिया, ऐजिओस्पर्म (Angiosperm) के।

चोपड़ा और डे ने मोरिंगा टेरिगोस्पर्मा (*Moringa pierjgosperma*) (सैंजन या सहिजन) में भी एफेड्रीन जैसा सिम्पैथोमिमेटिक ऐल्केलॉयड पाया है।

### भारतीय एफेड्रा से उपलब्ध एफेड्रीन तथा स्यूडोएफेड्रीन का गुण-कर्म

१८८७ ई० में एफेड्रीन के खोज के बाद से, एफेड्रीन पर रासायनिक दृष्टिकोण से अत्यधिक ध्यान दिया गया, किन्तु इसके ताराप्रसारक (mydriatic) प्रभाव के अतिरिक्त, जिसे जापानी अनुसधानकर्ता नागयी (Naga!) ने लक्षित किया था, इसके गुण-कर्म के सम्बन्ध में अब तक कोई भी प्रगति नहीं की गयी। सन् १९२४ में चू और शिमट (Cheu and Schmidt) ने एफेड्रीन के गुण-कर्म पर एक शोध-निवन्ध प्रकाशित कराया और ऐड्रिनैलिन के साथ इसके घनिष्ठ शरीरक्रियात्मक एवं किलनिकल सम्बन्ध को बताया। लेखक एवं उसके सह-कार्यकर्ताओं द्वारा एफेड्रा की भारतीय जातियों से उपलब्ध एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन पर शोध कार्य भलीभांति किया गया है। चीनी एफेड्रा पर विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है और उससे उपलब्ध एफेड्रीन के गुण-कर्म भारतीय पौधों से उपलब्ध एफेड्रीन के सदृश पाये गये। स्यूडोएफेड्रीन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है और यह ऐसा ऐल्केलॉयड है जो भारतीय एफेड्रा में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है इसलिए लेखक एवं उसके सहयोगियों द्वारा अत्यन्त सावधानी से इसका अध्ययन किया गया।

यह दिखाया गया कि स्यूडोएफेड्रीन हृदय के सदमी एवं त्वरक प्रक्रिया (Inhibitory and accelerator mechanisms) दोनों को उद्दीप करता है और हृदपेशी (मायोकार्डियम) पर उद्दीपक प्रभाव डालता है। इससे रक्त-दाव में उत्तरी वृद्धि नहीं होती जितनी एफेड्रीन से होती है और इस वृद्धि का केवल अश मात्र ही अनुकम्पी (sympathetic) तंत्र के उद्दीपन के कारण होती है, क्योंकि एर्गोटाइक्सीन द्वारा अनुकम्पी तंत्र को निष्क्रिय कर देने पर भी यह वृद्धि होती रहती है। वाहिका प्रेरक (vasomotor) तंतुओं के निष्क्रिय हो जाने पर भी रक्तदाव में वृद्धि बनी रहती है, इससे यही प्रगट होता है कि यह ऐल्केलॉयड रक्त वाहिकाओं की अरेखित वेशियों को उद्दीप करता है, तथा हृदपेशी अधिक उद्दीप हो जाती है।

बिल्ली जैसे प्राणियों के रक्त दाव में पर्याप्त वृद्धि आ जाती है और दो मिलीग्राम की सुराक देने से बिल्ली के रक्तदाव में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है जो २० से ३० मिनट तक बनी रहती है। बार-बार इजेक्शन लेने से प्रत्येक बार समान प्रभाव नहीं होता, ज्यो-ज्यो इजेक्शन की सण्या बढ़ती जाती है, रक्तदाव की वृद्धि क्रमशः घटती जाती है।

इससे फुफ्फुका-दाव में सुस्पष्ट वृद्धि परिलक्षित होती है और इसका प्रभाव एड्रिनेलिन के प्रभाव से मिलता जुलता होता है। इस एल्केलॉयड का यह प्रभाव नहीं होता है। इस वृद्धि का कारण यह प्रतीत होता है कि फुफ्फुसी धमनी की शाखाओं में नक्कुचन भी जाता है और फिर इससे इलेप्ट्रल कला की उच्छ्रूतना (urgescence) या उपदामन भी हो जाता है। साथ ही इससे इवसनिकाओं में सुस्पष्ट विस्फारण भी जाता है और ये दोनों ही बातें दमा के प्रवेग को उभारित करने में नहायक होती हैं। यदि प्रयोगात्मक प्राणियों में, पिलोगार्पीन का इजेक्शन देकर दमा की स्थिति पैदा की गयी हो तो उस तरह उत्पन्न उद्देष्ट, स्थूलो-एफेड्रीन की २० मि० प्रा० की मात्रा में अन्त पेशी इजेक्शन देने से तुरत उपरामित हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह भेपज चउ गशयत इवसनिका-विस्फारण प्रभाव रखता है।

इस भेपज का थनुकम्पीबनुकारीसम (uterine hormone mimic) प्रभाव इस तथ्य से भी सुस्पष्ट हो जाता है कि ज्यो ही २० मि. गा की मात्रा में स्थूलोएफेड्रीन का इजेक्शन दिया जाता है आन्त्र की गति दमित हो जाती है और आन्त्र में सुस्पष्ट तिथिलन द्या जाता है। गशक के पृथग्नृत क्षुद्रान्त्र के एक भाग पर द्रव-निवेशन (perfusion) करने से इसी तरह का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्वस्थाने बिल्ली के गर्भाशय एवं तापन यन्त्र (uterine birth) में रखे गये पृथग्नृत गर्भाशय की गति सुन्पष्ट रूप से सदमित हो जाती है, और बिल्कुल बन्द भी हो सकती है। स्थूलोएफेड्रीन का २० मि. प्रा. की मात्रा में इजेक्शन देने से रक्त दाव में सतत वृद्धि आती है और साथ ही प्लीहा के भाकार में सुस्पष्ट संकुचन परिलक्षित होता है। ये प्रभाव एड्रिनेलिन के प्रभाव के सदूऽ होते हैं।

इस भेपज का इजेक्शन देने पर उदर के अन्य अतराङ्गी जैसे कि वृक्क के बायतन में वृद्धि हो जाती है। भेपज के वाहिकासकीणक प्रभाव के कारण जिससे समग्र शरीर में रक्तदाव बढ़ जाता है, ये सारे लक्षण प्रगट होते हैं और उसी के फलस्वरूप आशयिक (splanchnic) क्षेत्र में रक्त का प्रवेश बढ़ने लगता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि ज्यो ज्यो रक्तदाव में वृद्धि आती है, त्यो त्यो वृक्क के

आयतन मे भी वृद्धि होती है। जब रक्तदाव मामान्य दशा मे आ जाता है, तो वृक्क का आयतन भी सामान्य आकार मे आ जाता है।

वृक्क के आयतन मे वृद्धि से यह सकेत मिला कि यह यह ऐल्केलॉयड सम्भवत मूत्रल प्रभाव रखता होगा। इसलिए मूत्रनली मे एक केन्युला (प्रवेशिनी) डालकर मूत्र प्रवाह को मापा गया। गिरनेवाले मूत्र बूदों को इलोक्ट्रोमैग्नेट द्वारा ड्रम पर रिकार्ड कर लिया जाता था। मूत्रसाव की गति मे सुस्पष्ट वृद्धि आ जाती है और यह भी देखा गया कि मूत्र प्रवाह का त्वरण (acceleration) तब तक बना रहा जब तक रक्त-दाव का प्रभाव बना रहा। एफेड्रीन की अधिक मात्रा देने से अधीरता (nervousness) अनिद्रा, शिरोवेदना, घमि (Vertigo), घटकन, स्वेदलता, मतली तथा बमन के विकार पैदा हो जाते हैं, और बीच-बीच मे दर्द पैदा हो जाता है तथा कभी-कभी त्वक्शोथ (dermatitis) भी हो जाता है।

एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन के गुण-कर्म मे अन्तर्। सकलित परीक्षणात्मक परिणामो से यह स्पष्ट है कि स्यूडो-एफेड्रीन का प्रभाव विल्कुल एफेड्रीन के ही सदृश होता है। दोनो ऐल्केलॉयड यकृत से होकर अपरिवर्तित रूप मे गुजरते हैं, और अपना स्वाभाविक-प्रभाव उत्पन्न करते हैं चाहे उनका इजेक्शन आत्रयोजनी गिरा (mesenteric vein) मे दिया गया हो अथवा दैहिक शिरा (systemic) मे। ये दोनो जठरान्त्रीय मार्ग से शीघ्र ही अवशोषित हो जाते हैं, और जठरान्त्र की पेशी समूहो पर उनका सदमक प्रभाव समान रूप से पड़ता है। दोनों ही ऐस्केलॉयड रक्त वाहिकाओं को सकुचित करते हैं, और दोनों ही रक्तदाव मे सुस्पष्ट वृद्धि लाते हैं। एफेड्रीन द्वारा उत्पन्न वाहिकादाव अपेक्षाकृत अधिक सशक्त होता है, जिसका समूहं प्रभाव वाहिकाप्रेरक तत्रिका अन्तों (vasomotor nerve endings) पर होता है, जब कि स्यूडो-एफेड्रीन का कुछ प्रभाव वाहिकाओं की पेशी समूहो पर भी होता है तथा स्यूडो-एफेड्रीन द्वारा फुफ्फुसी तथा निर्वाहिका (portal) क्षेत्रो पर दाब की वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है। श्वसनिकाओं पर स्यूडो-एफेड्रीन का विस्फारक प्रभाव और नासिका के श्लेष्मल कला पर इसका सकोचक प्रभाव एफेड्रीन जैसा होता है। वृक्क पर इन दोनो ऐल्केलॉयडो का-प्रभाव यह होता है कि रक्त वाहिकाओं का विस्फारण हो जाता है और वृक्क के आयतन मे वृद्धि हो जाती है, किन्तु एफेड्रीन से जो आरम्भ मे क्षणिक सकुचन पैदा होता है वह स्यूडो-एफेड्रीन से नहीं होता। स्यूडो-एफेड्रीन का मूत्रल प्रभाव एफेड्रीन की तुलना मे अधिक होता है। इन दोनो ऐल्केलॉयडो का एचिक तथा अनैचिक पेशियो पर समान ही प्रभाव पड़ता है।

भारतीय एफेड्रा का चिकित्सीय उपयोग यह पहले ही बताया जा चुका है कि एफेड्रा की अनेकों भारतीय स्पीशीज में स्यूडो-एफेड्रीन की मात्रा अधिक होती है। अनेक किसीमों में एफेड्रीन की मात्रा कुल ऐल्कोलॉयडों की ५० प्रतिशत से अधिक नहीं होती और प्रायः इससे बहुत कम ही रहती है। १९३२-३५ ई० में ऐल्कोलॉयडों का मूल्य पर्ति थोष्ट ६०० ई० था, इस मूल्य पर भी पर्याप्त मात्रा में ऐल्कोलॉयड उपलब्ध नहीं है। कुछ भारतीय किसीमों में स्यूडो-एफेड्रीन की मात्रा एफेड्रीन की तुलना में बहुत अधिक होती है। इन तथ्यों को ज्यान में रखकर ही हमलोगों ने यह देखने का प्रयास किया कि चिकित्सा में स्यूडो-एफेड्रीन कहाँ तक एफेड्रीन का स्थानापन्न हो सकता है।

दमा के उपचार में एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन का व्यवहार, जब से एफेड्रीन के अनुकूल्यीनकारीसम प्रभाव का पता चला है दवा के उपचार के लिए इस ऐल्कोलॉयड का बहुत विस्तृत उपयोग हुआ है। इससे जो रोगशमन होता है वह दत्तना तात्त्विक नहीं होता जितना कि एड्रिनेलिन ने, किन्तु इससे शोषण एवं निश्चित रूप से रोगशमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका मोखिक सेवन किया जा सकता है और इसका एजेशन देना आवश्यक नहीं है। इसलिए बहुत से रोगियों पर इसना प्रयोग विना जोने विचारे किया गया, जिसका परिणाम कभी कभी अच्छा नहीं रहा है। हम ऐसे रोगियों को जानते हैं जिन्हें कई महीनों में आधा ग्रेन ऐल्कोलॉयड दिन में दो चार लेने की आदत पड़ गयी है। “कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रायिकल मेट्रिसिन” के दमा फजालय ( विलनिक ) में दमा के उपचार के लिए इसको प्रयोग में लाने का जो अनुभव मिला है वह सतोप्रद नहीं रहा है। इसमें भवेह नहीं कि १५ मिनट से लाप्त घण्टे के अन्दर यह उद्देश्य को नियन्त्रण में ला देता है, किन्तु इससे अश्विकर अनुपगी प्रभाव ( side effect ) पड़ने की मशावना रहती है। इससे कुछ रोगियों को हृदप्रदेश में १० से २० मिनट तक तीव्र बेदना हुई। इस भेपज का सेवन करनेवाले अनेक रोगियों के हृदयावरण ( pericardium ) में कट्ट होने की अनुभूति होती है, जो वाहिकाप्रेरक ( vaso-motor ) तन्त्रिका-शिराभो के उद्दीप्त हो जाने से पैदा हुए अतिरक्तदाव ( hypertension ) के कारण होता है। कुछ रोगियों को घडकन होने लगती है, त्वचा में सम्प्रवाह ( flushing ) हो जाता है और हाथ पैर की ओंगुलियों में झुनझुनी और सुप्रता भालूम पड़ती है। इससे हृद-सिप्रता ( tachycardia ) आ सकती है तथा बहोशी के दोरे भी आ सकते हैं। जिन रोगियों को त्वक्शोथ की तकलीफ रहती है,

उनमें इसके मेवन के पश्चात् इस प्रकोप में प्राय वृद्धि आ जाती है और शात रोगियों में तीव्रता से सक्रियता आ जाती है। हृद-रोग, विशेषकर हृदपेशी के रोग से पीड़ित रोगियों में यह हृदक्षति-अपूर्ति (cardiac decompensation) उत्पन्न करता है जिसका कारण सम्भवत यह होता है कि इस भेषज का अधिक मात्रा में सेवन करने से हृदपेशी पर अवसादक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, अनुकम्पी तत्रिका पर इस ऐल्केलॉयड का जो उद्दीपक प्रभाव पड़ता है उससे स्थायी कोष्ठवद्धता उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, जो कई प्रकार के दमा रोगों को बढ़ा देता है। बहुधा क्षुधा जाती रहती है और साथ ही साथ पाचन सम्बन्धी विकार पैदा हो जाते हैं। इस भेषज का व्यवहार दीर्घकाल तक अभी नहीं हो पाया है कि इसके अहितकर विषालु प्रभावों की पूरी जानकारी हमें मिल जाय, किन्तु इसका अहितकर और विषालु प्रभाव पड़ता अवश्य है। इसलिए इसके प्रयोग में सावधानी बरतने की आवश्यकता है, विशेषकर उस दशा में, जब ऐसे रोगों के उपचार के लिए लम्बी अवधि तक इसका प्रयोग करना हो। इससे जो शमन होता है वह बहुधा अल्प-कालिक होता है और इस भेषज का पुन सेवन कराने का प्रलोभन हो जाता है। इसलिए रोग के कारण की पूरी जानकारी किये बिना, दमा प्रवेग को नियन्त्रण में लाने के लिए इस भेषज का नैत्यक (routine) प्रयोग ठीक नहीं है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि स्यूडो-एफेड्रीन का दाववर्धी (pressor) प्रभाव एफेड्रीन की अपेक्षा बहुत कम सशक्त होता है किन्तु इसका श्वसनिका-विस्फारक प्रभाव एफेड्रीन जैसा ही होता है। फुफ्फुसी धमनी की शाखाओं में सक्रोचन आने से श्लेष्मल कला की उच्छ्वसनता (turgescence) में शमन आ जाता है। इस शमन से तथा श्वसनिकाथों में विस्फारण हो जाने से दमा के प्रवेग को शमित करने में सहायता मिलती है। इस तरह के रोगियों के उपचार के लिए हमने स्यूडो-एफेड्रीन का प्रयोग किया है और परिणाम अच्छे रहे हैं। इस ऐल्केलॉयड का आधा प्रेन की मात्रा में मौखिक सेवन कराने के बाद १५ से ३० मिनट के अन्दर वस-सक्रोच की तकलीफ दूर हो जाती है और रोगी की श्वसन क्रिया सामान्य दशा में आ जाती है। आक्रमण का आभास मिलते ही इतनी ही मात्रा में यदि इसका सेवन कर लिया जाय तो (दमा का) प्रवेग रुक जाता है। वस्तुतः इसका उतना ही द्रुत प्रभाव पड़ता है जितना कि एफेड्रीन का। यद्यपि हमने काफी बड़े पैमाने पर और लम्बी अवधि तक इसका प्रयोग नहीं किया है, किन्तु अंत तक जो परिणाम प्राप्त हुए हैं वे उत्साहवर्धक रहे हैं और इससे पैदा होनेवाले अनुषगी प्रभाव (side effect) दुखप्रद नहीं होते। दमा एवं अन्य व्याधियों के उपचार के लिए,

जिनमे एफेड्डीन को व्यवहार मे लाया जा रहा है, यदि स्पूडो-एफेड्डीन का प्रयोग किया जाय तो इससे न केवल उपचार-व्यय मे ही कमी आ जायगी, बल्कि एफेड्डीन के अनुपगी प्रभावो से भी बचा जा सकेगा।

**भारतीय एफेड्डा से तैयार किया गया एल्कोहॉलीसार अथवा टिक्चर।—** एफेड्डा जिराडिआना और एफेड्डा इण्टरमीडिया से तैयार किया गया एक ऐल्कोहॉली सार, जिसका व्यवहार चिकित्सा क्षेत्र मे प्रस्तुत ग्रथकार ने सबसे पहले किया था, अब कई वर्षों से व्यवहृत हो रहा है। पादप की सूखी टहनियो के चूर्ण को १० प्रतिशत ऐल्कोहॉल से निस्सारित करके और फिर काफी जल उसमे मिलाकर ताकि ऐल्कोहॉल की शक्ति ४५ प्रतिशत हो जाय, यह सार तैयार किया जाता है। ५-० घन सेमी० सार मे कुल ऐल्कोहॉल आधा ग्रैन की मात्रा मे होनी चाहिये। इस सार की स्वतंत्र रूप से या दमा-मिवसचरो के साथ मिलाकर सेवन कराया जा सकता है। यह दमा के प्रवेग को नियंत्रित करने मे वडा प्रभावी होता है। यह शुद्ध ऐल्कोहॉलो की अपेक्षा कही सस्ता पड़ता है, जिससे इस भेपज का उपयोग नरीवो के लिए सुगम हो जाता है। एक कम सशक्त टिक्चर भी आजकल बाजार मे उपलब्ध है।

**एफेड्डीन तथा स्पूडो-एफेड्डीन का हृदयोदीपक प्रभाव —**इन ऐल्कोहॉलो का रक्तदाव पर जो उद्दीपक प्रभाव पड़ता है वह सुविदित है और इस कारण हृदयोदीपक के रूप मे इनको व्यवहृत किया गया है। हम वत्ता चुके हैं कि एफेड्डीन, विशेष करके वही मात्राओं मे देने मे हृदयपेशियो पर अवसादक प्रभाव डालता है, इसके प्रतिकूल स्पूडोए फेड्डीन हृदपेशी पर उद्दीपक प्रभाव डालता है, वाहिकप्रेरक तन्त्रिका अन्तो पर प्रभाव डानने के अतिरिक्त, स्पूडो-एफेड्डीन घमनिकाओ के पेशी तन्तुओ को भी उद्दीप्त करता है। प्रस्तुत ग्रथ के चरिष्ट लेखक ने एफेड्डा के एक सार का जिसमे एफेड्डीन और स्पूडो-एफेड्डीन दोनो ही थे (अधिक मात्रा स्पूडो-एफेड्डीन की थी) हृदयोदीपक के रूप मे प्रयोग किया है और परिणाम बड़े उत्साहवर्धक रहे हैं। ऐसे रोगियो को (सार) देने पर जिनकी हृदक्रिया दुर्बल थी और सम्पूर्ति (compensation) नही हो पा रही थी, सुन्पष्ट लाभकर प्रभाव पड़ा। कई रोगियो पर इसके प्रयोग के अन्वेषण से यह पता चला कि दिन मे दो या तीन बार १/२ से १ ड्राम की मात्रा मे इसका सेवन कराने पर रक्त-दाव मे १०-२० मिमी (पारा) की निश्चित वृद्धि हुई। ऐसे रोगियो मे जिनके नृक की किया मे अपर्याप्त रक्तप्रवाह के कारण विकार उत्पन्न हो गया था, विशेष मूत्रलता आयी।

**जानपदिक जलशोफ (एपिडेमिक ड्रॉप्सी)** —जैसा कि सुविदित है, इस (जलशोफ) में हृदय गम्भीर रूप से ग्रस्त हो जाता है और इससे कष्ट श्वास (dyspnea), घटकन, पुरोहृदवेदना (Precordial pain), तथा हृद-दमा के लक्षण पैदा हो जाते हैं। रोग का आरम्भ होते ही हृदयस्पन्द की गति बढ़ जाती है। हृदयाग्र स्पन्दन की आरम्भिक ध्वनि अत्यधिकारिक और तीव्र होती है और बाद में कुठित हो जाती है। बहुधा पहली ध्वनि द्विगुणित हो जाती है। बाद में हृदयाग्र पर, हृदयविस्फारण के कारण जिससे भाइट्रॉल अक्षतमता (mistral incompetence) उत्पन्न हो जाती है, एक प्रकुचन मर्मर (systolic murmur) विद्यमान रह सकता है और कभी कभी फुफ्फुसी आधार पर एक रक्तज मर्मर (haemic murmur) भी सुनाई देती है। एक प्रकुचनपूर्व (presystolic) मर्मर सुनाई दे सकता है। ऐसी दशाओं में डिजिटैलिस सतोप्रद परिणाम नहीं देता, वस्तुत कुछ रोगियों की दशा और भी खराब हो जाती है और कई हृदयोदीपक भेषज अप्रभावी सिद्ध हुए। बाम हृदपात्र (heart failure) होने पर एफेङ्गा का टिक्कर बड़ा प्रभावी सिद्ध हुआ। इससे रोगी को आराम मिला और रोग के लक्षण जाते रहे।

**अन्य हृद-विकार** —हृदय की विषालु स्थितियों में जो न्युमोनिया, डिफ्यूरिया आदि के सक्रमण से उत्पन्न हो जाती है, एफेङ्गा का टिक्कर एक उत्कृष्ट हृदयोदीपक है।

### सन्दर्भ :-

- (1) Chopra et al , 1928, *Ind Jour Med Res* , 15, 889, (2) Chopra and Datt, 1930, *Ind Jour Med Res* , 17, 647, (3) Chopra and Basu, 1930, *Ind Med Gaz*, 65, 546, (4) Krishna and Ghose, 1931, *Ind For Rec*.
- (5) Chopra, Krishna and Ghose, 1931, *Ind Jour Med Res* , 19, 177,
- (6) Vere Hodge, 1931, *Ind Med Gaz* , 66, 629, (7) *Wealth of India, Raw Materials* 1952, III, 177, (8) Hooker, J D , *Flora of British India*, V 640, 863, (9) Ghose, 1938, *Jour Ind Chem Soc* , (Industr Edn ) I, 143, (10) *Indian Pharmacopocial List*, 1946, (11) *United States Dispensatory*, 24th Edn , 1947, (12) *The British Pharmaceutical Codex*, 1934, (13) Singh, 1950, *Ind For* , 76, 288, (14) Ghose and Krishna, 1943, *Ind For leaflet No 48*

## एरिथ्रोक्सिलम कोका

Erythroxylum coca Lam, (Erythroxylaceae)

कोका, कोकेन पादप

इस पौधे से प्राप्त ऐल्केलॉयड कोकेन चिकित्सा में अत्यधिक मूल्यवान है। यह पौधा ६ से ८ फुट तक ऊँचा होता है। पत्तिया हल्के हरे रंग की, पतली अपारदर्शी, अण्डाकार होती है और दोनों सिरों पर कमशा पतली हो जाती है। गर्म एवं आद्रे क्षेत्र में यह खूब पनपता है, किन्तु औपधीय प्रयोजनों के लिए, शुष्कतर प्रदेश के पादपों की पत्तियाँ तर्वाधिक पसन्द बीं जाती हैं। इस पौधे का मूल आवास दक्षिणी अमेरिका है, किन्तु इसे वेस्टइंडीज, भारत वर्ष, श्रीलंका, जावा तथा अन्य स्थानों में भी उगाया जा सकता है। इसकी पत्तियों की रचना बड़ी ही अस्थिर होती है और अलग अलग पत्तियों के नमूनों में अन्तर रहता है। इसकी पत्तियों में ०.१५ से ०.४५ प्रतिशत बोदेन रहता है जो तर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐल्केलॉयड है, और इसके साथ ही अन्य ऐल्केलॉयड जैसे सिन्नामिल कोकेन, अफ्का-ट्रिक्सिलीन, वीटा-ट्रिक्सिलीन, देन्व्हॉयल-एक्गोनीन, दोपा कोकेन, हाइग्रीन, कस्कोहाइग्रीन आदि रहते हैं। इन नवको सामूहिक दृष्टि से 'कोकेन' कहा जा सकता है और ये सभी एक्गोनीन के व्युत्पन्न हैं। पत्तियों में कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा ०.५ से १.५ प्रतिशत तक होती है, किन्तु जावा की पत्तियों में इससे अधिक ( १०-२०% प्रतिशत ) ऐल्केलॉयड मिला है। कुल ऐल्केलॉयड में कोकेन का अनुपात विभिन्न वाणिजिक किस्मों में भिन्न-भिन्न होता है। वोलिवियन पादपों की पत्तियों की अपेक्षा, ट्रिविसलो, पेर के और जावा के पादपों की पत्तियों में कुल ऐल्केलॉयड अधिक होता है, किन्तु कोकेन का अनुपात कुल ऐल्केलॉयड का ५० प्रतिशत बताया जाता है, जबकि वोलिवियन पत्तियों में यह ७०-८० प्रतिशत होता है। भारत में परीच्छात्मक छग पर उगाये गये कोका की पत्तियों में ०.४०-०.८ प्रतिशत ऐल्केलॉयड, मुर्यत कोकेन पाया जाता है। एरिथ्रोक्सिलम कोका की छाल और बीजों में भी कोकेन पाया जाता है। भण्डारण में सूखी पत्तियों के ऐल्केलॉयड की मात्रा कम हो जाती है और लगभग सात महीने में यह विलकुल समाप्त हो जाती है। इसलिए पत्तियों से कुल ऐल्केलॉयड निकाल लिया जाता है और फिर कोकेन निकालने के लिए अपरिच्छित उत्पाद को ही काम में लाया जाता है। अधिकांश वाणिजिक कोकेन सीधा पत्तियों से नहीं निकाला जाता है किन्तु एक्गोनीन से, जो पत्तियों में चिद्यमान रहने वाले गोण ऐल्केलॉयडों का जल-अपघटन करके प्राप्त किया जाता है। फिर एवगोनीन को अभिजात विधियों द्वारा मेथिलीकरण और

वेल्जॉयलीकरण करके कोकेन बना लेते हैं। इस कारण कोका की पत्तियों के कुल एक गोनीन का आकलन वाणिज्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कोका की पत्तियों में ऐल्केलॉयडो के अतिरिक्त, ००६-०१३ प्रतिशत एक वाष्पशील तेल होता है जिसका मुख्य सघटन मेथिल सैलिसिलेट होता है। पत्तियों से एक रजक द्रव्य कोका सिट्रिन (Coca citrin) भी अलग किया गया है।

सबेदनाहारी (anacanthic) भेषज के रूप में इसकी खोज होने के बाद यूरोप में कोका की पत्तियों की माँग बड़ी तेजी से बढ़ गयी और व्यापक पैमाने पर इसकी खेती के प्रयास किये गये। भारतवर्ष में चिकित्सा क्षेत्र में ऐल्केलॉयड कोकेन का उपयोग बहुत बड़ी मात्रा में होता है। आयातित भेषजों एवं औषधियों की सारणी (दो) पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जायगा कि आयात होने वाले कोकेन की मात्रा किस प्रकार क्रमशः बढ़ती जा रही है। भारत में पर्याप्त मात्रा में कोकेन का आयात होता है, मुख्यतः यूनाइटेड किंगडम एवं जर्मनी से। जर्मनी से होने वाला आयात १९४०-४१ ई० से बन्द हो गया। १९३४-३५ ई० में भारत ने ८२३६ औंस कोकेन मँगाया था। १९४२-४३ ई० में यह आयात घट कर २९३ औंस हो गया, किन्तु इसके बाद के वर्षों में पुनः बढ़ गया और १९४६-४७ ई० में अधिकतम परिमाण १३,०९७ औंस पर पहुँच गया। १९४७-४८ ई० में यह बहुत कम आयात हुआ।

एरिथ्रोकिसलम कोका की खेती इस देश में विस्तृत पैमाने पर कभी नहीं की गयी है। कुछ वर्ष पूर्व (१९२६ ई०) भारत के दैनिक अग्रेजों समाचार पत्रों में कहा गया था कि कोकेन-युक्त एरिथ्रोकिसलम कोका सारे देश में बन्ध अवस्था में इतना उत्पन्न होता है, कि यहाँ के लोग कोका की पत्तियों को चवाने की आदत पकड़ते जा रहे हैं, और यहाँ कोकेन-निर्माण के गुप्त कारखाने होते। उक्त मतव्य के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि इस भेषज की बहुत बड़ी मात्रा रेल गाड़ियों में पकड़ी गयी थी, और कोकेन सेवन की आदत बड़ी शीघ्रता से फैलती जा रही है और इसके स्रोत का पता कि कहाँ से कोकेन आता है कोई भी नहीं लगा सका है। अफ्रीम एवं अन्य हानिकर भेषजों के अवैध व्यापार के बारे में बनी राष्ट्र-संघ की मंत्रणा समिति (Advisory committee of League of Nations) में, १९२५ ई० में कोका पादप की अवैध कृषि की बात भी कही गयी थी। उस समय भारत सरकार द्वारा गहरी जाच पड़ताल की गयी थी और इस सबध में अधिकारियों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों की सम्पूष्टि करने की स्थिति में अब हम आ गये हैं। भारत में न तो एरिथ्रोकिसलम कोका की और न किसी अन्य पादप की जिससे कोकेन प्राप्त किया जा

सके, खेती की जाती है, यदा कदा केवल एरिथ्रोविस्लम कोका शोभा-पादप के रूप में अम्बई के उद्यानों में लगाया जाता है और इसके कुछ नमूने कलकत्ता, मद्रास एवं कल्लर (मद्रास प्रात) के राजकीय बोटाँनिकल गार्डेनों से पाये जाते हैं। इस प्रकार, एरिथ्रोविस्लम कोका तारे तरे में दब अवस्था में पैदा होने की वात तो दूर रही, यह भारत में कहीं भी वन्य अवस्था में उगता हुआ नहीं पाया जाता है। कुछ घोड़े से पौधे नीलगिरि के कुछ स्थानों में पाये गये थे, जो सम्भवतः १८८५ ई० में किये गये परीक्षण के अवशेष थे, किन्तु इनमें कोकेन नहीं के बराबर या बिलकुल ही नहीं था। कोकेन-निर्माण की विधा एक बड़ी तकनीकी प्रक्रम है, अतः इस वात पर कि भारत में गुप्त रूप ने कोकेन निर्माण होता है, विश्वास करने का कोई आधार नहीं है, और जैसा आगे के पृष्ठों में दिखाया जायगा, भारत में पकड़े गये अवैध कोकेन स्रोत के बारे में कोई रहस्य नहीं है। नि स्सदेह, इसका औद्योगिक निर्माण भारत के बाहर कुछ देशों में किया जाता है।

भारत में इसकी परीक्षणात्मक खेती गत् प्रातान्दी के अत में, मद्रास, मैसूर, बबई, बगाल, आसाम और छोटा नागपुर में की गयी थी, किन्तु वाणिज्य की दृष्टि से असफल रही। यह अब यदाकदा उद्यानों में शोभा-पादप के रूप में पाया जाता है। कोका तथा इसके ऐल्कोलाईट धातवा भैंज अधिनियम, १९३० ई० (Dangerous Drugs Act, 1930) एवं इस अधिनियम के अधीन भारत सरकार द्वारा बताये गये नियमों के अन्वर्गत आती है। कोकेन उत्पादन के लिए कोका की खेती वर्जित कर दी गयी है और कोका ऐल्कोलाईट का नियांति, निर्माण एवं विक्रय सरकारी नियन्त्रण के अधीत लाइसेंस द्वारा होता है। एरिथ्रोविस्लम कोका के लिए जार्ड्न वातावरण एवं समरूप से वितरित वृष्टि चाहिये, जो ७५-८० इच्च वार्षिक से कम न हो, तथा ५९°-६८° F. के बीच का तापमान चाहिये। भली-भाति जलोत्सारित दुमट मिट्टी में जो झूमस से समृद्ध हो, यह खूब पनपता है। यह पौधा समुद्र की सतह पर उपर्युक्त जगहों से खूब पैदा होता है, किन्तु पहाड़ियों के निचले ढालों पर पैदा होने वाले पादपों की पत्तियाँ ऐल्कोलाईट में सम्पन्न होती हैं। कर्तन द्वारा इसे प्रजनित किया जा सकता है, किन्तु बागान लगाने के लिए बीज के पौधे रोपणियों (germinalies) में तैयार किये जाते हैं और ८-१० इच्च ऊँचा हो जाने पर या १२-१६ महीने का हो जाने पर खेती में ६-६ फुट की दूरी पर प्रतिरोधित किये जाते हैं। पौधे जब १-३ वर्ष के हो जाते हैं तब पत्तियों की पहली फसल एकत्रित की जाती है। बेवल कड़ी परिपक्व पत्तियाँ ही, जो कि झुकाने से टूट जाती हैं, सगृहीत की जाती

है। तरुण पत्तियों में सिशामिल कोकेन बहुतायत से पाया जाता है और परिषकव पत्तियों में उसकी जगह कोकेन या ट्रूक्सिलीन ले लेता है। वर्ष भर में पत्तियों का सचयन ३-४ बार किया जाता है। उन्हें तुरत, और यदि सभव हुआ तो एक ही दिन में सुखा लिया जाता है। सूखी पत्तियों की प्रति एकड़ वार्षिक उपज १,५००-२,००० पौण्ड बतायी जाती है। यद्यपि कोका के पादप ४०-४५ वर्ष या इससे भी अधिक जीवित रहते हैं, किन्तु पत्तियों की उपज प्रथम कुछ वर्षों के बाद से घट जाती है शीर लगभग २० वर्ष के बाद पौधा फिर लगाना पड़ता है।

एरिथ्रॉकिसलम की जातियों और एरिथ्रॉकिसलम कोका की विभिन्न वैराष्ट्री जिससे वाणिज्योपयोगी भेषज उपलब्ध होता है, पर लिखित लेख कुछ अमात्मक हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि भेषज प्रदायक सभी पौधे एरिथ्रॉकिसलम कोका के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वैराष्ट्री हैं, जब कि दूसरे लोग कहते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में इस भेषज के स्रोत विभिन्न स्पीशीज हैं। सुझात वाणिज्योपयोगी टाइप है; (१) ह्वानुको अथवा बोलिवियन कोका—एरिथ्रॉकिसलम कोका (*E. coca Lam.*) का प्ररूपी, (२) ट्रूक्सिलो कोका जो एरिथ्रॉकिसलम ट्रूक्सिलेंस (*E. truxillense Rusby*) से प्राप्त किया जाता है और (३) पेरुवियनकोका जो एरिथ्रॉकिसलम नोवोग्रैनाटेस—(*E. norogrammatense Hieron.*) से प्राप्त किया जाता है। ट्रूक्सिलो और पेरुवियन कोका, पत्तियों के आकार, प्रकार एवं बनावट में ह्वानुको कोका से भिन्न होते हैं। जावा एवं एशियाई देशों में जिस टाइप की खेती की जाती है वे सामान्यतया एरिथ्रॉकिसलम नोवोग्रैनाटेस हैं। इसके बारे में कहा जाता है कि इस पर असली एरिथ्रॉकिसलम कोका की अपेक्षा ताप वैभिन्न्य का प्रभाव कम होता है, और गर्म-आर्द्ध ऊण-कटिबन्ध अधिक अनुकूल होता है।

एरिथ्रॉकिसलम कोका का सुखाभास के लिए उपयोग —सुखाभास के लिए कोका की पत्तियों का उपयोग कई शताब्दी पूर्व दक्षिणी अमेरिका में प्रारम्भ हुआ। पेरु और बोलिविया के निवासियों का कोका की पत्तियों का व्यासनी होना १५ वीं शताब्दी से जात था। अत्यधिक शारीरिक श्रम के समय जैसे लम्बी एवं श्रमसाध्य पर्वती यात्रा के समय वे पत्तियों को चढ़ा लिया करते थे, क्योंकि ऐसा करने से वे ताजगी और स्फूर्ति का अनुभव करते थे। पत्तियों का सेवन प्रायः किसी पौधों के भस्म के माथ या कुछ चूना मिलाकर किया जाता था। चूर्णित पत्तियाँ फ्लास्क के आकार वाली तुम्बियों में रखी जाती थीं, और किसी सूई से थोड़ी मात्रा में निकाल ली जाती थी। सूई की नोक को पहले मुँह में रखकर गीला कर लिया जाता था।

इन पत्तियों से अनेकों अन्य पदार्थ भी तैयार किये जाते थे जो जनता द्वारा व्यवहृत होते थे। वहाँ के बागानों एवं खानों के मालिक इसके उपयोग को और बढ़ावा दिया करते थे क्योंकि इसके प्रभाव से श्रमिकों से वे ज्यादा काम करवा सकते थे।

यद्यपि ऐल्केलॉयड कोकेन का शोध १८५९-६० ई० में हो गया था, किन्तु औषधीय दृष्टिकोण से इसका महत्व १८८४ ई० में अधिक बढ़ा और इसी समय से दक्षिणी अमेरिका से सूखी पत्तियों का निर्यात आरम्भ हुआ। परिवहन व्यय कम करने की दृष्टि से १८९० ई० के लगभग पेर्स में कारखाने चलाये गये जिनमें विश्व के अन्य भागों से निर्यात करने के लिए अपरिष्कृत कोकेन तैयार किया जाता था। सन् १८९० ई० में १७३० किलोग्राम अपरिष्कृत ऐल्केलॉयड निर्यात किया गया था और १९०१ ई० में यह मात्रा बढ़ कर १०,६०० किलोग्राम हो गयी। इस प्रकार पत्तियों का स्थान ऐल्केलॉयड ने ले लिया और इससे उत्पन्न प्रभाव का ज्ञान सासार के अन्य भागों में भी फैल गया। १८९० ई० और १९०० ई० के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका में सुखाभास के लिए कोकेन का उपयोग व्यापक पैमाने पर प्रारम्भ हुआ और इसका पता यूरोप, भारतवर्ष एवं चीन को भी लगाने लगा। उस समय यह समझा गया की कोकेन का प्रयोग करने से मार्फिया और मदिरा पान का व्यसन दूर हो जाता है। परिणामतः इन स्थितियों के इलाज में चिकित्सकों ने इसका उपयोग खुलकर करना शुरू किया पर दुर्भाग्य की वात यह हुई कि मार्फिया का व्यसन दूर करने की वात तो अलग रही, इसने अनेकों रोगियों में मार्फिनो-कोकेन का व्यसन पैदा कर दिया।

स्थानिक सबेदनाहरण के लिए इस भेषज के सफल प्रयोग की प्रशंसा चिकित्सकों द्वारा क्रमशः अधिकाधिक की जाने लगी, जिससे ऐल्केलॉयड की मांग इस हृद तक बढ़ी कि सश्लेषण विधि से इसका निर्माण किया जाना उपयुक्त समझा गया। किन्तु पत्तियों से ऐल्केलॉयड तैयार करना बहुत आसान और सम्भात होता है और इसलिए जावा एवं अन्य स्थानों में इसके बड़े-बड़े बागान लगाये जाने लगे। इस प्रकार सासार दक्षिणी अमेरिका की निर्भरता से मुक्त हुआ और ऐल्केलॉयड का मूल्य अपेक्षाकृत कम हो गया। जावा से पत्तियाँ यूरोप, अमेरिका और जापान के कारखानों को भेजी जाती हैं और दक्षिणी अमेरिका का उत्पाद बाजार से विलकुल जाता रहा है। १९२२ ई० में १७ लाख किलोग्राम पत्तियाँ, जिनमें कोकेन की मात्रा १२ से १५ प्रतिशत थी, उस द्वीप (जावा) से निर्यात की गयी थी।

भारत में कोकेन सेवन की आदत —

१८९० ई० के लगभग यह अनुभव किया गया कि बगाल और विहार प्रात के कुछ भागों में कोकेन का उपयोग सुखाभास (यूफॉरिया) के लिए किया जा रहा था।

सबसे पहले इसके प्रयोग का अभिलेख भागलपुर जैसे छोटे शहर से मिला। इस कहानी का सम्बन्ध वहाँ के एक वडे जमीदार से है, जिसने इसका उपयोग दांत की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए किया था और फिर इसका आदी बन गया। उसपर इसका ऐसा असाधारण प्रभाव पड़ा कि वह इसके नियमित सेवन का आदी ही नहीं बन गया, अपितु कई अन्य लोगों को भी इसका व्यसनी बना दिया। उस समय ऐसा कहा गया कि कोकेन गुस्त रूप से पर्यास मात्रा में स्कूल के लड़कों, छात्रों, व्यापारियों और अच्छे वर्ग के व्यक्तियों को बेचा जाता था। उस समय ऐल्केलॉयड का मूल्य प्रति ड्राम ३ रुपया या प्रति ग्रैन लगभग एक आना था और प्राय आधे ग्रैन के पैकेट में यह सामान्य जनता को बेचा जाता था। उस समय इस भैषज के, बुरे प्रभाव को गृहस्थवर्ग एवं चिकित्सकों ने भलीभांति नहीं समझा और इसलिए इस हानिकार भैषज के विक्रय एवं उपयोग पर किसी प्रकार के प्रतिवन्ध नहीं लगाये गये।

कलकत्ते से लेकर भागलपुर तथा अन्य वडे शहरों में यह व्यसन इतनी तेजी से फैला और व्यसन करने वालों पर एतज्जन्य क्षति, अल्पकाल में ही, इतनी स्पष्ट हो गयी कि इस ओर चिकित्सकों एवं अधिकारियों का व्यान गये बिना नहीं रहा। आवकारी विभाग द्वारा इसके आयात एवं विक्रय को रोकने के लिए तुरंत कडे कदम उठाये गये। उस समय तक, दुर्भाग्यवश, दुर्व्यसन ने अपनी जड़ जमा ली थी और अनेक वडे शहर इससे प्रभावित हो चुके थे। यह दुर्व्यसन दो मुख्य मार्गों द्वारा उत्तरी भारत तक भी फैल गया था। इसने बनारस से होकर लखनऊ, रामपुर सहारनपुर और अम्बाला का एक रास्ता बनाया तथा इलाहाबाद से होते हुए कानपुर, आगरा, मेरठ और दिल्ली का दूसरा रास्ता बनाया। हमें विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि दिल्ली से यह व्यवसन १९०० ई० में काफी विस्सृत पैमाने पर था। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस शहर में यह एक चिकित्सक द्वारा फैला, जो इसे उद्दीपक एवं टांनिक के रूप में विनिहित ( प्रेस्क्राइव ) करता था। २० से २५ वर्ष पूर्व सहारनपुर में यह आम व्यवहार की चीज़ थी और वहाँ पर इसके फैलाने की जिम्मेदार एक प्रशिक्षित धात्री रही। उत्तर में इसके प्रसार की खोज करते हुए पाया गया कि यह पजाब में अमृतसर शहर तक फैला हुआ था जिसे शाल बेचने वाले सौदागरों ने फैलाया था, जिनका हमेशा कलकत्ता आना जाना लगा रहता था। यह व्यसन अमृतसर से लाहौर तक फैल गया। पेशावर भी इसके प्रभाव में आगया था क्योंकि इस शहर के बहुत अधिक निवासी फल-व्यापार के सम्बन्ध में बराबर कलकत्ते आया-जाया करते थे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रात के एक बहुत ही योग्य आवकारी अधिकारी

ने लेखक को विश्वास दिलाया कि पेशावर के लोग बहुत अधिक हृदयतक भारत मे चलने वाले अवैध व्यापार के लिए उत्तरदायी थे। पश्चिमोत्तर मीमा प्रान्त से होते हुए अधिक परिमाण में चरस ( कैनाविस सटाइवा से उपलब्ध रेजिन जो मध्य एशिया मे निर्मित होता था ) लाया जाता था और उसे अत्यधिक सस्ते मूल्य पर सीमाप्रान्तो मे बेच दिया जाता था। ये चीजें वम्बई एवं कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्रो मे उन सीमा-प्रान्त-वासियो द्वारा लायी जाती थीं और बहुत अधिक लाभ पर बेची जाती थी। इस व्यापार से अंजित धन को बन्दरगाहवाले शहरो ने चोरी से कोकेन में लगाया जाता था, फिर उसको भारत के विभिन्न भागो, स्वासकर उत्तर भारत के बड़े शहरो मे बेच दिया जाता था। ऐसा लगता है कि कोकेन के आयात एवं विक्रय पर प्रतिवन्ध लगा दिये जाने के कारण विगत कुछ वर्षो मे इसका व्यसन के लिए उपयोग घट गया है।

एल्केलॉयड के पृथक करने के पश्चात्, पाश्चात्य देशो मे इस भेपज के सेवन का प्रमुख तरीका इजेक्शन द्वारा था और इस सेवन विधि मे कठिनाई होने के कारण उस समय इस व्यसन का बहुत अधिक प्रसार नहीं हुआ। तदनन्तर शीघ्र ही सुधनी के रूप मे तथा मसूडो पर रण्ड कर इसके सेवन का सरल तरीका खोजा गया। फलत अमेरिका की नीप्रो जनता मे अत्यन्त शीघ्रता से इसका प्रसार हुआ। भारत-वर्ष मे इसके सेवन की सर्वाधिक सरल विधि पान मे खाने की है। यही कारण है कि इस भेपज के प्रति आसक्ति उन लोगों मे अधिक प्रचलित है, जो पान खाने के आदी होते हैं। जैसा ज्ञात है कि पान की पत्ती पर थोड़ा खंड ( कत्था ) एवं बुझा हुआ चूना थोड़ी सी सुपारी या कुछ मसाले-यथा, दालचीनी, इलायची, अदरख आदि भी रखे जाते हैं। इस भेपज को या तो मसाले मे मिलाकर पान मे लपेट कर दिया जाता है या कुछ व्यसनी इसे जिह्वा के अग्र भाग पर रख कर तुरत पान खाते हैं। जो लोग दीर्घकाल से इन भेपज के आदी हो गये होते हैं, वे प्राय कोकेन को जीभ पर रख कर विना पान के ही, थोड़े से चूने और कत्थे के साथ खा लेते हैं। कहा जाता है कि ऐसा करने से भेपज की क्रिया बढ़ जाती है और तज्जन्य प्रभाव प्रवलतर हो जाता है। धोल के रूप मे, इस भेपज का कभी कभी ही डाक्टर के नुस्खे के आधार पर उपयोग किया गया है। व्यसनी व्यक्ति धोल को धूँटधूँट करके धीरे धीरे पीता है और बीच बीच मे पान चबाता जाता है। मसूडो मे इसके रण्डने एवं सुधनी के रूप मे इसके सेवन की रीति आज भी इस देश मे अज्ञात है। इसके उपयोग का एक विचित्र तरीका है, जो कभी कदाचित् व्यबहार मे लाया जाता है,

खासकर वेश्याओं द्वारा, वह यह है कि कोकेन के घोल को धूश के द्वारा योनि में प्रविष्ट कराया जाता है। इससे व्यक्ति को स्थानीय संकुचन का अनुभव होता है और दैहिक प्रभाव तुरत प्रतीत होने लगता है। कहा जाता है कि इस तरह इसके लेने से रतिक्रिया की अवधि बढ़ जाती है।

### भारत में कोकेन-व्यसन का प्रसार :

भारत में कोकेन व्यसन का प्रसार इस समय किस सीमा तक फैला हुआ है, इसके बारे में ठीक ठीक कुछ कहना सम्भव नहीं। ट्यूक (१९१४ ई०) ने कहा था कि कोकेन सेवन की आदत गरीबों एवं अशिक्षितों तक ही सीमित नहीं है। भारत के अनेक प्रान्तों में अपने कार्य के सिलसिले में जो सूचना उपलब्ध हुई है उससे यह स्पष्ट है कि पहले कोकेन के सुखाभासी (यूफॉरिक) गुणों को केवल चिकित्सक वर्ग ही जानता था और फिर उनसे जन साधारण को भी इसके प्रभाव की जानकारी मिल गयी। क्योंकि पहले ऐलेलॉयड को रखने एवं विक्रय करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, इसलिए इसके सेवन की आदत एक वाणिज्य नगर से दूसरे तक शीघ्रता से फैल गयी। इसका कारण यह था कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में रेल का विस्तार हो जाने से द्रुत परिवहन की व्यवस्था बढ़ती जा रही थी। इस भेषज से उत्पन्न होने वाला उत्तेजक प्रभाव उन लोगों के लिए अत्यधिक आकर्षण का विषय रहा, जिन्हे इसके कुप्रभाव का ज्ञान नहीं था। इसके अतिरिक्त इस कुव्यवसाय से होने वाले प्रचुर लाभ ने इसके व्यापारियों को आकृष्ट किया, फलतः उन्होंने इसके प्रसार के लिए इसके उपयोग को लोकप्रिय बनाने हेतु तथा उसकी प्रशसा के लिए एजेंट रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार यह इतना प्रचलित हो गया कि नियन्त्रण लग जाने पर भी इसका प्रचार कम होने की जगह बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि भारत के बड़े शहरों के बहुतेरे निवासियों के लिए कोकेन एक सुविज्ञात वाणिज्य द्रव्य बन गया। लोग विश्वास करने लग गये थे कि यह कामोत्तेजक होता है, और बहुत लोगों ने तो इस उद्देश्य से इसका उपयोग भी प्रारम्भ कर दिया था। इसका तात्कालिक प्रभाव यह बताया जाता है कि इससे एक मधुर उत्तेजना और अत्यधिक सुख की अनुभूति मिलती है, भोजन की इच्छा घट जाती है और सेवनकर्ता को गहरी धक्कावट सहने की क्षमता मिलती है। अधिक काल तक सेवन करने से इसकी आदत पड़ जाती है जिससे शारीरिक एवं मानसिक ह्रास हो जाता है तथा मृत्यु तक हो जाया करती है। इसके प्रयोग के लिए अन्य आकर्षण यह है कि इसके सेवन से एक असाधारण प्रभाव उत्पन्न होता है (यद्यपि यह प्रभाव अस्थायी ही होता है) जिससे शारीरिक एवं

मानसिक थकावट शीघ्र ही दूर हो जाती है। जैसा कि हमने पहले ही कहा है, इसके व्यवहार का प्रसार कलकत्ता से बड़े बड़े शहरों में हो गया जो दोनों प्रमुख रेल मार्गों पर वसे हैं। उत्तर प्रदेश से होता हुआ पह भेषज पजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त एवं भारत के पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित आदिवासी क्षेत्र तक भी फैल गया। यह भेषज तरकर व्यापार द्वारा बम्बई भी ले जाया जाता था और उस और इसका प्रसार बम्बई प्रैसिडेंसी के अनेक बड़े शहरों यथा अहमदाबाद, और भैंध प्रदेश में फैल गया। हम अवगत हो चुके हैं कि कलकत्ता से बम्बई तक के जितवे बड़े-बड़े शहर ये इसके प्रभाव में आ गये थे, किन्तु जान्च लाइन पर पड़ने वाले बड़े शहर इस व्यसन से प्रभावित नहीं हुए या हुए भी तो एकाध ही। मद्रास ही भारत का वह भाग था जहाँ इस भेषज का विलकुल ही प्रचार नहीं हुआ।

१९३२ ई० में केवल कलकत्ता कस्टम ने ७,२०० औस पकड़ा था और अनुभवी एवं कुशल अधिकारियों का अनुमान था कि उस रास्ते से गये हुए समूचे माल का वह २ से ५ प्रतिशत अश था, इसके माने हैं कि लगभग २,००,००० से २,५०,००० औस कोकेन देश में तस्कर व्यापार द्वारा काया जाता था। दूसरे अधिकारियों ने हिसाब लगाया था कि १९२९ ई० में भारत के उपभोक्ताओं ने इस भेषज के लिए खुदरा व्यापारियों को २७० लाख ६४८ लाख और रुपये के बीच भुगतान किया। यह बहुत बड़ी धनराशि है। उक्त आंकड़े से कोई भी व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि कितने व्यक्ति इस भेषज के व्यसनी हो गये होंगे। २ से ३ ग्राम की दैनिक औसत मात्रा के हिसाब से भारत में सुखाभास के लिए कोकेन का सेवन करने वालों की संख्या अनुमानत २॥ से ५ लाख के बीच रही होगी। यह आंकड़ा बहुत कम है, क्योंकि चोरी से लाये हुए कोकेन में इस देश के व्यापारी बहुत अधिक अपयित्रण कर देते हैं। जापान, चीन एवं सुदूरपूर्व के देशों से भारत में चोरी से लाया गया एवं चुगी अधिकारियों द्वारा पकड़ा गया अवैध कोकेन औषधीय उपयोग का न होने के कारण नष्ट कर दिया जाता था। १९३३ ई० में सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने पकड़े गये कोकेन से वी पी कोकेन हाइड्रोक्लोराइड का उत्पादन करने एवं उसे रियायती दर पर मेडिकल स्टोर्स को सम्भरण करने का निर्णय किया। यह कार्य इस समय, सेन्ट्रल रेवेन्यूज लेबोरेटरी नयो दिल्ली द्वारा किया जा रहा है। जब तक की गयी कोकेन के उरियाण पर निर्भर करने के कारण यह कार्य नियमित रूप से नहीं बल्कि अश कालिक रूप से किया जाता है। सर्वाधिक मात्रा घोषित की गयी थी १९३७-३८ ई० में, जब कि

लगभग १२०२ औंस जब्त किये गये कोकेन से लगभग ८६० औंस वी० ची० कोकेन हाइड्रोक्लोराइड का उत्पादन हुआ था। जब्त किये गये कोकेन का सम्मरण हाल के वर्षों में कम हुआ है। भारत में अब चौरी से कोकेन का आना बन्द हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप अब कोकेन के व्यसन का लगभग अन्त हो गया है।

**कोकेन व्यसन का प्रभाव** .—चवा कर सेवन की जाने वाली कोका की पत्तियों के व्यसनात्मक उपयोग से उत्पन्न होने वाले विकार एवं प्रभाव तथा ऐल्केलॉयड कोकेन के व्यसनात्मक उपयोग से उत्पन्न विकार और प्रभाव एक जैसे नहीं होते। अफीम और मार्फीन में जो अन्तर होता है वही इनमें भी है। कोका की ताजी पत्तियों में सुगन्धित रेजिन तथा अन्य ऐल्केलॉयड जैसे डेक्स्ट्रोकोकेन आदि होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि पशु मार्फीन के आदी हो जाते हैं पर कोकेन के आदी नहीं होते, यद्यपि एक ऐसे बन्दर का उल्लेख किया गया है जो अनुकरण करते करते कोकेन खाने लगा था। मस्तिष्क पर कोकेन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। केवल एक इच्छेक्षण ही मस्तिष्क की क्रिया में अशान्ति पैदा कर सकता है, यथा मानसिक अव्यवस्था, भ्रम, विषाद जो कि एक दिन बाद लक्षित होता है और बहुधा सप्ताहों तथा महीनों तक बना रहता है। दीर्घकाल तक इसका अनुचित सेवन करने से अधिक भयावह लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। इससे क्षीणता, अतिशय कृष्णता, आचरण में शनै शनै परिवर्तन, औदासीन्य, विभ्रम और भैषज खाने की प्रबल इच्छा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इच्छा शक्ति क्षीण हो जाती है, निर्णय लेने की गति बन्द हो जाती है, कर्तव्यज्ञान का अभाव हो जाता है, स्वभाव में अस्थिरता आ जाती है, हठवादिता और विस्मृतशीलता आ जाती है, लिखने और बोलने में अस्पष्टता एवं अनिश्चितता की प्रवृत्ति आ जाती है तथा शारीरिक एवं बौद्धिक अस्थिरता आ जाती है। कर्तव्यपरायणता का स्थान उपेक्षा ले लेती है, सच्चे, मिथ्यावादी एवं अपराधी बन जाते हैं तथा समाजप्रिय व्यक्ति एकान्त-प्रिय बन जाते हैं। मस्तिष्क की क्रिया में इसका विनाशात्मक प्रभाव सुस्पष्ट हो जाता है। मानसिक दुर्बलता, झुझलाहट (चिढ़चिड़ापन) गलत निष्कर्ष, सद्देह अपने इर्द गिर्द के वातावरण के प्रति कटुता, किसी बात का गलत अर्थ लगाना, अनिद्रा, मतिभ्रम आदि विकार आ जाते हैं तथा त्वचा के नीचे साधारणत एक अस्वासाविक उत्तेजना मालूम पड़ने लगती है। अभाग मनुष्य दयनीय जीवन यापन करने लगता है और प्रति घटे उसे इस भैषज की एक खुराक की आवश्यकता हो जाती है। वह शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक दृष्टि से सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

## सन्दर्भ :—

- (1) Chopra R N and Chopra, G S, 1931, *Ird Jour Med Res*, 18 1013, (2) Lewin, L., 1931, *Polytechnic*, (3) *Wichtiges Kraut, Raw Materials* 1952, III, 199 (4) Buhler, et al, 1952, *Cd. Manufacts*, No 13 440 (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Plant Pathology*, 329, (6) Macmillan H F, 1946, *Tropical Planting and Gardening*, (7) Nicholls, H A. and Holland, J H, 1940, *A Text Book of Tropical Agriculture*; (8) Krishnam, S and Baidhwar, R L, 1947, *Jour Sci Industr Res*, 6 (5) Suppl 68.

## यूकेलिप्टस ग्लोबुलस (मिट्टीसी)

Eucalyptus globulus Labill. (Myrtaceae)

च्यू गम ट्री (Blue Gum Tree)

नाम—न०—कंपूर मरम

यूकेलिप्टस जीनम की ३०० ने अधिक जातियाँ हैं, जिनमे ने अधिकाण निर्माण-काठ (timber) के लिए भूत्यवान समझी जाती है। केवल २५ जातियाँ ऐसी हैं जिनसे वाणिज्योपयोगी यूकेलिप्टसतेल उपलब्ध होता है, उनमे से प्रमुख है—यूकेलिप्टन-नोटुलम, यूकेलिप्टम द्यूमोसा, (*E. diversa*) यूकेलिप्टस निथेरासिसान, (*E. siderophyllo*), यूकेलिप्टस त्यूकांपिसलांन, (*E. hemiphyll*), यूकेलिप्टस एलिओफोरा (*E. elaeophora*) आदि। आस्ट्रेलिया को यूकेलिप्टस का निवासस्थान कहा जा सकता है, स्योकि इसकी ७५ प्रतिशत पैदावार उरा महाद्वीप मे होती है। यूकेलिप्टन तेल इस वृक्ष की ताजी पत्तियो एव शाराखो से आसवित किया जाता है। वाणिज्य की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस तेल की बहुत बड़ी मात्रा का उपयोग साबुनी को सुगंधित बनाने एव खनिज सत्कारण को उसके अवस्क से पृथक करने मे किया जाता है। भोटर के इंधन के रूप मे इस तेल का परीक्षण प्रयोग किया जा चुका है। औपधि भेषज निर्माण मे इसका बहुत अधिक उपयोग होता है और इसके पूतिरोधी तथा नि सक्रामक गुण सर्वविदित हैं। यूकेलिप्टस-तेल के सघटको की भलीभांति जानकारी प्राप्त कर ली गयी है। वे निम्नलिखित ढग से चर्गीकृत किये जा सकते हैं —

(१) अॉक्साइड	...	उदाहरण स्वरूप—सिनिओल (यूकेलिप्टॉल)।
(२) ऐल्कोहॉल	..."	जिरैनिओल, यूडेस्मॉल, मेथिल ऐल्कोहॉल, टर्पिनिओल, आदि।
(३) ऐल्डहाइड	..	ब्यूटील्डहाइड, वैलेरिल्डहाइड, क्रिप्टल, सिट्रॉल, सिट्रोनेलाल, आदि।
(४) कीटोन	..."	पिपेरिटोन।
(५) फिनॉल	..."	टैस्मेनॉल, आॉस्ट्रैलॉल।
(६) एस्टर	..."	जिरैनिल ऐसिटेट, ब्यूटिल ब्यूटिरेट, आदि।
(७) टर्पिन	"	फिलैण्ड्रीन, लिमोनीन, आदि।
(८) सेस्विवटर्पिन	"	ऐरोमाइण्ड्रीन।
(९) बैंजीन हाइड्रोकार्बन	"	साइमीन।
(१०) सॉलिड हाइड्रोकार्बन	"	पैराफिन।
(११) मुक्त अम्ल	"	ऐसेटिक अम्ल, फॉर्मिक अम्ल।

इनमें सीनिओल (यूकेलिप्टॉल) औषधीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण सघटक है। अॉस्ट्रैलॉल तथा क्रिप्टाल भी सक्षम पूतिरोधी सिद्ध हो चुके हैं, जिनका कार्बोलिक अम्ल गुणाक (carbolic acid coefficient) क्रमशः १३ तथा १२·५ है, किन्तु पूतिरोधी रूप में इनका बहुत ही कम उपयोग होता है। निटिश भेषजकोश के अनुसार औषधीय उपयोग के यूकेलिप्टस में ५५ प्रतिशत से कम सीनिओल नहीं रहना चाहिये, जब कि अमरीकी भेषजकोश ७० प्रतिशत सीनिओल की अपेक्षा रखता है।

यूकेलिप्टस के वृक्ष भारत के देशज वृक्ष नहीं, किन्तु इसकी कई जातियाँ देश के विभिन्न भागों में उगायी जा रही हैं, विशेषत नीलगिरि में इससे उपलब्ध होने वाले उत्पादों के कारण यह वृक्ष बड़ा मूल्यवान है। वाष्पशील तेल, रजक द्रव्य, परिमल, किनो (kino-विखंदिर) सभी इसमें बड़े उपयोगी उत्पाद हैं और विश्व के विभिन्न भागों, जैसे—कैलिकोनिया, स्पेन, दक्षिणी अफ्रिका, अल्जीरिया, पूर्वी अफ्रिका, मारिशस, जावा एवं मलाया में इसकी खेती करने के लिए ७०-८० वर्षों से प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों में अधिकतर सफलता मिली है। अतः यह आवश्यक है कि परीक्षणों द्वारा यह पता लगाया जाय कि कौन सी जाति किस देश के अनुकूल है। इसका चुनाव करने पर बहुत कुछ निर्भर करता है। मलाया में यूकेलिप्टस

रोस्ट्राटा (*E. rostrata*) एवं यूकेलिप्टस सिट्रिओडोरा (*E. citridora*) खूब पैदा होते हैं, जब कि यूकेलिप्टस ग्लोबुलस वहाँ के लिए अनुपयुक्त पहता है।

भारत में परीक्षणात्मक कार्य . भारतवर्ष के विभिन्न भागों में विभिन्न जलवायु वाले समतल मैदानों एवं पहाड़ियों पर यूकेलिप्टस की खेती के लिए अतीत में पर्याप्त परीक्षणात्मक कार्य किया गया है। प्रारम्भिक परीक्षणों के बारे में बहुत कम अधिलेख मिलते हैं। अनेक प्रयत्नों के असफल होने का कारण यह बताया गया है कि आस्ट्रेलिया के ठण्डे प्रदेशों की जातियों (स्पीशीज) को भारतवर्ष के मैदानों में या पहाड़ियों पर उगाने की कोशिश की गयी जहाँ की जलवायु उनके लिए अनुपयुक्त थी। वीजों के गलत नामकरण, जातियों की गलत पहचान एवं आकड़ों के बारे में अपूर्ण अधिलेख रहने के कारण भी विभ्रम रहा है। फिर भी, परीक्षण के परिणाम बड़े रोचक और बड़े काम के हैं क्यों कि भविष्य में किये जाने परिक्षणों के लिए जाति के वरण में इनमें पथ-प्रदर्शन मिलता है। दूप, पार्कर एवं अन्य वैज्ञानिकों ने इन परिणामों की आलोचनात्मक परीक्षा की है जिससे विभिन्न ऊँचाइयों के लिए उपयुक्त जातियों का पता चल पाया है और इन जातियों को उगाने की कोशिश लाभप्रद सिद्ध हो सकती है।

(१) मैदानों में, और खास कर उत्तरी भारत के मैदानों में, सफल सिद्ध हुई जातियाँ यूकेलिप्टस मिलानोफ्लोइआ, यूकेलिप्टस माइक्रोथिका और यूकेलिप्टस पैटेन्टनर्विस।

(२) नीलगिरि और शिमला की पहाड़ियों पर सफल सिद्ध हुई जातियाँ . यूकेलिप्टस बाइकलर, यू० बॉट्रीओॉइडिस, यू० कॉर्नैटा, यूकेलिप्टस यूजेनिअॉइडिस, यू० फिसिफोलिआ, यू० गम्मिफेरा, यू० कोरिस्बोसा, यू० गुन्नाइ, यू० ल्यूकोजाइलैन, यू० लागिफोलिआ, यू० मेहेनाइ, यू० माइक्रोकोरिस, यू० आॉव्लिकुवा, यू० पिलुलैरिस, यू० पोलिएन्थेमास, यू० रेग्नाना, यू० रेजिनिफेरा, यू० सिडेरोजाइलैन, यू० स्टुअर्टिआना, यू० ट्राइएन्था, यू० विमिनैलिस।

(३) मैदानी एवं पहाड़ियों पर सफल सिद्ध हुई जातियाँ यू० कैमल्हुलेन्सिस, यू० सिट्रिओडोरा, यू० क्रेना. यू० हेमिप्लोइआ, यू० मेल्लिओडोरा, यू० मल्टिफ्लोरा, यू० पैनिकुलेटा, यू० पक्टेटा, यू० रुडिस, यू० सेलिग्ना, यू० सिडेरोप्लोइआ, यू० अस्बेलेटा।

(४) छोटे पैमाने पर अथवा शोभा के लिए उगायी जाने वाली जातियाँ यू० कैलोफिला, यू० कैपिटेलैटा, यू० सिनेरिआ, यू० डीब्ल्युटाटा, यू० डेर्ग्लूप्टा, यू० ड्रैपैनो-फिला, यू० एलिओफोरा, यू० एक्जिमिआ, यू० फीकण्डा, यू० गोम्फोसिफैला, यू० लिनि-

एरिस, यू० मैक्रोर्टिका, यू० मिनिएटा, यू० ओवेटा, यू० पौसिफ्लोरा, यू० टाइकोकार्पा, यू० पुल्वेरुलेटा, यू० रेडन्का, यू० सीबेरियाना, और यू० टोरेलिअना ।

(५) भारतीय जलवायु में निम्नलिखित जातियों की कृषि की सलाह दी गयी है ताकि उनकी उपयुक्तता का पता चले मैदानों में यू० ऐल्वा, यू० बॉर्एरियाना, यू० बोजिस्टोआना, यू० डिएनाइ, यू० पैटेन्स, यू० प्रोपिन्कुवा, यू० टर्मिनैलिस, यू० ट्रैकिफ्लोइबा, पहाड़ियो पर-यू० कलैडोकैलिक्स, यू० डाइव्स, यू० एक्सेटा, यू० मुएल्लेरिआना, यू० पिपेरिटा, और यू० प्लैन्कोनिआना ।

(६) निम्नलिखित जातियों को मैदानों में या पहाड़ियों पर उगाने का परीक्षण किया जा चुका है और किसी भी प्रकार की सफलता नहीं मिली—यू० अल्पाइना, यू० ऐन्ड्रूसाइ, यू० बेलीयाना, यू० कॉस्मोफिला, यू० डेसिपिएन्स, यू० डाइव्सिक्लर, यू० एरिथ्रोकोरिस, यू० एरिथ्रोनीमा, यू० जाइगैन्टिया, यू० गिल्फोयलाइ, यू० हीमैस्टोमा, यू० लेहमनाइ, यू० लिंडलेयाना, यू० मैकार्थराइ, यू० मैक्रैण्ड्रा, यू० मैक्रोकार्पा, यू० मार्जिनेटा, यू० आक्सडेन्टेलिस, यू० ओलिओसा, यू० प्लैटिप्स, यू० पापुलिफोलिआ, यू० साल्मोनोफ्लोइबा, यू० सैलुन्रिस, यू० स्मिथाइ, यू० स्टेल्लुलैटा, यू० अम्ना, यू० अर्निजेरा, और यू० विर्गेटा ।

कृषि : आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और रूस में इसकी कुछ जातियों की बाल-पर्णी टहनियों का कर्तन रोपकर, कार्यिक प्रजनन किया गया है । वहाँ इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिली है । प्रौढ़ पत्तियों वाले पादपों की कर्तनों में जड़े पैदा करने की विधियों का पता लगाने के प्रयत्न किये गये हैं । रोपणियों में बीज से उगाये गये पौधों को प्रतिरोपित करके यूकेलिप्टस को उगाने का सामान्य तरीका भारत वर्ष में अपनाया गया है । फरवरी, मार्च के महीने में ऐसी क्यारियों में, जिनकी मिट्टी दुमट और जिसमें खूब सड़ी हुई खाद मिलायी गयी हो, अथवा ४-५ इंच गहरे चपटे बक्सों में बीज बो दिये जाते हैं । जब पौधे २-४ इच लम्बे हो जाते हैं तो उन्हें २-३ इच की दूरी पर लगा दिया जाता है । दिन के मध्य में कुछ घण्टे तक इन्हें धूप से बचाना आवश्यक होता है । अधिक आर्द्धता के कारण पौधों के सड़ जाने का डर बना रहता है, अत चिचाई सीमित होनी चाहिये । नये पौधों को प्राय अलग-अलग टोकरियों में या वांस की नलिकाओं में रोप दिया जाता है और जब वे लगभग बारह इच ऊँचे हो जाते हैं तो निकाल कर तैयार किये गये गड्ढों में फिर से रोप दिया जाता है । पौधों को प्रतिरोपण योग्य बनाने में जो समय लगता है उसमें पौधों की जाति और जमीन की ऊँचाई के अनुसार अन्तर रहता है, इसलिए रोपणियों की

समयावलि मे सुविधानुसार अन्तर रखा जाता है ताकि प्रतिरोध का काम वर्षा के मौसम मे सम्पन किया जा सके। पजाब के मैदानी इलाको मे रोध के समय पौधो की खूब काट-छाँट करने का परीक्षण प्रयोग किया गया है, और युकेलिप्टस कैमाल्डु-लेन्सिस के बारे मे पूरी सफलता मिली है। ऐसा लगता है कि अनेक जातियो मे छोटाई का परीक्षण प्रयोग नहीं किया गया है। उन जातियो के पादपो को, जो खूब बढ़ते हैं, तथा सीधा तना बनाने की प्रवृत्ति रखते हैं, उर्वरा भूमि मे  $8\times 8$  फुट से  $12\times 12$  फुट की दूरी पर लगाया जाता है और जो पौधे घोरे-धीरे बढ़ते हैं, और जिनमे शाखाएँ नीचे ही निकलती हैं तथा भूमि सी कम उर्वर होती है, उन्हे नजादीक-नजदीक लगाया जाता है। छोटे पौधो की १-२ वर्ष तक तुपार (पाले) से रक्खा करनी चाहिये। पत्तियो के बीच की जमीन की प्रथम कुछ वर्षों तक प्रतिमास एक बार गुडाई कर दी जाती है, ताकि धास-पात न जमने पाये और ६ से १० वर्ष तक के पौधो मे विरलन आवश्यक होता है।

यूकेलिप्टस को साधारणत छाया सह्य नहीं है। इनकी जडे खूब फैलती हैं, और हवा मे ढूढ़ बने रहते हैं। बहुत सी जातियो मे काट-छाँट भली भाँति की जा सकती है। छोटे पादपो को, जिनकी छाल पतली होती है या क्षड़ जाती है, अग्नि से क्षति पाने का डर रहता है, किन्तु बडे पेड़, विशेष करके वे जिनकी छाल नहीं क्षडती, अग्नि-क्षति से अल्प प्रभावित होते हैं। अधिकाश जातियां अग्नि-क्षति से शीघ्र सम्भल जाने की क्षमता रखती हैं।

इस देश मे, इस तेल का आसवन लगभग ३० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और ऐसा अनुमान है कि लगभग २४,००० पौण्ड वार्षिक उत्पादन हो रहा है। नील-गिर के बागानो की पत्तियो से प्राप्त तेल का अध्ययन पूरणसिंह ने किया था। इसमे पाइनीन, सिनिओल, सेस्क्वीटर्पिन और मुक्त ऐल्कोहॉल कम परिमाण मे होता है, किन्तु आस्ट्रेलियाई तेल की भाँति इसमे न तो यूडेस्मॉल होता है और न ऐल्ड-हाइड होते हैं, फिल्झैन भी इसमे नहीं रहता। इस तेल का स्थिराक भी निश्चित कर दिया गया है। विशिष्ट घनत्व  $0.9065$  से  $0.9155$ , ध्रुवण धूर्णन  $+5^\circ$  से  $+10^\circ$ , अपर्वतनाक (Refractive Index)  $1.463$  से  $1.466$ , सावनी करण मान  $8.9$  से  $20$ , सिनिओल  $60$  प्रतिशत। यह तेल, वस्तुतः,  $70$  प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे अविलेय है, किन्तु  $80$  प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे  $1$  भाग से भी कम मे इसका विलयन हो जाता है। निरिंश भेषजकोश ( $1948$ ई०) ने अधोलिखित मानक स्वीकार किया है, विशिष्ट घनत्व  $0.910$  से  $0.930$ , ध्रुवण धूर्णन  $-5^\circ$  से  $+5^\circ$ ,

विलेयता ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ५ भाग में १ भाग, सीनिओल ७० प्रतिशत आयतन में। यूकेलिप्टस के वाष्पशील तेलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—( १ ) भेपजीय अथवा औपधीय तेता, ( २ ) औद्योगिक तेल, और ( ३ ) परिमल तेल। औपधीय तेलों का प्रमुख घटक रीनियोल है। तेल प्रमुख रूप से यूकेलिप्टस सिडेरॉमिसलॉन, यूकेलिप्टस ल्यूकॉमिसलॉन और यूकेलिप्टस एलिओफोरा, से प्राप्त किये जाते हैं, जिनमें से सभी भारत में उगाये जा चुके हैं। आस्ट्रेलिया में यूकेलिप्टस ग्लोबुलस को जिससे तेल कम निकलता है, औपधीय तेल के स्रोत के रूप में अब नहीं उपयोग में लाया जाता, यद्यपि भारत में यही एकमात्र जाति है जिससे वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए तेल का बासबन किया जाता है। फिलैट्रोन तथा पिपरिटोन औद्योगिक तेलों के प्रमुख घटक हैं जिनको पहले खनिजों को तैराने ( mineral floatation ) के लिए काम में लाया जाता था। आस्ट्रेलिया में ऐसे तेलों के लिए जिस जाति का विदोहन किया जाता है, वह यूकेलिप्टसडाइन्स है जिसका भारत में परीक्षण प्रयोग किया गया है। सशिलप्ट याइमॉल और मेन्यॉल के निर्माण के लिए उपयोग में लाये जाने वाले एल पिपरिटोन के स्रोत के रूप में अब यहाँ इसको बहुत महत्व मिल गया। परिमल के लिए ऐसे तेलों को काम में लाया जाता है जिनमें टर्पिनियॉल, सिन्ट्रोनेलाल, जिरैनिल एसिटेट और थूडेस्मॉल अधिक रहते हैं। यूकेलिप्टस सिट्रियोडोरा का जिसमें सिट्रोनेलाल रहता है, भारत में सुगन्धित तेलों के लिए सीमित पैमाने पर विदोहन किया जाता है।

भारतीय तेल के गुणों को दी पी के माप दण्डों से तुलना करने पर किसी को भी इसका विश्वास हो जायगा कि भारतीय तेल औषधकोशीय अपेक्षाओं को प्रायः पूरा करते हैं और औपधीय प्रयोजनों के लिए उनका उपयोग विना किसी सशय के किया जा सकता है। वस्तुतः नीलगिरि के वगानों से जितना तेल तैयार होता है वह सब गर्वन्मेट मेडिकल स्टोर, मद्रास को बेचा जाता है और अधिकारियों को कभी कोई कारण नहीं मिला है कि उसमें दोष निकालें। दुर्भाग्य की वात है कि हिन्दुस्तान में उगने वाली यूकेलिप्टस की सभी जातियाँ उस तरह की बहुमूल्य नहीं सिद्ध हुई हैं जिस तरह की यूकेलिप्टस ग्लोबुलस, जिसका प्ररूप वर्णन ऊपर किया गया है। देहरादून में उगने वाले दो जाति के यूकेलिप्टस की परीक्षा घोप द्वारा १९१९ ई० में की जा चुकी है। यूकेलिप्टस टेरिटीकॉर्नस ( यूकेलिप्टस अम्बेलेटा ) से मिलने वाले तेल की मात्रा करीब ०.६६ प्रतिशत थी जो ताजी पत्तियों से मिलता था और फैलैट्रोन की मात्रा करीब ०.४६ प्रतिशत थी जो ताजी पत्तियों से मिलता था। केवल १०४ प्रतिशत। रहत था। उसमें सीनिओल की मात्रा बहुत कम होती थी, केवल १०४ प्रतिशत।

इसके प्रतिकूल यूकेलिप्टस क्रोना से मिलने वाला तेल सिनिओल या फिलैण्ड्रीन से सर्वथा मुक्त पाया गया। इनमे सिनिओल के न होने से या अस्वाभाविक रूप से कम मात्रा मे होने के कारण इन तेलों का उपयोग औषधीय प्रयोजनों के लिए नहीं किया जा सकता। इसलिए यह जरूरी है कि समुचित जाति के यूकेलिप्टस की खेती की जाय और ऐसा किया जाय तो इस उद्यम के सफल होने का पूरा भरोसा है। फिर भी यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि भारतीय यूकेलिप्टस के उत्पाद आस्ट्रेलियाई यूकेलिप्टस के उत्पादों से व्यापार मे मुकावला कर सकेंगे। आस्ट्रेलिया मे भूमि और जलवायु सबधी स्थितियां विशेष रूप से उसके लिए अनुकूल पड़ती हैं और फिर आस्ट्रेलियन कामनवेल्थ ने उस उत्पाद के महत्व को समझने मे तथा अपने साधनों से सर्वाधिक लाभ पाने मे कभी विलम्ब नहीं किया है। उस देश से जिस बड़ी मात्रा मे तेल का निर्यात होता है वह इस तथ्य का दोतक है। अन्य देशों मे इस वृक्ष की कृषि के सफल प्रयास किये जा चुके हैं, फिर भी इस तेल की पूर्ति मे आस्ट्रेलिया बराबर अग्रणी बना हुआ है।

#### आस्ट्रेलिया से यूकेलिप्टस तेल का निर्यात :—

वर्ष	मात्रा	मूल्य
१९२१-२२ ई०	३५,०३९ गैलन	२४,४७० पौंड
१९२२-२३ ई०	५३,१२९ "	३४,६०२ "
१९२३-२४ ई०	७९,५५७ "	६५,८५८ "
१९२४-२८ ई०	१०७,८७६ "	९०,९२९ "
१९२८-२९ ई०	११४,०९४ "	८५,००९ "

औषधीय क्षेत्र मे भारतीय तेल का भविष्य और अच्छा होना चाहिये। आस्ट्रेलियाई तेल मे फिलैण्ड्रीन की काफी बड़ी मात्रा रहती है और यह व्वसनी फ्लेज्मा ( ग्रान्किग्ल फ्लूकोसा ) के लिए बड़ा क्षोभक होता है, विशेषकर उस अवस्था मे जब निश्वसन मे भीतर पहुँचता है, और हृदय के लिए यह बड़ा ही अवसादक समझा जाता है। निटिश औषधकोश मे ऐसे तेलों की स्पष्ट रूप से वर्जित किया गया है जिनमे यह तत्व अधिक मात्रा मे पाया जाता है। आस्ट्रेलियाई तेल मे जो ब्यूटिरिक एवं वैलेरिएनिक् ऐल्डिहाइड्स हैं वे भी हानिकर होते हैं। भारतीय तेल मे ये दोनों ही चीजें नहीं रहती, इसलिए चिकित्सकों को इस तेल के प्रति और भी रुचि नहीं चाहिये क्योंकि इस तेल से खासी की या अन्य दुखद अनुषष्ठी प्रभाव की सभावना कम रहती है। आस्ट्रेलिया मे औषधीय प्रयोजनों के उपयोग मे आने वाले यूकेलिप्टस तेल को, बाजार मे भेजने से पहले प्रभाजी पुनरासवन की प्रक्रिया द्वारा परिष्कृत

कर लिया जाता है। आस्ट्रेलिया में यूकेलिप्टस तेल जिन अन्य जाति के यूकेलिप्टस पेडो से प्राप्त किया जाता है वे यूकेलिप्टस सिट्रिओडोरा, यूकेलिप्टस डाइव्स, यूकेलिप्टस एलिओफोरा, यूकेलिप्टस ल्युकोजाइलॉन, यूकेलिप्टस मैकाथराइ, यूकेलिप्टस सिडेरोविसलॉन और यूकेलिप्टस स्मिथाइ हैं। भारत में इन वृक्षों को शोभा तथा इंधन के प्रयोजनों के काम में लाने की कोशिश की गयी है। इनसे मिलने वाले वाष्पशील तंत्र की ओर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा सुझाव दिया गया है कि इन जातियों के वृक्षों को यहाँ वाणिज्यिक पैमाने पर खेती की कोशिश की जानी चाहिये और तेल देने वाले साधन के रूप में इनको उपयोग में लाने का प्रयास किया जाना चाहिये। यह भी सुझाव दिया गया है कि भारत में उन अन्य जातियों के वृक्षों को भी लगाने की कोशिश की जानी चाहिये जिनका आस्ट्रेलिया के यूकेलिप्टस तेल उद्योग में महत्व सुस्थिर हो चुका है।

यूकेलिप्टस विश्व के महत्वपूर्ण कठोर दाढ़ वाले वृक्षों में माना जाता है, और आस्ट्रेलिया में इमारती लकड़ी का यह एक प्रमुख स्रोत है, किन्तु भारत में इन वृक्षों को इमारती लकड़ी के काम में नहीं लाया जाता है। नीलगिरि में यूकेलिप्टस ग्लोबुलस को बगान के पैमाने पर उगाया जाता है पर इसका उपभोग मुख्यतः इंधन के लिए किया जाता है। यूकेलिप्टस तेल के उत्पादन का तो वहाँ, एक सहायक घरेलू उद्योग के रूप में विकास हुआ है। यूकेलिप्टस की कई जातियों का उपयोग वहाँ जलाक्रान्त क्षेत्रों में बनरोपण के लिए तथा नदी तटों पर और खाली पहाड़ियों पर सामुहिक रूप से उगाने के लिए किया गया है। कुछ जाति के वृक्षों की सिफारिश मृतिका के कणों को बांधे रखने के लिए तथा तेज हवा को रोकने के लिए की गयी है। कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो दलदल वाले क्षेत्र के जल को सोखने की क्षमता रखती हैं और कभी कभी मलेरिया रोधक उपाय के रूप में इनको लगाने की सिफारिश की गयी है। यूकेलिप्टस की कुछ जातियों का महत्व शोभा के लिए एवं सड़कों के किनारे पर लगाने के लिए होता है। इनमें बहुत से ऐसे हैं जो मधु मक्खियों के लिए मकरन्द प्रदान करने के काम में आती हैं।

### सन्दर्भ :-

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Macpherson, J., 1925 *Med. Jour. Australia*, July,
- (3) Puran Singh, 1917, *Ind. For Rec.*
- (4) Ghose, 1919, *Perf. Essen. Oil Rec.*, Schimmel & Co
- (5) *Wealth of India, Raw Materials*, 1952, III 203,
- (6) Krishna, S. and Badhwar, R. L.

1949, *Jom Sci Indust Res*, 8 (12) Suppl 200, (7) Troup, R S, 1921,  
*The Cultivation of Indian Trees*, II, 556, (8) Parker, 1925, *Ind. For Bull*,  
 N S No 61 & 63, (9) Fielding, 1948, *Aust For*, 12, 75

### यूजिनिआ कैरिओफिलस (मिट्टेसी)

*Eugenia caryophyllus Thunb* (Myrtaceae)

पर्याय—साइजिजियम ऐरोमेटिकम

*Syzygium aromaticum Merr* (L M Perry)

### लौग (Cloves)

नाम —स० और व०—लवङ्ग, हिं०—लौग, लौग, म०—लवग, त०—किराम्बु।

यूजिनिआ कैरिओफिलस मूलत मोलकवाद्वीप का पौधा है। इसकी खेती प्रमुख रूप से जैजीवार, पेम्बा, ऐम्बोयिना द्वीप समूह, पेनाग और मैडागास्कर में की जाती है, और कुछ पैमाने पर सिचिलीस, रीयूनियन, मॉरिशस और श्रीलंका में भी की जाती है। दक्षिण भारत में भी इसकी खेती होती है। इस पौधे के फूल की कलियो से वाणिज्यिक लौग पैदा होती है। लौग को उस समय पेड़ से तोड़ा जाता है, जब गूदादार (पुष्प) पात्र (fleshy receptacle) जो पहले हरा रहता है गहरे लाल रंग का हो जाता है। तब इसमें तेल की मात्रा अधिकतम हो जाती है। जैजीवार और पेम्बा में अगस्त और दिसम्बर के बीच साल में दो बार इसके पुष्पी भागों को तोड़कर इकट्ठा किया जाता है। कलियों को तोड़ने में चल-प्लैटफार्मों या वाँसों की सहायता ली जाती है। लौग को खुली हवा में चटाइयों पर फैलाकर सुखा लिया जाता है और उन्हें पुष्पावलि-वृत्त से अलग कर दिया जाता है। ये वृत्त लवग-वृत्त (clove stalk) के नाम से विकने वाली एक अलग वाणिज्यिक वस्तु है। यदि कलियों को अधिक काल तक वृक्षों पर रहने दिया जाय तो वे खिल जाती हैं और पखुड़ियाँ गिर जाती हैं और 'पुष्पित लौग' (blown cloves) रह जाती हैं। लौग का निर्यात गाठों में किया जाता है, ये गाठें नारियल के वृक्ष के पत्तों से बनी चटाइयों से आवृत रहती हैं।

सूखी कलियाँ (वाणिज्यिक लौग) ऐरोमेटिक उद्दीपक और वातानुमोलक (carminative) होती हैं। विभिन्न प्रकार के जठर क्षोभ्यता (gastric irritability) और मदाग्नि में इनका उपयोग किया जाता है। आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा में कई तरह की व्याधियों में लौग को चूर्ण या क्वाथ के रूप में व्यवहृत किया जाता

है। कलियो से आसुत तेल आज कल पाइचात्य चिकित्सा में आमतौर से काम में लाया जा रहा है। उसके सयोग से औषधियों में एक भीठी सुगन्ध आ जाती है, इसलिए कड़वी औषधियों का कुस्वाद इससे बहुत कुछ दब जाता है। ग्रीज (grease), सानुन और स्पिरिट यह आसानी से मिल जाता है और सुगन्धित द्रव्यों के निर्माण में इसका बहुत विस्तृत पैमाने पर उपयोग किया जाता है। लौंग में लगभग १४ से २० प्रतिशत वाष्पशील तेल, १० से १३ प्रतिशत टैनिन और कैरियोफिलिन (caryophyllin) नामक एक क्रिस्टलीय पदार्थ पाया जाता है। कैरियोफिलिन श्वेत और गन्धहीन होता है जो ईंधर और खोलते हुए ऐल्कोहॉल में विलेय होता है। लौंग के वृत्तों से भी ५-६ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिल जाता है। लौंग का तेल भाषीय आसवन (steam distillation) द्वारा निकाला जाता है और उसमें ३४ से ९५ प्रतिशत तक फिनाँल और सेस्किवटर्पीन पाये जाते हैं और योडी मान्ना एस्टर, कीटोन और ऐल्कोहॉल वर्ग के यौगिकों की भी रहती है। औषधीय तेल में करीब ८२ से ९० प्रतिशत तक फीनाँल रहता है। जिन तेलों में फीनाँल की मात्रा कम रहती है वे ही मुख्यतः भेपजों में प्रयुक्त होते हैं और तीव्र तेल, वैनिलिन (vanillin) बनाने के काम में लाये जाते हैं। ईंधर कुछ वर्षों के अन्दर सिगरेट की तम्बाकू को सुवासित करने के लिए लौंग और लौंग के तेल की मार्ग, जावा, सुमात्रा, बोर्निओ, चीन, जापान तथा भारत में बहुत बढ़ गयी है। मसाले के रूप में शायद ससार भर में इसका इस्तेमाल किया जाता है।

लौंग की सारे विश्व में जितनी आपूर्ति है इसकी ९० प्रतिशत जैजीबार, और पेम्बा के टापुओं से होती है, जहाँ करीब १८१८ ई० में इस पीघे को लगाया गया था और जहाँ का यह आज प्रमुख उद्योग है। १९१९ ई० में जैजीबार और पेम्बा में इसकी खेती अनुमानत ५२,००० एकड़ में होती थी और इसमें करीब ५० लाख बृक्ष थे। तब से इसकी खेती बराबर बढ़ती जा रही है। वहाँ इसकी कितनी ज्यादा फसल होती है इसका अन्दाज इसी बात से लग जायगा कि १९२५-२६ ई० में पेम्बा में इसकी फसल ६५०० से ७००० टन तक हुई थी और जैजीबार में ३५०० से ४५०० टन तक। १९२७ ई० में जनवरी से जून तक की पहली ६ माही में केवल १४५० टन लौंग का निर्यात केवल जैजीबार से हुआ था। इसमें से ५८ प्रतिशत भारत में, १६ प्रतिशत विटेन में और १० प्रतिशत अमेरिका में हुआ था। इससे प्रगट है कि बिदेशी लौंग के उपभोक्ताओं में भारत प्रमुख है। भारत में लौंग की खेती तिरुनेलवेली और नीलगिरि की पहाड़ियों में तथा मलाबार, मदुराई

और कोयम्बटूर के जिलो में होती है। इस समस्या की फसल यहाँ करीब २०० एकड़ भूमि में है और इसका कुल वार्षिक उत्पादन लगभग २ लाख पौण्ड है। प्रत्येक वृक्ष से करीब ८ से २० पौण्ड सूखी लौंग या प्रति एकड़ १ हजार पौण्ड सूखी लौंग पैदा हो जाती है। मद्रास के कृषि निदेशक के अनुसार, यदि १५ सौ एकड़ भूमि में लौंग की खेती कर दी जाय, तो लौंग के बारे में भारत कुछ हृद तक आत्मनिर्भर हो जायगा।

**खेती :** लौंग, जलोत्सारित, बलुई, दुमट और लैटेराइट भूमि में जहाँ वार्षिक वृद्धि ६५ से ७० इच की हो, खूब पैदा होती है। इसकी खेती बीज बोकर या कलम (गर्पिटग) द्वारा की जाती है। कलम से लगाये हुए पौधे छोटे और ज्ञाड़ीदार होते हैं। छोटे पेड़ों से फसल पूरी तरह और सुगमता से इकट्ठा की जाती है। बीजों के सबद्धन क्यारियों में बो देने के कुछ समय बाद, जब वेहन ६ इच ऊंचे हो जाते हैं, तो उन्हें अलग-अलग टोकरियों में लगा दिया जाता है। फिर तीन चार महीने बाद इन नवोद्धिदो को २० से ३० फुट के फासले पर ३ घन फुट के गहरे में रोप दिया जाता है। गरमी के मीसम में इनकी हाथ से सिन्चाई करना जल्दी होती है। दो तीन वर्ष बाद पौधे दृढ़ हो जाते हैं और तब कभी ही उनको सिन्चाई की जल्दत होती है और ६ से १० वर्ष के अन्दर वे फल देने लगते हैं। फल देने के दृष्टि से पेड़ों की जिन्दगी ६० साल की बतायी जाती है। इस वृक्ष की कोई सुनिर्धारित वैराग्यता नहीं है, किन्तु इनकी वृद्धि के ढग में, फल देने की क्षमता में, गुण में तथा लौंग के रंग और आकार में भिन्नतायें अवश्य रहती हैं। ऐसा देखा गया है कि आरम्भिक अवस्थाओं में प्रतिवृक्ष तीन और समोनियम सलफेट की खाद देने से पेड़ों की वृद्धि शीघ्र होती है और जल्दी ही वे बड़े हो जाते हैं।

लौंग के तेल की जगह बाजार में अन्य स्थानापन्न द्रव्यों के आ जाने से लौंग उद्योग के भविष्य पर प्रभाव जल्द पड़ा है, फिर भी कई विशेषज्ञों का मत है कि अभी भी लौंग का उत्पादन बागान मालिकों के लिए लाभप्रद है।

### संदर्भ :—

( १ ) Finanmore, 1926, *The Essential Oils*, ( २ ) Schimmel & Co., 1928 Report, ( ३ ) Trease, G E 1952 Text Book of Pharmacognosy 430; ( ४ ) Private Communication from Director of Agriculture, Madras, 1953

## यूआँनिमस टिंजेन्स ( सिलैस्ट्रेसी )

*Euonymus tingens* Wall. (Celastraceas)

डॉंगवुड, स्पिंडलवुड, प्रिकवुड

(Dogwood, Spindlcwood, Prickwood)

नाम—हिं०—चारफली, सिखी, कुगकु, पापर, केसरी, कुमायूं-चाली; नें०—नेर्वर, कसूरी; शिमला—चोप्रा, मर्मांगल, जीनमार—भास्त्रेलिस, रोइनी।

इस जीनस में प्राय ४० जातियाँ हैं, उनमें से अधिकाश एशिया, यूरोप, अमेरिका तथा मलाया द्वीप समूह के उष्ण प्रदेशों में फैली हुई हैं। यह भेषज चिकित्सा में बहुत दिनों से काम में लाया जा रहा है और यह कहा जाता है कि पिलनी की पुस्तक में इसका उल्लेख आया है। इसके रेचक गुण अत्यधिक नहीं हैं परन्तु यह यकृत को उद्दीपित करता है जिससे पित्त का साव अधिक होने लगता है। ऐसे रोगियों को जिनको अजीर्ण और आधान के साथ-साथ यकृत की क्रिया में मन्दता होने की शिकायत रहती है, इसे कैस्करा और इरिडीन आदि मिलाकर चिकित्सक लोग देते हैं। भारत के बाजारों में जो यूआँनिमस मिलता है, वह अमेरिका से आयात किया हुआ, अधिकाश यूआँनिमस एट्रोपर्पूरियस (*E. atropurpureus* Jacq.) की सूखी जट का छाल होता है।

यूआँनिमस एट्रोपर्पूरियस की छाल में यूआँनिमॉल, एट्रोपुरॉल, यूआँनोस्टेरिल, मोनो-यूआँनोस्टेरिल जैसी कई चीजें रहती हैं जो इसे सक्रिय बनाती हैं। कुछ अनुसधानको ने इसमें ग्लाइकोसाइड तथा एक ऐल्केलॉयड की विद्यमानता की भी सूचना दी है। इसके तने की छाल भी औषधि में प्रयुक्त होती है। यूआँनिमस वृक्षों की कई जातियाँ भारत में बहुत पायी जाती हैं। यूआँनिमस टिंजेन्स (*E. tingens* Wall.), यूआँनिमस क्रोनुलेटस (*E. crenulatus* Wall.) तथा यूआँनिमस डाइकाटोमस (*E. dichotomus* Heyne) सदाहरित छोटे पेड हैं जो पश्चिमी प्रायद्वीप के पहाड़ी प्रदेशों में पाये जाते हैं। यूआँनिमस पेण्डुलस (*E. pendulus* Wall.), यूआँनिमस लैसेरस (*E. laevis* Buch.-Ham.), यूआँनिमस ग्रैण्डिफ्लोरस, (*E. grandiflorus* Wall.), यूआँनिमस हैमिल्टोनिएनस (*E. hamiltonianus* Wall.) और यूआँनिमस ग्लेबर (*E. glaber* Roxb.) हिमालय और आसाम में पाये जाते हैं। यूआँनिमस ग्लैबर बगाल और बिहार में भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका अभी हाल तक पश्चिमी या देशी चिकित्सा-पद्धति में रेचक के रूप में उपयोग नहीं होता

रहा है। यूआॅनिमस टिजेन्म जिसका शब्द अधिक मे प्रयोग होता है, एक छोटा सदा-हरित वृक्ष है जो कॉचार्ड मे २५ फुट तक होता है। यह हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश मे सतलज से नेपाल तक साढे ६ हजार से दस हजार फुट की कॉचार्ड पर पाया जाता है। वाहर से इसका छाल काला और भक्ता (corolla) होता है, पर अन्दर की ओर पीला होता है। नेत्र रोगो के लिए यह बड़ा लाभप्रद समझा जाता है। कोष्ठवद्धता और मदानिं के दीर्घकालीन रोगो मे इसका उपयोग किया जाता है। इसमे प्रायः वह सभी सक्रिय तत्त्व होते हैं जो यूआॅनिमस ऐट्रोपॉर्पुरियम के छाल मे पाये जाते हैं और इण्डियन फार्मारियुटिकल कोडेक्स मे इसे यूआॅनिमस का स्थानापन्न माना गया है। भेषज को उपयोग मे लाने के लिए इसके सूखे छाल मे अम्ल-अविलेय राख ४ प्रतिशत से ज्यादा नहीं होनी चाहिये, सलगन काष्ठ का भाग ३ प्रतिशत से ज्यादा नहीं होना चाहिये और विजातीय कार्बनिक पदार्थ २ प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये। पेड़ की भाँतरी छाल से एकर जक द्रव्य उपलब्ध होता है जिसे नेपाल की हिन्दू विवाहिता स्त्रीयां माथे मे टीका लगाने के लिए काम मे लाती है। इसकी लकड़ी थोटो कठोर, गठीली और चिकनी होती है। यह नवकाशी के लिए उपयुक्त समझी जाती है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Rogeron, II 1912, J C S Trans., 1010, (2) Health of India Raw Materials, 1952, III 222, (3) Trusc, G E, 1952, Test Book of Pharmacognosy, 365, (4) Indian Pharmaceutical Codex, 1953

### फेरला नार्थेक्स (अम्बेलिफेरी)

*Ferula narthex* Boiss (Umbelliferae)—Asafoetida

हींग (असाफोटिडा)

नाम—म०—हिङ्गु, हि० व व०—हिंगडा, हींग, वम्ब०—हिंगडा, त०—कायम, पेरगयम, तै०—डगुवा, फा०—अगूजा, अफगानी—अगूजा, कुनै, ग्वेरा।

हींग (असाफोटिडा) एक ओलियो-गम-रेजिन है जो फेरला फोटिडा (*F. foetida* Regal), फेरला नार्थेक्स (*F. narthex* Boiss) तथा फेरला की अन्य जातियों की जीवित प्रकद और मूल को काटने पर नि स्वरण से प्राप्त किया जाता है। फेरला फोटिडा ईरान, कन्वार और अफगानिस्तान मे होता है तथा फेरला नार्थेक्स कश्मीर के गांवो मे, बल्टिस्तान, अस्तोर तथा पश्चिमी तिब्बत और अफगानिस्तान मे बहुतायत से पाया जाता है। इन जातियों की कॉचार्ड करीब तीन भीटर तक होती है।

ओलियो-गम-रेजिन देने वाली अन्य प्रसिद्ध जातियों से फेरला ऐलिएसिया ( *Fallacea* Boiss ) फेरला रुब्रिकॉलिस- ( *F. rubricaulis* Boiss ) तथा फेरल अस्ट्राफोटिडा है। हीग की कम से कम दो किस्में हैं। एक तो ऐसी है जो हवा लगने से लाल और भूरे रंग की हो जाती है और दूसरी पीली और सफेद। बम्बई और फारस की खाड़ी के बदरगाहों से ले जाकर यह यूरोप और अमेरिका को व्यापारिक स्तर पर पहुँचाया जाता है।

ट्रोज के अनुसार यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है कि 'लेसर' (Laser) के नाम से जो वस्तु पुराने जमाने के लोगों को ज्ञात थी, वह आज की वाणिज्यिक वस्तु हीग ही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अरब के चिकित्सकों द्वारा पूर्व से यहाँ लायी गयी है। हीग का सघरण ईरान और तुर्किस्तान में वसत क्षत्रिय के अतिम काल में किया जाता है। पौधे का सर काट दिया जाता है और जो नि स्राव निकलता है उसे इकट्ठा कर लिया जाता है। यह प्रक्रिया तीन बार की जाती है और हर बार पौधा कटकर छोटा होता जाता है, पौधों को आरी से काटा जाता है। पहली बार की कटाई में जो नि स्राव निकलता है वह सर्वोत्तम कोटि का होता है और तीसरी बार का निःस्राव दूसरी कोटि का होता है। दूसरी बार की कटाई का नि स्राव निम्नकोटि का होता है। भारत में यह भैयज खैदर या दोलन के दर्रों से होकर या फिर फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों से आता है। अधिकाशत यह खाड़ी के रास्ते से ही बन्दर अब्बास जैसे बन्दरगाहों से बम्बई आता है। अवसर यह टीन की पत्ती लगी पेटियो में बद आता है, जिनमें यह ५० से २०० किलोग्राम तक होता है। फेरला फोटिडा का उपयोग भारत में बहुत व्यापक पैमाने पर होता आ रहा है और इसे देशी चिकित्सा-पद्धति में बहुत प्राचीन काल से बड़ा सम्मान प्राप्त रहा है। वातानुलोमक और उद्देष्टरोधी ( antispasmodic ) के रूप में यह बहुत ही प्रसिद्ध है तथा औरतों और बच्चों के हिस्टीरिया ( hysteria ) और तन्त्रिका विकार ( nervous disorders ) से इसका बहुत उपयोग किया जाता है। वासक ( flavouring ) के रूप में इसका उपयोग किया जाता है और पूरे भारत में बहुत तरह के मसालों में यह पड़ता है। चिरकारी श्वसनीशोथ ( chronic bronchitis ) में कफ को बाहर निकालने वाली औषधि के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है तथा आन्त्र-आघ्नी ( intestinal flatulence ) को दूर करने के लिए भी इसे प्रयोग में लाया जाता है। पश्च चिकित्सा के प्रयोजनों के लिए इसकी बहुत बड़ी मात्रा उपयोग में आती है। कुछ चटनियों ( sauces ) में इसकी थोड़ी मात्रा मिली रहती है। मुख्यत इसी कारण से इस ऐरोमेटिक गोद की

बहुत बड़ी मात्रा आयात की जाती है। ऐसा अनुमान है कि सालाना औसत ६ हजार हड्डखेट हींग, जिसका मूल्य २,१६,३०० रुपये होते हैं, अफगानिस्तान के व्यापारियों द्वारा यहाँ लायी जाती है और सीमावर्ती शहरों में बेच दिया जाता है, जहाँ से भारत के सारे मैदानी इलाकों में इसका वितरण होता है। इसमें सदैह नहीं कि इसका थोड़ा निर्यात भी होता है, पर इसकी मात्रा बहुत नगण्य है ( कुल आयातित मात्रा का करीब एक प्रतिशत )। इसका अधिकांश भाग भारत में ही रहता है। भारतीय भेषज कोश में इसे मान्यता प्राप्त है और इससे ऐल्कोहॉल ( ९० प्रतिशत ) विलेय निष्कर्ष ५० प्रतिशत से कम नहीं प्राप्त होता।

फेर्ला नार्थेंक्स कश्मीर के भीतर की सूखी घाटियों में बहुतायत से पैदा होता है और इससे काफी गम-रेजिन मिलता है, जिसे बाहर से मँगाये गये हींग की जगह उपयोग में लाया जाता है। हींग मुख्यतः दो तरह की होती है। ( १ ) टीयर्स ( tears ) यह गोल या चिपटी होती है और व्यास में ५ से ३० मिलीमीटर तक होती है। यह धूसर-श्वेत, धूमिल फीत या रक्ताभ भूरे रंग की होती है। इसकी कुछ किस्में पुरानी होने पर रक्ताभ-भूरी हो जाती हैं और कुछ धूसर या पीताभ रह जाती है। तोड़ने पर भीतर से यह पीताभ और पारभासक बना रहता है या धीरे-धीरे अपारदर्शक दुर्ध-श्वेत से गुलाबी, लाल होते हुये रक्ताभभूरी हो जाती है। ( २ ) पिंड ( Mass ) —यह ऊपर वर्णित टीयर्स का समूहन होकर पिंड बन जाता है और इसमें आम तौर से फल, जड़ के टुकड़े या मिट्टी और अन्य अशुद्ध वस्तुएँ मिली रहती हैं। यह पिण्डाकार हींग हींग आमतौर से व्यापार में चलती है। हींग को यदि पहले ठड़ा कर लिया जाय तो आसानी से इसका चूर्ण बन जाता है। इसमें लहसुन की तेज गध होती है और इसका स्वाद कड़वा और लहसुन की तरह का होता है।

घटक • हींग में वाष्पशील तेल, रेजिन, गोद और कई अशुद्ध चीजें रहती हैं। टीयर्स और पिण्डाकार इन दोनों में हींग में वाष्पशील तेल की मात्रा एक सी होती है और इस तेल की गध अप्रिय होती है और उसमें गधक के यौगिक रहते हैं। बाउमान के विश्लेषण के अनुसार ( १९२९ ई० ) हींग में लगभग ये चीजें होती हैं—वाष्पशील तेल और रेजिन ५१ प्रतिशत, ऐसारेजिनॉल फेर्लेट ( Isoreginal ferulate ) १६.५७ प्रतिशत, मुक्त फेर्लिक अम्ल १.३३ प्रतिशत, ईथर में अविलेय रेजिन १ प्रतिशत, गोद और अपद्रव्य ( impurities ) ३१ प्रतिशत।

पौधे के सभी अगो से हींग की एक तीव्र गध निकलती है। कहा जाता है कि हींग को तने से समझीत करने का समय जून का महीना होता है जब फल कच्चा

रहता है, किन्तु जड़ो से हीग जुलाई-अगस्त में निकालते हैं जब पत्ते झट गये रहते हैं। कश्मीर में यह नियमित रूप से नहीं सग्रहीत किया जाता। कुछ पठान अफगानिस्तान से इन क्षेत्रों में आ जाया करते थे जहाँ ये पौधे अपने आप उगते हैं और पेड़ के तनों को तेज औजार से काटकर गोद रेजिन इकट्ठा कर लेते थे। पेड़ की जड़ों की भी कुट्टी बनाकर और उसे पानी में उबाल कर तत्पश्चात पानी को सुखाकर कुछ गोद निकाल लेते थे। उबालने वाली प्रक्रिया से उतना अच्छा परिणाम नहीं निकलता है क्योंकि उससे वाष्पशील तेल उड़ जाता है। एक पेड़ से अनुमानत कुल ० ४ औंस हीग साल में मिलती है।

### सन्दर्भ :-

- (1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) Humphreys, 1912, *Drugs in Commerce*, (3) *Sea-borne Trade Statistics of British India*, 1928-29, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 451, (5) Baumann, M, 1929, *Abstract in Y B Pharm*, 6, 621, (6) *Indian Pharmacopoeial List* 1946, (7) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour. Sci Industr Res, Suppl*, 12 A, 276, (8) Amin Chand, 1932, *Ind For*, 58, 277, (9) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1953

### फोनिकुलम वल्गैरी (अम्बेलिफेरी)

*Foeniculum vulgare* Mill. (Umbelliferae)  
सौफ (Fennel)

नाम — स०—मधुरिका, हि०—बड़ी सौफ, सौफ, सोट, व०—पानमीरी, मीरी, वन्व०—बड़ी सोफा, त०—सोहिकिरी, शोम्बु, तै०—सोए, पेहु-जिलाकुर्रा।

सौफ एक द्विवर्षीय या बहुवर्षीय बूटी (herb) है जिसकी भारत भर में घरेलू खेतों पर आमतौर से खेती की जाती है। शीत-ऋतुकालीन पौधे की तरह इसे ६००० फुट तक की ऊँचाईयों तक सर्वत्र उगाया जा सकता है। कई स्थानों में यह अपने आप पैदा होती है। खुली जगहों में, जलोढ़ मिट्टी (alluvial soil) जिसमें नमी अधिक न हो यह बहुतायत से होती है।

फोनिकुलम वल्गैरी (*F. vulgare* Mill.) और फोनिकुलम कैपिलैसियम (*F. capillaceum* Gilb.) ये दोनों जातियाँ सबसे अधिक महत्ववाली हैं जिसकी

भारत, जावा, जापान, ईरान, मिश्र, यूनान हट्टली, रूमानिया, रूस, जर्मनी, पोलैण्ड आदि देशों में खेती की जाती है। इसकी खेती इसके फलों के लिए की जाती है जिनका उपयोग रसोई में या अचार, कैन्डी-मिठाई और लिकर (candies and liqueur) बनाने में मसाले के रूप में बहुत ज्यादा किया जाता है। इसके फलों से २ से ६ ५ प्रतिशत तक एक वाष्पशील तेल मिल जाता है। खेती से उगायी गयी सौफ और बन्ध-अवस्था में उगने वाली सौफ में इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि कुछ बनस्पतिविद् उन सबको फोनिकुलम बलीरी की प्रजाति (races) या उपजाति (subspecies) या वैराइटी (Variety) मानते हैं। सौफ की कई प्रजातियाँ या वैराइटी हैं जिनकी खेती विश्व भर में होती है। इसलिए इनमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विभिन्न देशों में पैदा होने वाली सौफ में उनके वाष्पशील तेल की मात्रा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसकी विभिन्न किस्मों और प्रजातियों का बानस्पतिक दृष्टिकोण में विभेद करना कठिन है।

सुगन्ध और स्वाद के लिए सौफ का प्रयोग मानव अज्ञात चिरन्तन काल से करता आ रहा है। इसके फल का उपयोग प्राचीन रोमन लोग करते थे। इसके गूदेहार प्ररोहो (succulent shoots) को बे लोग शाक-सब्जी के तौर पर भी काम में लाते थे और दक्षिणी इटली में ऐसा आज भी होता है। मध्य यूरोप में इसकी खेती को सन्त्राट शार्ल्मान्ये (Charlemagne) ने प्रोत्साहन दिया था। आज रसोई के प्रयोजन के लिए जिसमें चटनी या रसदार व्यजन (शोरबे) को सुगन्ध-स्वाद देना भी शामिल है, तथा अचार, कैन्डी, लिकर बनाने में यह आम तौर से सर्वत्र मसाले की तरह काम में लाया जाता है। सभी देशों के औषधिकोशों में इसे मान्यता प्राप्त है, क्योंकि इसमें एक वाष्पशील तेल होता है जो उद्दीपक, ऐरोमोटिक और वातानुलोपक होता है। सम्मिश्र मुलेठी चूर्ण का यह एक घटक है और इसमें तथा इसी तरह के अन्य चूर्णों के प्रयोग से पेट में जो मरोड़ पैदा होता है उसको दूर करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। सोडियमबाइकार्बोनेट और शर्क्त (सीरप) के साथ मिलाकर इसे वच्चों के आध्मान (flatulence) के उपचार में औषधि के रूप में दिया जाता है। सारे भारत में चर्वण के रूप में इसका उपयोग होता है।

यूरोप में हृदपेय (cordials) के निर्माण में इसका प्रयोग किया जाता है और सौफजल इसीसे बनता है, जो औषधि के रूप में, विशेषकर और भेषजों के बनुपान के लिए तथा वासक के रूप में उपयोग किया जाता है। भारतीय चिकित्सा में इसकी

बड़ी मांग रहती है। यह उद्दीपक, बातानुलोमक तथा ऐरोमेटिक माना जाता है। इसके गरम फाण्ट के प्रयोग से स्त्रियों को दूध अधिक होता है और इससे पसीना भी अधिक पैदा होता है। इसमें सदैह है कि देशी चिकित्सा में इसके सम्बन्ध में जो दावा है वह कहाँ तक सही सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु इसके फलों का वाणिज्यिक महत्व बहुत बड़ा है। खास करके फ्रास में इसकी खेती काफी बढ़े पैमाने पर की जाती है। इसका अनुमान इसी बात से लग जायगा कि फ्रास में 'गार्ड' (Gard) विभाग ३०० हेक्टेयर में इसकी खेती करता है और सालाना लगभग ३ लाख किलोग्राम तेल तैयार करता है, इसके फलों की बड़ी मात्रा वहाँ मदिरा (सुवासित मद्द) में काम आती है। फ्रास में औसतन २० लाख किलोग्राम फल 'सालाना मारसेंट्स' के बदरगाह के जरिये आयात किया जाता है।

खेती भारत में सौंफ की खेती शीतकालीन फसल के रूप में की जाती है और इसकी खेती उसी ढंग से की जाती है जैसे सामान्य बगीचे की फसल की जो बेचने के काम आती है। कुछ राज्यों में, जैसे बम्बई में, बहुत बड़े पैमाने पर इसकी खेती की जाती है। जून से अक्टूबर तक के बीच जमीन को जोतकर, मिट्टी तोड़ कर और हेंगा चलाकर भूमि तैयार करते हैं। बीज को हाथ से छीटकर क्यारियों में बोते हैं। ९ पौण्ड बीज १ एकड़ के लिए पर्याप्त होते हैं। बीजों को उगने में २० दिन लग जाते हैं। जब पौधे ३ इच्चे ऊँचे हो जाते हैं तो जनवरी तक हर पखवाड़े खेत को सूब सीचते हैं। हरी हालत में ही फसल को काट लेते हैं और उसे ५-६ दिनों तक जमीन पर ही पड़ा रहने देते हैं। प्रति एकड़ २८० पौण्ड से ११२० पौण्ड तक फल पैदा होता है। औसत ७२० पौण्ड की पैदावार अच्छी समझी जाती है। फ्रास में सौंफ २८ से ३० इच्च की दूसी पर बनायी गयी उथली नालियो (furrows) में बोयी जाती है और जब पौधे ३ से ४ इच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनकी छेंटनी कर देते हैं, ताकि दो पौधों के बीच ४ से ६ इच्चे तक का फासला बना रहे। वहाँ करीब १३ सौ पौण्ड प्रति एकड़ की पैदावार होती है।

भारत प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख किलोग्राम सौंफ निर्यात करता है। किन्तु भारत में इतनी सासाधन क्षमता वर्तमान है कि सौंफ और उसके तेल का निर्यात करके फ्रास का बाजार वह कब्जे में कर ले। इस तथ्य को देखते हुए कि भारत का तेल अन्य देशों की तुलना में अच्छा होता है, इस दिशा में सफलता मिलने की पूरी सम्भावना है। विभिन्न देशों के तेलों के गुणों की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जायगा।

	फ्रास का तेल	गैलीशिया का तेल	रूस का तेल	भारत का तेल
आपेहिक घनत्व, १५° में०पर —	० ९७६	० ९६६	० ९६७	० ९६८
छ्रुवण-घूर्णन, १०० मी० मी०				
की नली मे—	+१६°०	+२२°	+२३°	+२१°
जमने के बाद गलनाक—	१२°५०	४°०	४°४०	८°२०
फेन्कोन की प्रतिशतता—	—	१९३	१८२	६७

सौफ का तेल —सौफ से वाष्पशील तेल की उपलब्धि उसके किस्म पर निर्भर करती है। साधारणत तेल की प्राप्ति में अन्तर १५ से ४ प्रतिशत तक होता है, किन्तु न्यूनतम प्राप्ति ०.५३ प्रतिशत और अधिकतम ६.५ प्रतिशत तक पायी गयी है। बाजार से सरीदे गये भारतीय सौफ के तीन नमूनों का राब, सद्वरो तथा चाद्सन ने विश्लेषण किया और उनसे ०.५३ से ०.८२ प्रतिशत वाष्पशील तेल (शुष्क आधार पर) प्राप्त किया, जिसकी गध मीठी और ऐनीसी की तरह ही। उसनी के बनुजार भारतीय सौफ से ०.७ से १.२ प्रतिशत तेल मिलता है। इण्डियन फार्मस्युटिकल फोडेक्स (१९५२ ई०) के अनुसार, वाष्पशील तेल की उपलब्धि में १.० मे २.९ प्रतिशत तक अन्तर होता है, और स्वार्यी तेल की उपलब्धि में ८.८ से १५.८ प्रतिशत तक यह उपलब्धि बन्य देशों की तुलना में बहुत कम है, जैसा कि निम्नलिखित आकड़ों से प्रत्यक्ष है।

## सौफ फल

किस्म	तेल की प्रतिशत मात्रा
१. फैच स्वीट	२.१
२. जर्मनी (मैक्सन.)	४.७
३. भारतीय	०.७२
४. झसी	४.८
५. गैलेशियाई	४.४
६. जापानी	२.७

जर्मनी, झसी और गैलेशियाई सौफों से वाष्पशील तेल की प्राप्ति अधिक होती है और इसमें ६० प्रतिशत ऐनियोल और १८ से २२ प्रतिशत फेन्कोन नामक कीटोन जिसका फार्मूला  $C_{10}H_{16}O$  है, पाया जाता है। रोमन सौफ जिसे मीठा तेल (oil of sweet) कहते हैं उसमें फेन्कोन की मात्रा अत्यल्प होती है या विल्कुल ही नहीं होती, जब कि जापानी सौफ में १० प्रतिशत और भारतीय सौफ

मेरे ६७ प्रतिशत फेन्कोन पाया जाता है। जिन तेलों मेरे फेन्कोन की मात्रा न्यून होती है उनमें साधारणत ऐनिथोल की मात्रा अधिक होती है। ऐनिथोल,  $C_{10}H_{12}O$  फेनॉलिक ईंथर है और तेल को ठण्डा करने पर यह शीघ्र ही विलग हो जाता है, विशेषकर यदि ऐनिथोल का एक क्रिस्टल तेल मेरे ढाल दिया जाय। सौंफ के 'तिक्त' तेलों मेरे ऐनिथोल की विद्यमानता ही उनके विशिष्ट स्वाद का कारण है। बाजार से खरीदी गयी भारतीय सौंफ से निकाले गये तेलों की विशेषताएँ, राव, सद्वरो और वाट्सन के मतानुसार तथा एक पूर्ववर्ती अनुसधानकर्ता के मतानुसार ये हैं— आपेक्षिक घनत्व १५ डिग्री से पर ० ९६८० से ० ९७६७, ध्रुवण धूणन  $25^{\circ}$  से० पर+ $117^{\circ}$  से+ $21^{\circ}$ ,  $\mu_D^{25}$ , १५१५५ से १५३८, जमनाक (congealing point) +५५° से +९०°, ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के १ भाग मेरे १ विलेयता। ये स्थिराक व्यापारिक मीठी सौंफ के तेल स्थिराक के निर्धारित सीमा के अन्दर आते हैं। भारतीय सौंफ के तेल मेरे ७० प्रतिशत से ऊपर ऐनिथोल और ६ प्रतिशत फेन्कोन पाया जाता है।

सौंफ का तेल ऐरोमेटिक, बातानुलोभक होता है और बच्चों के उदर-जूल के उपचार के काम मेरा लाया जाता है। यूरोप मेरे रसोई के प्रयोजनों के लिए तथा हृदपेय एवं सुवासित मध्य तैयार करने के लिए इसका बहुत उपयोग किया जाता है। परिमल पदार्थों के निर्माण मेरे इसका कम उपयोग होता है, परन्तु बहुधा सावुनों को सुवासित करने मेरे इसको काम मेरा लाया जाता है। बाष्पशील तेल के आसवन के बाद सौंफ की जो खली बच जाती है वह पशुओं के लिए एक मूल्यवान खाद्य है क्योंकि इसमे १४ से २२ प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा और १२ से २० प्रतिशत वसा की मात्रा रहती है। व्यापारिक विदोहन की दृष्टि से, तेल के अल्प प्रतिशत की उपलब्धि कृषकों को हतोत्साहित करने वाली बात है। शुद्ध ऐनिथोल भी बाजार मेरे विकाने लगा है, इससे सौंफ के तेल का महत्व भी बहुत कुछ घट गया है। इस बात का पता लगाने के लिए कि उचित और वैज्ञानिक ढग से खेती करने से तेल की मात्रा मेरे वृद्धि हो सकती है या नहीं, और अनुसधान किया जाना चाहिये।

### सन्दर्भ :-

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*,
- (2) Rao, Sudborough and Watson, 1925, *J Ind Inst Sci.* 184,
- (3) Umney, J C, 1897, *Pharm Jourr.* 4, 225,
- (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy* 440,
- (5) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour Sci Indust. Res.* 12 A, 276, Suppl. ,
- (6) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1952, 107



मुख्य घटक मेथिल सैलिसिलेट के होने के कारण, मेथिल सैलिसिलेट को ही मान्यता दे रखी है। किन्तु इन तीनों चीजों की अर्थात् सिलिष्ट मेथिल सैलिसिलेट, गॉल्थीरिआ के तेल और स्वीट बर्च के तेल की अनुमति अधिकारियों ने दे रखी है यदि उनपर लगा लेबल यह बताता हो कि वह किस साधन से बनाया गया है। अन्य कई पौधों में भी मेथिल सैलिसिलेट की विद्यमानता का पता लगा है। ये पौधे बैचुलेसी, पॉलीगेलेसी, एरिकेसी, लेग्युमिनोसी आदि कुछ के पौधे हैं जो विश्व के विभिन्न भागों में पैदा होते हैं, किन्तु कुछ में सक्रिय तत्व की विद्यमानता की मात्रा इतनी कम है कि उनका कोई वाणिज्यिक महत्व नहीं हो सकता। गॉल्थीरिआ फैग्रैटिस्सिमा नीलगिरि, ट्रावनकोर, बर्मा में टुगू के पास और विशेष करके असम में स्वतन्त्र रूप से पैदा होता है। यह नेपाल से भूटान तक ६ हजार से ८ हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है और खासिराया की पहाड़ियों में तथा पश्चिमी घाटों पर भी पाया जाता है। पूर्जनसिंह ने वाणिज्यिक उपयोग की दृष्टि से इसके आसवन करके निकाले गये उत्पाद का अध्ययन किया था ( १९१७ई० )। उन्होंने यह पाया कि असम के पौधों में वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए पर्याप्त तेल होता है। उनके परीक्षणों के परिणाम इस प्रकार हैं।

		ताजी बूटी	सूखी बूटी
१—नीलगिरि गॉल्थीरिआ	३५० पौण्ड	००३६ प्र श	००६७ प्र श
२—नीलगिरि गॉल्थीरिआ	५०० पौण्ड	० १२० प्रतिशत	० २३ प्रतिशत
३—असम गॉल्थीरिआ	३५० पौण्ड	० ६५ प्रतिशत	१०२ प्रतिशत

भारतीय विण्टरग्रीन के तेल में उसी प्रकार के गुण पाये जाते हैं जैसा कि अन्य देशों के इस तेल में होते हैं। असम के तेल के स्थिराक इस प्रकार हैं—

आपेक्षिक घनत्व १.१८५, ध्रुवण अर्घूर्णक, ७० प्रतिशत ऐलोहॉल के ६ भाग में विलेय, मेथिल सैलिसिलेट अश ९९ १ प्रतिशत, अपवर्तनाक २०° से० पर १५३७ से १५३९, रगहीन या प्रायः रगहीन, विशिष्ट उग्र गध, और मीठा ऐरोमेटिक तीखा स्वाद।

आर्थिक पक्ष विण्टरग्रीन के तेल और स्वीट बर्च के तेल में ९५ से ९९ प्रतिशत तक मेथिल सैलिसिलेट होता है। विण्टरग्रीन का तेल पहले 'प्राकृत' मैलिसिलिक अम्ल बनाने से विस्तृत रूप से प्रयोग में लाया जाता था। जब से कोलतार से सिलिष्ट मेथिल सैलिसिलेट बनने लगा है, तब से स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। कुछ समय तक तो 'प्राकृत' उत्पाद को अधिक पसन्द किया

जाता था, क्योंकि सशिलष्ट मेथिल सैलिसिलेट मे कई आपत्तिजनक अणुद्ध वस्तुएँ विद्यमान रहती थी, किन्तु अब सशिलष्ट मेथिल भैलिसिलेट का निर्माण इस पूर्णता को पहुँच गया है कि विण्टरप्रीन से प्राकृत उत्पाद मे कोई लाभ नहीं रह गया। इसके अतिरिक्त मशिलष्ट उत्पाद की कीमत प्राकृत उत्पाद की कीमत से बहुत सस्ती पड़ती है और फिर यह भी है कि गॉल्थीरिआ का तेल, निट्रिश फार्मास्युटिकल कोडेक्स के अनुसार, लगाये जाने पर उससे कही अधिक बार तक पर विस्फोट (eccuption) पैदा कर सकता है, जितना कि सशिलष्ट उत्पाद के लगाने से हो सकता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि साधारण उपयोग में सशिलष्ट उत्पाद ने प्राकृत उत्पाद को पीछे कर दिया है।

यद्यपि भारतीय गॉल्थीरिआ फैग्रेण्टस्समा से उपलब्ध प्राकृतिक उत्पाद के वाणिज्यिक उपयोग की सम्भावना बहुत आसाप्रद नहीं प्रतीत होती है, फिर भी कोई कारण नहीं है कि वर्तमान ससाधनों को नष्ट होने दिया जाय और इस दिशा मे समुचित अनुसधान न किया जाय। पूरन सिंह के अनुसार (१९१७ ई०) भारतीय पौधे से जितना तेल निकालता है वह बहुत कम है, किन्तु आसवन की सुधरी प्रणाली को अपनाकर तेल की उपलब्धि शायद बढ़ायी जा सकती है। जर्मनी में जिगेलमान (Ziegelmann) ने जो परीक्षण किये हैं उनसे पता चलता है कि आसवन के पूर्व यदि द्रव्य का मृदुभावन (maceration) किया जाय तो तेल ज्यादा मिल सकता है। नीचे दिये गये विवरण से यह बात ज्यादा स्पष्ट हो जाती है —

तेल की उपलब्धि-प्रतिशत

(स्वीट चर्च के छाल से)

० २० (विना मृदुभावन)

० ४१ (४० से० पर वारह घटे मृदुभावन)

तेल की उपलब्धि-प्रतिशत

(गॉल्थीरिआ की पत्तियों से)

० ७०

१ ३०

इसलिए सम्भव है कि यदि तेल निकालने की सुधरी प्रणाली को अपनाया जाय, जैसा कि जर्मनी मे है, तो भारत मे गॉल्थीरिआ के तेल का उत्पादन लाभप्रद हो सकता है। इसकी कृपि से नियमित रूप से कच्चे पदार्थ की आपूर्ति होती रहेगी और असम मे यह एक रूपया दस आना प्रति पौण्ड की लागत चार रूपये प्रति पौण्ड तक की है। मशिलष्ट उत्पाद की कीमत यद्यपि बहुत कम हो गयी है (दाईं रूपया प्रति पौण्ड), फिर भी उत्पादकों को काफी लाभ आता है। भारत कम से कम विण्टरप्रीन तेल की अपनी आवश्यकता को अपने ससाधनों से पूरा तो कर ही सकता है।

### संन्दर्भ :-

(1) Finnermore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co , 1895, Report, (3) Julian Singh, 1917, *Ind For Rec* , (4) Chopra, R N , and Badhwar, R L , and Ghosh, S , 1949, *Poisonous Plants of India*, I, 605

### जेन्शिआना कुर्ल (जेन्शिएनेसी)

**Gentiana kuroo Royle (Gentianaceae)**

भारतीय जेन्शिअन मूल (Indian Gentian Root)

नाम .—ब० तथा हिन्दी—करु, कुटकी, वम्ब०—पाषाणभेद, गु०—पाखानभेद;  
प०—नीलकान्त, कमलफूल।

### पिक्रोराइजा कुर्स्डा ( स्क्राँफुलैरिएसी )

**Picrorhiza kurrooa Linn (Scrophulariaceae)**

नाम —स०—कटुका, कटुरोहिणी, हि० और ब०—कटकी, कुरु, प०—काली  
कुटकी, वम्ब०—वालकड़, त०—कटकु-रोगणी, अ० और फा०—सरवके  
हिन्दी, कशमी०-कौर।

जेन्शिअन बहुत प्राचीन काल से औषधि के रूप में ज्ञात है, तथा प्राचीन यूनान और अरब के चिकित्सकों के काल से चली आ रही है। कई जटिल योगों में यह भी एक घटक के रूप में रहता है। औषधिकोश में यह एक महत्वपूर्ण तिक्त औषध है और इसका विस्तृत रूप से उपयोग किया जाता है। सभी साधारण तिक्त औषधियों में जो पौधिक (वल्य) गुण पाये जाते हैं, वे इसमें भी बहुत अधिक मात्रा में मिलते हैं। अपने ऐरोमेटिक गुणों के कारण इसका स्वाद अनुकूल होता है और इसमें टैनिन न होने के कारण कोई स्तम्भक प्रभाव नहीं पाया जाता। इसलिए इसे अन्य तिक्त औषधियों से अधिक पसन्द किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा के कई वल्य और क्षुधावर्धक नुस्खों में इसका समावेश रहता है। इस भेषज का मान्यता-प्राप्त स्रोत जेन्शिआना ल्यूटिया (*Gentiana lutea*) (साधारण यूरोपीय पीत जेन्शिअन) के प्रकद और मूल है। जेन्शिआना ल्यूटिया एक सुन्दर बहुवर्षीय पीढ़ा है जो मध्य एवं दक्षिणी यूरोप के आल्प्स के पहाड़ी प्रदेशों में पैदा होता है। इसकी सुखायी जड़ों को बेलनाकार टुकड़ों में उन्हे समूचा या फिर अनुदैर्घ्य टुकड़ों में काटकर भारत को नियंत्रित किया जाता है। जेन्शिअन की कई जातियाँ जैसे जेन्शिआना कुर्ल, जेन्शिआना डिक्म्बेन्स (*G decumbens*), जेन्शिआना टेनेल्ला (*G tenella*) इत्यादि भारत के

पहाड़ी प्रदेशों में पायी जाती है, किन्तु चिकित्सा प्रयोग में उनका कोई उपयोग नहीं किया जाता है यद्यपि इन सभी की मूलों या तरों में तिक्तता अत्यं या अधिक मात्रा में जहर रहती है। इनमें जेन्शिअना कुर्ल सुविरयात है और मान्यता-प्राप्त भेपज की जगह इन जाति को बहुत ज्यादा काम में लाया जाता है और इसे भारतीय फार्मास्युटिकल कोडेक्स १९५२ ई० में मान्यता भी मिल गयी है। यह एक छोटा शाकीय पौधा है। जिसना फूल सुन्दर और नीला होता है और जो कश्मीर में और उत्तर पूर्वी हिमाचल के प्रदेशों में ५ हजार से ११ हजार फुट की ऊचाई पर आम तौर में पाया जाता है। यह पौधा पहाड़ों स्थानों में उगता है, पर ऐसे ऊचे स्थानों में जहाँ यह नहीं उपजता, यह अपने को वहाँ के बतुकूल नहीं बता पाता है। खेती में इसके सर्वोत्तम विकास के लिए वाणिक रूप से छाया का होना बड़ा सहायक होता है। इसे पुष्पित होने में कुछ वर्ष लग जाते हैं और काफ़ी समय बीतने पर इसकी जड़ें विक्री के लिए समुचित आकार की हो पाती हैं। यह नगी पहाड़ियों पर और चट्टानों की ढालों में, दोनों जगह ही उगता है। ज्यादातर जड़े पहाड़ों से मैदानों को भेजी जाती है। पर अभी तक इसकी रचना के बारे में विस्तारपूर्वक कोई रासायनिक अध्ययन नहीं हुआ है, इसलिए चिकित्सक तथा भेपज-निर्माता इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। इस जाति के मूल के एक नमूने का, जो कश्मीर से आया था, विश्लेषण किया गया था जिसके परिमाण निम्नलिखित है—

	जेन्शिअना कुर्ल	जेन्शिअना ल्यूटिया
जलीय सार	२० प्रतिशत	३०-४० प्रतिशत
मस्त	० ७० प्रतिशत	६ प्रतिशत से अधिक नहीं
जेन्शिओपिक्रिन	शून्य	१ ५ प्रतिशत

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जेन्शिअन की इम जाति में जेन्शिओपिक्रिन नहीं होता जो जेन्शिअना ल्यूटिया का एक सक्रिय तत्त्व समझा जाता है। अत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मान्यताप्राप्त भेपज के स्थान पर जेन्शिअना कुर्ल की जड़ का प्रयोग नहीं किया जा सकता। निट्रिश फार्मास्युटिकल कोडेक्स के अनुसार जेन्शिअना के मूल को सुखाने की जो क्रिया है सम्भवत उसका असर मूल के सघटकों पर पड़ता है। जेन्शिअना ल्यूटिया की ताजी जड़ों में जेन्शिओपिक्रिन नामक सक्रिय तत्त्व विद्यमान रहता है। मूल को धीरे धीरे सुखाने से थोड़ी बहुत मात्रा में किण्वक परिवर्त्तन होते हैं जिनसे जेन्शिओपिक्रिन के जलापघटन की सभावना रहती है, इसके फलस्वरूप जल विलेय सार कम हो जाता है। इसलिए सम्भव है कि जेन्शिअना

कुर्ह में जेन्शिओपिक्रिन और जलीय सार के अभाव का कारण सुखाने की वह प्रक्रिया है जो कशमीर में बरती जाती है। देहरादून के संस्थान में विश्लेषण के लिए कशमीर से ऐसी ही जड़े भेजी गयी थी। इण्डियन फार्मस्ट्यूटिकल कोडेक्स (१९५२ ई०) के अनुसार जड़ों में एक तिक्त तत्त्व और २० प्रतिशत पीले रंग का पारदर्शी भगुर रेजिन रहता है, जो मस्तगी (mastig) के सदृश होता है। यह रेजिन उदासीन और स्वादहीन होता है और कार के धोल में अविलेय रहता है। इसमें जेन्शिओपिक्रिन नहीं होता जो जेन्शिआना ल्यूटिया का सक्रिय तत्त्व समझा जाता है।

इस सम्बन्ध में पिक्रोराइज़ा कुर्हआ (*Pscorrhiza kurrooa* Linn.) की चर्चा करना उपयोगी होगा, क्योंकि इसका आम तौर से उपयोग जेन्शिआना कुर्ह में अपभिश्वरण करने के लिए या उसका स्थानापन्न बनाने के लिए किया जाता है। इन दोनों भेषजों के पहचान के सम्बन्ध में बड़ा विभ्रम है, क्योंकि भाषा में दोनों के लिए "कुटकी" नाम का प्रयोग किया जाता है। देशीय चिकित्सा पद्धति में पिक्रोराइज़ा कुर्हआ को एक बहुमूल्य, तिक्त, वल्य के रूप में उतना ही प्रभावी माना जाता है जितना कि जेन्शिआनको। इसके अतिरिक्त कालिकज्वररोधी (antiperiodic) और पित्तोत्पादक (cholagogue) के रूप में भी यह प्रसिद्ध है। यह पौधा उत्तर पश्चिम हिमालय में कशमीर से सिक्किम तक पाया जाता है। इसके नमूने गढ़वाल, चम्बा, हजारा जिला, कशमीर, गिलगिट, उत्तर पश्चिम हिमालय और सिक्किम हिमालय से इकट्ठा किये गये हैं। यह पौधा थोड़ा बहुत रोमिल होता है। इसका प्रकार्न बहुवर्षी, काष्ठीय और तिक्त होता है, जो १५ से २५ से ० मी० तक लम्बा होता है और सूखी पत्तियों के आधार से आच्छादित रहता है। उन स्थानों के लोगों द्वारा इसका खूब उपयोग किया जाता है, और इस बात के प्रमाण भौजूद हैं कि इसे काफी मात्रा में इकट्ठा करके मैदानी इलाकों को भेजा जाता है। इसकी जड़ों की आपूर्ति मुख्यतया उत्तर पश्चिम और सिक्किम हिमालयी क्षेत्रों से की जाती है। इसकी कृषि हिमालय में ३,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई तक की जा सकती है। प्रकार्नों से इसका प्रवर्धन किया जा सकता है, किन्तु प्रकृति में दीजों से प्रवर्धन होता है। जिन सक्रिय तत्त्वों के कारण इसका प्रभाव पड़ता है उनको विनिश्चित करने के लिए इसकी जड़ों की क्रमबद्ध रसायनिक छानबोन की गयी थी। विभिन्न विलायकों द्वारा निष्कर्षण करने पर निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए थे।

पेट्रोलियम ईथर सार

सल्फूरिक ईथर सार

१.४९ प्रतिशत

३.४५ प्रतिशत

परिशुद्ध ऐल्कोहॉलीय सार	३२ ४२ प्रतिशत
जलीय सार	८ ४६ प्रतिशत

विभिन्न निस्सारणों की ओर आगे परीक्षा करने पर यह पाया गया कि—

( क ) मेट्रोटिगम ईयर सार में एल ऐकेलायड का सूक्ष्म अश और एक वैक्सी पदार्थ जो  $31^{\circ}$  से  $0$  पर पिघलता है, विद्यमान रहता है।

( ख ) मल्फ्यूरिक ईयर सार में एक ग्लाइकोसाइड, टैनिन्स और कार्बनिक अम्ल होते हैं।

( ग ) ऐल्कोहॉलीय सार में एक ग्लाइकोसाइड और रेजिन्स आदि होते हैं।

( घ ) जलीय सार में शर्करा, तिक्त पदार्थों की बड़ी मात्रा आदि मिलती है।

इस भैयज में तिक्त पदार्थ  $26\cdot 6$  प्रतिशत के परिमाण में विद्यमान पाया गया। एक ग्लाइकोसाइड भी इसमें पाया गया जो श्रीम रंग का रवाहीन चूर्ण के रूप में था और जो अत्यन्त तिक्त और नार्द्रताप्राही था। इसका विशिष्ट ध्रुवण-ध्रूवन (जलीय घोल में)  $100^{\circ}$  है और यह जल, ऐमिटोन, ऐल्कोहॉल और एसिटिक ईयर में मुक्तरूप से विलेय है, पर फ्लोरोफार्म, बैंजोन, और ईयर आदि में अविलेय है।

उपरोक्त विवरण से यह पता चलेगा कि पिक्रोराइज्जा में तिक्त पदार्थ की एक बड़ी प्रतिशत मात्रा रहती है। जेन्शिअन में विद्यमान तिक्त तत्वों के कारण उसकी भेपजीय सक्रियता होती है इसीलिए पिक्रोराइज्जा कुर्सगा का बहुत व्यापक पैमाने पर उपयोग किया जाता है जहाँ तिक्त भेपजों का निर्देश किया जाता है। इसे इण्डियन फार्मास्यूटिकल कोडेक्स १९५२ ई० में स्थानापन्न द्रव्य के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

### सन्दर्भ :

- ( 1 ) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, ( 2 ) British Pharmaceutical Codex, 1926, ( 3 ) Indian Pharmaceutical Codex, 1952,
- ( 4 ) Trease, G E 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, ( 5 ) Dutt, S C, and Mukerji, B 1950, *Pharmacognosy of Indian Root and Pseudo Drugs*, 95, 108

**ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा ( लेग्युमिनोसी )—लिकोरिस**  
**Glycyrrhiza glabra Linn (Leguminosae)—Licorice**

नाम—ब० तथा बम्ब०—जप्टिमधु, गु०—जेठी मधु, हि०—मुलेठी, जेठीमधु,  
 प०—मुलेठी, म—मधुयज्ञि, यप्टीमधु, त०—अदिमटुरम, ते०—अति-  
 मधुरम्, यप्टीमधुकम् ।

ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा या लिकोरिस ( मुलेठी ) का ज्ञान भेपजविज्ञान में हजारों  
 वर्षों से है । प्राचीन चीनी भेपजविज्ञान में इसे प्रथम श्रेणी के उत्कृष्ट भेपजों में  
 माना जाता था और ऐसा समझा जाता था कि इसका दीर्घ काल तक सेवन करने  
 वाले लोगों का कायाकल्प हो जाता है । प्यास, उवर, दर्द, सांसी, और स्वास—कष्ट  
 को दूर करने के लिए इसका उपयोग किया जाता था । कई शताब्दियों से चीन में  
 बहुत बड़ी मात्रा में इसका उपयोग होता रहा है, और वहाँ भेपजीय दुकानों  
 पर अब भी मुलेठी के अनेक योग (preparations) विकल्प हैं । हिन्दू चिकित्सा  
 विज्ञान में इसका बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत'  
 में इसे प्रमुख भेपजों में स्थान दिया गया है । प्राचीन मिश्र, यूनान तथा  
 रोम में इसका बहुधा उपयोग किया जाता था । थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) ने  
 इसका उल्लेख किया है । रोमन लेखक इसको रैडिकम डल्सिस के नाम से निर्देश  
 करते थे, किन्तु ऐसा समझा जाता है कि लगभग तेरहवीं शताब्दी तक इटली में  
 इसकी खेती नहीं की जाती थी । खोज से पता लगता है कि इगलैण्ड में इसकी खेती  
 सोलहवीं शताब्दी में होती थी । उपलब्ध साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि मध्य-  
 काल में यूरोप में इसका बहुत उपयोग किया जाता था । आज भी यह चिकित्सा तथा  
 भेपजी (फार्मेसी) में अपना स्थान बनाये हुए है ।

इस पौधे की सूखी जड़ें भारतीय बाजारों में भेपज विक्रेताओं द्वारा आमतौर से  
 बेची जाती हैं । देशीय लिकोरिस वलूचिस्तान और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त  
 (पाकिस्तान) में मिलती है किन्तु भारत में इसके पैदा होने की सूचना नहीं है ।  
 इस भेपज की आपूर्ति मुख्यतः फारस की खाड़ी, एशिया माइनर, तुर्किस्तान,  
 साइबेरिया आदि स्थानों से आयात करके होती है । चीन, फ्रास, इटली और जर्मनी  
 आदि देशों में भी इसकी खेती होती है ।

पौधे —जिनसे अधिकांश वाणिज्यिक भेपज उपलब्ध होता है, ये हैं ।  
 ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा, वैराइटी टिपिका (*G. glabra var. tipica* Reg. and Herd)  
 यह ४ या ५ फुट ऊँचा होता है जिसमें मटरकुलीय नील-लोहित रंग का फूल

होता है। इसके भूमिस्थ भाग में नम्बी जटे और पतले प्रकान्द या भूस्तारी (इलोला) होते हैं। इसकी मुख्य जट तने के नीचे कई शागाबो में बैठ जाती हैं, जो जमीन में ४-५ फुट या उनमें अधिक गहराई तक नीचे चली जाती है। इसमें कई भूस्तारी निलालते हैं जो जमीन के बांदर तक तक तो लगे या कुछ नीचे ५-६ फुट तक बढ़ने वाले जाते हैं। यह पौधा रेपेन (बोल्डोमिल, नवारा, अरागान, नेटाडोनिया, वैलेमिया और अण्टाकूसिया) में इटनी ( 'नेनिया और सिरली ) एं इग्नेंट (पांथावर) ने, फ्रान, जन नी रुना लमेरिया में पैदा होता है।

### खिलसिराइजा खेदा वैगाइटी न्येण्टुलिफेरा

यह नैनिमिया ददा मध्द और दक्षिणी रुदा में अपने आप दृढ़तायत से पैदा होता है। नूमिन्द भाग में जटे होती हैं या बहुत न्यादा और नम्बी होती है, पर उनमें भूस्तारी (इलोला) नहीं होती।

खिलसिराइजा खेदा वैगाइटी वायोलेसिया इग्नेंट नैनी लिकोरिस पाया जाता है जो इग्नेंट और ईग्नेंट में इज्ना और पानात की पाटियों में सप्रतीत किया जाता है। जैन आ इनके नाम में नांड मिराना हैं। इसके कूल देगनी रग (volles) के होते हैं।

उत्पादन और व्यापार यह पौधा जगन्नी पैदा होता है और इसकी सेती दक्षिणी घटोप, नौमिया, दक्षक, टर्फी, इनान और न्यग में होती है। ये ही देश इसके नियांत के प्रधान स्रोत हैं। इग्नेंट जटों की वालिजियक धारानि वार्मलोना, एलीन एटी, नेविली, स्पी, दक्षक, न्यग, ऐग्नार्न, इटनी, रमर्ना, वरेन्ट्रीणेटा, हेका, नीरिया, ग्रीग, मिल्क, वेलजियम, मन और जर्मनी ने होता है। जट का नाम प्राय उस देश के नाम पर है जहाँ दह पैदा होती है। पाटिरत्तानी भीगा प्रान्त में यह पौधा अपने आप गृह पैदा होता है और इग्नेंट जटों का एक बड़ी मात्रा में इर साल भारत में आयात होता है। इनकी जटा ना बड़ा न्यापार होता है और अकेले जर्मनिका ने ही १९३९-४० में ६२,३३०,९६८ पौण्ड लिकोरिस जट की आद ८६६,२६१ पौण्ड लिकोरिस गार की घपत की। १९४०-४१ में अमेरिका ने ५६,५४७,८५७ पौण्ड जट का आयात किया। दृष्टि-जन्थ मुलेठी का सबसे बड़ा उत्पादक रेपेन है। चीनी मुलेठी की जड़ बड़े बच्चे किम्ब की होती है और खिलसिराइजा मलेनिग्रा (G. malenigra) से प्राप्त की जाती है।

उपयोग मुलेठी शामक, यफोत्सारक तथा वासक है। मुलेठी का चूर्ण भेपज निर्माण के अनेक प्रयोजनों में काम आता है। उदाहरणार्थ—इसे बटी (Pills) बनाने

में या तो बटी के पदार्थों को उचित गाढ़ा बनाने के लिए या बटी पर चूर्ण छिड़ककर उन्हे आपस में चिपकने से बचाने के लिए तथा चूर्णितसार में तनुकारी (diluent) आदि के रूप में काम में लाया जाता है। औषधि में अब इसके चूर्ण की जगह इसका सार काम में लिया जाता है। पश्चिमी चिकित्सा में मृदु विरेचक के रूप में मुलेठी से निर्भित औषधियों का प्रयोग बहुत ही व्यापक रूप से होता है। खासी के उपचार के लिए कफसिरप तथा गले की खराकी में चूसने वाली गोलियों (lozenges) के रूप में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। भैंजी में मुलेठी का मुख्य उपयोग कड़वे स्वाद वाले भैंजों की, जैसे सनाय, मुसब्बर (ऐलो), अल्फ़मिनियम ब्लोराइड, सेनेगा, हाइड्रोसायमस, तारपीन (टर्पेण्टाइन) आदि की कड़वाहट को कम करने के लिए किया जाता है। उदरस्थ तीक्ष्ण पदार्थों के कारण उत्पन्न वेदना, क्लेश तथा अन्य लक्षणों को दूर करने में यह आश्चर्यजनक काम करता है। अम्ल के क्षोभक प्रभावों को दूर करने में यह क्षारों की अपेक्षा अधिक काम करता है। देशी पद्धतियों के चिकित्सकों द्वारा यह टॉनिक के रूप में, जननमूत्र मार्गों के प्रतिश्याय (catarrh) में शामक के रूप में तथा मृदु विरेचक के रूप में व्यवहृत किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से इस भैंज का आयात कुछ महत्व रखता है क्योंकि केवल औषधियों में ही इसका उपयोग नहीं होता बल्कि रजक तथा तम्बाकू उद्योगों में भी इसे काम में लाया जाता है। औषधीय दृष्टि से मुलेठी की जड़ की जगह उसका सार ही सर्वथा प्रयोग में लाया जाता है। तम्बाकू को सुगन्धित करने के लिए निर्माताओं द्वारा मुलेठी का अधिकाश भाग उपयोग में लाया जाता है। मिष्टान्न-उद्योग में भी इसकी काफी मात्रा में खपत होती है। मुलेठी का सार निकालने के बाद उसका जो अवशेष रह जाता है उसका उपयोग छत्रको (mushrooms) के लिए खाद के रूप में तथा ज्ञागवाले (फोम) अग्नि-शामको (foamfire-extinguishers) के निर्माण में किया जाता है। इस भैंज का केवल एक लघु भाग ही यहाँ संग्रहीत किया जाता है और अपरिकृत भैंज तथा उससे बने योगों (preparations) का अधिकाश भाग बाहर से भेंगाया जाता है। यह पौधा आसानी से उगाया जा सकता है, विशेषकर उष्ण प्रदेशों की नदी की धाटियों में।

कृषि मुलेठी की कृषि के लिए तीन चार फुट या उसमें भी ज्यादा गहरी ऐसी जमीन चाहिये जहाँ की मिट्टी ककड़रहित, हल्की और दुमट हो। साधारणत यह उसी भूमि पर लगातार पैदा की जाती है। अकट्टबर या नवम्बर में पौधे को जड़सहित उखाड़ लिया जाता है जिससे वहाँ की भूमि २ या ३ फुट तक पलट जाती है। उसके बाद भूमि की सतह को बराबर कर दिया जाता है और पौधों को रोपने के लिए दो

फुट चौड़ी में हे एक-एक फुट के अन्तर पर बनायी जाती है। मेडो की पक्कियों को खेत की खाद (farmyard manure) देकर खूब पुष्ट बनाया जाता है। खाद प्रति-एकड़ १५ से २० टन दी जाती है, फिर पक्कियों के बीच की जमीन से मिट्टी लेकर खाद के ऊपर चढ़ा दी जाती है किससे करीब १५ इच ऊँची गोल मेडे तैयार हो जाती है। उखाड़े हुए पौधों की जड़ों से कटे हुए चार-चार इच लम्बे मूल-शिखर (क्राउन) के टुकड़े रोपे जाते हैं। उपरि-भूस्तारी (runner) या भूमिगत तनों के चार चार इच लम्बे टुकड़ों से भी, जिनमें प्रत्येक में कम से कम दो कलियाँ हो, पौधे उगाये जाते हैं। इनके रोपने का काम मार्च में या अप्रैल के आरम्भ में किया जाता है। उस समय इन टुकड़ों को छिद्रारोपित कर दिया जाता है। साधारणत तीन-तीन कर्तनों (sets) का रोपण इस प्रकार किया जाता है कि दो समूहों के बीच में १२ इच की दूरी रहे और प्रत्येक दूसरे समूह में कर्तनों को इस प्रकार रोपा जाता है कि मेडो के बीच में चोटी पर पुराने मूल-शिखर हो और उसके दोनों तरफ प्राय दस-दस इच की दूरी पर एक-एक कर्तन रहे। इन रोपे हुए मूल-शिखरों को दो तीन इच मिट्टी से ढँक दिया जाता है। अच्छी फसल का सुयोग तब होता है जब रोपनी के समय और उसके बाद २ महीनों तक मौसम सूखा बना रहे। अगर मई या जून में मौसम ठंडा रहे तो २० से ४० प्रतिशत मूल-शिखर उगते ही नहीं। मुलेठी की खेती में यही सबसे बड़ी कठिनाई होती है और साथ ही यह भी कठिनाई है कि लागत बहुत बैठती है। इस कारण से कम कीमत वाली मुलेठी की तरफ ज्यादा ध्यान रहता है जो वन्य-अवस्था में पैदा होती है और इकट्ठा की जाती है। गरमी में भूमि को साफ रखा जाता है और नवम्बर में पौधे को जमीन से १ इच ऊपर काट दिया जाता है। मुलेठी का पौधा जमीन में चार या पाच वर्ष तक रहता है। बहुत से लोग तो पहले के दो वर्षों में मेडो के बीच की जमीन में गाजर, आलू और पातगोभी की भी खेती कर लेते हैं। पतझड़ में पौधे उखाड़े जाते हैं। मुख्य फसल अक्टूबर में तैयार की जाती है, यद्यपि कुछ लोग सितम्बर के अंत में भी फसल तैयार कर लेते हैं ताकि बाजार में अच्छी कीमत मिल सके। नवम्बर में इसके उखाड़ने का काम समाप्त हो जाता है। मेड की बगल में २ फुट गहरी खाई तैयार कर ली जाती है और फिर भीतर की ओर गोड़ते हुए जड़ों के पास की मिट्टी को मुलायम कर दिया जाता है जिससे कि वे आसानी से उखाड़े जा सके। प्रति एकड़ दो टन मुलेठी की जड़ और ३ से ४ हजार रेट छाट (trimmings) मिल जाय तो इतनी पैदावार सतोष-जनक समझी जाती है।

अभी हाल में इन लेखकों ने जम्मू और कश्मीर की प्रयोगात्मक रोपणियों में इस पौधे को लगाया था। बारामुला, श्रीनगर और जम्मू में इस पौधे की पैदावार की प्रगति अच्छी रही। श्रीनगर की रोपणी से प्राप्त हुए प्रयोगात्मक फसल का जो वैश्लेषिक परिणाम निकला उसे नीचे दिया गया है —

	श्री नगर	पी० पी० और बी० पी० सी०
कुल राख	९ २ प्रतिशत	बिना छिली जड़ों की १० प्रतिशत से अधिक नहीं।
अम्ल में अविलेय राख	५ ६ प्रतिशत	बिना छिली जड़ों की २ ५ प्रतिशत से अधिक नहीं।
जल में विलेय सार	२ ३ ३ प्रतिशत	२० प्रतिशत से कम नहीं।
ग्लिसिराइजिन	३ ६ प्रतिशत	२ से ७ प्रतिशत तक।
मण्ड ( स्टार्च )	४ ६ प्रतिशत	ग्लूकोज, सक्रोज, मण्ड ३० प्रतिशत के लगभग गर्रट मण्ड ६ प्रतिशत से अधिक नहीं।

घटक ——मुलेठी का मुख्य घटक ग्लिसिराइजिन होता है, जो उसमें ग्लिसिराइजिक अम्ल के पोटैशियम और कैल्सियम लवण के रूप में विद्यमान रहता है। ग्लिसिराइजिक अम्ल, ग्लाइकोसाइड नहीं है, क्योंकि जल-अपघटन करने पर इससे कोई शर्करा न प्राप्त होकर, ग्लिसिरेटिक अम्ल का एक अणु और ग्लाइक्युराइनिक अम्ल के दो अणु प्राप्त होते हैं। ग्लाइक्युराइनिक अम्ल का हेक्सोज शर्करो से निकट का सम्बन्ध है, और ग्लिसिरेटिक अम्ल में सैपोनिन के समान ही रक्त-सलायी ( हीमोलिटिक ) गुण होता है। मुलेठी में ग्लूकोज ३०% प्रतिशत, सक्रोज ( डक्टु-शर्करा ) २ ४ से ६ ५ प्रतिशत और तिक्त तत्त्व, रेजीन, मैनाइट, एस्पैरेजीन २ से ४ प्रतिशत और वसा ० ८ प्रतिशत होता है। कहा जाता है कि ग्लिसिराइजिन गन्ने की शर्करा की अपेक्षा प्राय ५० गुना अधिक मीठा होता है और इसकी मिठाम १ १५००० की तनुता में भी पहिचानी जा सकती है।

स्थानापन्न द्रव्य तथा अपमिश्रक ——मचुरिया की मुलेठी, जो ग्लिसिराइजियूरालेन्सिस ( *G. muralensis* ) से प्राप्त की जाती है, रग में श्याम भूरी और अपशलिक्त ( *efoliating* ) छालवाली होती है। ग्लिसिराइजियूरालेन्सिस से इसकी आतरिक सरचना भिन्न होती है, क्योंकि इसकी मज्जा-रशिमर्याँ टेढ़ी होती हैं और इसके

काष्ठ में रिक्तिकाएँ ( lacunae ) वर्तमान रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें उतनी ही मात्रा में ग्लिसिराइजिन होता है जितनी कि अन्य किसी में होता है, किन्तु इसमें शर्करा का अश मात्र रहता है। अमेरिकी मुलेठी या बन में पैदा होने वाली मुलेठी ग्लिसिराइजा लेपिडोटा ( *G. lepidota* ( Nutt ) Pursh ) की जड़ होती है, जो अमेरिका के पश्चिमी भाग और निचले कनाडा में वहुतायत से अपने आप उगती है। इसमें ६ प्रतिशत ग्लिसिराइजिन होता है। ऐत्रस प्रिकेटोरियस ( गुखा या धुँघची ) ( *Abrus precatorius* Linn ) की जड़ जिसे साधारणत वन्य मुलेठी, भारतीय मुलेठी या मुलेठी ज्ञाढ़ी कहते हैं असली मुलेठी की जगह काम में लायी जाती है, किन्तु इसके विपैले गुणों के कारण चिकित्सीय उपयोग के लिए इसको स्वीकृत नहीं किया जा सकता है।

**मुलेठी का गुण-कर्म** ——मुलेठी से बनी औषधियों के शामक, कफोत्सारक और सुस्वादु होने के कारण खाँसी की पेय औषधियों में तथा वासक के रूप में मुलेठी का व्यवहार बहुत अधिक किया गया है। हॉलैण्ड के रेवर्स ने यह लक्ष्य किया कि मुलेठी की औषधियों का सेवन करनेवाले रोगियों का वजन कभी कभी बढ़ जाता था और टखने ( ankle ) में सूजन आ जाती थी। ऐमस्टर्डम विश्वविद्यालय में आगे जो अनुसधान कार्य चला उससे यह प्रकट हुआ कि मुलेठी के मौखिक सेवन से जल और लवण का अवधारण होता था और साथ ही पोटैशियम की बहुत कमी हो जाती थी। उससे रक्त-परिसचरण में पहले से अधिक द्रव बढ़ जाता था, अत छूट्य का कार्यभार बढ़ जाता था। प्रत्येक धड़कन के साथ शिराओं द्वारा रक्त भरण दाव बढ़ जाता था, जिससे छूट्य का आयतन और धमनियों में दबाव बढ़ जाता था। फिर कुछ समय बाद रक्त परिसचरण पूर्ववत् स्थिति पर आ जाता था जिससे लवण और जल घट जाता था। मुलेठी का सेवन बन्द कर देने पर पोटैशियम फिर इकट्ठा होने लगता था।

यह प्रभाव उमी तरह का है जैसा कि डेसोक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसिटेट देने पर देखा जाता है। स्ट्राग और रुजाक भी जो स्वतन्त्र रूप से ग्लिटेन में इस पर अनु-सन्वान कर रहे थे, इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि पैराअमीनोसैलिसिलिक अम्ल का उपचार पाने वाले यक्षमा के रोगियों में विद्युत-अपघट्य ( electrolytes ) के सतुलन में जो गडवडी होती है, उसका कारण मुलेठी का सुवास है। ग्रोयेन और उनके साथियों ने ऐडिसन व्याधि ( Addison's disease ) से पीड़ित कई रोगियों की सफल चिकित्सा मुलेठी के उपचार से की है, किन्तु कुछ रोगियों को इससे सक्रोप-

जनक फल नहीं प्राप्त हुआ। इसके प्रतिकूल बोर्स्ट और मोल्युन्सेन ने यह पाया कि मुलेठी का प्रभाव साधारणत सामान्य व्यक्तियों पर सर्वथा वही पड़ता है जैसा कि डेसॉक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसिटेट का होता है, पर ऐडिसन की व्याधि से पीड़ित रोगियों पर यह प्रभाव नहीं पड़ता है। अभी हाल मे बोर्स्ट और मोल्युसन ने ऐसा बताया है कि मुलेठी और कॉर्टिसोन को जब साथ-साथ दिया जाता है तो मुलेठी का प्रभाव वही होता है जो डेसॉक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसीटेट का होता है। सम्भवत उसका कारण यह है कि मुलेठी डेसॉक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसीटेट की तरह का प्रभाव तभी पैदा करती है जब कि अधिवृक्क (ऐड्रिनल) ग्रन्थियाँ कॉर्टिसोन या सम्बन्धित स्टिरॉयड की एक न्यूनतम मात्रा पैदा करती हों।

कार्ड का यह कथन है कि सक्रिय तत्त्व सम्भवत ग्लिसिरेटिनिक अम्ल हो सकता है। अतः यह बुद्धिमानी की बात होगी कि निम्नलिखित रोगों के रोगियों के लिए मुलेठी का प्रयोग औषधियों मे वासक रूप मे न किया जाय। हृद-पात, अतिरक्त-दाढ़, वृक्ष सम्बन्धी रोग, स्थूलता (मोटापा) और गर्भावस्था के विकार।

### सन्दर्भ :

- (1) Beal, G D and Lacey, H T , 1929 *J Amer Pharm Assoc* 18, 145,
- (2) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 389,
- (3) Datta, S C , and Mukerji, B , 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 53,
- (4) Kapoor, L D , Handa K L , and Chopra, I C , 1953, *jour Sci Industr. Res* , 12 A, 7, 313,
- (5) *Lancet*, 1950, II 381,
- (6) *Ibid*, 1953, I 657, 663,
- (7) Revers, 1946, *Ned Tijdschr Geneesk*, 90, 135,
- (8) *Brist Med Journ* , 1951, II, 998,
- (9) *Ibid*, 1952, I, 360,
- (10) Groen, *New Eng J Med* 1951, 224, 71,
- (11) *Pharm. Jour* 1953, (12) *Ind Jour Pharm* , 1953, 12, 15, 323

### हेमीडेस्मस इण्डिकस (ऐस्क्लेपियाडेसी)

*Hemidesmus indicus* R. Br. ( Asclepiadaceae )

भारतीय सारसापारिला (Indian Sarsaparilla)

नाम — स०—अनन्त, सारिवा, हि०—मग्नाबू, व०—अनन्तमूल, त०—नन्नारी, फा०—उश्बाहे—हिन्दी ।

सारसामूल का स्रोत स्पाइलैक्स ऑर्नेटा (*Spiraea ornata*) है, जो कि कोस्टारिका देश का एक आरोही पौधा है। यह भेषज उसी जीनस के अन्य जातियों से भी

उपलब्ध होता है, जो मध्य अमेरिका में पाये जाते हैं। साधारणत यह जमैका सारसापारिला के नाम से ज्ञात है, क्योंकि जमैका के रास्ते से पहले इसका निर्यात विभिन्न देशों को हुआ करता था। स्माइलैक्स ऑफिसिनैलिस (*S officinalis*) होण्डुरास से आता है, किन्तु स्माइलैक्स ऑन्टैटा व्यापारिक दृष्टि से सर्वोत्तम समझा जाता है। सारसापारिला की प्रमुख किस्में और उनकी प्राप्ति के स्थान, जैसा कि अमेरिकी भेषज कोश १४ (यू० एस० पी० XIV) (१९५० ई०) में दिया हुआ है, इस प्रकार है —

किस्म और उत्पत्ति स्थान	पर्याय	वानस्पतिक स्रोत
मैक्सिको	वेराक्रुज या ग्रे	स्माइलैक्स ऐरिस्टोलोकिफोलिअ
होण्डुरास	ब्राउन	स्माइलैक्स रिगेलाइ
इक्येडोरीय	ग्वायाकिवल	स्माइलैक्स फेनिफ्यूज़ा
मध्य अमेरिकी	कोस्टारिका या जमैकी,	अनिश्चित जाति

पोपाहार सम्बन्धी विकारों तथा उपदृश्य की चिकित्सा के लिए दीर्घकाल से इस पौधे की ख्याति अस्पष्ट रूप से चली आ रही है। पुराने आमवात और चर्म-रोग में तथा रक्तशोधक के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। सदिग्ध स्रोत की सारसापारिला पर अनेक रासायनिक अनुसधान किये जा चुके हैं और यह कहा जाता है कि पुराना होने के कारण व्यापार के माध्यम से प्राप्त होने वाला बहुत सा भेषज निष्क्रिय हो गया है। सारसापारिला के एक नमूने का परीक्षण पावर और सालवे ने (१९१३ ई०) में किया था। उसमें एक क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड, सारसैपोनिन,  $C_{44} H_{76} O_{20}$ , 7  $H_2 O$  मिला, जो जल-अपघटन पर सारसैपोजेनिन  $C_{26} H_{42} O_3$  और ग्लूकोज देता है। फाइजर तथा जैकोवसन (१९३८ ई०) ने सारसैपोजेनिन का अन्वीक्षात्मक सरचना-सूत्र प्रतिस्थापित किया। इस भेषज में सिटोस्टेरॉल  $C_{27} H_{46} O$  और स्ट्रिग्मास्टेरॉल  $C_{30} H_{50} O$ , सिटोस्टेरॉल, डी-ग्लूको-साइड, एक नया क्रिस्टलीय डाई-कारबाँक्सिलिक अम्ल, जिसे सारसैपिक अम्ल  $C_8 H_4 O_6$  कहते हैं, तथा ग्लूकोज, वसा-अम्ल और प्राय १२५ प्रतिशत रेजिनी पदार्थ भी पाया गया। हाल के अनुसधानों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि सारसापारिला में सक्रिय तत्व, एक इन्जाइम, एक वापशील तेल और एक सैपोनिन है, जिनमें से कोई भी, उपदृश्य या अन्य रोगों में, जिनके लिए इस भेषज का उपयोग किया जाता है, कुछ भी प्रभाव नहीं रखता। इसकी क्रिया-विधि (mode of action) अस्पष्ट तो है, किन्तु यह शरीर की प्रतिरक्षात्मक-व्यवस्था को

उद्दीप्त कर सकता है अथवा अन्य भेपजों के आन्तीय अवशोषण को बढ़ा सकता है। अनुपान के रूप में इसका उपयोग किया जाता है, विशेषकर अमेरिका में जहाँ इसके तरल निम्फार (Fluid extract) और मिथित सिरप (compound syrup) को अधिकृत मान लिया गया है। ऐच्कोहॉरहिट पेय बनाने में बहुत बड़ी मात्रा में उनका उपयोग किया जाता है। नान्नापारिला तथा उससे बनी औषधियाँ बटी मात्रा में प्रतिवर्ष भारत में आयात की जाती है। भारत के नमुद्र-वाही व्यापार समन्वयी रिपोर्ट से पता चलता है कि १९२८-३३ ई० की अवधि में ४० हजार रुपये के मूल्य का सारसापारिला यहाँ आयत किया गया।

सारसापारिला में सम्बद्ध दो पादप भारत में बहुत होने हैं। ये हैं सैक्कोलेवियम पेपीलोसम (*Sycoleium papillosum*) तथा हेमीडेस्मम इण्डिकस।\* हेमीडेस्मम इण्डिकस की जड़ दक्षिणी भारत में बहुत दीर्घ काल से वल्य और रमायन के रूप में प्रयुक्त होती आयी है। इसकी जड़ को भारतीय सारसापारिला मी कहते हैं। यह एक आरोही पादप होता है और उत्तर भारत में बहुतायत से होता है। वगाल में, दक्षिण में ट्रावकोर से श्रीलंका तक, तथा वन्धुद्वी में भी यह पाया जाता है। प्राचीन गन्धो में एक महत्त्वपूर्ण औषधि के रूप में इसका दीर्घ काल से उल्लेख होता आया है। १८३१ ई० में ऐश्वर्नर ने यूरोप के चिकित्सकों का ध्यान इस पीछे की ओर आकृष्ट किया और १८६४ ई० में इसे ब्रिटेन के भेपजकोप में न्यान मिल गया था, किन्तु इसकी छाति वहाँ जल्दी ही समाप्त हो गयी थी, क्योंकि भारत से जो सामग्री जाती थी वह प्राय अपमिथ्रित और घटिया किस्म की होती थी। फिर देशी चिकित्सापद्धति में यूरोपीय सारसापारिला के एक बहुमूल्य स्थानापन्न के रूप में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यूरोपीय नारसापारिला, स्माइलेक्स बार्नेंटा तथा इसमें सम्बद्ध जातियों से प्राप्त किया जाता है। जातियों की विभिन्नता के अनुसार न्यालैक्स की जड़ों के बाजार में अलग-अलग नाम हैं। होण्डुरास का सारसापारिला, टेक्सास का सारसापारिला, मैक्सिको का सारसापारिला, जमैकी सारसापारिला इत्यादि। व्यापार में काम आनेवाला भारतीय सारसापारिला हेमीडेस्मस इण्डिकस की जड़ से

\*'सारिवा' के दो भेद हैं—श्वेत एवं कृष्ण। हेमीडेस्मस इण्डिकस को श्वेत सारिवा (अनन्तमूल) तथा इक्नोकार्पस फ्रैटेसेन्स—*Ichneocarpus frutescens* R. Br. को और कहीं-कहीं क्रिप्टोलेपिस बुकेनैनाइ—*Cryptolepis buchanani* Roem & Schult को कृष्ण सारिवा कहते हैं। इन तीनों के मल पर अभिज्ञान सम्बन्धी अनुसधान अनुवादक और उनके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित हैं। देखें—*Ind. J. Pharm.* 27, 2, 35-39, 1971, *Jour. Res. Ind. Med.* (2), 242, 1971, *Ibid.*, VI (2) 159, 1971—अनु०

प्राप्त किया जाता है। वाजार में यह छोटे-छोटे बण्डलों में पाया जाता है जिसमें पौधों की जड़ों के टुकड़े या टेढ़ी-मेढ़ी जड़े, पतले तनों से बैंधी हुई रहती हैं।

भारतवर्ष में इस पादप की खेती, वैज्ञानिक आधार पर, कही भी नहीं की जाती है। यह सारे देश में वन्य अवस्था में उगता है। यदि इस पादप को खेती द्वारा पैदा किया जाय तो इसकी किस्म में बहुत सुधार हो सकता है। भारत में इसकी जड़ों की बहुत वडी खपत है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इसकी खपत और भी बढ़ गयी थी, जब विदेशी सारसापारिला का आयात बन्द हो गया था (१९३९-४० ई० में इसका आयात मूल्य ५०,४०८ रु० था)। पानी में आसवन करने से इसकी जड़ से एक स्टेरोप्टीन निकलता है जो एक वाष्पशील अम्ल है। इसमें एक वाष्पशील तेल भी विद्यमान है जिसमें ८० प्रतिशत क्रिस्टलीय पदार्थ, २-हाइड्रोक्सी-४-मेथोक्सी बेन्जैल-डिहाइड होता है। इस भेषज में गध कुमारिन के कारण होती है। इसके अतिरिक्त इससे हेमिडोस्टेरॉल और हेमीडेस्मॉल नाम के दो स्टेरॉल भी अलग किये गये हैं। उसकी जड़ों से रेजिन टैनिन और किंचित मात्रा में ग्लाइकोसाइड भी पायी जाती है। विलनिकल परीक्षणों से यह प्रकट होता है कि आयातित सारसापारिला से यह किसी तरह न्यून नहीं है।

### सन्दर्भ :-

- (1) *Sea-borne Trade Report of British India (Bengal Govt Pub)*, 1928-29,
- (2) Power, F B, and Salway, A H, 1914, *J C S Trans*, 201,
- (3) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 169,
- (4) Datta, S C, and Mukerji, B, 1950 *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 89

### हाइओसायमस स्फूटिक्स लिन (सोलेनेसी)

#### *Hyoscyamus muticus Linn. ( Solanaceae )*

हेनबेन ( Henbane )

नाम—हिं०—खुरासानी अजवायन, कोही भग, ब०—खोरासानी अजोवान

मुसलमान चिकित्सक दीर्घकाल से इसके बीज का उपयोग करते आये हैं। यद्यपि यह हिमालय का पादप है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं की चिकित्सा में इसका उपयोग नहीं हुआ है। डायोस्कोरिडेस को सम्भवत हेनबेन यूरोपीय हाइओ-सायमस ऐल्बस का ज्ञान था और प्राचीन लोगों द्वारा इसका उपयोग किया जाता था। इंग्लैण्ड में हेनबेन का मध्य काल में उपयोग होता था। अठारहवीं शताब्दी

मेरे कुछ काल तक इसका उपयोग वहाँ बन्द हो गया था, पर लन्दन के १८०६ ई० के भेषणकोष मे स्टोक द्वारा अनुसंधान कार्यों के कारण इसको पुन स्थान मिला ।

हाइब्रोसायमस ग्लूटिकस उत्तरी पश्चिमी हिमालय मे, विशेषकर पश्चिमी पजाब, सिन्ध, वलूचिस्तान ( पाकिस्तान ) और अफगानिस्तान मे पैदा होता है । इस पादप की सहारनपुर, लायलपुर और कश्मीर मे परीक्षणात्मक तौर पर खेती की गयी है । यह वहुवार्षिक शाकीय पौधा है जो ३० मे ९० इच ऊँचा होता है । इसकी शाखाएँ मुलायम रोम से ढकी रहती हैं और जड़ें वहुत फैलने वाली होती हैं । इसकी स्तम्भिक ( caulinic ) पत्तियाँ सवृत्त और  $10-20 \times 5-12.5$  से०मी० होती हैं । सबसे नीचे की पत्तियाँ सबसे बढ़ी होती हैं । इसके फूलों की पखुटियाँ हलके पाण्डु रंग की थी और व्यंत होती हैं । इसका अवयव ( limb ) बाहर से गुलाबी और भीतर से गहरे गुलाबी रंग का और शिरा-युक्त ( veined ) होता है तथा आधार पर प्राय गहरे नील-लोहित रंग के धब्बे होते हैं । इस अपरिष्कृत भेषज मे सूखी पत्तियाँ और पुष्पी भाग होते हैं, जिन्हें पादप से फूलने के बाद तुरन्त ही सग्रहीत कर लिया जाता है । इस अपरिष्कृत भेषज का भारत मे पर्याप्त व्यापार होता है । इण्डियन फर्मारिपियल लिस्ट ( १९४६ ई० ) मे भारतीय हाइब्रोसायमस नाइजर के स्थानापन्न के रूप मे इसका उपयोग होता है । इसमे हाइब्रोसायमस नाइजर की अपेक्षा ऐल्केलॉयड की प्रतिशत भावा अधिक होती है ।

**कृषि** — इस पौधे की खेती जम्मू और सहारनपुर मे की जाती है किन्तु सीमित पैमाने पर । इसकी खेती की पद्धति वही है जो हाइब्रोसायमस नाइजर की है । पश्चिमी पजाब और सिन्ध मे नदी के तटों पर बड़े बड़े भूमि खण्डों मे ये उगते हैं ।

**घटक** — सूखी पत्तियों और पुष्पी भागों से ०.५ से १.३४ प्रतिशत तक ऐल्केलॉयड मिलता है जिसमे मुख्यत हाइब्रोसियामीन होता है । अभी हाल मे यह भी पाया गया है कि हाइब्रोसियामीन के अतिरिक्त इसमे ०.२ प्रतिशत हाइब्रोसीन भी रहता है । कपूर, हर्दा और चोपडा ने सूडान से बीज प्राप्त करके जम्मू ( १,००० फुट ) और यारीखाह मे ( ७,००० फुट ) मे इसकी खेती की । जम्मू मे बोये गये बीज से ३-४ सप्ताहों मे ही पौधे निकल आये और उनसे इकट्ठी की गयी पत्तियों से ०.३५ प्रतिशत ऐल्केलॉयड मिला । यारीखाह मे जो बीज बोये गये थे, वे वहाँ के तुपार से बच नहीं पाये । अन्तर्राष्ट्रीय भेषजकोश यह अपेक्षा करता है कि इसमे ०.५ प्रतिशत से कम ऐल्केलॉयड, जिन्हे हाइब्रोसियामीन के रूप मे परिकलित करते हैं, नहीं होना चाहिये । अहमद और फाहमी ने इसकी पत्तियों मे १.७ प्रतिशत, स्तम्भों मे ०.५ प्रतिशत तथा फूलों मे २.० प्रतिशत ऐल्केलॉयड पाये थे । इसमे

मुख्य ऐल्कोलॉयड हाइओसियामीन है। इसमे ऐन्थोसायनिन वर्णक भी पाया जाता है।

मिस, अरब, ईरान और सूडान के मरु प्रदेशों का यह देशीय पादप है, और भर्तीरिया मे भी इसे लगाया जाता है। मिस मे अरब गढ़रिये इसे जगली पौधों से इकट्ठा करते हैं। इसके जीवनक्षम (viable) बीजों का मिस से बाहर निर्यात कानूनन् निपिढ़ है।

### सन्दर्भ :

- (1) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 503, (2) Ahmed, Z F , and Fahmy, I R , 1949, *J Amer Pharm Assoc (Sci Ed)*, 38 478, (3) Ahmed, Z F., and Fahmy, I R , 1949, *J Amer, Pharm Assoc, (Sci Ed)* 38, 484; (4) Dutta, S C and Mukerji, B , 1952, *Pharmacognosy of Indian Leaf Drugs*, 54, (5) Kapoor, L D , Handa, K L. and Chopra, I C , 1953, *Jour Sci Industr Res* , 12 A, 7, 314

## हाइओसायमस नाइजर ( सोलेनेसी )

### Hyoscyamus niger Linn ( Solanaceac )

#### हेनबेन ( Henbane )

नाम:—स०—पारसीकाय, पारसीक यवानी, हि०—खुरासानी अजवायन, व०—

खोरासानी अजोवान, म०—योरासानी ओबा, त०—कुरासानीयोमम।

हाइओसायमस नाइजर अथवा हेनबेन एक सुचिज्ञात पादप है जो शामक तथा उद्वेष्टरोधी गुणों के लिए उपयोग मे लाया जाता है। हॉकिंग के मतानुसार यह मूलत यूरेसिया का अन्तर्वासी पादप था। अब यह सारे यूरोप मे, दक्षिण मे पुर्तगाल से ग्रीस तक तथा उत्तर मे नार्वे से फिनलैण्ड तक होता है। काकेशिया, ईरान, एशिया माइनर, उत्तरी अमरीका और साइबेरिया मे भी यह होता है। भारत मे जम्मू और कश्मीर मे, हिमाचल प्रदेश मे तथा उत्तर प्रदेश मे कुमाऊँ की पहाड़ियो मे पैदा होता है। जम्मू और कश्मीर मे यह पादप समूची घाटी मे वन्य-अवस्था मे खूब पैदा होता है। उत्तरी पश्चिमी हिमालय की भीतरी शुष्क घाटियो मे शकरगढ़, कमरी दर्रा के पार, गुरीकोट ( १४,००० फुट ) तथा लेह ( ११,००० फुट ) जैसे दूरस्थ स्थानो मे भी यह पाद्य पैदा होता है। कश्मीर की घाटी मे यह पादप पहलगांव, आल, गुलमर्ग, सोपियान, अनन्तनाग, वारामुत्तल,

वदनीपुर आदि स्थानों से वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए संग्रहीत किया जाता है। हाइओसायमस की सूखी पत्तियाँ और पुष्पीय भाग औपचार्य प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। इसकी दो किस्में हैं, पहला वार्षिक तथा दूसरा द्विवर्षी।

भेजन निर्माण के उपयोग में लाये जाने वाले दोनों प्रकार के हाइओसायमस नाइजर पादपों में निम्नलिखित अन्तर ध्यान देने योग्य हैं।

द्विवर्षी पादप का प्रथम वर्ष	द्विवर्षी पादप का द्वितीय वर्ष	वार्षिक पादप
स्तम्भ बहुत छोटे	स्तम्भ शाखाओं वाले तथा १५ मीटर तक ऊँचे।	स्तम्भ साधारण तथा ०५ मी० ऊँचे।
पत्र भूमि के तिकट गुच्छों में अण्डाकार, भालाकार तथा पर्णवृन्ती, लम्बाई ३० से० मी० तक, पत्र- दल २५ से० मी० तक लम्बा और रोमिल होता है।	पत्र अवृन्त, दीर्घायत से त्रिभुजाकार, अण्डाकार १० से २० से० मी० लम्बा, किनारे दीर्घपिच्छाकार (फिनैटीफिड) या अत्यन्त दरुर, अति रोमिल, विशेषकर मध्य शिरा तथा शिराओं के समीप।	पत्र अवृन्त, द्विवर्षी पत्रों से छोटे, किनारे कम कटे हुए तथा कम रोमिल।
साधारणतया प्रथम वर्ष में पुष्प नहीं लगते।	पुष्प मई या जून मास में लगते हैं। पुष्पों का दल- पुज पीत वर्ण का और गहरे गुलाबी रंग की शिराओं वाला होता है।	पुष्प जुलाई या अगस्त मास में लगते हैं। पुष्पों का दलपुज हल्के पीले रंग का और कम गहरी शिराओं वाला होता है।

इसके कुछ वाणिज्यिक नमूनों के विश्लेषण के आधार पर फोर्संडाइक और जॉनसन ने यह बताया है कि भारतीय हेनवेन में जितना ऐल्केलॉयड होता है वह अधिकृत मानक से बहुत कम है। कशमीर तथा भारत के अन्य भागों में अपने आप पैदा होनेवाले तथा कुषि द्वारा लगाये गये पादपों की पत्तियाँ इस ग्रन्थ के लेखकों ने विश्लेषण के लिए एकत्र की थीं। इनमें ऐल्केलॉयड की निम्नलिखित प्रतिशत मात्रा पायी गयीं।

श्रीग (पाठ्योर) में वन्न पादप	० ०७६ प्रतिशत
शुल्कगं—वन्न पादप	० ०६६ "
श्रीनगर—हिन्दूबोत्साहमस नाइजर पादप	०.०५१ "
उत्तरी पाठ्योर नीमाप्रान्त—वन्न पादप	० ०४७ "
नायपुर—परिज्ञन्द पादप	० ०२६ "
गहार गुरार— " "	० ०३५ "
गहार— " "	० ०४४ "

इन तारीखों का गठन है कि इन्हीं में १,००० फुट से ऊँचाई पर स्वतं-  
द्विनेयाने या उत्तिष्ठय शादपों की परिमिति में ऐन्केलायड की मात्रा श्रिटिप या  
झमेनीकी भैषज्यग्रन्थ ने दिये गये मानव तार का समान डगर हैंसी है (०.०५१-०.०७६  
प्रतिशत)। जीवे दो हैंचार्ट बातों या गहारगुर, लायलपुर या उत्तर  
परिज्ञन्द नीमाप्रान्त (पार्टाम्बान) में देशानों के पादपों की परिमिति में ऐन्केलायड  
की मात्रा अधिकृत मानव तार से बहुत अधिक है। गत कई वर्षों में भैषज अनुग्रहान  
प्रयोगशाला (कुण्ड निम्ब भैषजेटी—निर्माण-विभाग) में इस भैषज को प्रचुर  
परिमाण में उत्तराधिकृत नमूनों का विनेयण ने यों परिणाम मिले हैं, इसने इन तथ्य  
की गम्भीरता बढ़ा दी है। यहाँ परीक्षण के लिए नमूनों पर सब कल्पना रो आयी  
है। गत कई वर्षों की काली में ऐन्केलायड की मात्रा इस प्रकार रही है —

१९४५ ई०	० ०१८ प्रतिशत
१९४६ ई०	० ०६२ "
१९४७ ई०	०.०५९ "
१९४८ ई०	०.०४४ "
१९४९ ई०	० ०५१ "

करमीर में प्राकृतिक शाधनों ने पौदा होनेयाने इन भैषज का वर्तमान उत्पादन  
भावत के भैषज निर्माण दर्थांग की आवश्यकता के लिए अपर्याप्ति है। इसलिए इस  
भैषज की ओर उत्तरे वनी व्योपधिया की बहुत बड़ी मात्रा आयत की जाती है।  
दूर दूर तक विवरे हृए स्थानों ने पादपों को इच्छा करने में वज्र खर्च बढ़ता है  
और उनके सक्रिय तत्वों की उपलब्धि में बहुत अन्तर रहता है।

### भारत में कृषि

वाट के भारतानुमार भारत में हिन्दूबोत्साहमस की कृषि के बारे में प्रथम अभिलेख  
रॉयल (१८३९, ई०) का मिलता है। उन्होंने वर्ताया कि भारत के मैदानी इलाकों

मे कई स्थानों पर हेनबेन की सफल कृषि की गयी और मेडिकल स्टोर डिपोओ के लिए निस्सार निकाले गये। वाद के अभिलेखों से पता चलता है कि कलकत्ता, सहारनपुर, आगरा अजमेर, बम्बई और नीलगिरि मे इसकी सफलता के साथ कृषि की गयी थी। वाद मे इसकी कृषि क्षीण हो गयी और यहाँ की अपेक्षित खपत के लिए इसकी अधिकाश मात्रा यूरोप से मँगायी जाने लगी। इसका बीज भी (अजवाइन खुरासानी) ईरान और काबुल से आयात किया जाने लगा।

जम्मू और कश्मीर हाइब्रोसायमस के वर्तमान सम्भरण की अनुपूरक वृद्धि के लिए परीक्षणात्मक पैमाने पर जम्मू और कश्मीर के ऐसे क्षेत्रों मे जहाँ इस पादप मे अधिक मात्रा मे ऐल्केलॉयड पाया जाता है, कई रोपणियों मे इसकी खेती आरम्भ की गयी। यह खेती बन-विभाग ने भेषज अनुसंधान प्रयोगशाला के सहयोग से शुरू की। इन रोपणियो से पुण्ण काल की जो पत्तियाँ सग्रहीत की गयी, उनमे ऐल्केलॉयड निम्नलिखित मात्रा मे मिला —

द्राग	(७,५०० फुट)	०.०८४	प्रतिशत
यारीखाह	(७,००० फुट)	०.०८१	"
श्रीनगर	(५,००० फुट)	०.०५१	"
बारामुला	(५,५०० फुट)	०.०४४	"
जम्मू	(१,००० फुट)	०.०४४	"

ऐसा देखा गया है कि समतल क्षेत्र, जहाँ पर धास-फूस न हो, हेनबेन की कृषि के लिए उपयुक्त होता है। इसकी खेती के लिए उपजाऊ, बलुई दुमट या गाद (silt) वाली दुमट भी जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह होता हो, अनुकूल समझी जाती है। ढालू क्षेत्रों मे एक सी फसल नहीं हो पाती है। निचले क्षेत्रों मे फसल घनी हो जाती है क्योंकि बीज ऊपर से बह कर नीचे आ जाते हैं।

इस पौधे का प्रजनन बीज को छीट कर या रोपणियो मे पहले इसको उगाकर और फिर खेत मे प्रतिरोपित करके किया जाता है। वसन्त-काल मे जुलाई-अगस्त के महीनो मे तैयार की हुई जमीन मे बीजों को २-३ पौण्ड प्रति एकड के हिसाब से छीट दिया जाता है। क्योंकि दाने बहुत छोटे होते हैं, इसलिए अच्छा यह होता है कि छीटने से पहले बीज मे वारीक मिट्टी मिला दी जाय। बीज को अगर ड्रिल से बोना हो तो इसकी कतारो को दो-दो फुट के अन्तर पर रखना चाहिये।  $\frac{3}{4}$  इच्छ से अधिक मिट्टी से बीज को नहीं ढकना चाहिये। ऋतु अनुकूल रही तो वसन्त मे ३-४ सप्ताह के अन्तर ही बीज उग आते हैं और ग्रीष्म मे २-३ सप्ताह के अन्दर

ही उग आते हैं। ऐसा कहा जाता है कि बीज ज्यादा अच्छी तरह उगते हैं यदि पहले उन्हें सान्द्र सल्फूरिक अम्ल में ७५ सेकेण्ड तक भिगो करके फिर उन्हें जल से अच्छी तरह धो दिया जाय। ऐसा करने पर १२ से १७ दिनों के अन्दर ही बीजों से समान रूप से अंकुर निकल आते हैं। पौधों में आलू के कीड़े (भूज़) लग सकते हैं और इस हालत में उनपर डेरिस या पाइरेथ्रम का छिड़काव आवश्यक होता है। जून-जुलाई में पुष्पण-काल के समय पत्तियों को हाथ से तोड़कर इसके फसल की लवाई की जाती है। वार्षिक पौधे बीज के पक जाने पर मर जाते हैं, किन्तु द्विवर्षी पौधे पहले साल की फसल की लवाई हो जाने पर भी वर्ष के अन्दर जीवित रह जाते हैं। वसन्त में इसमें एक लम्बी शाखा निकलती है जिसमें कई पत्तियाँ रहती हैं जिनकी लवाई पुष्पण काल में अर्थात् जून-जुलाई में की जाती है। बीज सितम्बर-अक्टूबर में परिपक्व हो जाते हैं और समूचे पौधे को हँसिया से काटकर या उसे हाथ से उखाड़कर इसकी कटाई की जाती है। ऐसा देखा गया है कि द्विवर्षी हाइओसायमस नाइजर की उपज ज्यादा अच्छी होती है अगर उसे छीट कर बोया जाय।

हाइओसायमस की खेती जम्मू ( १,००० फुट ) तथा भारत के मैदानी इलाकों में ( सहारनपुर ) में भी शीतकालीन फसल के रूप में होती है। अच्छी तरह तैयार की हुई जमीन में दो-दो फुट के अन्तर से पक्कियों में ड्रिल द्वारा छिटाई करके यह बोया जाता है। जब अकुर उगने लगते हैं तो खेत की निराई और गोडाई आदि की जाती है। वृद्धि के आरम्भिक काल में पौधों की सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। लोगों का यह विश्वास कि वार्षिक पौधों में ऐलेलॉयड की मात्रा द्विवर्षी पौधों के प्रथम वर्ष की पत्तियों की तुलना में अधिक होती है, गलत पाया गया। यारिखाह ( ७,००० फुट ) में छीटकर बोये गये द्विवर्षी पौधों के तथा रोपाणियों में उगाये और खेतों में प्रतिरोपित द्विवर्षी पौधों के बीच, जहाँ तक उनकी पत्तियों में विद्यमान ऐलेलॉयडों की मात्रा का सम्बन्ध है, कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। ताजे हाइओसायमस की पत्तियों में आर्द्रता अधिक रहती है इसलिये बण्डलों में वाँधने से पहले पत्तियों को अच्छी तरह सुखा लेना चाहिये। वसन्त-काल में सग्रहीत की गयी पत्तियों में ९० प्रतिशत आर्द्रता रहती है जो बाद के महीनों में ( अर्थात्, सितम्बर-अक्टूबर में ) ७०-८० प्रतिशत तक रह जाती है।

**उपज .**

फसल की औसत उपज कई बातों पर निर्भर करती है जैसे भूमि की किस्म, जलवायु सम्बन्धी स्थिति, सिंचाई और निराई आदि। ऐसा देखा गया है कि

वन भूमि या वजर भूमि जो कार्बनिक खाद से परिपूर्ण हो, काफी उपज देती है, किन्तु प्रति एकड़ पैदावार के सम्बन्ध में कोई विश्वस्त आंकड़े नहीं डिकटेक्टेड किये गये हैं। यारिखाह के ड्रग फार्म में प्रति एकड़ २ से ३ मन सूखी पत्तियाँ पायी गयी थीं। यदि भूमि तीन-चार बार जोती जाय और निराई तथा सिचाई नियमित कालातराल के साथ की जाती रहे तो परीक्षणात्मक पैमाने पर इसकी सूखी पत्तियों की उपज प्रति एकड़ ५-७ मन तक हो सकती है।

### बीज :

बीजों का सग्रहण सम्पुटिकाओं (capsules) के म्फुटन के पूर्व अक्टूबर-नवम्बर में किया जाता है। समूचा पौधा उखाड़ लिया जाता है। एक पौधे से १०,००० बीज मिलते हैं। बीजों को सूखा रखा जाय तो कई वर्षों तक ये जीवनक्षम बने रहते हैं। हेनबेन के बीज गहरे भूरे रंग के होते हैं और आकृति में वृक्षकाकार १५ मीलीमीटर लम्बे होते हैं। बीज-चोल (testa) जालिकारूपी (reticulated) होती है और बीज का आन्तरिक बनावट स्ट्रैमोनियम के बीज से बहुत कुछ मिलता हुआ होता है। हेनबेन के बीजों में ० ०६ से ० १० प्रतिशत ऐल्केलॉयड होता है जिसमें हाइओसायमीन तथा कुछ मात्रा में हाइओसीन और ऐट्रोपीन होता है।

### भेषज में ऐल्केलॉयड की मात्रा

ब्रिटिश भेषजकोश (१९४८ ई०) में यह निर्धारित किया गया है कि इस भेषज में ऐल्केलॉयड की मात्रा ० ०५ प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिये। अमेरिकी भेषज-कोश १३ के अनुसार इसमें ऐल्केलॉयड ० ०४० प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिये। ड्रग फार्म से सग्रहीत किये हुए बहुत से नमूनों में ऐल्केलॉयड की मात्रा इस तरह पायी गयी है, ० ०६३, ० ०५७, ० ०४७५, ० ०५७, ० ०४४, ० ०८१, ० ०९२, ० ०६२ और ० ०६६ प्रतिशत। इस तरह यह परिलक्षित होता है कि कृष्णजनित पादपों में ऐल्केलॉयड की मात्रा बढ़ जाती है। हाइओसायमस के बीजों को बाहर से मँगाकर उसकी यहाँ पर खेती करने के तथा स्थानीय हाइओसायमस के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के भी प्रयास किये गये हैं। गूनेस्को के सौजन्य में अमेरिका, टर्की और ऑक्सफोर्ड से प्राप्त किये गये बीजों से उगाये गये पौधों में ऐल्केलॉयड की मात्रा इस तरह पायी गयी है अमेरिका ० ०६३, टर्की ० ०६२ तथा ऑक्सफोर्ड में ० ०५९ प्रतिशत। इस तरह यह स्पष्ट है कि खेती के द्वारा कश्मीर में उगाये जाने वाले पौधे ऐल्केलॉयड की मात्रा की दृष्टि से पश्चिमी देशों के पौधों से अच्छे सिद्ध होते हैं। उसमें मुख्य ऐल्केलॉयड हाइओसायमीन होता है, किन्तु थोड़ा सा

हाइब्रोसीन और एट्रोपीन भी हो सकता है। उसके पर्णवृत्त में स्तम्भ या फलक (lamina) की अपेक्षा अधिक ऐल्कोलॉयड रहता है।

### सन्दर्भ :-

(1) Dunstan and Brown, 1899, *J C S Trans*, 72, (2) Dutt, 1924, *Commercial Drugs of India*, (3) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (4) Kapoor, L D Handa, K L and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Indust Res*, 12 A, 5, 238, (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 500, (6) Hocking, G M, 1947, *Econ Bot*, 1, 306, (7) Forsdike J L, and Jhonson, B, 1949, *Jour Pharmacol*, I (10), 661, (8) Handa, K L, Kapoor, L D, and Chopra, I C, 1947, *Curr Sci*, 16, 315

### आईपोमिआ हेडेरेसिया (कन्वॉलवुलेसी)

*Ipomaea hederacea* Jacq (Convolvulaceae)

नाम—हि० और ब०—कालादाना, मिरचाई, म०—कालादाना, त०—जिरकीविरै, प०—किलदी, स०—कृष्णवीज।

### आईपोमिआ टर्पेथम (कन्वॉलवुलेसी)

*Ipomaea turpethum* R. Br. (Convolvulaceae)

नाम.—स०—त्रिवृत, हि०—पितोहरी, निशोथ, ब०—तिउरी, म०—निशोतर, त०—शिवदे, प०—चितावसा।

आईपोमिआ टर्पेथम का भारत में विरेचक के रूप में दीर्घ काल से उपयोग होता आया है। किन्तु भेषजकोशों में इसे अधिकृत रूप से मान्यता नहीं प्राप्त है। यह सम्पूर्ण भारत में तीन हजार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इस पादप की जड़ के छिल्के से जो रेजीनी पदार्थ (टर्पेथिन) निकलता है, वह जैलप (Jalap) (*Ipomoea purga*) का एक अच्छा स्थानापन्न द्रव्य है।

आईपोमिआ हेडेरेसिया के बीज (कालादाना) में रेचक तत्त्व होता है और मान्यता प्राप्त जैलप के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। बहुत से आरम्भ-कालिक यूरोपियन शोधकर्ताओं ने कोष्ठवद्धता में कालादाना के चूर्ण की उपयोगिता को सही पाया है। फिर भी आईपोमिआ पर्गी अथवा आईपोमिया म्यूरिकैटा (*I muricata*) का बड़ी मात्रा में यूरोप या ईरान से यहाँ आयात किया जाता है जो बम्बई में बहुत मिलता है। देश में पैदा होनेवाले आईपोमिआ के गुणों को

पहले पर्याप्त मान्यता नहीं प्राप्त थी, और तब इसकी अधिक मांग को देखते हुए आईपोमिआ के पौधे को मैक्रिस्को से भेंगाकर यहाँ देश में इसकी खेती करने के प्रयास किये गये थे। उन्नीसवीं शताव्दी के मध्य में वस्तुतः इसकी खेती यहाँ हिमालय की घाटियों में की गयी थी, किन्तु वह सफल नहीं हो पायी। इसकी उपज आशानुरूप नहीं हुई और वह मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त न थी। ऊटकमण्ड के बगीचों में यह पौधा अच्छा उगा था और यह आशा हुई थी कि इसपर लगायी गयी पूँजी पर काफी लाभ आ जायगा यद्यपि मेडिकल स्टोर्स डिपो बाजार से बहुत नीचे मूल्य पर इसे खरीदता था। यहाँ के कृषि-जन्य जैलप में रेचकतत्व उतना ही पर्याप्त होता था जितना कि दक्षिणी अमरीका से आयात किये गये जैलप में होता था। यद्यपि यहाँ जैलप का स्थानापन्न अपने आप पैदा होता है और भेषज-कोशों द्वारा अधिकृत आईपोमिआ पर्गा भी कई स्थानों पर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है, फिर भी यहाँ मैक्रिस्को से आईपोमिया पर्गा बड़ी मात्रा में आयात होता रहा है। वस्तुतः जैलप की बहुत बड़ी मात्रा को यहाँ आवश्यकता रहती है, क्योंकि भेषजकोश के उग्र विरेचकों में से इसका भी बहुत उपयोग किया जाता है।

आईपोमिआ टर्पेथम को लोकप्रियता में सर्वाधिक अवरोध उत्पन्न करनेवाली बात यह थी कि भारत के भेषज-व्यापारी वहाँ इसमें अपमिश्रण करते थे या नकली चीज देते थे।\* बाजार में जो निशोथ उपलब्ध है उसमें प्राय इस लता की जड़ नहीं रहती जिसमें विरेचक तत्व विद्यमान रहता है, बल्कि अधिकाश में उसमें वायव स्तम्भ (aerial stems) या मूल और वायव स्तम्भ का मिलावट रहता है। भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) में आईपोमिआ टर्पेथम को मान्यता मिल गयी है जिसमें इसकी श्वेत किस्म की सूखी जड़ों को जिसमें छाल पूर्णरूप से सलरन हो, अधिकृत माना गया है। इसमें ५ प्रतिशत से कम रेजिन नहीं होता है जिसका कुछ हिस्सा ईथर में विलेय हो जाता है। इसी तरह भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) में कालादाना (आईपोमिआ हेडेरेसिया) को मान्यता मिल गयी है।

### सन्दर्भ

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) *Indian Pharmacopocial List*, 1946.

\* बाजार में निशोथ के नाम से प्राय मार्सडेनिया टेनैसिस्मा (*Marsdenia tenacissima* W & A) की जड़े मिलती है। इन दोनों पर अनुवादक एवं महयोगियों द्वारा अनुसन्धान प्रकाशित है। देखे (*Ind J Pharm*, 23, 1, 186, 1961, *Jour' Sci Indust Res*, 20c, 3, 92, 1961) — अनु०

## जूनिपेरस कॉम्युनिस लिन० (वयुप्रेसेसी)

*Juniperus communis Linn (Cupressaceae)*

नामः—हि०—आरार, प०—पेत्यरी, पामा, क०—वेन्था, पेषूरा, अर०—हव्युल्-  
आरार ।

जूनिपर के सरस फल (बेरी) और उनसे निकले तेल बहुत ही प्राचीन वीथध हैं, जिन्हे प्राचीन यूनानी अच्छी तरह जानते थे । वे इसके पाचक तथा मूत्रल गुणों के कारण इसका उपयोग करते थे । जूनिपेरस कॉम्युनिस सम्पूर्ण भूरोप, साइरिया भारत तथा उत्तरी अमेरिका में नव्यन्त्र होता है, किन्तु इटली के सरस फल अपने तेस के लिए गवसे अधिक गृह्यवान गाने जाते हैं । तेल निकालने का काम हगरी, इटली, स्न, वर्वेरिया और स्वीडेन में होता है, यह तेल औपचार्य एवं वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए निकाला जाता है । इसका प्रमुख उत्पादक देश हगरी है और इस तेल का बहुत बहुत बड़ा विदेशी व्यापार होता है । भारत में जूनिपर की कई जातियाँ परिचमी हिमानय, कुमायै तथा कुरंम की धाटियों में समुद्रतल से ११ हजार फुट की ऊँचाई पर पायी जाती हैं । इनका वहाँ बीपधि के लिए बहुत उपयोग नहीं होता है, किन्तु मुमलभान मेपज-विक्रेता बाजार में इसे बेचते अवश्य है । वशहर प्रदेश के ऊपरी भाग में प्राप्त की गयी जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फलों के तेल का अध्ययन भारतमनसन ने किया था और उन्होंने बताया कि ० २ प्रतिशत तेल उससे पाया जा सकता है । कश्मीर के जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फलों से ० ७७ प्रतिशत तेल हाँडा और कपूर ने प्राप्त किया था । यूरोप के पादपों से निकलनेवाले तेल की मात्रा की तुलना में तेल की यह मात्रा बहुत कम है । इटली के फलों से १ में १ ५ प्रतिशत, वर्वेरिया के सरस फलों से १ ० से १ २ प्रतिशत, हगरी के सरस फलों से ० ८ से १ ० प्रतिशत, स्वीडेन के सरस फलों से ० ५ प्रतिशत, पोलैण्ड के सरस फलों से ० ९ प्रतिशत, युरिजिआ के सरस फलों से ० ७६ प्रतिशत तथा पूर्वी प्रशिआ के सरस फलों से ० ६ प्रतिशत तेल मिलता है ।

इस वाण्पशील तेल के अतिरिक्त, जूनिपर के सरस फलों में प्रतीप (Invert) शर्करा (लगभग ३३ प्रतिशत), रेजिन (लगभग १० प्रतिशत), एक तिक्त तत्त्व, कार्बनिक अम्ल तथा उनके लवण और मोम (भूर) रहता है । जूनिपर के तेल में अलका पाइनीन और कैम्फीन नामक टर्पीन, कैडीनीन नामक सेस्कियटर्पीन, कम से कम दो टर्पीन ऐल्कोहॉल जिनमें से एक टर्पीनिअॉल है, तथा अत्यल्प मात्रा में एस्टर पाया जाता है । जूनिपर के तेल के पुराने नमूनों को ठंडा करने पर एक क्रिस्टलीय

पदार्थ 'जूनिपर कैम्फर' नीचे जम जाता है। भारत का जूनिपर तेल कतिपय घटकों को छोड़कर विदेशों से प्राप्य तेल से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह नीचे दर्शाया गया है —

	हगरी का	इटली का	भारतीय
आपेक्षिक धनत्व $20^{\circ}$ पर	० ८६७	० ८६६	० ८७८८ (३०% पर)
ध्रुवण-धूर्णन	१२°	९ ८२°	तेल गहरे रग का होने के कारण नहीं निकला गया।
सावुनीकरण मान	५ ९	६ १	२१ २
ऐसिटिलेशन के उपरान्त			
सावुनीकरण मान	२० ९	२१ ३	४९ १

इन अन्तरों का कारण सम्भवत यह ही सकता है कि रखे रहने पर जूनिपर के तेल में परिवर्तन आ जाता है। ये अन्तर बहुत नगण्य हैं, और भारतीय तेल में ऐल्कोहॉल और एस्टर का गुण और अनुपात वही होता है जो विदेशी तेल में होता है, इसमें सुवास का कारण प्रमुख रूप से इसके ऐल्कोहॉल तथा एस्टर है। कश्मीर में होनेवाले जूनिपर की दो जातियाँ हैं जूनिपेरस कॉम्युनिस और जूनिपेरस मैक्रोपोडा (*J. macropoda*) उन दोनों का परीक्षण इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने किया था। जहाँ तक वाह्य रूपरूप का सम्बन्ध है इन दोनों के सरस फलों में बहुत अन्तर नहीं है। जूनिपेरस मैक्रोपोडा के सरस फल जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फल से कुछ अधिक लम्बे होते हैं। वाष्प-आसवन से जूनिपर कॉम्युनिस तथा जूनिपेरस मैक्रोपोडा से क्रमशः  $0.25$  और  $3.24$  प्रतिशत वाष्पशील तेल निकला था। उन तेलों का रग, गध और विलेयता प्राय वही थी जो भेषजकोश द्वारा मान्य तेल की होनी चाहिये। जूनिपेरस मैक्रोपोडा से निकले तेल में ध्रुवण-धूर्णन तथा अन्य गौण भौतिक गुणों में कुछ अन्तर पाया गया था। व्रिटिश भेषजकोश में निर्धारित मानक से तुलना के लिए तेल के गुण नीचे दिये गये हैं।

	जूनिपेरस कॉम्युनिस (बी० पी० मानक)	जूनिपेरस मैक्रोपोडा
ध्रुवण-धूर्णन	$-3^{\circ}$ से $-15^{\circ}$ तक	$-24.3^{\circ}$
आपेक्षिक धनत्व	० ८६ से ० ८९ तक	० ९१२

फरमीर के जगतो में प्राप्त किये गये जूनिपेरम सैक्षोपोडा के सरस फलों का अध्ययन हीडा और कपूर ने भी किया था जिनके परिणाम नीचे दिये गये हैं —

	तेल की लक्षित	आपेक्षिक घनत्व	अपवर्तनाक
जूनिपेरस काम्फुन्स	० ७८	प्रतिशत १५० से० पर ० ९३८८ २०० से० पर १ ४८८	
जूनिपेरस सैक्षोपोडा	३ ३	१५० से० पर ० ८५७१ २०० से० पर १ ४७३	

भारतीय तेल के भीतर तथा रासायनिक गुणों में नाटूर्य होने पर भी जूनिपेर दे भरन पलों या डार्पे तेल तो व्यापारिक उपयोग में लाने के बहुत कम प्रयास किये गये हैं। जूनिपेर के भरन पलों में शार्ट्स बहुत होती है। इनका किण्वन और जानकार भरने में एक प्रगिद्ध पेय निकाला जाता है जिनका नाम जिन (Jin) है। इसकी उपनी एक विभिन्न सुगन्ध होती है जो जूनिपेर के तेल के बारण होती है। पर्सियमी देनों में इन भरन पलों की बहुत बड़ी मांग है। उस दिशा में भारत में जो सभायनाएँ विद्यमान हैं उनसी रोज होनी चाहिये। भारतीय फार्मास्यूटिक्स कोटेंशन १९५२ में और भारतीय फार्मासीयिल लिरट १९४६ में दोनों में ही इन जातियों को मान्यता मिल चुकी है।

### सन्दर्भ :-

- (1) Finnemore, 1928, *The Essential Oils*, (2) Chopra Ghosh and Rainieriuswaran, 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 3; (3) Trease, G E 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 132, (4) Hindu, K L., Kapoor, L D, and Chopra, I C, 1949, *Ind J Agric Sci*, 17, (5) Indian Pharmaceutical Codex, 1952, (6) Indian Pharmaceutical List, 1946

### मेन्था आर्वेन्सिस ( लैविएटी )

#### Mentha arvensis Linn ( Labiateae )

##### पुदीना ( Mint )

नाम —हिं—पुदीना, वम्ब—पुदीना, व०—पुदीना, त० और ते०—पुदीना, फा०—पुदीनाह।

मेन्था की कई जातियाँ जो हिमालय प्रदेश के देशीय पादप हैं, भारत में अपने आप पैदा होती हैं, किन्तु कुछ वहिवेशीय जातियाँ भी यहाँ सफलतापूर्वक लगायी गयी हैं। देशीय जातियों में मेन्था आर्वेन्सिस, मेन्था सिल्वेस्ट्रिस तथा उसकी वैराइटी इनकेना ( *M. sylvestris* var *meana* Hook f and var *rajoleana* Hook f )

और रायलिअना उल्लेखनीय हैं। मेन्था विरिडिस (*M. viridis* Linn.) (स्तियर-मिष्ट), मेन्था पिपेरिटा (*M. piperita* Linn.) (पिपरमेट) और मेन्था एक्वैटिका (*M. aquatica* Linn.) को यहाँ लगाया गया है और ये भारत में अच्छी तरह उग रहे हैं। अभी हाल में यहाँ जापानी पिपरमेट के पौधे मेन्था कैनाडेन्सिस वैराइटी पिपरसेन्टा (*M. caradensis* var. *piperascens*) को लगाने के प्रयास किये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि मेन्था की जातियों में इस अभिवृद्धि से अच्छे परिणाम प्राप्त होंगे।

मेन्था आर्वेन्सिस पश्चिमी हिमालय में प्राकृतिक रूप से उगता है। यह कश्मीर में ५ हजार से १० हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। यह भेदज यूनान और रोम के निवासियों को अच्छी तरह जाता था। इसका उपयोग न केवल याद को सुस्वाद बनाने के लिए वन्कि औषधीय प्रयोजनों के लिए भी किया जाता था। यद्यपि इन पौधों की वहुत जातियाँ भारत में पैदा होती हैं, पर हिन्दू चिकित्सकों ने अपनी चिकित्सा में इसका उपयोग शायद नहीं किया है, किन्तु अपने उद्दीपक तथा वातानुलोमक गुणों के कारण अब भारत में घरेलू औषधियों में इसका उपयोग होने लगा है।

हिमालय प्रदेश में पैदा होनेवाले मेन्था आर्वेन्सिस से एक तेल निकलता है जो भेदजकोश में मान्य मेन्था पिपेरिटा से निकाने जानेवाले पिपरमिष्ट तेल के समान होता है। दुर्गन्धवाले तथा अरुचिकर औषधियों के स्वाद को मधुर बनाने के लिए तथा वातानुलोमक के रूप में औषधीय योगों में पिपरमिष्ट तेल का भारत में वहुत उपयोग किया जाता है। मिठाइयों और दत्तमजनों में सुवास देने के लिए भी उसका वहुत उपयोग होता है। इन सब कारणों से इसका अधिक महत्त्व हो गया है। मेन्था आर्वेन्सिस से वाष्प-आसवन द्वारा जो तेल मिलता है वह मेन्था पिपेरिटा से निकलने वाले तेल की तुलना में वहुत अच्छा होता है। इसके तेल में वही गध, स्वाद और भीतिक गुण होते हैं जो त्रिटिश भेदजकोश में व्यवहृत होनेवाले मेन्था पिपेरिटा के तेल में पाये जाते हैं। इसके तेल को कुछ दिनों तक रखने पर इससे मेन्थॉल के क्रिस्टल आसानी से पाये जा सकते हैं। कश्मीर से प्राप्त शुष्क समूचे पौधे से ० १८ से ० २ प्रतिशत वाष्पशील तेल निकला था। अमरीकी पौधों से जो औसत मात्रा तेल की मिलती है उसकी तुलनात्मक से यह मात्रा काफी ज्यादा है जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है —

## उद्गम स्रोत

## तेल की प्राप्ति

जलिंठन स्रोत (भूमेरिण)	० १२—० १३	प्रतिशत
बेल्टर, इक्षियो इक्सोट (व्हेनेन्जिण)	० १०	"
ग्रेन्डेल (भूमेरिण)	० ११	"

सम्भव है कि वाले यहाँ ने उनसे पहुँची अधिक प्रतिशत मात्रा में तेल मिने जिकना कि भारत में एक पारंपरों में जिताना चाहा था, वयोंकि तुछ विनेपशो वा घट रहना है जिसका भारत में दूड़ पीधे के दूध जाने से उनका ५० प्रतिशत तेल बढ़ जाता है।

अनगीती यदि दिनांग या दूग दिशा में जो विशुद्ध अनुसधान किये गये हैं उनमें उनमें से यह पारा गया है कि भारत माली और फूल रागने के समय पत्तियों से इन्हें दर दिया जाये तो भारतीय करों पर तेल की उत्पादनी की अधिक मात्रा मिलेगी जिन्हाँ त्रिवार चताना गया है। अमरीकी गोधकताओं ने जो निष्कर्ष प्राप्त किये हैं उनके आधारे नीचे दिये गये हैं।

क्षमता	सम्पूर्ण पीधे से	देश पत्तों से	शीर्षप्रभागों से
	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
वनिकारण	० १६	० २०३	० १७३
पृष्ठण	० ११३	० ३०३	० २३३
जन्मन	० १३३	० १२०	० १५३

इसलिए यह नर्वथा सम्भव है कि यदि उसी तरह सतर्वता भारतीय पादपों के नम्बन्ध में वैती जाय तो उनके तेलों की मात्रा और बढ़ सकती है। चोपड़ा, हाँटा और कपूर ने कश्मीर में होनेवाले मेन्या आवेन्सिस की पत्तियों में ० ४५ प्रतिशत तेल प्राप्त किया था, जिसका आपेक्षिक घनत्व १५० सें० पर ०.९१६१ और अपवर्तनाक २०० सें० पर १४७४ या परन्तु तेल से मेन्थाल अलग नहीं किया या नहा।

## कृपि

इसके पीधे के लिए कैतिसयमी भूमि या बलूर्झ दुमट या ककरीली मिट्टी अधिक अनुकूल होती है और कर्तन द्वारा पीधा अच्छा उगता है। इसके पीधे काफी सहिष्णु (hard) होते हैं और इसकी खेती वे लिए किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

### उत्पादन :

वासक शाक भाजी के रूप में इस भेषज की भारत के बाजार में बड़ी मात्रा रहती है। भारत में इसके तेल उत्पादन के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया है और यहाँ आयात किये हुए तेल की खपत होती है।

भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) में मेन्था आर्वेन्सिस (पुदीना तेल) को अधिकृत मान लिया गया है।

समशीतोष्ण जलवायु वाले स्थानों में मेन्था पिपेरिटा बगीचे के पौधे के रूप में आसानी से उगाया जा सकता है। इसकी खेती कठिन नहीं होती और इसके लिए साधारणतः उतना ही ध्यान देना पड़ता है जितना कि मक्का या आलू इत्यादि खेती के लिए। कोई दलदल भूमि जो नदी तट पर स्थित हो, इसके लिए अनुकूल होती है परन्तु यह आवश्यक है कि भूमि सूखी हो और जलोत्सारण अच्छी तरह होता हो। निटेन के कृषि मन्त्रालय की रिपोर्ट के अनुसार कोई भी हल्की कैल्सियमी भूमि, बलुई दुमट या ककरीली मिट्टी जिसका चूरा किया जा सके पुदीना की खेती के लिए उपयोग में लायी जा सकती है। भारत जैसे विशाल देश में उपरोक्त तरह की भूमि का पाना कठिन नहीं है। तेल प्राप्त करने के उद्देश्य से कई वर्ष पूर्व नीलगिरि के बगीचों में इस पौधे को लगाने के परीक्षण किये गए थे और उसमें कुछ सफलता भी मिली थी, अच्छी मात्रा में उससे तेल भी मिला था। कोई कारण नहीं है कि यहाँ इस उद्योग को सफलतापूर्वक विकसित नहीं किया जा सकता हो। इसको लगाने की, खेती करने की, फसल को काटने की और आसवन करने की विधियों पर अनेक वर्षों के परीक्षण और प्रयोग के बाद, अन्य देशों में जो परिणाम प्राप्त किया गया है, जिसका लाभ यहाँ सहज में ही उठाया जा सकता है।

अभी हाल में यह पौधा मैसूर में तथा बन अनुसधान संस्थान, देहरादून में भी उगाया गया है। पजाब कृषि कालेज, लायलपुर से इस पौधे के अन्त भूस्तारी को जिनमें जड़े निकल आयी थी, प्राप्त करके कश्मीर के बारामुल्ला स्थान में (५,५०० फुट), श्रीनगर (५,००० फुट) में, तथा यारीखाह (७,००० फुट) में वसन्त काल में इसको रोपा गया था। इन सभी स्थानों पर ये पौधे अनुकूल पड़े। इन रोपणियों से अगस्त महीने में सग्रहीत किये गये पुष्प-शीर्ष और पत्तियों का वाष्प-आसवन किया गया, जिसके निष्कर्ष नीचे दिये गये हैं।

स्थान जहाँ पौधे उत्तरे पाये	तेलों की प्रतिशतता तथा भाग इयरांक	बी० पी० सी० सानक
(१) गानगांगा (३,००० फुट)	मूँगी पत्तियों ८ भार पर ० ३ मे ६ प्रतिशत तक,	० ७ प्रतिशत मे कम नहीं
(२) दारभुज्ञा (४,००० फुट)	० ७ प्रतिशत	० ५ प्रतिशत मे कम नहीं
१५° से० दर आरोग्यिक		
प्लाच	०.९३८०	० ८९७ से ० ९१ तक
२०° से० दर आरोग्यिक	६ ४६६	६ ४६६ से ६ ४७ तक
टिन्डला	७० प्रतिशत दै-जोहर्णन के ६ गुने जावतन मे एलनलीन	७० प्रतिशत गैन्कोहान के ४ गुने जावतन मे पुलन- शील।
मेन्य ग्रीनेट भी प्रनियनना	१४४ प्रतिशत	४ से ९ प्रतिशत तक
मेन्यों की प्रतिशतता	४६ ६ प्रतिशत	४६ प्रतिशत मे कम नहीं।
आविक पदा		

राणिज्य से व्यवहृत शैलेन्याना पिपरमिल्ट तेल मुख्यतः दो वानस्पतिक नौतों मे प्राप्त किया जाता है। (१) उगनिना और दूरोपीय तेल मेन्या पिपेरिटा वैग्रटी वल्लीरिन 'काला पुर्दीना' ने सथा मेन्या पिपेन्टिया दैराइटी आफिसिनैलिस 'खेतपुर्दीना' ने और (२) जापानी तेल मेन्या आवेनिन दैराइटी पिपेरिनैन्स ने या मेन्या नैनेनिन दैराइटी पिपेरिनैन्स ने। दू० एन० पी० के पिपरमिण्ट मे मेन्या पिपेरिटा की मूँगी पत्तियाँ नथा पुष्पनीर्प रहते हैं। तालिम पिपरमिण्ट तेल को एक वर्णन्य न्यान प्राप्त है। यह अन्य पिपरमिण्ट तेलों की तुलना मे जही अच्छा होता है और इसका मूँय अधिक होता है। अग्रेजी तेलों मे अमरीकी तेलों का अपमिश्रण बहुत होता है।

#### घटक

पिपरमिण्ट तेल मे मेन्यन एसीटेट के स्थ पे परिकलित ४ प्रतिशत से १४ प्रतिशत तक एस्टर रहता है और ४६ प्रतिशत से कम मुक्त मेन्योल नहीं होता है। वाणिज्यिक तेलों की कुछ विवेषताएँ नीचे दी गयी हैं, और इनकी तुलना मेन्यनकोश के मानको से कर लेनी चाहिये।

अमेरिकी	इगलैण्ड का काला पुदीना	इगलैण्ड का श्वेत पुदीना
आपेक्षिक घनत्व	० ९०० से ० ९१५	०.९०३६
घुवण-धूर्णन	—१८° से—३५°	-२३.५°
एस्टर के रूप में मेन्थॉल	५ से १४%	३.७%
मुक्त मेन्थॉल	४५ से ५०%	५९.६%
मेन्थोन	९ से १९%	९.२%

जापानी तेल में एक तेज और विशेष प्रकार की वानस्पतिक गन्ध होती है और उसका स्वाद तीखा होता है। इन गुणों के कारण अँग्रेजी या अमेरिकी तेलों से सहज ही में इसका विभेद किया जा सकता है। इसमें मेन्थॉल प्रचुर परिमाण में रहता है, जो ठण्डा होने पर आसानी से जमकर क्रिस्टल बन जाता है। ट्रीज के अनुसार जापान के प्राकृतिक पिपरमिण्ट तेल में ७० से ९० प्रतिशत मेन्थॉल होता है जिसको निकालने के लिए ही इसका बहुत ज्यादा उपयोग किया जाता है। मेन्थॉल निकाले हुए जापानी पिपरमिण्ट तेल में लगभग उतना ही मेन्थॉल और उसका एस्टर रहता है जितना अमेरिकी तेल में। इसका बहुत उपयोग होता है, जैसा कि नीचे दिये गये १९२६ ई० के जापान के निर्यात सम्बन्धी आँकड़ों से प्रतीत होता है—

पिपरमिण्ट का तेल	६३७, २०३ पौण्ड
मेन्थॉल	७०५, ३७१ पौण्ड
मेन्थॉल की सलाखे (पेन्सिल)	१७६, ६६८ पौण्ड

अमेरिका में पिपरमिण्ट की खेती १८१६ ई० से ही शुरू हो गयी थी और आजतक वहाँ उत्साह के साथ यह चल रही है। अधिकतर प्रशान्त महासागर के तट पर वैज्ञानिक ढग से इस पौधे की कृषि की जाती है, और वहाँ इसके तेल का उत्पादन सन्तोष पूर्ण स्थिति में पहुँच गया है। अमेरिका में १९३५ से १९४७ ई० तक की अवधि का वार्षिक उत्पादन १० लाख पौण्ड से १६ लाख पौण्ड तक रहा है और इसकी कृषि का क्षेत्रफल ३५ हजार एकड़ से ५० हजार एकड़ तक। इण्डियाना, ओरिंगान और वार्शिगटन में पिपरमिण्ट की कृषि का क्षेत्रफल तथा इसके तेल का उत्पादन, ज्यों ज्यों उसकी खपत बढ़ती गयी है त्यों त्यों शनैं शनैं इसके तेल का उत्पादन, ज्यों ज्यों उसकी खपत बढ़ती गयी है त्यों त्यों शनैं शनैं बढ़ता गया है। तेल का प्रति एकड़ औसत उत्पादन ३०-४० पौण्ड के बीच है। अमेरिका न केवल अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जो बहुत विस्तृत है बल्कि इस तेल का निर्यात भी करता है।

जापान और अमेरिका दोनों ही देश पिपरमिण्ट तेल को विक्री से काफी बड़ा मुनाफ़ा कमाते हैं। इस्लैण्ड, फ़ोग, रटली और जर्मनी में भी पिपरमिण्ट के तेल के सम्बन्ध उच्चोग है। पिपरमिण्ट के तेल के उत्पादन के नम्बर्स में अभी हाल में कास्ट्रोलिया ने मध्यरोपीय किया है और इस गश्चन्ध में पोर्टिंग प्रकाशित हुए हैं उनके पश्च लगता है कि पिपरमिण्ट दो ऐसी पदोन्नतियाँ आधार पर यह भी गयी है और कहा जाता है कि प्रयोग बहुत भी नफ़ल निन्होगा है। इन बातों को देखते हुए कि भारत में इनके विशाल प्रारूपित उत्पन्न विद्यमान हैं और पिपरमिण्ट तेल का औनत मूल्य सर्वतार पृष्ठ पर ही है, भारत को इन उच्चोग में पीछे नहीं रहना चाहिये। उपयुक्त सेवों में इसकी गोठी तथा वालिडियर प्रयोजनों के लिए तेल को आसवन का नाम दर्ही दिखाय ही एक बड़ा नाम प्रद उपग्रह होगा जो वारम्प करने योग्य है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुरधान परिषद् ( नो० एस० आई० आर० ) की वाप्तसीन तेल नम्बर्सी नलाद्दार समिति ने अपने सम्बन्धी ( एक्सप्लोरेटरी ) रिपोर्ट ( १९४६ द० ) में बहा है—“भारत प्रति वर्ष ७५ हजार लघ्ये का पिपरमिण्ट तेल या आयान करता है। इनका कोई कारण नहीं कि पिपरमिण्ट के पौधों का भारत में उत्पादन नम्बर न हो। पिपरमिण्ट तेल वाप्तसील तेल समुदाय का एक महत्वपूर्ण गृह्ण्य है और भेषज निर्माण तथा मिठान्न उत्पाद में इसका बड़ा उपयोग होता है। हमारा यह मत है कि उपयुक्त वैराषटी के पिपरमिण्ट के पौधे चार से पाँच हजार कुट यी क्लेवर्ड पर अच्छी तरह उग गकते हैं, यदि उन्हें हुए पौधे इम क्लेवर्ड पर लगाये जायें।” अभी हाल में मेन्या कैनेडेन्सिस वैराषटी पिपराम्बुड़ का पौधा जापान में मेंगाकर जम्मू ( ९०० फुट ) में इस ग्रन्थ के लेखकों द्वारा ( १९५३ द० ) में लगाया गया था न्यानीय मिट्टी तथा जलवायु सम्बन्धी विधियों के प्रति पौधे ने अद्भुत अनुकूलता अपनायी। रोपणी में लगाये हुए पौधे के सूखे पत्तों से २१ प्रतिशत वाप्तसील तेल मिला जिसमें ७०.१ प्रतिशत मुक्त मेन्थॉल था और प्रजनन के लिए पौधे का विस्तार किया जा रहा है। मश्नेपण विधि से बड़ी मात्रा में मेन्थॉल का उत्पादन किया जा रहा है। मेन्थोन, पुलेगोन और पिपेरिटोन जैसे कीटोनों का अपचयन करके यह प्रक्रिया बहुत आसानी में सम्पन्न की जा सकती है। यूकेलिप्टस तेल में पिपेरिटोन रहता है और कुछ हद तक उस मेन्थॉल निकाले हुए तेल में भी रहता है, जो जापान में पैदा किया जाता है। इसे आसानी से मेन्थोन में बदला जा सकता है और फिर इसे उत्प्रेरक ( catalytic ) हाइड्रोजनीकरण द्वारा मेन्थॉल में बदला जा सकता है। इस विधि

मेरे तैयार किया हुआ पदार्थ ही आज ३० वर्पों से बाजार मेरे सशिलष्ट मेन्थॉल के नाम से विक्री रहा है। पेनी रायल टेल (मेन्था पुलिजियम *M. pulegium*) मेरे पुलेगोन ही मुख्य घटक होता है और कुछ अश मेरे यह जापानी पिपरमिण्ट के पौधे मेरे भी मिलता है। पिपेरिटोन की तरह यह भी मेन्थोन मेरे बदला जा सकता है। मेन्थॉल को बनाने मेरे सिट्रोनेलाल का भी उपयोग किया जा सकता है। जावा और श्रीलंका मेरे सिट्रोनेलाल धास, (सिम्बोपोगान नार्डस) से तैयार किये गये सिट्रोनेलाल टेल मेरे यह सिट्रोनेलाल बहुत मिलता है।

शिमेल ऐण्ड कम्पनी की रिपोर्ट के अनुसार उनकी प्रयोगशालाओं मेरे जो सशिलष्ट मेन्थॉल बनता है वह वाम ध्रुवण-ध्रुणक होता है। इसका गलनाक  $35^{\circ}$  सेंट्री है और स्वरूप तथा गन्ध मेरे प्राकृतिक मेन्थॉल से बहुत मिलता-जुलता है। परीक्षणों से यह भी प्रकट होगया कि सशिलष्ट उत्पादों की अपेक्षा शरीरक्रियात्मक दृष्टि से कुछ अधिक सक्रिय पर कम विषाला होता है। इसके पूर्तिरोधी गुण एक्रीफ्लेविन, स्कार्लेट रेड, जेन-शिअन वाँयलेट जैसे भेषजों के समान ही हैं। जैसी स्थिति अभी है, प्राकृतिक मेन्थॉल उद्योग की सम्भावनाओं के सम्बन्ध मेरे कोई भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है।

### सन्दर्भ :-

- (1) Russel, 1926, *J Amer Pharm Assoc*, 15, 566, (2) *Bureau of Plant Industry Bulletin*, 1905, Part III, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) Schimmel & Co., 1928, *Report*, (5) Chopra, R. N., Ghosh, N. N., and Ratnagiriswaran, A. N., 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770
- (6) *Perfumery and Essential Oil Records*, 1923, 14, 397, (7) *Chemist and Druggist*, 1926, 104, 278, (8) Chopra, I. C., Handa, K. L., and Kapoor, L. D., 1946, *Ind Jour. Agri Sci*, 16, 3, (9) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946, (10) Trease, G. E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 491, (11) Kapoor, L. D., Handa, K. L., and Chopra, I. C., 1953, *Jour. Sci. Industr. Res.*, 12 A, 7, 315, (12) Narielwala, P. A. and Rakshit, J. N., 1946 *Report of the Essential Oil Advisory Committee (C. S. I. R.)*, 33, (13) Production of Drugs and Condiments Plants, F. Bull, 1999, U. S. Dep'tt, Ag., 1948, 77, (14) Handa, K. L., Kapoor, L. D., and Abrol, H. L., 1954, *Ind Jour Pharm*, 32, (15) Datta, S. C., and Mukerji, B. 1952, *Pharmacognosy of Indian Leaf Drugs*, 73

## मिरिस्टिका फैग्रेन्स (मिरिस्टिकेसी)

Myristica fragrans Houtt (Myristicaceae)

जायफल (The Nutmeg, Mace)

नाम — स०.— जातीफलम्, हि० तथा व०— जायफल, वस्त्र०— जायफल,  
त०— जाडिकै, त०— जाजिकाग ।

मिरिस्टिका मलावैरिका (Myristica malabarica Lam.)

वस्त्र॒ का जायफल

जायफल का औषधियों में अधिक उपयोग नहीं होता है, किन्तु इससे प्राप्त बाष्पशील तेल को कई महस्त्वपूर्ण भेपजकोशीय योगों में जैसे स्पिरिट अमोनिया ऐरोमेटिक्स, टिचर वैलेरिना अमोनिएटा आदि में व्यवहृत किया जाता है । जायफल तेल का आमवात में उपयोग भी बाहु उपयोग किया जाता है । इस तेल का मृदुरेचक वाटिकाओं और अन्य औषधियों में भी उदर-शूल को शमन करने के लिए किया जाता है और उद्दीपक तथा वातानुलोमक के रूप में शर्तरा में मिलाकर दिया जाता है । औषधीय उपयोग के अतिरिक्त जायफल एक आवश्यक वाणिज्यिक वस्तु भी है, क्योंकि इससे निकाला गया वाष्पशील तेल सावुन और सुगन्धित उच्चोगों के लिए एक वहुमूल्य वस्तु है ।

जायफल, मिरिस्टिका फैग्रेन्स के दीज की सूखी गुठली को कहते हैं । मिरिस्टिका फैग्रेन्स एक सदाहरित वृक्ष है जो ऊँचाई में १० से २० मीटर तक होता है, और यह मोलकका द्वीप में पाया जाता है । यह वृक्ष पेनाग, सुमात्रा, सिंगापुर, श्रीलंका तथा वेंगट इण्डीज में भी होता है और मॉरिशस, बोरबान, मैडागास्कर, सेचिलीस और जजीवार के द्वीपों में लगाया गया है । अमेरिका में जितना जायफल उपयोग में लाया जाता है उसका लगभग आधा हिस्सा प्रेनाटा (वेस्ट इण्डीज) पूर्ति करता है । भारत में नीलगिरि पहाड़ियों में और मलावार तट पर इमकी कई जातियां पायी जाती हैं । प्राचीन अभिलेखों से पता चलता है कि किसी समय भारत में जायफल वृक्ष यूब उगता था । वहृत पहले सोलहवीं शताब्दी में गारकोआ डि ओर्टा नामक पुर्तगाली चिकित्सक ने भारतीय भूमि पर जायफल वृक्षों को प्रचुरता के साथ पैदा होते देखा था, किन्तु इस समय ये वहृतायत से नहीं पाये जाते हैं । जायफल की एक जाति मिरिस्टिका मलावैरिका है जो वस्त्र॒ में वहृत वडी मात्रा में पायी जाती है, किन्तु उसमें उस मृदु सुरभि की कमी रहती है, जो मिरिस्टिका फैग्रेन्स का

विशिष्ट गुण है। इसलिए उसका वाणिज्यिक महत्त्व बहुत कम है। इसे 'बम्बई का जायफल' कहते हैं और असली जायफल में इसका अपमिश्रण किया जाता है। जायफल तेल के आर्थिक महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अकेले अमेरिका २० लाख से ३० लाख पौण्ड जायफल सालना बाहर से मँगता है। इसके अतिरिक्त ६,६२,६६७ रुपये के जायफल का आयात (१९२८-२९ ई०) में भारत में किया गया था। अत अगर इस ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाय तो भारत न केवल अपनी ही माँग की पूर्ति कर सकता है, बल्कि एक महत्वपूर्ण निर्यात-व्यापार स्थापित करने की आशा रख सकता है।

### कृषि

भारत में पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र तट के किनारे मिरिस्टिका फ्रेग्रैन्स की खेती करना उपयोगी हो सकता है। यह पादप विभिन्न तरह की भूमियों में पैदा होता है, अर्थात् मोलका द्वीप की ज्वालामुखीय विक्षेप की बालुकामयी उपजाऊ मिट्टी से लेकर पिनाग की पीली दुमट चिकनी मिट्टी में भी पैदा होता है।

दक्षिण भारत में इस समय ३०० एकड़ से कुछ कम क्षेत्र में जायफल वृक्ष की खेती होती है। तीन हजार फुट की ऊँचाई पर यह पेड़ ४९ फुट तक लम्बा बढ़ता है। आत्मनिर्भर होने के लिए भारत में ११०० एकड़ की भूमि में इसकी खेती पर्याप्त होगी और इससे २५०० हृण्डरेट जायफल प्रतिवर्ष मिल जायगा। जायफल की सफल कृषि के लिए बलुई दुमट मिट्टी तथा लैटेराइट भूमि जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह हो, बहुत उपयुक्त होती है। मिट्टी का पी-एच मान ७.१ से ७.२ तक होना चाहिये और वार्षिक वर्षा ६६ से ७५ इच तक होनी चाहिये।

साधारणत इसकी खेती बीज बोकर की जाती है। पेड़ों पर ही पककर फट जाने वाले फलों से ताजे बीज इकट्ठा कर लिये जाते हैं और २४ घण्टों के अन्दर छाये में उसे बो दिया जाता है। इस विधि से ९८ प्रतिशत पौधे उग आते हैं। ये पौधे ६ महीने में ६ से ९ इच लम्बे हो जाते हैं और तब इन्हे इनके स्थायी क्षेत्र में २५-३० फुट के अन्तर पर प्रतिरोपित कर दिया जाता है। ५० पौण्ड अच्छी प्रकार से सड़ी हुई फार्म की खाद, अर्धमिश्रित कम्पोस्ट खाद में मिलाकर प्रत्येक पौधे के लिए पर्याप्त समझौती गयी है। ६-७ वर्ष का होने पर वृक्ष फल देने लगता है और ३०-४० साल तक फल देता रहता है। एक जगह तो ९० वर्ष का पुराना वृक्ष अभी भी फल देता है। सामान्यतः एक वृक्ष से १५ से २० पौण्ड तक जायफल और १ पौण्ड जाविनी (Mace) इकट्ठा की जाती है, किन्तु प्रति वृक्ष से ४० पौण्ड

जायफल और १२ पौण्ड जाविनी पाने का भी उल्लेख है। जाविनी एक प्रकार का बीज चोल ('Ari') होता है जो कि बीज को ढके रहता है और इसका उपयोग मसाले के रूप में होता है।

### संघटन

जायफल से ५ से १५ प्रतिशत तक वाप्पशील तेल और ३० से ४० प्रतिशत तक वसा प्राप्त होता है। इससे फाइटोस्टेरिन, भण्ड, ऐमिलो डेक्सूट्रिन, रजक द्रव्य और सैपोनिन भी मिलता है। इससे ३ प्रतिशत कुल राख और ० २ प्रतिशत अम्ल में अविलेय राख मिलती है। पावर और तात्वे के अनुमार इसके वाप्पशील तेल (बोलियम मिरिस्टिकी वी० पी०) से पाइनीन और कैम्फीन ८० प्रतिशत, डाइपेण्टीन ८ प्रतिशत, ऐल्कोहॉल लगभग ६ प्रतिशत, मिरिस्टिसिन लगभग ४ प्रतिशत, सैफ्रोल ०.६ प्रतिशत, यूजिनॉल और आइसोयूजिनॉल ० २ प्रतिशत विद्यमान रहता है। ये रने से या विलायकों की सहायता से जायफल से एक उत्पाद मिलता है जिसे "नटमेग बटर" अथवा जायफल का निष्कर्षित तेल कहते हैं। इससे १२.५ प्रतिशत वाप्पशील तेल, ७ प्रतिशत ड्राइमिरिस्टिसिन (मिरिस्टिक अम्ल का ग्लिसिराइड), ओलेइक, लिनोलेइक और अन्य अम्लों की लवू मात्रा तथा ८५ प्रतिशत असावुनकरणीय (unspounifiable) पदार्थ रहते हैं।

### सन्दर्भ :-

(1) Finncmore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Trease, G E, 1952 *Text Book of Pharmacognosy*, 248, (3) Private Communication, Director of Agriculture, Madrid

### पैपेवर सॉम्निफेरम (पैपेवरेसी)

#### Papaver somniferum Linn (Papaveraceae)

अफीम अथवा श्वेत अहिपुष्प

नाम — स०—अफिकेन, हि०—अफीम, अफियून, व०—पोस्तो-डेडी, वम्ब०—  
अफीम, अप्पो, त०—अविनी, गशगशा, फा०—अफियून, सश्खाण,  
अ०—अफियून, किश्वुल-खश्खाण।

पैपेवर सॉम्निफेरम वेराइटी ऐल्बम (*P. somniferum var. album D C*) (अफीम देनेवाला पोस्ता) भारत के हर भाग में पैदा होता है। इसके फूल सफेद होते हैं। इसके सफेद बीजों को खस-खस कहते हैं और सम्पुट (कैम्पुल) को पोस्ता डोडा,

कहते हैं। साधारणत इसकी खेती की जाती है और यह अपने आप नहीं पैदा होता होता है। सम्भवत यह पीधा देशीय नहीं है और वाहर से लेया गया है। ऐतिहासिक अभियोगों में यह स्पष्ट है कि अग्रेजी राज्य स्थापित होने से पूर्व इस पीधे का लगाया जाना यहाँ गुट हो चुका था। अफीम देनेवाले अहिपुष्प के सम्पुटों के गुणों तथा उन्हें उपयोगों की जानकारी लोगों को इसा सम्बत्सर के पहले से ही थी। डी कैन्डोल (Dr. Candolle) के अनुसार सम्भवत वन्य-अवस्था में पैदा होनेवाला पादप पैपेवर सेटिजेरम (*P. selligerum*) की कृपि होने पर विकसित रूप में इसका ही नाम पैपेवर सॉम्नफेरम हो गया। अहिपुष्प की विभिन्न जातियों की कृपि शोभार्थ उद्यान-पादप के रूप में की गयी है जिसका उल्लेख लेखकों ने बहुत प्राचीन काल से कर रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसके बीजों को खाद्य होने की मान्यता उससे बहुत पहले मिल चुकी थी जब कि इसके सम्पुट (डोडा या डोडी) को निद्रापक गुण की मान्यता दी गयी थी, और यह बात भी निश्चित है कि सम्पुटों के निद्रापक तथा स्वापक गुणों को लोग, इसके दुधिया रस के इन गुणों को जानने से पहले से ही जानते थे। निद्रापक भेषजों को बनाने में मै अथवा उद्दीपक और शायक पेयों को बनाने में इसके सम्पुटों का उपयोग चिरकाल से होता आ रहा है। वॉट के अनुसार पैपेवर सॉम्नफेरम अनेक शताव्दी पूर्व एशिया माइनर में उसके सम्पुटों के लिए उगाया जाता था और अरब के लोग सूखे पोस्ते की डोडी को पूर्वी देशों में लाये जिनमें चीन भी सम्मिलित है। ये लोग इसे उन देशों में उस समय ले आये जब कि इसका फाणित रस (*inspissated juice*) निकाला भी नहीं गया था और उन प्रदेशों के वासियों को इसके गुणों का पता भी नहीं था। इस पादप के तथा इसकी डोडी के औपचार्य गुणों का पता यूनान तथा रोम के आरम्भिक शास्त्रीय काल में लग चुका था। अफीम के प्राचीनतम उल्लेखों में एक उल्लेख थिओफ्रास्टस (*Theophrastus*) के कालका लगता है जो इसा पूर्व तीसरी शताव्दी के आरम्भ में पैदा हुआ था और जिसे सम्भवत पोस्ते के रस को तैयार करने की तथा उसके उपयोगों की जानकारी प्राप्त हो गयी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता है कि इसके बीज और डोडी के गुणों का पता उससे पहले हो चुका था। मिस्रवासी प्रथम शताव्दी में अहिपुष्प (*Poppy*) के सम्पुटों (डोडी) का उपयोग करते थे। चीन के प्रारम्भिक ग्रन्थों में उल्लेख है कि अरब के लोग चीनों सौदागरों से पोस्ते की डोडियों का परस्पर विनियम किया करते थे। जब उन्हें सम्पुट पहली बार देखने को मिला तो उसके पात्र-सदृश (urn-like) आकार तथा

बाजरा के समान वीजों के कारण उसका नाम मिनांग ( minang ) ( बाजरा-मात्र ) और यिंग्सु ( जार-बाजरा ) रखने का उन्हे सुझाव मिला । इस बात के अभिलेख मिलते हैं कि अरबवालों ने चीनियों को इन सम्पुटों से स्वापक पेय तथा औषधि बनाने का अनुदेश दिया था, जब कि चीनी अफीम के गुणों के बारे में कुछ नहीं जानते थे । इसमें कोई सचेह नहीं प्रतीत होता है कि ya-pici ( ओपियम ) शब्द मिनांग ( minang ) शब्द के बाद व्युत्पन्न हुआ ।

इस तरह से यह प्रकट होता है कि पोस्ते के सम्पुटों ने अफीम की जानकारी होने के पहले ही मानव जाति का ध्यान अपनों और आकृष्ट कर लिया था । इसमें आश्वर्य नहीं कि चिकित्सकों को इसके स्वापक और शामक गुणों की जानकारी हो जाने के बाद जनसाधारण को इस बस्तु का पता चला जिसने इसका उपयोग उस विश्वव्यापी इच्छा की पूर्ति के प्रयोजनों के लिए किया जो मानव मात्र में उद्दीपक या शामक पदार्थ पाने के लिए पायी जाती है ।

### पोस्ते के सम्पुटों का औषधीय उपयोग

पोस्ते के सम्पुटों ( डोडो ) का उपयोग आजकल साधारणत औपचार्यों में नहीं किया जाता है किन्तु इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यूनान तथा रोम के आरम्भिक शास्त्रीय काल में लोग औषधीय प्रयोजनों के लिए इनको काम में लाते थे और भिस्तवासी भी बाद बाले राजवशो के राज्यकाल में इनको काम में लाते थे । हिन्दू तथा मुस्लिम चिकित्सा में वाहू तथा आत्तरिक उपयोग के लिए शामक के रूप में इन सम्पुटों का उपयोग शताव्दियों तक किया गया है । हृकीम लोग सिरदर्द, अतिसार, पेचिश तथा बच्चों की पाचन सम्बन्धी वीमारियों में इसको दिया करते थे । भारत के कई भागों में घरेलू औषधि के रूप में इसका उपयोग किया जाता है और माताएँ दांत निकलते समय बच्चों को शान्त रखने के लिए उन्हे इसे दिया करती हैं । पोस्ते के डोडो से तंधार किये हुए एक फाण्ट को हल्की चोट, शोथ और सूजे हुए भागों पर वेदनाहरण के लिए मला जाता है और कभी कभी अनेक प्रकार के कष्टप्रद नेत्ररुलेष्मलार्ति में नेत्र के चारों ओर लगाया जाता है और कर्णशोथ में इसका सेक किया जाता है । चीन में भी चिकित्सक लोग इसा सम्बत्सर की आरम्भिक सदियों में इसका निर्वाच उपयोग किया करते थे । लुग राजवग के समय के अनेक चिकित्सा चिपयक लेखकों ने और बाद के लेखकों ने पोस्ते को डोडो के गुणों की अतिसार की चिकित्सा के लिए बड़ी प्रशंसा की है, विशेषकर जब स्तम्भक ( ग्राही ) भेषजों के साथ मिलाकर इसे

दिया जाता है। चीनी लेखक वाग-शिह ने कहा है कि अतिसार में पोस्ते के सम्पुटों का प्रभाव बड़ा ही चमत्कारी होता है। डा० एडकिन्स के अनुसार सफेद और लाल दोनों तरह के पोस्तों का वर्णन और उपयोग चीनी चिकित्सा में, ११वीं शताब्दी में, अफीम की जानकारी होने के पहले, किया गया था। यूआन (Yuan) राजवंश (१३वीं शताब्दी) के एक चिकित्सक विषयक लेखक ने पोस्ते के सम्पुटों से बनी औषधियों को अतिसार के लिए बहुत ही प्रभावी बताया है।

**पोस्ते के सम्पुटों (डोडो)** का सुखाभास के लिए उपयोग —

यह सुविदित है कि उद्दीपक, प्रत्यास्थापक तथा शामक गुणवाली वस्तुओं के उपयोग का सम्बन्ध चिरन्तन काल से ही मानव जाति के प्राकृत इतिहास से रहा है। कोको, काफी, चाय, अफीम, ऐल्कोहॉल (मद) इत्यादि वस्तुओं का उपयोग, सुखानुभूति की वृद्धि के लिए उस समय से होता आ रहा है जब सभ्यता के इतिहास का आरम्भ भी नहीं हुआ था। ये सभी चीजें, साधारण मान्यता में ली जायें तो ये भनुप्य की भन स्थिति पर एक अनुकूल प्रभाव डालती है। ये सभी वस्तुएँ सुख की घेतना या सुखाभास में वृद्धि करती हैं। इस प्रयोजन के लिए पोस्ते के सम्पुटों का उपयोग बहुत पहले ही शुरू हो चुका था। उन देशों में जहाँ इसका मूल उद्गम है, (जैसे एशिया माझनर) चाहे जो भी स्थिति रही हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में पोस्ता का आगमन होते ही इसके डोडो का उपयोग सुखाभास के प्रयोजनों के लिए होना आरम्भ हो गया था। यह पादप 'कोकनार' के नाम से ज्ञात था। इसके सम्पुटों को 'गोजा', 'खोलये कोकनार' 'पोस्त-ये-कोकनार' या सिर्फ 'पोस्त' अथवा 'पोस्तडोडा' कहते थे। मुगलों के काल में पोस्ते की डोडियों से बने एक पेय का, जिसे 'कुकनार' कहते थे, देशभर में साधारणत व्यवहार में लाया जाता था। अबुलफजल ने अपनी आईने अकवरी में स्वयं सम्राट् हारा इसके पिये जाने का उल्लेख किया है। वह लिखता है—‘जब भी शहशाह की छच्छा शराब पीने की अथवा अफीम या कुकनार लेने को होती थी तो उनके सामने फल की बड़ी बड़ी तश्तरियाँ रख दी जाती थी।’ उपरोक्त वाक्य में अफीम के अतिरिक्त 'कुकनार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है इससे यह प्रकट होता है कि पोस्ते के सम्पुटों का तथा अफीम के फाणित रस (unspsissated juice) का दोनों ही चीजों का उपयोग होता था। बॉट के अनुसार 'पोस्त' नामक जिस पेय का उपयोग आजकल पजाव में होता है वह 'कुकनार' से बहुत कुछ भिन्नता-जुलता है जो अकवर के काल में मुसलमानों में एक विलास-वस्तु समझा जाता था। 'चार-बुधा' (Char-bughra) नामक एक और पेय का भी उल्लेख आया है जो शराब, भाग

(हेम) अफीम और पोस्ते के मम्पुटो का एक सम्मिश्रण होता था। मुगल साहित्य में आगे बन्ध कई उल्लेख यह दत्तात्रे हैं कि सोलहवीं शताब्दी में और उसके बाद के कान में 'पोस्त' या 'कुकनार' पीने की आदत भारतीयों में किस सीमा तक पहुँच गयी थी। दट्टाविया के सम्बन्ध में लिखते हुए (१६५८ ई०) वॉन्टियस ने भारतीयों को 'पोस्ती' और 'अप्यूनी' इन दो वर्गों में बांटा है। 'पोस्ती' वे जो अहिपृष्ठ के मम्पुटो को खाते और 'अप्यूनी' वे ये जो अफीम खाते थे। १७वीं और १८ वीं शताब्दी में पोस्ता का उपयोग बहुत व्यापक हो गया था जैसा कि तत्कालीन नेचुकों के कथनों से प्रत्यक्ष है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि पोस्ता की डोडी का उपयोग सुखाभास के लिए बहुत व्यापक होगया था। पजाव के इतिहास में सिक्खों के शासन काल में 'पोस्त' पीने के कई उल्लेख आये हैं, किन्तु उनसे यह ठीक-ठीक अनुभान नहीं लगाया जा सकता है कि लोगों में 'पोस्त' पीने की आदत किस सीमा तक पहुँची हुई थी। पोस्त की छेती पर नियन्त्रण लागू हो जाने पर इसका प्रलोभन किसानों के मन से नि सदेह हट गया था जिससे इसके पीने की आदत निश्चय ही कम हो गयी है। अब भारत में पोस्ते की डोडी मुश्किल से मिलती है और भारत के बहुत भागों में 'पोस्त' या 'कुकनार' पेय को लोग नहीं जानते हैं और ऐसे मालूम होता है कि इसका स्थान अफीम ने ले लिया है। इस तरह से पोस्ते की डोडी या 'पोस्त' का व्यवहार देश में असामान्य बात हो गयी है। पजाव के कुछ जिलों में, विशेषकर जलधर और होशियारपुर में तथा राजस्थान और मध्यभारत के कुछ जिलों में लोगों को अभी भी इसके प्रति आसक्ति है।

#### मधटन —

जब ये डोडियाँ पकी नहीं होती, तो इनसे अफीम मिलती है। पक जाने पर और मूँख जाने पर इनमें ऐल्केलांयडों की लघुमाना रह जाता है और इसलिए इनका न्यापक गुण, मद पड़ जाता है। विना वीजवाले सम्पुटो में मार्फीन की मात्रा में बहुत अन्तर रहा करता है, अधिकतम मात्रा ०.५ प्रतिशत तक मिलती है। कच्ची डोडियों में (विना वीजवाली में अगम्त महीने में) ०.०५०—०.०२० प्रतिशत मार्फीन तथा ०.०११३ में ०.०११६ प्रतिशत नाकोंटीन और कोडीन मिलते हैं। पकी हुई डोडियों में (विना वीजवाली में सितम्बर महीने में) ०.०१७ प्रतिशत मार्फीन तथा ०.०२८ प्रतिशत नाकोंटीन और कोडीन मिला था। यहाँ की अविद्य डोडियों में ऐल्केलायड की कुल मात्रा ०.४ से ०.६ प्रतिशत तथा विद्य डोडियों में ०.१५ से ०.२२ प्रतिशत मिलती थी। पैयेवर सामिनफेरम के वीजों में कर्वोश ने नाकोंटीन तथा

अक्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड के सूक्ष्म अश विद्यमान पाये थे, किन्तु मुलर द्वारा वीजो का परीक्षण करने पर कुछ भी ऐल्केलॉयड नहीं प्राप्त हुआ।

### अफीम —

पैपेवर सॉम्फेरम की कच्ची डोडियो (सम्पुटो) को बेधने (हल्का चीरने) से जो दुधिया निश्चाव निकलता है, हवा में सूखने पर वही अफीम कहलाता है। मानक अफीम में स्वाभाविक आद्रेस्थिति में निर्जल मॉर्फीन की मात्रा १५ प्रतिशत से कम नहीं होती, पर यह मात्रा २० से २२ प्रतिशत तक हो सकती है।

भारतीय उत्पाद-वस्तु के रूप में अफीम- का जो प्राचीनतम उल्लेख मिलता है पह मनवार तट के वर्णन के प्रसग में यहाँ आये यानी वारबोसा ने (१५११ ई० में) किया है तथा पुर्तगाली इतिहासज्ञ पाइरेस ने पुर्तगाल के राजा मैनुएल को १५१६ ई० में लिखे अपने पत्र में बगाल और मिश्र की अफीम का उल्लेख किया है। पोस्ता की खेती तथा अफीम खाने और उसका धूम्रपान करने के इतिहास का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन वाट ने अपनी पुस्तक “डिक्शनरी आफ दि इकॉनामिक प्रोडक्ट ऑफ-इण्डिया” में किया है। इस लेखक ने पोस्ता के इतिहास की खोज उस समय से आगरम्भ की है जब यूनान और रोम में यह पौधा उद्यान-पादप के रूप में लगाया जाता था और इसके औपचार्य गुणों का वहाँ वालों को पता भी नहीं था। इसने लिखा है कि झीलों में आवास करने वाले प्रस्तर युग के स्विस लोगों ने एक तरह के घोस्तों की खेती शुरू की थी जो पैपेवर सेटिजेरम से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अंगर (Unger) के अनुसधान (१८५७) ई० यह दिखाने में असफल रहे हैं कि प्राचीन मिश्रवासी पोस्ता-रस के गुणों से अवगत थे और न मिश्र के साहित्य में ही अफीम का कोई उल्लेख मिलता है। सम्भव यह प्रतीत होता है कि भव्य प्रथम यूनान वालों ने अफीम का पता लगाया। ‘तालमड’ में जो ‘ऑफिओन’ (Ophion) शब्द आया है, वह स्पष्टत यूनानवालों से लिया हुआ है और अरबी शब्द ‘अफून’ भी वही से आया है। पोस्ता का मूल उद्गम-स्थान सम्भवत एशिया माइनर था और वहाँ से यह यूनान पहुँचा। होमर (Homer) और लिवी (Livy) द्वारा पौधे के औषधीय गुणों को जानते थे और डायोस्कोराइडेस (Dioscorides) ने, जो ईसा पूर्व पहली शताब्दी में थे, अफीम के निस्तारण का वर्णन विस्तार के साथ किया है। ईसा सवत्सर के आरम्भ होते समय तक अफीम की तथा इसके गुणों की जानकारी सर्वत्र हो चुकी थी। उन दिनों अफीम मुख्यतः एशिया माइनर में पैदा की जाती थी और इसकी कृषि एक बड़े उद्योग के रूप में विकसित हो गयी थी। यायावर

(nomadic) अरब व्यापारियों का स्थान इसकी ओर गया जिन्होने इस भेषज को पूर्व के विभिन्न देशों में, जिनमें भारत और चीन भी सम्मिलित हैं, पहुँचाया और इसकी जानकारी फैलायी। ये लोग इसके बुरे प्रभाव के रहस्य को जानते थे और उन्होने इसके व्यापन को एशिया के सुदूर उत्तरी स्थानों तक पहुँचा दिया। ऐतिहासिक अभिलेखों के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ७६३ ई० से पूर्व चीन के लोगों को अफीम की जानकारी नहीं थी और इस बात का साक्ष्य मिलता है कि १३ वीं शताब्दी में यह भेषज उस देश में लाया गया। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि अरब वाले पोस्ते की डोडियाँ देकर बदले में अन्य वाणिज्यिक वस्तुएं लिया करते थे और यह स्पष्ट है कि इसका चीनी नाम 'या-पिन' (Y-a-pin) अरबी नाम 'अफून' (Af-yun) से लिया गया है।

अफीम के भारत में आने का इतिहास चीन में उसके प्रवेश के इतिहास से कुछ कम निश्चयात्मक है। इस बात के कुछ साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं कि ९ वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में भारत में लोग अफीम को जान गये थे और १५ वीं शताब्दी में तो निश्चित रूप से यहाँ इसकी जानकारी लोगों को हो चुकी थी। जब पुर्तगाल के लोग पहली बार १४९८ ई० में कोचीन आये तो अफीम उनकी एक वाणिज्यिक वस्तु थी जिसे वे अरब देश से कालीकट तथा अन्य स्थानों को लाये। १५ वीं शताब्दी के अन्त में उन लोगों ने यहाँ वस्तुत पोस्ते की लेती आरम्भ कर दी थी। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के अनुसार सस्कृत साहित्य में अफीम शब्द का कोई समानार्थक शब्द मिलता ही नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अफीम भारत की देशीय वस्तु नहीं है। मुसलमानों के विजय काल से खसखस (poppy seeds) या खसखस रस (पोस्ते का रस) शब्द सस्कृत साहित्य में आने लगा है और भारत में जो भी इसके नाम हैं वे (सस्कृत में अहिफेन और हिन्दी में अफीम) अरबी शब्द 'अफून' से आये हैं। अग्रेजी का 'ओपियम' (opium) शब्द भी इसी से निकला है। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि इसे मुसलमान ही यहाँ लाये थे।

### देशी चिकित्सा-पद्धति में अफीम

हिन्दुओं की चिकित्सा के प्राचीन ग्रन्थों में पोस्ता या उसके उत्पादों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में अफीम का व्यवहार कब से आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। चक्रदत्त, सुश्रुत तथा वाग्मद्वादीदि प्राचीन ग्रन्थों में अफीम का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इनमें अन्तिम ग्रन्थ ६ ठीं शताब्दी में लिखा गया था। चक्रदत्त ११ वीं शताब्दी

मेरे लिखा गया था, किन्तु उसके रचयिता तथा टीकाकर ने इस ग्रन्थ मे अफीम का कोई उल्लेख नहीं किया है। यह अवश्य कहा जाता है कि मलावार के निवासी नारायण द्वाग विष-विज्ञान पर लगभग ८६२ ई० मेरे लिखे गये एक ग्रन्थ मे, मूपक-विष की चिकित्सा मे अफीम के उपयोग का उल्लेख आया है। वाद के ग्रन्थ मे जैसे—शार्झर्डर (१४ वी शताब्दी) तथा भावप्रकाश (१६ वी शताब्दी) मे अफीम का अवाघ रूप से उल्लेख आया है और कई औषधियो मे इसके उपयोग का विधान किया गया है। इसलिए यह सम्भव है कि मुसलमानो की विजय के साथ-साथ या उससे कुछ ही पहले अफीम भारत मे आयी हो। इस समय आयुर्वेदिक औषधियो मे अफीम का बहुत अधिक उपयोग नहीं किया जाता है, प्रवाहिका (diarrhoea) तथा अतिसार (पैचिश) (dysentery) मे ही इसे दिया जाता है और वह भी कठिपथ दशाओ मे ही। कहा जाता है कि 'यह त्रिदोषज विकारो को ठीक करती है, शुक्र एव पेशी शक्तियो को बढ़ाती है तथा मज्जिक मे स्वापकता पैदा करती है।' आश्चर्य की बात यह है कि हिन्दू चिकित्सको ने अफीम के वेदना-शामक गुणो का उपयोग नहीं किया।

यूनानी चिकित्सा-पद्धति मे अफीम को सबेनाहारी (anaesthetic) बताया गया है और शताव्दियो पूर्व इसके वेदना-शामक गुणो की जानकारी उन लोगो को ही गयी थी। आघासीसी (Hemicrania), जोडो के दर्द, कटिवेदना (लम्बेगो) इत्यादि मे अफीम दी जाती थी और न केवल इसका आश्यतरिक उपयोग किया जाता था बल्कि लेप के रूप मे इसका वाट्य प्रयोग भी किया जाता था। पैचिश तथा प्रवाहिका मे इसका उपयोग किया जाता था। जहाँ तक मस्तिष्क पर इसके प्रभाव का सम्बन्ध है, इस बात को लोग अच्छी तरह जानते थे कि सर्व प्रथम यह उद्दीपन करके आनन्द एव तृष्णा को भावना उत्पन्न करती है, शारीरिक ओज बढ़ाती है और उज्ज्ञता की अनुभूति पैदा करती है। इसके ये गुण ही इसके सेवन की आदत डालते हैं। अफीम के स्वापक गुणो को तथा श्वसन-मार्ग पर इसका जो शामक प्रभाव पड़ता है, उसको लोग अच्छी तरह जानते थे और उग्र खांसी, दमा तथा हिंकी मे इसका बहुत उपयोग किया जाता था। मुस्लिम चिकित्सक वाजीकर के रूप मे भी इसके सेवन की सलाह देते थे क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे मैथुन के समय वीर्य-पात विलम्ब से होता है। इस समय अफीम को और औषधियो के साथ मिलाकर मधुमेह की चिकित्सा के लिए उपयोग मे लाया जाता है। इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक के अनुसधानो से यह पता चलता है कि देशीय चिकित्सा-पद्धति मे इसके सेवन की सलाह बहुत सीमित

रूप से ही दी जाती है। ऐसा नहीं है जैसा कि साधारणत विश्वास किया जाता है कि वैद्य और हकीम लोग इसका अवाध उपयोग करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं ताकि साधारण लोग इसका सेवन न करजे लगे।

### भारत में अफीम का उत्पादन

समशीतोष्ण और उपोष्ण जलवायु वाले प्रदेश में, जहाँ वृष्टि बहुत अधिक न होती हो, पोस्ता उगाया जा सकता है। उपोष्ण प्रदेशों की अपेक्षा समशीतोष्ण प्रदेशों में इसकी पैदावार कम होती है। भारत में १५वीं शताब्दी में पोस्ते की खेती का जो प्रथम अभिलेख मिलता है उसमें कैम्बे और मालवा में इसके पैदा किये जाने का उल्लेख है। इस देश में इसका आगमन होने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में इसकी खेती समुद्र-तटवर्ती क्षेत्रों में शुरू की गयी और बाद में धीरे-धीरे प्रायद्वीप के आम्यन्तरिक भागों में इसकी कृषि का प्रसार होता गया। पोस्ता के श्वेत वैराइटी की खेती यहाँ अधिकतर की जाती थी और अब भी की जाती है, यद्यपि इससे न्यूनतम भावा में मार्फीन मिलती है, और गुलाबी वैराइटी से अधिकतम मार्फीन मिलती है (श्वेत की अपेक्षा तीन गुना अधिक) और लाल वैराइटी का स्थान इन दोनों के बीच का है। इसका कारण यह है कि श्वेत वैराइटी यहाँ की जलवायु के सर्वाधिक अनुकूल पड़ती है और देश के किसी भी भाग में पैदा की जा सकती है। गुलाबी वैराइटी राजस्थान तथा सम्य भारत में खूब उगती है और काले बीज की लाल पुष्प चाली वैराइटी की खेती हिमालय के प्रदेशों में की जाती है।

मुगल-काल में पोस्ते की खेती इतने विस्तृत पैमाने पर की जाती थी कि अफीम चीन तथा अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार की एक महत्वपूर्ण वस्तु बन गयी थी। मालवा की अफीम देश की उस भाग की विशेषता बन गयी थी। अकबर के शासन काल में राजस्व के साधन के रूप में इसका महत्व पहली बार समझा गया था और अकबर ने ही इसे राज्य के एकाधिकार की वस्तु बना दी थी। 'आइने-अकबरी' में अबुल-फजल ने लिखा है कि पोस्ते की खेती फतेहपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर में होती थी, विशेषकर उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में यह पैदा किया जाता था। उस समय विहार में इसकी खेती नहीं होती थी, किन्तु आगे चलकर इस राज्य ने बड़ी भावा में अफीम का उत्पादन शुरू कर दिया और इसकी खेती देश के अन्य भागों में भी फैल गयी। राँक्सवर्ग, ईलियट तथा एसली ने दक्षिण भारत में इसकी खेती का कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि देश के उस भाग में भी इसकी खेती होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुगलों

के शासनकाल में इसकी विस्तृत खेती की जाती थी, न केवल बगाल में बल्कि उडीसा में भी। मुगल साम्राज्य का पतन होने के बाद, इसके उत्पादन पर जो राज्य का एकाधिकार तथा नियन्त्रण था वह समाप्त हो गया और पटना के व्यापारियों के एक दल ने इसकी विक्री के काम को अपने हाथ में ले लिया। १७५७ ई० में पोस्ते की खेती का एकाधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में चला गया जिसने उस समय तक बगाल तथा विहार से माल-गुजारी इकट्ठा करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। जब वारेन हेस्टिंग्स गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसने अफीम के सारे व्यापार को शासन के नियन्त्रणाधीन कर दिया। इसके उत्पादन, वितरण तथा विक्री के नियन्त्रण की प्रणालियों में कई बार परिवर्तन किये गये, किन्तु तब से इस पर एकमात्र शासन का ही एकाधिकार रहा है और समस्त देशवासियों के हित के लिए इस पर कठोर नियन्त्रण चला आ रहा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में और बाद में सम्राट के शासन में पोस्ता की सामान्य कृषि का और अफीम के उत्पादन का निषेध कर दिया गया था। इसकी खेती और उत्पादन को तीन केन्द्रों तक सीमित कर दिया गया था। (१) पटना या बगाल की अफीम जो विहार और बगाल में बोये गये पोस्ते में प्राप्त होती थी, (२) बनारस की अफीम जो उत्तर प्रदेश से प्राप्त होती थी और (३) मालवा अफीम जो राजस्थान, ग्वालियर, भोपाल, बड़ीदा आदि के विस्तृत क्षेत्रों में पैदा होने वाले पोस्ते से प्राप्त की जाती थी।

इधर हाल के वर्षों में पोस्ते की प्राय, सम्पूर्ण कृषि उत्तर प्रदेश तक सीमित कर दी गयी है। पोस्ता के पौधे को उगाने की आज्ञा एक लिखित अनुज्ञाप्ति ( लाइसेन्स ) के द्वारा प्राप्त की जाती है और समस्त उत्पाद को सरकार खरीद लेती है। कुछ अफीम पजाब में भी पैदा की जाती थी जो मुख्यत राज्य की आन्तरिक खपत के लिए होती थी किन्तु अब वहाँ इसकी पैदावार प्राय बन्द कर दी गयी है। पोस्ते की खेती प्राय समूचे हिमालय में विशेष कर शिमला की पहाड़ियों में की जाती थी पर बहुत कम मात्रा में और प्राय स्थानीय उपभोग के लिए ही। यहाँ की अफीम के उत्पाद की भी बड़ी सावधानी से निगरानी की जा रही है। पोस्ते की कृषि को नियंत्रित करने का परिणाम यह हुआ है कि न केवल अफीम की उपज ही कम हो गयी है बल्कि इसके किसानों को जो प्रलोभन था वह भी जाता रहा है और देहाती क्षेत्रों में इसके सेवन का व्यसन काफी कम हो गया है। इसी कारण इसके व्यसन का स्वरूप भी बदल गया है। ऐतिहासिक अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि पोस्ते की डोडियों से और पौधे से 'पोस्त' या 'कुकनार नामक एक पेय बनता था जिसका मुगल-काल में समस्त देश में अत्यधिक सेवन होता था। अब यह पेय प्राय उठ गया है।

### पोस्ते की कृषि में हास

हाल के वर्षों में पोस्ते की कृषि बहुत कम हो गयी है, इस बात को उपलब्ध आकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है। वाट ने १८८१ ई० में इस सम्बन्ध में जो आंकड़े सकलित किये थे उनके अनुसार श्रिटिश-भारत में पोस्ते की खेती का कुल क्षेत्र १० लाख एकड़ से ज्यादा नहीं था और उनका यह अनुमान रहा कि तीस वर्ष पहले से इसकी कृषि इतने ही क्षेत्र तक बनी रही है। प्रति एकड़ अफीम का उत्पादन १५ से २० पौण्ड था। इसका अधिकांश भाग निर्यात होता था और थोड़ी मात्रा यह देश में उपभोग के लिए रख ली जाती थी। तब से इसकी कृषि में कमी ही होती गयी है और यह कमी विशेषकर गत दशाविद्यों से बहुत स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है।

निम्नलिखित विवरण से यह ज्ञात होगा कि गत कई दशाविद्यों में पोस्ते की खेती और इसका उत्पादन उसके आधे से भी कम रह गया है जितना कि यह १९२० ई० में था।

पोस्ते की कृषि का	अफीम का
क्षेत्रफल	उत्पादन
१८८१ ई०	५३६,२८२ एकड़
१९२० ई०	१५४,६२१ ,,
१९२१ ई०	११६,०५५ ,,
१९२२ ई०	११७,९३२ ,,
१९२७ ई०	५२,२७९ ,,
	७,८००,५२१ पौण्ड
	१,८७०,४३६ ,,
	१,१७९,९७७ ,,
	१,५१८,८२८ ,,
	८८५,६४१ ,,

अफीम के निर्यात तथा आन्तरिक खपत दोनों में ही कमी आ गयी है। निर्यात सम्बन्धी विवरण से पता चलता है कि इसके निर्यात में काफी कमी आ गयी है। जब १९००-०१ ई० में इसका निर्यात ६९७०८ पेट्रियो का था, १९१९-२० ई० में गिर कर यह १०५०९ रह गया और वाद के वर्षों में इसके निर्यात में और भी गिरावट आ गयी। (निर्यात की एक पेटी में १६० पौण्ड अफीम रहती है)। नवीनतम सूचनाओं के अनुसार १९५२-५३ ई० में (अर्थात् १ अवृत्तवर १९५२ से ३० सितम्बर १९५३ ई० तक) ८३,६२६ एकड़ भूमि में पोस्ते की कृषि की गयी थी। इतना क्षेत्र तो देश की कृषि योग्य भूमि का एक नगण्य अंश है अर्थात् १/५००० से ज्यादा नहीं है। पोस्ते की कृषि के लिए क्षेत्र का चुनाव करने में भारत सरकार का आवकारी (एक्साइज) विभाग, राज्य सरकारों से परामर्श करता है क्योंकि

पोत्ते से शुरू, उमका उत्पादन सगा ग्रहण का कार्य केन्द्रीय एकाइज़ विभाग के अधीन है।

वाहनों के अनुसार १९४८-५२ ई० तक के वर्षों की अवधि में विद्युत के विभिन्न रेसोर्स जिनकी अपरिलग्न अफीम पैदा की गयी थी उसके अंतर्भूत नीचे दिये गये हैं। यह पानकारी १९२५ ई० के गत्तमाट वर्षेशन के निषेध के अनुसार स्थायी औन्द्रीय अफीम बोर्ड की थी गयी थी।

देश	१९४८ ई०	१९४९ ई०	१९५० ई०	१९५१ ई०	१९५२ ई०
	टनों में				
टर्ने	३८०.२	१०.४	१८४.८	२७७.८	४६३.६
भारत	३६२.८	२२०.०	२३०.७	५२६.७	३४९.८
ईरान	२१.३	१९९.७	४८०.९	३२.२	१३०.६
स्यर	७५.०	७६.०	८५.७	९३.८	१०४.३
युगोस्लाविया	२१.५	०.५	१९.२	२२.०	१२.१
बुलगारिया	४.४	०.७	१.०	०.९	६.७
दून्य देश	०.१	—	०.५	—	—
कुल जोड़	८४४.८	५०७.३	१००२.८	१०३३.४	१०६७.०

### रासायनिक भृष्टन

अफीम के उत्पादन-स्थान एवं निर्माण-विधि के अनुसार इसके स्वल्प, स्थृत एवं गुण में अन्तर रहता है। यह विद्युत के कई भागों में, विशेषकर टर्नी, एशिया माझनर, ईरान, भारत, चीन, मिन और दक्षिणी पूर्वी शूरूप में पैदा की जाती हैं। लगभग उन २५ ऐलेलोयडों के अतिरिक्त (जो नीचे दिये गये हैं) अफीम में ऐसीटिक, लैम्बिक, सलफूरिक और मेनोनिक अम्ल, गोद तथा पेक्टिन युक्त पदार्थ, अल्बूमिन, मांस, वसा, कौटचूक (Courtchouc), रात और अनेक प्रकार के अन्य उदासीन पदार्थ जैसे मेकोनिन, मेकोनॉयसिन आदि भी रहते हैं।

अफीम में व्यवत्क जो ऐलेलोयड और उनकी मात्राएँ पायी गयी हैं, वे पृष्ठ २३५ पर दी गयी हैं:-

\* राष्ट्र-संघ, जेनेवा, १९५३ ई० के अन्तर्गत 'इकॉनॉमिक ऐन्ड सोशल काउन्सिल औन स्टैटिस्टिक्स ऑफ नाकोटिक्स' को १९५२ ई० के लिये भेजी गयी रिपोर्ट तथा वाहन के १९५३ ई० का कार्य विवरण।

ज्ञात ऐल्केलाइँयड	प्रतिशत
* भॉर्फीन	९
* कोडीन	० ३
निकोपीन	—
* थीवेन	० ४
पॉर्फिरोक्सीन	—
मेकोनिडीन	—
* पैपावैरीन	० ८
स्यूडोपैपावैरीन	—
कोडामीन	०.००२
* लाउडामीन	०.०१
लाउडानोसीन	०.०००८
नैन्योपीन	०.००६
क्रिप्टोपीन	०.०८
पैपावेरामीन	—
* नाकोटीन	५०
ग्नॉस्कोपीन	० २
स्यूडोमॉर्फीन	०.०२
ट्रिटोपीन	०.००१५
हाइड्रोकोटार्नीन	—

अफीम के प्रमुख ऐल्केलाइँयडों के सम्बन्ध में कुछ तथ्य निम्नलिखित विवरण में दिये गये हैं।

ऐल्केलाइँयड	सूत्र	अन्वेषक	समय	गुण
भॉर्फीन	$C_{17}H_{19}O_3N$	सर्टनर	१८०६ ई०	तीव्र क्षारक जो लिट-
कोडीन	$C_{18}H_{21}O_3N$	रॉबीक	१८३२ ई०	मस पर क्षारीय है और
थीवेन	$C_{19}H_{21}O_3N$	पेलेटियर	१८३५ ई०	अत्यधिक विषेले हैं।
नाकोटीन	$C_{22}H_{28}O_7H$	डेरोस्ने	१८०३ ई०	मन्द क्षारक जो
नासीन	$C_{18}H_{27}O_8N$	पेलेटीयर	१८३२ ई०	बहुत कम विषेले
पैपावैरीन	$C_{20}H_{21}O_4N$	मर्क	१८४८ ई०	है।

अफीम के ऐल्केलाइँयडों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है। (१) फिनैन्थीन-

\* ताराकित ऐल्केलाइँयड महत्त्वपूर्ण हैं।

पिरिहीन वर्ग—इसमें माँफीन, कोडीन, स्थूलोमाँफीन, निओपीन और थीवेन होते हैं।  
(२) बेन्जिल—आइसोबिनोलीन वर्ग—इसमें पैपावैरीन, नाकोटीन और बचे हुए ऐल्केलॉयडो से से अधिकाश रहते हैं। पहले वर्ग के ऐल्केलॉयड प्रबल क्षारक (वेस) हैं और बहुत ही विषालु होते हैं, किन्तु दूसरे वर्ग के ऐल्केलॉयडो का शरीर-क्रियात्मक प्रभाव नहीं के बराबर होता है। अफीम का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें कितना माँफीन है, क्योंकि इसी का अफीम से प्राचुर्य होता है और शरीरक्रियात्मक दृष्टि से यहीं सर्वाधिक सक्रिय ऐल्केलॉयड है। विभिन्न देशों के अफीमों के नमूनों में माँफीन की मात्रा यह है—

टर्की—५ से १४ प्रतिशत; ईरान—६ से १४ प्रतिशत, मिस्र—० २८ से ८ प्रतिशत, भारत—३ से १५ प्रतिशत, चीन—१ ५ से १२ प्रतिशत, जापान—० ६ से १३ प्रतिशत, बोहिमिया—११-१२ प्रतिशत, तुर्किस्तान—५ से १८ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया, ४ से ११ प्रतिशत।

भारतीय अफीम में कौन-कौन से ऐल्केलॉयड कितनी मात्रा में होते हैं, इसका पता निम्नलिखित आंकड़ों में मिलेगा जो डनिकिलफ ने (१९३७ ई०) दिये हैं।

माँफीन -	८ से २०	प्रतिशत
नाकोटीन	५—७	"
कोडीन	१—४	"
पैपावैरीन	० ४—१ ०	"
नार्सीन	० ५—१ ०	"

विभिन्न देशों की अफीमों में न केवल माँफीन और आद्रेता की मात्रा की दृष्टि से विभिन्नता रहती है, बल्कि विभिन्न ऐल्केलायडो के अनुपात की दृष्टि से भी उनमें विभिन्नता होती है। उदाहरणार्थ भारतीय अफीम में कोडीन प्रचुर मात्रा में होती है। इसका विश्लेषण नीचे किया गया है।

किस्म	आद्रेता की प्रतिशतता	निंज़ल माँफीन की प्रतिशतता	कोडीन की प्रतिशतता
टर्की की पुरानी किस्म की अफीम	१३०१—१९७	१०७—११३	—
टर्की सरकार की एकाधिकारवाली अफीम	१४९—१६६	१२५—१३०	०५—२०
ग्रूगोस्लाविया की अफीम	८०९—११५	१६७—१७१	१०

## ( अफीम ) का रासायनिक सघटन

३३३

भारतीय अफीम	११ १—१२ ९	९ ६—१० ५	४—५
ईरानी अफीम	—	१००९	२०—३७
(लाल कागज में ढकी)			
ईरानी अफीम	९ ६—१२ ०	१२ २—१३ २,	—
(पोस्ते की पत्ती से ढकी)			

भारतीय अफीम जो इरलैण्ड को निर्यात की जाती है वह दो पौण्ड की वर्गाकार सिल्लियो (blocks) में भेजी जाती है। हर सिल्ली पर दो परत सफेद कागज लिपटा रहता है जिस पर अफीम के तैलीय दाग पड़ जाते हैं। इन्हें डोर्सियो से बर्बंध कर पेटियो में भर कर भेजा जाता है। एक पेटी में ८० सिल्लियाँ रहती हैं। इसमें आद्रेता की मात्रा लगभग ११ से १३ प्रतिशत होती है और माँकीन की मात्रा—लगभग १० प्रतिशत होती है। भारतीय अफीम को सुखाकर चूर्ण बनाना बहुत मुश्किल होता है क्योंकि यह तैलीय होती है। इसलिए चूर्ण बनाने के काम में इसे नहीं लाया जाता, बल्कि ऐल्केलांयड बनाने से ही इसका प्रमुख उपयोग किया जाता है।

पहले ऐसा विश्वास था कि भारतीय अफीम में जो मुख्यतः धूम्रपान के प्रयोजनों के लिए काम में लायी जाती थी, माँकीन की मात्रा बहुत ही कम होती है और इसलिए औषधीय प्रयोजनों के लिए अनुपयुक्त होती है। औषधीय प्रयोजनों के लिए अफीम पैदा करने के विशेष प्रयास यहाँ १९१४ ई० से किये जा रहे हैं और तब से भारतीय अफीम से माँकीन भी मात्रा धीरे धीरे बढ़ गयी है। यहाँ तक इसके औषधीय महत्व का सम्बन्ध है, अब यह टक्की की अफीम का मुकाबला कर सकती है। फिर अन्य देशों की अफीम की अपेक्षा यहाँ की अफीम में कोडीन बहुत अधिक होती है, जो इसका अतिरिक्त गुण है। भारतीय तथा टक्की की अफीमों में जो महत्वपूर्ण एल्केलांयड है उनका अनुपात इस प्रकार है —

भारतीय अफीम ( औसत )	टक्की की अफीम ( औसत )
माँकीन ९ ५—१४ २ प्रतिशत	१०—१४ प्रतिशत
कोडीन १ ८—४ "	० २—३ २ "
नाकोटीन ३ ९—७ ६ "	४—१ १ "

भारत में अफीम के उत्पादन पर बड़ा प्रभावशाली नियंत्रण है। सरकार ने शुल्क से ही यह अनुभव कर लिया है कि किसी क्षेत्र में किसी भेषज की उपलब्धि से वहाँ वालों में इसके सेवन का व्यासन पड़ता है। अफीम की खपत को घटाने के लिए पोस्ते

को कृषि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है, इस तथ्य को अधिकारियों ने पूरी तरह समझ लिया था, गवर्नर जनरल लार्ड रिपन ने बहुत दिन पहले भारत सचिव को एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने बताया था कि पोस्टे की अनियन्त्रित कृषि से जनता में अफीम सेवन की आदत पड़ेगी। अफीम की खेती पर, १८५७ ई० में ही इसके उत्पादन के विनियमन के लिए एक अधिनियम बनाकर, नियन्त्रण लगा दिया गया था। अब भी इसकी खेती का विनियमन १८५७ ई० के अधिनियम १३ (जिस रूप में १९११ ई० के अधिनियम १ द्वारा यह संशोधित हुआ है) तथा १८७८ ई० के अधिनियम १ द्वारा होता है। इन अधिनियमों के आधीन पोस्टे की खेती भारत में लाइसेन्स लेकर ही की जा सकता है। कुल कितने क्षेत्र में पोस्टा बोया जाय इसका निश्चय सरकार हर साल करती है और लाइसेन्स में यह विहित रहता है कि लाइसेन्सधारी ठीक कितनी खेती कर सकता है। पजाब में कर्तिपय पहाड़ी इलाकों को छोड़कर, जहाँ लोगों को थोड़ी मात्रा में पोस्टे की खेती करने की तथा सरकारी नियन्त्रण के अधीन लाइसेन्स प्राप्त विकेताओं को अफीम बेचने को अनुमति दी गयी थी, शेष स्थानों में पोस्टे की खेती करने वाले कृषक के लिए आवश्यक है कि वह अपना समूचा उत्पाद निर्धारित दर पर सरकार को देवे। अजमेर-मारवाड़ में अफीम की खेती जनवरी १९२७ ई० से ही बन्द कर दी गयी है। उत्तर प्रदेश में उसकी खेती अब एक सीमित क्षेत्र तक ही रह गयी है।

पोस्टा के बीज अक्टूबर और नवम्बर में बोये जाते हैं। दिसम्बर के महीने में अधिकारी इस बात की जांच करते हैं कि कितने क्षेत्र में इसकी खेती की गयी है और उसका अभिलेख रखते हैं। जनवरी से मार्च तक इसका रस इकट्ठा किया जाता है और अप्रैल से जून तक वह दे दिया जाता है। पौधे से निकाला गया समूचा रस सरकारी अफसरों को देना होता है।

अफीम के वितरण के सम्बन्ध में ब्रिटिश-भारत सरकार की नीति हस्तक्षेप न करने की रही है जहाँ तक अपरिष्कृत अफीम को परिमित रूप से व्यवहार में लाने की बात है, चाहे उपभोक्ता वास्तविक शारीरिक लाभ या केवल काल्पनिक लाभ के उद्देश्य से इसे लेता हो अथवा उद्दीपक और स्वापक पदार्थ लेने की जो मानवमात्र में सर्वव्यापी इच्छा पायी जाती है उसकी तृप्ति के लिए लेता हो (विशेष कर वे लोग जिनका उद्यम ही ऐसा है कि शारीरिक श्रम करना पड़ता है और खुले में रहना पड़ता है)। इसका परिमित उपयोग करने में, सरकार की नीति हस्तक्षेप न करने की रही है। सरकार की यह इच्छा अवश्य है और हमेशा रही है कि इसके अत्यधिक सेवन को रोका जाय। अफीम के निर्माण, सधारण, परिवहन, आयात, निर्यात तथा उसको

विक्री पर १८७८ ई० के अफीम अधिनियम के अधीन कठोर नियन्त्रण रखा जाता है। कोई व्यक्ति लाइसेन्स प्राप्त अफीम-विक्रेता से अथवा लाइसेन्स प्राप्त भेपज-विक्रेता से ही अफीम ले सकता है। खुदरा विक्रेता के पास पहुँचने तक की वितरण की प्रत्येक प्रावस्था पर परिवहन-परिपत्र की विस्तृत व्यवस्था करके, पूरा नियन्त्रण रखा गया है। खुदरा विक्रेता लाइसेन्स का दुरुपयोग न करने पाये इसके लिए बड़ी कठोर शार्ट रद्दी गयी हैं। किसी भी व्यक्ति को विक्रेता एकबार उससे ज्यादा अफीम नहीं दे सकता है जितना कि कानूनन वह रख सकता है। विक्रेता नगद विक्री ही करेगा और उसी स्थान पर जहाँ के लिए उने लाइसेन्स मिला है। वह उस स्थान पर किसी को अफीम खाने न देगा और अपनी विक्री का दैनिक रजिस्टर रखेगा जिसे आवकारी इनप्रेक्टर किसी भी समय देख सकता है। जहाँ तक इसके निर्यात का सम्बन्ध है, चीनी भारकार के साथ हुए करार के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने १९०८ ई० से ही कलरन्ट में निर्यात के लिए होने वाली इसकी विक्री को धीरें-धीरे कम कर दिया है। १९१३ ई० से भारत सरकार ने अफीम को चीन भेजने की पावन्दी का दृढ़ता में पालन किया है। हेग सम्मेलन (१९१२ ई०) के निश्चित उपवन्धों में एक उपवन्ध का—अर्थात् इस उपवन्ध का कि अपरिष्कृत अफीम उन देशों को न निर्यात की जायगी जो द्युका निर्यात बन्द करना चाहते हैं—भारत सरकार ने कठोरता के साथ पालन किया है। १९१५ ई० से भारत सरकार की यह नीति भी रही है कि उन देशों ने अप्रैल १९२२ को

के लिए जो (हेग-सम्मेलन पर हस्ताक्षर करने के न की तथा इसके आयात को वैध आवश्यकताओं तक हुए हैं सीधे वहाँ की सरकारों के साथ विक्रय करा १९२३ ई० से राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशन/सिस्टम' भी अपना लिया गया है। १९२६ ई० नीति शुरू की। ७ अप्रैल १९२६ ई० दी गयी और उस तारीख से सुदूर पूर्व साथ सीधा करार करके ही, अफीम आगे चलकर सरकार ने सुदूर पूर्व दिसम्बर १९३१ ई० से औषधीय।

शब्द गे या पानी में मिलाकर लो जाती है। वासाम तथा मध्य भारत को छोटकर और जगहों में अव धूग्रपान के रूप में अफीम का सेवन बहुत कम हो गया है। इस विषय पर अभी हाल के प्रकाशनों से ऐसा लगता है कि अफीम सेवन का व्यसन यहाँ च्यापक सा हो गया है, पर यह बात नहीं है। यहा की जनता में यह व्यत्तन नहीं फैला है यद्यपि कतिपय धोन और कतिपय बग्गे ऐसे हैं जो इस व्यवसन के शिकार से हो गये हैं किन्तु इनकी संख्या नगण्य है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि भारत के अधिकांश भागों में इसका उपभोग उस प्रमाण से बहुत कम है जो कि राष्ट्र-सघ ने जनसंख्या के आधार पर औपर्याय एवं वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए विहित कर रखा है। प्रत्येक प्रान्त में यन्त्रन्त्र बुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहा इसकी खपत बहुत ज्यादा है। सम्बद्ध स्थानीय मरकारों द्वारा ऐसे क्षेत्रों की सावधानी से जांच की जा रही है ताकि बहाँ अफीम के बढ़े हुए उपभोग के कारणों का पता लगाया जाय और उनको दूर किया जा सके। अफोम सेवन की आदत का प्रसार नहीं हो रहा है, बल्कि तथ्य यह है कि गत दीस वर्षों के अन्दर समस्त देश में इस आदत में आश्चर्यजनक कमी हुई है। वर्षा सहित निर्दिश भारत में उपभोग के लिए दी गयी अफीम की मात्रा का एक विवरण नीचे दिया गया है। इस विवरण से आदत में कमी आने की बात स्पष्ट हो जाती है.—

वर्ष	मात्रा
१९११-१२ ई०	१,०३१,२२७ पौण्ड
१९१९-२० ई०	८८५,७२१ ,,
१९२५-२६ ई०	६००,७८४ ,,

इधर कुछ अरसे से इसकी खपत और भी कम हो गयी है। इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने उस दिशा में जो कुछ कार्य किया है उससे पता चलता है कि इस कमी का कारण है अफीम के उत्पादन का कम होना तथा इसके मूल्य का बढ़ना। अफीम सेवन की आदत और इसके प्रभाव के सम्बन्ध में अगर और जानकारी पानी हो तो पाठकों को चाहिए कि वे इस वरिष्ठ लेखक तथा उसके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित अनुसंधान पत्रों को पढ़ें।

### रुधिर-शर्करा तथा ऐल्ब्युमिनमेह पर अफीम का प्रभाव

इस प्रचलित विश्वास को दृष्टि में रखकर कि इस भेषज का शकंरा—मेह (ग्लाइकोसूरिया) में बड़ा लाभप्रद प्रभाव पड़ता है। चोपदा और बोस ने मधुमेह के रोगियों तथा विना मधुमेह वालों की रुधिर-शर्करा पर इसके प्रभावों की छानबीन

की (१९३१ ई०)। उन्होंने यह बताया है कि स्थिर-शर्करा पर अल्प या अधिक मात्रा में लेने से अफीम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चिकित्सकों में यह विश्वास बहुत प्रचलित है कि वृक्क रोग से पीड़ित लोगों को अफीम सह्य नहीं है। इस सम्बन्ध में चोपडा तथा बोस ने यह भी कहा है कि अफीम की १ से ९ ग्रेन की दैनिक मात्रा का ऐल्ब्यूमिनमेह के रोगियों के ऐल्ब्यूमिन-उत्सर्जन पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता है, वल्कि तथ्य यह है कि वहुधा ऐल्ब्यूमिन का उत्सर्जन बहुत कम हो जाता है।

### अफीम सेवन के व्यसन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

चोपडा तथा बोस ने अस्पताल के रोगियों को लेकर इस बात का सावधानी से अध्ययन किया है कि अफीम सेवन के व्यसन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव क्या पड़ता है। इन लोगों ने बताया कि अफीम के व्यसनियों में इसका सेवन रोकने पर जो लक्षण पैदा होते हैं उनमें एक मनोवैज्ञानिक भावना रहती है जिसका आवश्यकता पड़ने पर उपशमन किया जा सकता है। जेल में अपराधियों तथा युद्ध में निरत व्यक्तियों पर अनुभव करके यह देखा गया है कि तत्काल अफीम का सेवन बन्द कर देने पर उनमें कोई खास असुविधा अथवा परिवर्जन-जन्य (withdrawal) लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुए। अफीम का व्यसन छुटाने के लिए चिकित्सा काल में अफीम की जगह जेन्शियन या कुचला जैसे भेषजों की गोली बनाकर देने से इसके व्यसनियों को कोई असुविधा नहीं होती। इन लोगों ने बहुत से रोगियों पर अध्ययन करके यह पता लगाया है कि यदि रोगी को यह न मालूम होने दिया जाय कि उसे अफीम दी जा रही है तो चिकित्सीय प्रभाव के लिए हफ्तों और महीनों तक उसे अफीम दी जा सकती है, और जब चाहे अफीम बन्द की जा सकती है, परन्तु अफीम परिवर्जन-जन्य व्यथा के कोई लक्षण उसमें नहीं मिलेंगे। इसलिए चिकित्सकों को चाहिये कि वे ऐसे रोगियों को जिनके लिए अफीम-युक्त भेषज देना आवश्यक है, विना किसी सशय के इसे दें, किन्तु यह अवश्य ध्यान में रखे कि रोगी को इसका पता न चलने पाये कि उसे अफीम-युक्त औषधि दी जा रही है।

### नार्कोटीन

नार्कोटीन उन ऐल्केलॉयडों में से एक है जो अफीम पाये जाते हैं और परिमाण की दृष्टि से मार्फीन के बाद इसका ही स्थान आता है। बहुत सी अफीमों में आधा तत्त्व इसी का होता है। यद्यपि इस ऐल्केलॉयड को उसी समय अलग किया गया था जब मार्फीन को निकाला गया था, किन्तु आरम्भिक

शोधकर्ताओं ने इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया सम्भवत इसलिए कि यह मॉर्फीन की अपेक्षा कम सक्रिय होता है। इसके शोधकर्ता डिरोस्ने ने इसको अफीम का सक्रिय तत्व माना और इसी कारण इसका नाम नाकोटीन पड़ा। बाद में यह सुझाव दिया गया कि इसका नाम अनाकोटीन रखना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमें स्वापक प्रभाव का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने लेखकों ने इस बात को समझ लिया था कि इस ऐल्केलॉयड में स्वापक गुणों का अभाव है क्योंकि माइग्रेन (migraine) की चिकित्सा में वेदनाहारी औषधि के रूप में यदा-कदा उल्लेख के अतिरिक्त केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध में चिकित्सा-शास्त्र में इसका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। इसका एक अन्य चिकित्सीय उपयोग मलेशिया के इलाज में इसका दिया जाना था।

### रसायन तथा भौतिक गुण

नाकोटीन ( $C_{12}H_{23}O_7N$ ) पादप में मुक्तरूप से विद्यमान रहता है। पोस्टे की सूखी डोडियों में यह काफी बड़ी मात्रा में पाया जाता है। पोस्टे के अविद्ध सम्पुटों के विश्लेषण से यह पाया जाता है कि अफीम से मिलनेवाले कुल ऐल्केलॉयडों में ३० प्रतिशत नाकोटीन होता है। एशिया माइनर की अफीम में यह ५ से ६ प्रतिशत तक होता है, किन्तु भारतीय अफीम में इसकी मात्रा १० से १२ प्रतिशत तक होती है। नीचे के आंकड़ों से यह प्रकट होता है कि पटना या विहार की अफीम में नाकोटीन की मात्रा मॉर्फीन की अपेक्षा लगभग द्वन्दी होती है। मालवा की अफीम में नाकोटीन की मात्रा मॉर्फीन की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। स्मर्ना की अफीम में मॉर्फीन की अपेक्षा नाकोटीन एक चौथाई से कम होता है।

अफीम का विवरण	मॉर्फीन की प्रतिशतता	नाकोटीन की प्रतिशतता
पटना की अफीम (विहार प्रोविन्चन की सिल्ली)	३ ९८	६ ३६
मालवा की अफीम	४ ६१	५ १४
स्मर्ना की अफीम	८ २७	१ ९४

अफीम में नाकोटीन मुक्तावस्था में विद्यमान रहता है, यद्यपि कुछ विशेषज्ञों का यह ख्याल है कि यह मेकोनेट के रूप में विद्यमान रहता है। अन्य ऐल्केलॉयडा से इसे आसानी से अलग किया जा सकता है।

जब अफीम का जल के साथ निष्कर्षण किया जाता है तो मॉर्फीन विलयन में चला जाता है किन्तु नार्कोटीन का अधिकाश भाग अविलेय रह जाता है। इस अवशेष को तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ अभिक्रिया करने से ऐल्केलाइंड, हाइड्रोक्लोराइड के रूप में अलग हो जाता है। इस लवण को इसके धोल से सोडियम बाईकार्बोनेट द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और फिर अवक्षेप (मुक्त वेस) को ऐल्कोहॉल द्वारा क्रिस्टलीकरण किया जाता है। नार्कोटीन को अलग करने का एक अन्य उपाय अफीम को ईथर में उवालना भी है।

नार्कोटीन गधहीन और स्वादहीन, चमकदार प्रिज्मीय क्रिस्टल के रूप में मिलता है जिसका गलनाक  $176^{\circ}$  सेंटी होता है। यह जल में अत्यल्प विलेय है— $15^{\circ}$  सेंटी पर जल के  $25000$  भाग, और  $100^{\circ}$  सेंटी पर  $7000$  भाग में  $1$  भाग। यह ऐल्कोहॉल, ईथर और बेजीन में विलेय, तथा क्लोरोफार्म में अत्यधिक विलेय और ऐमिल ऐल्कोहॉल एवं लाइट पेट्रोलियम में अल्प विलेय है।

### गुण-कर्म

नार्कोटीन अफीम का एक महत्त्वपूर्ण गौण ऐल्केलाइंड है, क्योंकि यह औसतन अफीम का  $5$  से  $6$  प्रतिशत भाग होता है। मॉर्फीन और कोडीन के औद्योगिक निर्माण में उपोत्पाद के रूप में यह बहुत बड़ी मात्रा में मिलता है, परन्तु इसका अभी तक औषधि में कोई उपयोग नहीं किया गया है। शरीर में जिस स्थान पर इन्जेक्शन दिया जाता है वहाँ से यह ऐल्केलाइंड तुरत अवशोषित हो जाता है। यह स्थानीय क्षोभ या ऊतक-क्षय नहीं पैदा करता, यह आनन्द की क्रमाकुचक गति को निश्चित रूप से सन्दर्भित करता है। पेशी तन्तुओं पर अपना सीधा प्रभाव डालकर यह समस्त शरीर की अनैच्छिक पेशियों की, जैसे गर्भाशय, मूत्राशय, पित्ताशय आदि की पेशियों के तनाव को शिथिल करता है।

पशुओं में नार्कोटीन का अन्त शिरा इन्जेक्शन देने से दैनिक रक्तदाव में पहले गिरावट आती है और फिर रक्तदाव कुछ बढ़ जाता है। रक्तदाव में गिरावट का कारण यह है कि वाहिका भित्ति के पेशी न्यास पर इसका सीधा प्रभाव पड़ने से रक्त वाहिकाओं का विस्फारण हो जाता है विशेष कर आशयिक (splanchnic) प्रदेश की रक्त वाहिकाओं का। बाद में वृद्धि होने का कारण सम्भवत वाहिकाप्रेरक केन्द्र का प्रतिवर्त्त (reflex) उद्दीपन है जो रक्तदाव के गिरावट के प्रतिकार के लिए होता है। हृदयेशीनेखी (myocardiologygraph) परीक्षणों में अलिन्द एवं निलय में जो उद्दीपन दिखाई पड़ता है उसका कारण केवल वाहिकाप्रेरक उद्दीपन ही नहीं कहा जा सकता,

और यह इस बात के प्रमाण है कि हृदजालिका (cardiac plexuses) की अनुकूली गणिका कोशिकाएँ (sympathetic ganglion cells) भी उद्धीप्त हो सकती हैं। द्रव्यनिदेशन (perfusion) सबन्धी परीक्षणों में जो हृद-यवनाद दिखाई पड़ता है उसकी इन दोनों तर्फों से पूर्णरूपेण पूर्ति हो जाती है। मार्कोन के विपरीत नाकोटीन मेडुला के श्वरान चेन्ड्र को उद्धीप्त करता है। इस्तनिकारों और अरेंथित पेशियाँ शिथिल हो जाती है। जो भी हों, इस भेषज का प्राणियों की सुपुस्ता पर मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। निश्चय ही यह मार्कोन एवं कोटीन के प्रभाव को बढ़ाता है। इसलिए इन ऐल्कोलॉयडों की अत्यल्ला मात्रा भी नाकोटीन के साथ मिलाकर देने से प्रभावी हो जाता है। ऐच्छिक पेशियों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता है। नाकोटीन को चिकित्सीय मात्राओं में देने से स्त्रावों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, पर विपालु मात्राओं में देने से लालान्नाव में विशिष्ट वृद्धि दिखाई देती है, किन्तु मूत्र, स्वेद आदि पर ज्ञायद ही कुछ प्रभाव पड़ता है। नाकोटीन अनिवार्य ऐल्कोलॉयड नहीं है। इसकी अत्यतम घासक मात्रा प्रतिग्राम शरीर भार के हिसाब से मेढ़कों के लिए २ मिं० ग्रा० होती है और विलियों के लिए प्रतिकिलो शरीर भार के हिसाब से १५ से २० ग्राम होती है। इसकी बड़ी मात्राएँ जैसे १ से २ ग्राम की मात्रा, विना कोई विशिष्ट विपालु प्रभाव के मानव को दो जा सकती है।

### चिकित्सीय उपयोग

१८९५ ई० के अफीम आयोग की रिपोर्ट में यह कहा गया था कि भारत में अफीम सेवन की बादत निचले आद्रं और मलेरिया ग्रस्त जिले के लोगों में अत्यधिक पायी जाती है और इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि अफीम मलेरिया-नाशक प्रभाव रखती है। डा० रावर्ट ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि आद्रं और मलेरिया-ग्रस्त जिलों में अफीम लाभप्रद होती है, यह विश्वास वहुत व्यापक रूप में फैला हुआ है। उनका बहना है कि इंग्लैण्ड के उन जिलों में जहाँ पहले दलदल था अफीम का उपयोग उन दिनों में बहुत होता था जब कि वहाँ जलोत्सारण ठोक नहीं था, और मलेरिया बहुत रहता था। अफीम आयोग के समक्ष आये हुए साक्ष्यों से पता चलता है कि भारत के कुछ जिलों में अफीम की खपत का सम्बन्ध मलेरिया के कम या अधिक होने के साथ था।

### मलेरिया में अफीम

जहाँ तक मलेरिया पर अफीम के प्रभाव का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने यह पहले ही (१९२८ ई०) बता दिया है कि इस समय यह भेषज अपने

रोगनिरोधी (prophylactic) वा रोगहर (curative) प्रभावों के लिए घरेलू औषधि के हृष्ण में अधिक व्यवहृत नहीं होता है। पजाव के निम्नशेषवाले गुछ जिलों में तथा क्षेत्रम्, चिनाव और सिन्दु नदियों के तटवर्ती स्थानों में जलवायु बहुत गर्द्ध है और वहाँ एक उम्र (vigilient) विश्व का मलेरिया फैला होता है। उन क्षेत्रों में ज्योत्स्ना सूचकाक (spleen index) बहुत ज्यादा होती है, किन्तु अफीम की घपत वहाँ बहुत कम होती है, जब कि अन्य कातिपय रथानों में जो इनसे ज्यादा ज़ुण्डी और स्वास्थ्यप्रद है, अफीम की घपत बहुत ज्यादा है। उन क्षेत्रों में नावधानी से पूछनाछ नी गयी पर इन पूछनाछ से ऐसा नहीं गिला कि वहाँ ने इहरी या देहानी लोगों में ऐसा जारी विश्वास हो कि मलेरिया के उपचार के लिए या उसे पिर से रोकने के लिए अफीम में दोई गलेरियानामक गुण हैं। उसमें कोई सदेह नहीं है कि अफीम यीं जिन हृद तक वहाँ घपत होती है, उसका भूख्य कारण अफीम या उन स्थानों में उपलन्ध होना है। जब अफीम की खेती उन क्षेत्रों में होती थी उन सभी अफीम यीं घपत आज भी ज्यादा थी। इसमें सदेह नहीं कि अपने सामक प्रभावों के कारण मलेरिया-अन्य लकड़णों को अफीम ठीक कर देती है, पर इसना रोग पर कोई उपचारात्मक प्रभाव नहीं पटता है। पजाव के भृष्टवर्ती जिलों में अफीम-व्यसनियों के बीच अपना जो दिन-प्रतिदिन का अनुभव रहा है उससे हम लोगों को यह विश्वास हो गया कि उन दिनों में जब मलेरिया सूब फैलता है, अफीम-व्यसनियों पर भी मलेरिया का प्रकोप उतना ही होता है जितना कि अफीम न सेवन करने वालों पर। इन रोग में अफीम न तो रोगनिरोधी प्रभाव रखती है और न रोगहर।

### मलेरिया में नाकोंटीन

इन सुझाव के सम्बन्ध में कि नाकोंटीन ही सम्मवत वह ऐल्कोलॉयड है जिसमें मलेरियारोधी गुण होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि यह विश्वास दो ससूचनाओं के आधार पर किया गया है। पहली ससूचना डा० पामर (१८५७-५९ ई०) की थी जिन्होंने गाजीपुर में मलेरिया के ५४६ रोगियों को एक ग्रेन से तीन ग्रेन की मात्रा में नाकोंटीन देकर, जो १५ ग्रेन से ४८ ग्रेन अफीम के बराबर होती है, ठीक किया था। उन्होंने अपने अनुभव का सार यह बताया था कि ७० प्रतिशत रोगियों में मलेरिया के दूसरे प्रवैग में नाकोंटीन देने के बाद ज्वर स्थायी रूप से रुक गया था और २० प्रतिशत रोगियों में ज्वर बन्द तो हुआ, पर उतनी जल्दी नहीं जितनी कि उक्त ७० प्रतिशत रोगियों में हुआ था और शीप १० प्रतिशत रोगियों में औषधि का कोई

उपचारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरी सूचना डा० गार्डन की रिपोर्ट से प्राप्त की गयी है जो “इण्डियन ऐनाल्स ऑफ मेडिकल साइंस” के सातवें खण्ड में प्रकाशित हुआ था। डा० गार्डन ने ६४४ मलेरिया रोगियों की नार्कोटीन देकर चिकित्सा की थी और १९४ रोगियों के उपचार का विस्तृत विवरण दिया था। इनके अनुसार १८७ रोगी तो शीघ्र ठीक हो गये, पर ७ रोगियों पर ऐल्केलायड का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी निश्चय पूर्वक कहा है कि नार्कोटीन से कुछ ऐसे रोगी भी ठीक हुए हैं जिन्हे कुनैन द्वारा रोगमुक्त नहीं किया जा सकता था। डा० गार्डन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद नार्कोटीन की बड़ी मांग होती रही और सरकारी कारखाने (factories) इसका नियमित रूप से सम्भरण करती रही।

मलेरिया ज्वर में अफीम का क्या प्रभाव पड़ता है यह बात अब भी अनिर्णीत रह गयी थी इसलिए इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने कई रोगियों पर इस ऐल्केलायड की क्रिया का परीक्षण किया, ताकि यह बात निश्चित हो सके कि मलेरिया-परजीवियों पर तथा उस रोग के लक्षणों पर वस्तुतः यह भेषज कोई प्रभाव डालता है या नहीं। ऐल्केलायड नार्कोटीन की १०-१५ ग्रैन की बड़ी मात्रा का भी परिसरीय रक्त में सचरण करने वाले मलेरिया-परजीवियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। रोगी का तापमान ज्यों का त्यों बना रहता है और शीतकम्प तथा प्रवेग बना रहता है, किन्तु वेदना-क्षेत्र कुछ अवसादित अवश्य हो जाते हैं, तथा रोग-जन्य वेदना और उसके प्रति रोगी की सवेच्छा कम हो जाती है। ऐल्केलायड देने के बाद रोगी को आराम मिलता है और वह अपने को पहले से बहुत अच्छा समझता है, यद्यपि तापमान पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। इवसंन एवं हृदय पर कोई विशेष उद्धीपन नहीं होता, और न प्रतिवर्त्तों (reflexes) में ही कोई अभिवृद्धि होती है। इसलिए मनुष्य को चिकित्सीय मात्राओं में देने से मेहुला या सुखुम्ना में अतिउत्तेजकता (hyper-excitability) के कोई वाह्य लक्षण नहीं दिखायी देते।

### आर्थिक पक्ष

जो कुछ पहले कहा गया है उसको पढ़ने से यह पता चलेगा कि भारतीय अफीम में नार्कोटीन बड़ी मात्रा में पाया जाता है और चिकित्सा में इसका उपयोग किया जा सकता है तथा यह सस्ते दाम पर मिल सकता है। गाजीपुर की अफीम फैक्ट्री में यह ऐल्केलायड बहुत इकट्ठा हो गया था क्योंकि मलेरिया के उपचार में इसका व्यवहार बन्द कर दिया गया था। क्योंकि इस ऐल्केलायड में कोई शक्तिशाली चिकित्सीय गुण नहीं दिखाई पड़ा इसलिए इसके ऐसे व्युत्पन्न (derivatives)

वनाने के प्रयास किये गये हैं जो शरीरक्रियात्मक दृष्टि से अधिक सक्रिय हो। इनमें से एक उत्पाद है कोटार्नीन हाइड्रोक्लोराइड (Stypticum)। कोटार्नीन हाइड्रोक्लोराइड वहुत वर्ष पहले बाजार में लाया गया था और कहा जाता है कि गर्भाशय के हर प्रकार के रक्त-स्राव और अत्यधिक ऋतु-स्राव को रोकने में लाभप्रद होता है। यह र्हई को पैक पर (टैम्पन—Tumpon) के रूप में १ या २ प्रतिशत के घोल में लगाया जा सकता है। अफीम के ऐल्केलायঁड प्रभाव की दृष्टि से न्यूनाधिक स्वापक तथा आक्षेपकारी (convulsant) होते हैं किन्तु इनमें आक्षेपक गुण कम रहता है, इसलिए स्वापक प्रभाव की प्रधानता रहती है। मॉर्फीन, अफीम तथा अन्य ऐल्केलायঁडों के सम्मिश्रण जो चिकित्सा क्षेत्र में पैन्टोपॉन (pantopon), नार्कोफीन (narcophine) आदि नामों से प्रवेश किये हैं, के गुण-कर्म में कितना अन्तर है यह अभी ठीक से पता नहीं लगाया गया है, फिर भी यह बात सुविदित है कि नार्कोटीन जो वहुत सक्रिय ऐल्केलायঁड नहीं है, मॉर्फीन और कोडीन की विपालुता को बढ़ाता है। पुराने अनुसधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अफीम की एकमात्रा का मेढ़क पर उससे कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है जितना कि उतनी अफीम में निहित मॉर्फीन को माना देने से पहता है। मॉर्फीन की ये लघुमात्राएँ जो स्वयं प्रभावी नहीं होती हैं अन्य सहायक ऐल्केलायঁडों की लघुमात्रा में मिलाकर देने से विपावतता के तीव्र लक्षण प्रकट करती हैं (Gottlieb and Eeckhout, १९०८)।

विण्टरनिट्‌ज (Winterntz) (१९१२ ई०) ने यह दर्शाया है कि अफीम के ऐल्केलायঁड का, जिसमें से मॉर्फीन विल्कुल ही निकाल दी गयी हो, मनुष्य पर निद्राकारी यथा शामक प्रभाव पड़ता है। मॉर्फीन को छोड़कर एक मात्र अन्य ऐल्केलायঁड कोडीन है जिसका मनुष्य पर शामक प्रभाव पड़ता है जो यदि अलग से दिया जाय तो उसका बड़ा मन्द प्रभाव पड़ता है। अफीम के अन्य ऐल्केलायঁडों के साथ मिल जाने पर कोडीन का भी वैसा ही सशक्त प्रभाव पड़ता है जैसा मॉर्फीन का। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य ऐल्केलायঁड कोडीन को क्रिया का प्रवलीकरण (potentiation) करते हैं और इनमें नार्कोटीन सबसे महत्वपूर्ण सहकारी होता है। जहाँ तक केन्द्रीय तान्त्रिकातन्त्र पर नार्कोटीन की क्रिया का सम्बन्ध है, इसको यदि मॉर्फीन के साथ मिलाकर दिया जाय तो यह यहाँ भी अत्यधिक सहकारी प्रभाव डालता है। लेवी (१९१६ ई०) ने ऐसा पाया कि यदि वरावर-चरावर मात्रा में मॉर्फीन और नार्कोटीन को मिलाया जाय तो उस मिश्रण के ३ मिलीग्राम का उतना ही स्वापक प्रभाव पड़ता है जितना कि १०

मिलीग्राम मार्फीन का। नाकोंटीन और मार्फीन का वरावर-वरावर भाग कर मिला देने से क्रियाशीलता में बड़ी वृद्धि हो जाती है। इन दोनों को मिलाकर देने से वेदनाबोध बहुत ही कम हो जाता है। स्ट्राउब (Straub) ने (१९१२ ई०) मेकोनिक अम्ल के साथ एक-एक अणु इन दोनों का मिलाकर देने की सिफारिश की और इस मिश्रण का नाम 'नाकोंफीन' रखा है। यह मिश्रण साधारण वेदनाहर औषधि के रूप में लिया जा सकता है। मास्ट, जॉनसन और बोलिंगर द्वारा १९१६ ई० में तथा मास्ट, हरमान और लेवी द्वारा १९१८ ई० में बड़े ही रोचक परीक्षण यह सिद्ध करने के लिए किये गये थे कि वेदनाहरण क्रिया में वृद्धि होने का कारण सहायक एल्केलायड होते हैं और विशेष कर नाकोंटीन। विद्युत् की उतनी प्रेरित प्रवाह शक्ति को, जितने से किसी भी सवेदन विन्दु पर वेदना का आभास हो सके, नाप कर उन्होंने यह दर्शाया कि पैण्टोपॉन और नाकोंफीन, तद्वत् परिमाण में मार्फीन की अपेक्षा उद्दीपन की प्रभाव सीमा (threshold value) बढ़ा देते हैं। इन कथनों की पुष्टि हो चुकी है और इनसे नाकोंटीन को व्यवहार में लाने के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल गया है।

मस्तिष्क के आर्तिसवेदनशील भाग (algesic areas) पर नाकोंटीन के अवसादक प्रभाव का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, और इस एल्केलायड के अनुभव से हम उस सहकारिता की पूर्णत सम्पुष्टि कर सकते हैं जो नाकोंटीन और मार्फीन के बीच तथा नाकोंटीन और कोडीन के बीच वर्तमान रहती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि स्वयं नाकोंटीन तो चिकित्सीय दृष्टि से बहुत सक्रिय भेषज नहीं है किन्तु यदि इसे अफीम के अन्य ऐल्केलायडों के साथ उपयुक्त अनुपात में मिलाकर काम में लाया जाय तो यह एक उपयोगी चिकित्सीय औषधि बन सकता है। इन्हें किस अनुपात में मिलाया जाय इस पर अभी खोज करना होगा।

#### सन्दर्भः

- (1) *Report of the Opium Commission, 1892-93,* (2) Chopra, R. N., and Grewal, K. S., 1927, *Ind. Jour. Med. Res.*, 15, 51, (3) Chopra, R. N. 1928, *Ind. Jour. Med. Res.*, 16, 389, (4) Chopra, R. N., 1930 *Ind. Med. Gaz.*, 65, 361, (5) Chopra, R. N., Grewal, Chowhan, and Chopra 1930, *Ind. Jour. Med. Res.*, 17, 985, (6) Chopra, R. N., and Knowles R., 1930 *Ind. Jour. Med. Res.*, 18, 5, (7) Chopra, R. N., Mukherjee B., and Dixit, B. B., 1930, *Ind. Jour. Med. Res.*, 18, 35, (8) Chopra, R. N., and Bose, J. P., 1930, *Ind. Jour. Med. Res.*, 18, 15, (9) Chopra

R. N., and Bose, J P , 1931, *Ind Jour. Med Res*, 18, 1087, (10)  
 Chopra, R N , and Bose, J P , 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 299,  
 (11) Chopra, R N , Bose J P , and De N , 1931, *Ind Med Gaz*,  
 66, 625, (12) Chopra, R N . and Bose, J P , 1931, *Ind Med Gaz*,  
 66, 663, (13) Trease, G E , 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*  
 288, 290, (14) Chopra, R N , Badhwan, R L , and Ghosh, S , 1949  
*Poisonous Plants of India*, 172

### पूसिड्नम प्रैविओलेन्स ( अस्वेलीफेरी )

*Peucedanum graveolens* Linn (Umbelliferae)

पर्यायों\* — ऐनिथम सोवा (*Anethum sowa* Kurz)

भारतीय डिल (Indian Dill)

नाम — व०—सोवा, वस्व०—सुआ, गु०—सुर्वा, हि०—सोआ, सोवा, कश्मी०—  
 सोई, कुमाय०—सोदा, म०—शेपु, प०—सोया, म०—शतपुष्पी, त०—  
 सतकुप्पी, त०—सोम्पा, उड्ह०—सोया ।

डिल तेल, इन्जल तथा ऐसी अन्य औषधियों के गुणों को लोग अच्छी तरह जानते हैं, जिनमें (डिल) फल का उपयोग हुआ रहता है, इसनिए इसका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है । चिकित्सीय उपयोग के अतिरिक्त एक व्यजन के रूप में भी इसकी बड़ी मांग रहती है और इसके तेल का उपयोग सावुन बनाने के काम में बहुत होता है । ऐनिथम सोवा या भारतीय डिल (सोवा या सोआ) भारत भर में सर्वत्र पाया जाता है और शोतकालीन फसल के रूप में इसकी खेती की जाती है । भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों का यह पौधा है, किन्तु उसकी खेती दक्षिणी फ्रास में, सैकम्पोनी में और रूस में भी होती है । यूरोप की असली डिल से यह कुछ भिन्न होता है, क्योंकि इसका फल डिल के फल से ज्यादा लम्बा (चौड़ाई से दुगुना लम्बा) और अपेक्षाकृत अविक उत्तल (convex) होता है, तथा ऊपर की (पृष्ठीय) धारियों का रग अधिक पीला होने से डिल की धारियों की तुलना में ये धारिया स्पष्ट होती है । भारतीय तथा विदेशी फलों से निकलने वाले वाष्णवील तेल भी सघटन में भिन्न होते हैं ।

बगलौर के बाजार से मँगाये गये सोवा फलों का परीक्षण राव, सदवरो और वाट्सन ने किया है और उनका कहना है कि उससे ३ १९ प्रतिशत वाष्णवील तेल निकलता है । इस तेल के दो प्रभाग होते हैं एक वह जो पानी से भारी होता है और

\* यूरोपीय डिल को *Anethum graveolens* Linn कहते हैं—अनु०

तेल का ३२ प्रतिशत होता है और दूसरा वह जो पानी से हल्का होता है और तेल का ६८ प्रतिशत भाग होता है। सम्पूर्ण तेल का आपेक्षिक घनत्व १५० से० पर ० ९७८५ होता है। इसका घुवण-घूर्णन २५० पर +५७ ६, "D<sup>25</sup>" पर १ ४९४३ और अपने मे० ३ गुने अनुपात मे० ८० प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे० विलेय होता है। इसमे० १९५ प्रतिशत कार्बोन विद्यमान होता है।

मालवीय और दत्त ने फलों से वाष्पणील तेल के जल से भारी और हल्के दोनों ही प्रभाग क्रमशः ० ४७४ तथा ० ८२५ प्रतिशत की मात्रा मे० पाये, जिनकी विशेषताएँ क्रमशः ये थी २०° पर आपेक्षिक घनत्व १ ०५७३ तथा ० ९७१९, घुवण-घूर्णन ३०° पर +२३ ६° तथा +३८ ५°, और "D<sup>20</sup>" १ ५३८५ और १ ४९०५। तेल मे० डी-लिमोनीन ( ९ प्रतिशत ), डी-कार्बोन ( ४६ ५ प्रतिशत ) डिल-ऐपिगॉल ( ३९ ६ प्रतिशत ) और कदाचित् सूक्ष्म मात्रा मे० ऐनियोल, ऐनिसैल्डहाइड, यूजिनॉल एवं याइमॉल विद्यमान रहता है। पैरी के अनुसार भारतीय सोबाफल के तेल मे० आपेक्षिक घनत्व ० ९४५ से ० ९७० और ० ९१८ तक होता है और घुवण-घूर्णन +४०° से +५०° तक होता है, जब कि यूरोपीय डिल तेल का आपेक्षिक घनत्व ० ८९५ से ० ९१८ और घुवण-घूर्णन +७०° से +८२° तक होता है। सोबा तेल के इस ऊचे आपेक्षिक घनत्व का कारण यह बताया जाता है कि उसमे० डिल-ऐपिगॉल वडी मात्रा मे० विद्यमान रहता है। अगर इस निकाल दिया जाय तो भारतीय तेल की भीतिक विशेषताएँ उनसे मिलती जुलती होती हैं जो यूरोपीय तेल की होती हैं। इस प्रकार राव, सड्डबरो तथा वाट्सन के अनुसार वडौदा के सोबा तेल का जिसमे० से ऐपिगॉल अश निकाल दिया गया था, आपेक्षिक घनत्व १५°C पर ० ९०३०, घुवण-घूर्णन २५°C पर +६३ ६, और "D<sup>25</sup>", १ ४७९२ था, तथा उसमे० १८ प्रतिशत कार्बोन पाया गया।

यद्यपि वहुधा सोबा फलों को यूरोपियन डिल मानकर विभ्रम रहा है परं यह स्पष्ट है कि भारतीय सोबा फल के तेल मे० आपेक्षिक घनत्व अधिक होता है और कार्बोन कम होता है और इसी तरह के अन्य अन्तर भी पाये जाते हैं। इसलिए औषधि के प्रयोजन के लिए यूरोपियन डिल का स्थानापन्न मानकर सोबा फलों का उपयोग करना ठीक नहीं प्रतीत होता है। जापान के फल भारतीय सोबा फलों के समान ही होते हैं। ब्रेनीगन के अनुसार अमेरिका सोबा फल के तेल का कई वर्षों तक आयात करता रहा और ज्ञायद सुवास देने के प्रयोजनों के लिए, किन्तु कृष्णा और बघवार ने इस बात की पुष्टि नहीं की है।

सूखे और ( तेल निस्सारित ) फलो मे १६८ प्रतिशत वसा तथा १५१ प्रतिशत प्रोटीन रहता है और पशु खाद्य रूप मे इसकी सिफारिश को गयी है । सोआ के पौधे मे ००६ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिलता है जिसमे टर्पीन, एक्स-फिलैन्ड्रीन अधिक अनुपात मे होता है किन्तु कार्बोन नहीं होता । यूरोपीय तथा अमेरिकी डिल के पौधों से उपलब्ध तेलों म कार्बोन एव डी-एक्स फिलैण्ड्रीन दोनों ही रहते हैं, पर उनमे कार्बोन की मात्रा ( लगभग २० प्रतिशत ) बीज-तेल की अपेक्षा बहुत कम रहती है । भारतीय फर्मास्यूटिकल कोडेक्स के अनुसार भारतीय डिल के फल से ३५ प्रतिशत वाष्पशील तेल प्राप्त होता है । इस वाष्पशील तेल से डिल-ऐपिअॉल  $C_{11}H_{16}O_6$ , एक तैलीय अक्रिस्टलीय तरल पदार्थ मिलता है जो पार्सली ऐपिअॉल का समावयवी होता है । एक तरल हाइड्रोकार्बन ऐनियोन  $C_{10}H_{16}$ , तथा एक अन्य पदार्थ जो कार्बोन के समरूप है, इसके अन्य सघटक हैं ।

वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद ( काउन्सिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च ) की वाष्पशील तेल सम्बन्धी मन्त्रणा समिति ने बताया है ( १९४६-५० ) कि १९३७-३८ एव १९३८-३९५० में भारत से डिल के जो बीज नियर्ति किये गये उनकी कीमत क्रमशः ५५,०९७ रु० ( २३७ टन ) तथा ७३,४८८ रु० ( ३३५ टन ) थीं ।

### सन्दर्भ:

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Rao, Sudborough and Watson, 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 183, (3) *Pharm Jour*, 1898, 7, 176
- (4) Cramician and Silber, 1896, *Bar* 29, 1799, (5) *Wealth of India, Raw Materials*, 1948, I, 78, (6) Wehmer, C, 1929-31, *Die Pflanzenstoffe*, II, 897, (7) Malviyi and Dutt, 1941, *Proc Ind Acad Sci*, 12A, 251, (8) Report of Essential Oil Advisory Committee (Exploratory) C S I R, Monograph, 1946, New Delhi, (9) Krishna, S and Badhwar R L 1952, *Jour Sci Industr Res*, Suppl 11A, 250, (10) Indian Pharmaceutical Codex, 1952

### पिक्राजमा क्वैसिआँडिस (सिमारुबेसी)

*Picrasma quassoides* Benn ( Simarubaceae )

क्वैसिआ काण्ठ—Quassia Wood

यह एक धीरे बढ़ने वाला लम्बा लक्षप है जो हिमालय के वहिवर्ती क्षेत्रों मे चिनाव से पूर्व की तरफ ३ हजार से ८ हजार फुट की ऊचाई पर पाया जाता है । यह चम्बा

कुलू, बगाहर, उत्तरी गढ़वाल में ६००० से ८००० फुट की ऊचाई पर पाया जाता है, तथा नेपाल और भूटान में भी पाया जाता है। असम में खासी और नागा पहाड़ियों में ३ से ८ हजार फुट की ऊचाई पर पाया जाता है। यह चीन में भी पाया जाता है। यह पादप अप्रैल जून में फूलता है। इसके छिलके तथा पत्तियों को पजाव में ज्वर—शामक और कीटनाशी के रूप में काम में लाते हैं। इसके काष्ठ की साधारण बनावट और इसका स्वाद ब्रिटिश भेषजकोश के पादप पिक्रीना एक्सेल्सा से बहुत मिलता है और उसके स्थानापन्न के रूप में इसे व्यवहृत करने की सिफारिश की गयी है। ब्रिटिश भेषजकोश द्वारा मान्य वैसिआ, पिक्रीना एक्सेल्सा (*Picroena excelsa* (SW) Lindl (*P. excelsa* (Sw.) Planchon) का स्तम्भ काष्ठ है। इसे वाणिज्य में जमेका वैसिआ कहते हैं। इस काष्ठ का अमेरिका में भी उपयोग होता है, किन्तु अधिकाश यूरोपीय भेषजकोशों में क्वैसिआ अमारा (*Quassia amara* Linn) को जिसे सुरिनाम वैसिया कहते हैं, अधिक पसन्द किया जाता है। पिक्रीना एक्सेल्सा एक १५-२० मीटर ऊँचा वृक्ष है जो वेस्टइंडीज (जमैका, ग्वाडेलूप, मार्टिनिक, वार्डोज और सेण्ट विंसेंट) में होता है। वैसिआ अमारा १ से २ मीटर ऊँचा क्षुप है जो गाइना, उत्तरी ब्राजील और बेनजुएला में होता है। 'कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' में जो परीक्षणात्मक कार्य किया गया था उससे प्रकट होता है कि पिक्राज्मा वैसिआइंडिस में एक तिक्त तत्त्व होता है जिसे क्वासिन कहते हैं और यह अधिकृत पादप पिक्रीना एक्सेल्सा से प्राप्त पिक्राज्मिन के प्राथ समरूप है। एक और सहजातीय पादप पिक्राज्मा नेपालेन्सिल का भी परीक्षण किया गया था, किन्तु उसे निष्क्रिय पाया गया।

इस भेषज के सक्रिय तत्त्वों को अलग करने की कोई प्रभावी रासायनिक विधि अभी तक नहीं निकाली जा सकी है। इस भेषज से प्राप्य एक क्रिस्टलीय तिक्त पदार्थ, क्वासिन को इसका सक्रिय तत्त्व समझा जाता है, किन्तु कुछ अन्य तिक्त वर्ग भी इसके साथ मिले रहते हैं। क्योंकि क्वासिन के मूल्याकन की कोई सही विधि नहीं है इसलिए ब्रिटिश भेषजकोश में व्यवहृत होने वाले भेषज को तरह इस भारतीय भेषज का मूल्याकन करना कठिन है। पिक्रीना एक्सेल्सा के तिक्त तत्त्वों को अलग करने की ब्रिटिश भेषजकोश में बतायी गयी विधि के अनुसार जो परिणाम निकाले थे ये हैं—

पिक्राज्मा वैसिआइंडिस                    पिक्रीना एक्सेल्सा

जलीय निस्सार  
ऐल्कोहॉलीय निस्सार  
तिक्त तत्त्व

८ ३६ प्रतिशत,	५ ०४ प्रतिशत
५ ७८ „ ,	३ २५ „
० ३१ „ ,	० ४८ „

ऐल्कोहॉलीय सार पर गमं जल से बार-बार अभिक्रिया करने के पश्चात् उसे उदासीन करके और फिर सान्द्रित करके तथा अन्त में ईंनिक अम्ल द्वारा अवक्षेपित करके यह तिक्त तत्त्व प्राप्त किया गया था। इस प्रकार से प्राप्त किये गये अवक्षेप को ताजा अवक्षेपित लेड हाइड्रॉक्साइड से अपघटित करके उसके जल को वापीकरण कर दिया गया था। इस शुष्क पदार्थ को फिर परिशुद्ध ऐल्कोहॉल द्वारा निष्पालित किया गया। ऐल्कोहॉलीय विलेय को जलोपक पर वापिन किया गया और अवशेष को तौल लिया गया। श्वेत सूचिकाकार क्रिस्टल बन्य निष्पार्श्व पदार्थ से मिले हुए पाये गये और अवशेष बहुत ही तिक्त पाया जया।

भारतीय फार्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) तथा भारतीय फार्मस्यूटिकल कोडेक्स (१९५२ ई०) मेरे इस भेषज को स्थान प्राप्त है।

\* क्वैसिआ\* एक बहुत ही सशक्त तिक्त भेषज है जो जठर-दीर्घत्य के कारण भुदा के मन्द होने की दशा मेरे बड़ा ही उपयोगी होता है, किन्तु अधिक मात्रा मेरे दिये जाने पर यह उदर-क्षोभ पैदा करता है जिससे बमन होने लगता है। सर्वथा टैनिनरहित होने के कारण लोहे के लवण के साथ इसे दिया जा सकता है। सूत्र कृमि को निकालने के लिए इसके फाण्ट (१-२० के अनुपात) का एनिमा (enema) दिया जाता है। इसका निस्सार उच्चान-कृषि मेरी कीटनाशी के रूप मेरे व्यवहृत होता है।

### सन्दर्भ :

(1) Chopra, Ghosh and Ratnagiriswaran 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770, (2) British Pharmaceutical Codex, 1923, (3) Trease, G E. 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 354, (4) Indian Pharmaceutical Codex, 1952, (5) Gathercoal, E N and Wirth E W, *Pharmacognosy*, 1936, 421, (6) Indian Pharmacopoeial List, 1946.

### पिम्पनेला ऐनिसम (अम्बेलीफेरी)

*Pimpinella anisum* Linn. ( Umbelliferae )

ऐनिसीड, ऐनिसीफ्रूट—Aniseed, Anise Fruit

नाम—ब०—मीरी, बम्ब०—सौफ, गु०—सोआ, अनीसा; हि०—सौफ, सौरिफ, कब०—सोम्बु, प०—सौफ, स०—शेतपुष्प, त०—सोम्बु, पेल०—शिरागम, ते०—कुप्पी, सोपू।

यह एक वार्षिक शाक है जिसका मूल उत्पत्ति स्थान मिस्र और लीबाण रहा है, किन्तु अब यूरोप मेरे, विशेषकर रूस मेरे तथा स्पेन, हालैण्ड, बुलारिया, फ्रास, टर्की साइप्रस और अन्य कई स्थानो मेरे इसकी खेती होती है। रूस मेरे इसकी खेती की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है और इसकी कृपि धीरे-धीरे बालुइकी जिला से अन्य जिलों की तरफ भी फैल रही है। इसके फल और उससे निकला वाष्पशील

\*'क्वैसिआ' को हिन्दी मेरे 'भारती' (स०-भार्गी) कहते हैं। भारती के नाम से बाजार मेरे क्लेरोडेन्ड्रान जाति के तथा अन्य द्रव्य मिलते हैं। देखें, अनुवादक एवं सहयोगियों द्वारा प्रकाशित शोधपत्र—(1) Proc XVIII Indian Pharmaceutical Congress, Bombay, 1966, (2) Jour. Res Ind Med, 1 (2), 223, 1967 तथा डा० कृष्णचन्द्र चुनेकर द्वारा 'भारतीशास्त्र निधान' का टीका-चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, १९६९-अनु०।

तेल रसी उत्पादकों के लिए आय के अच्छे साधन हैं। साइप्रस में भी यह बहुत पैदा होती है। भारत में यह उत्तर प्रदेश और पश्चिम के कई भागों में पायी जाती है तथा कुछ हद तक उडीसा में भी होती है। यह यहाँ की देशीय वनस्पति नहीं है और ऐसा समझा जाता है कि ईरान के मुसलमान आक्रामक इसको यहाँ लाये, किन्तु अब यह पूर्णत यहाँ की हो गयी है, लेकिन भारत में उसकी माँग का एक बड़ा भाग ईरान से आयात करके पूरा किया जाता है।

### कृषि

इस पौधे के लिए उपजाऊ, हल्की दुमट मिट्टी चाहिये जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह होता है। प्रतिरोपण से नवोदिभदो पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये फल को सीधे खेत में बोढ़ते हैं। जब पौधे २ या ३ इच्छ होते हैं तो इनका विरलन करके इन्हे पक्कित में आठ आठ इच्छ की दूरी पर रखने दिया जाता है। पक्कितर्याँ एक एक फुट की दूरी पर होती है। एक एकड़ भूमि के लिए १२ पौण्ड फल काफी होता है। कुछ देशों में बीजों को छिटककर - बोया जाता है, किन्तु इसमें एक बड़ी कठिनाई निराई करने की होती है। ज्योही फलों का अग्रभाग धूसर-हरित रंग का हो जाता है फसल काट ली जाती है। फसल की लबाई के लिए पौधों को काटकर उसके ढेर बना लिये जाते हैं। प्राय काटने की अपेक्षा हाथ से उखाड़ना ज्यादा अच्छा समझा जाता है और पौधों के अग्रभाग को नीचे की ओर करके ६ फुट ऊचे ढेर लगा दिये जाते हैं अथवा पौधों को वहाँ से हटाकर उनके उतने ही ऊचे ढेर बताये जा सकते हैं। फल चार या पाँच दिनों से पक जाते हैं और फिर पौधों को पीटकर फलों को अलग कर लिया जाता है। इसके बाद उन्हे साफ करके बाजार में भेजने के लिए बोरियों में भर लिया जाता है। अनुकूल दशाओं में प्रति एकड़ ६०० से १००० पौण्ड तक उपज हो सकती है।

इसका फल जिसे (ऐनिसीड) कहते हैं, एक बहुत ही प्राचीन मसाला है और केक, मसालेदार व्यव्यजन, पेस्ट्री, कैण्डी और विस्कुट को सुवास देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। घरेलू पशुओं के खाद्य-निर्माण उद्योग में भी इसकी बड़ी माँग रहती है। अपने वातानुलोमक और मृदु कफोत्सारक गुणों के लिए चिकित्सा में इसको बड़ी मान्यता दी जाती है और इन गुणों का कारण है एक वाष्पशील तेल जो उसमें विद्यमान रहता है। इसका वाष्पशील तेल औषधि तथा सुगन्धि-द्रव्यों में व्यवहृत होता है तथा पेयों और मदिरा को सुवासित करने में इसका उपयोग किया जाता है। ऐनिसी का आसवन-जल 'अर्के बादियान'

या 'अक्सौफ' के नाम से भारतीय बाजारों में विक्री होता है जो औषधीय होता है।

### तेल की उपलब्धि

ऐनिसीड से २ से ३ ५ प्रतिशत की मात्रा में एक वाष्पशील तेल प्राप्त होता है जो रग रहित था कुछ पीले रग का होता है और स्टार ऐनिसी ( Anise-*Illicium verum* Hook.) के तेल के समान होता है। कुछ फलों से तेल ज्यादा मिलता है जैसे सीरिया देश के फलों से ६ प्रतिशत तेल मिल जाता है। यद्यपि इन दोनों ही पादपों के तंलों को निटिंग भेपज-कोश में मान्यता प्राप्त है, फिर भी स्टार ऐनिसी का तेल ही मुख्य व्यापारिक उत्पाद है, किन्तु लिकर (liqueur) के निर्माण में इन दोनों तेलों में थोड़ा विभेद किया जाता है, क्योंकि असली ऐनिसीड तेल की गन्ध कुछ अधिक कोमल होती है।

### सघटक

इसके तेल में ८० से ९० प्रतिशत या इससे भी अधिक ऐनिथोन रहता है जिसके कारण इसकी अपनी विशिष्ट गन्ध और सुरभियुक्त मधुर स्वाद रहता है। अन्य घटकों के सम्बन्ध में शोध पत्रों और ग्रन्थों में कुछ भ्रम रहा है, क्योंकि स्टार ऐनिसी के तेल पर किये गये अनुसधानों के निष्कर्षों को कभी-कभी असली ऐनिसी के तेल में जोड़ दिया गया है। फिर भी श्री च्वेन्थर ( १९५० ई०, एसेन्शल ऑयल्स, ४,५६३ ) के अनुसार असली ऐनिसी के तेल में एनीथोल के अतिरिक्त, मैथिल चैविकाँल और पैरामेथांक्सी-फेनिलऐसिटोन ( ऐनिसिलऐसिटोन, ऐनिसी कीटोन ) पाये जाते हैं। प्रथम प्रभाज में ऐसिटैल्डहाइड, कुछ अरुचिकर गन्धवाले सल्फरयुक्त यौगिक और सम्भवतः टर्पीन की अति लघु मात्रा विद्यमान होती है। फर्मास्यूटिकल कोडेक्स ( १९४९ ई०, ५६७ ) के अनुसार इसमें ऐनिसैल्डहाइड और ऐनिसिक अम्ल भी विद्यमान होते हैं।

ऐनिसीड तेल का प्रयोग चिकित्सा में आधमान ( flatulence ) के शमन के लिए ऐरोमेटिक वातानुलोमक के रूप में किया जाता है। मृदु कफोत्सारक होने के कारण पेयों और मध्यवराओं में एक घटक के रूप में इसका उपयोग किया जाता है। गन्ध द्रव्यों में इसका सीमित उपयोग होता है किन्तु दन्त और मुख प्रक्षालक योगों को सुवासयुक्त बनाने में इसका बहुत उपयोग होता है। रसोई के व्यजनों और मिठाइयों में सुवास लाने के लिए इसका व्यापक उपयोग होता है।

। ऐनिसी के तेल में घटिया दाम वाली स्टार ऐनिसी के तेल को मिलाकर प्राय अपमिश्रण किया जाता है । स्टार ऐनिसी के तेल को निरिंश भेषजकोश में ऐनिसी तेल ही माना गया है । सुवास की दृष्टि से पिण्डिनेला ऐनिसम से निकाला गया ऐनिसी तेल, इलीसियम वीरम ( स्टार ऐनिसी ) से निकाले गये तेल की अपेक्षा निस्सन्देह बहुत उत्तम होता है । सौफ का तेल, तारपीन का तेल, देवदारु तेल तथा कोपेवा एवं गुरुन वालसम आदि के तेल अन्य अपमिश्रक हैं जो इसमें मिलाये जाते हैं । इनकी भौतिक और रासायनिक विशेषताओं के कारण इनमें से प्राय सभी अपमिश्रकों की पहचान की जा सकती है । पाइन (तारपीन) तेल से बने सशिलष्ट ऐनीथोल के अपमिश्रण की सूचनाएँ भी मिली हैं । ऐनिसी तेल, बहुत दिनों तक भण्डारण किये जाने पर और विशेषकर ऐसी दशा में जब उसे प्रकाश और हवा से विलकुल अलग रखने की सावधानी न वरती जाय, विगड़ने लगता है, और धीरे-धीरे उसकी क्रिस्टलन की क्षमता जाती रहती है और अन्ततः गत्वा यह जमता ही नहीं है । विशिष्ट धनत्व १० से ऊपर का ही जाता है, अपवर्तनाक कम हो जाता है और तेल ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल में तुरन्त विलेय हो जाता है । ठीक से भण्डारण न होने से तेल गन्ध और स्वाद में स्वाभाविक रूप से घटिया हो जाते हैं । ऐनिसी तेल का उपयोग ताजा रहने पर ही करना चाहिये । जम जाने पर इसे अच्छी तरह पिघलाकर मिला लेना चाहिये और तब इसको काम में लाना चाहिये ।

जिस ऐनिसी पौधे की भारत में कृपि की जाती है उससे भी आसवन करने पर वही घटक मिलते हैं जो इसकी अन्य किसी से मिलते हैं । वाणिज्य के काम में आने-वाला अधिकांश ऐनिसी तेल इलिसियम वीरम ( *Hilicium verum* ) या स्टार ऐनिसी ( *Star anise* ) से निकाला जाता है । इलिसियम वीरम मैग्नोलिएसी कुल का है, जो दक्षिणी चीन और तार्गांकिंग का देशीय पादप है और उसकी वहाँ विस्तृत रूप से कृपि होती है । यह सदाहरित वृक्ष है जो ऊँचाई में ४ से ५ मीटर तक होता है और निरन्तर फल की पैदावार देता रहता है जो असली ऐनिसी की अपेक्षा बहुत अधिक सस्ते दाम पर मिलता है । इन दोनों के तेल प्राय एक से होते हैं सिवाय इसके कि असली ऐनिसी तेल की गध और सुवास स्टार ऐनिसी तेल की अपेक्षा अधिक कोमल होती है । दोनों की विशेषताएँ नीचे दी गयी हैं । ऐनिथोल, जो इनका प्रमुख घटक है, की मात्रा दोनों में एक सी होती है ।

	असली ऐनिसी तेल	स्टार ऐनिसी तेल
	पिम्पनेला ऐनिसम	इलिसियम बीरम
२०°C पर आपेक्षिक घनत्व**	०.९७५ से ०.९९०	०.९८० से ०.९९०
ध्रुण-धूर्णन	... ० से -२°	... ० से -२°
अपवर्तनाक	... १.५५२ से १.५५८	१.५५३ से १.५५६५
जमनाक(Congealing point)	+१५° से +१९°	+१५° से +१७°
गलनाक'	... १६° से १९°	... १६.५° से १९°

ये दोनों ही तेल अधिकृत मान लिये गये हैं और इसलिए चिकित्सा में इनका निर्वाध रूप से उपयोग किया जा सकता है। ऐनिसी तेल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका सुवास कुछ ज्यादा अच्छा होता है, किन्तु अधिकाश ऐनिसी तेल जो व्यवहार में आता है वह स्टार ऐनिसी से निकाला हुआ होता है। ऐनिथोल अथवा ऐनिसी कपूर को बनाने में एक मात्र कच्चे माल के रूप में स्टार ऐनिसी का कुछ वर्षों से वाणिज्य में उपयोग हो रहा है। इन तथ्यों के कारण असली ऐनिसी के प्रति रूस के उत्पादकों का उत्साह जाता रहा है और वहाँ इसकी खेती घटती जा रही है। उस विशिष्ट जाति की स्टार ऐनिसी जिससे वाणिज्यिक तेल प्राप्त होता है, भारत में उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य दो जातियाँ अर्थात् इलिसियम ग्रिफिथाई एवं इलिसियम मैनीपुरेन्स (*Illicium griffithii* Hook and Thomas, and *I. manapurensis* Waitex King) पायी जाती हैं। इन जातियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक मालूम नहीं है केवल इतना ही ज्ञात है कि भूटान और खासिया पहाड़ियों (४००० से ५००० फुट) में उगने वाले इलिसियम ग्रिफिथाई के फल पहले तो स्वाद रहित लगते हैं, किन्तु शीघ्र ही वाद में उनमें कवाबचीनी और सूखी धास की पत्तियों के बीच का स्वाद आ जाता है, इसके फल असली ऐनिसी जैसे ही होते हैं और आसवन करने पर इनसे एक वाष्पशील तेल मिलता है जो ऐनिसी तेल और सौफ (फेनेल) के तेल से कुछ मिलता-जुलता होता है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Finnemoie, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co 1928, *The Report*, (3) Parry, 1924, *The Chemistry of Essential Oils and Artificial Perfumes*, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 448, (5) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour Sci Indust Res Suppl*, 12A, 284

## पाइनस लॉंगिफोलिया ( पाइनेसी )

*Pinus longifolia Roxb* ( Pinaceae )

चीड़ पाइन Chir Pine

नाम : स०—सरल, हि०—सरल, चीड़, चील।

विभिन्न शकुधारी (coniferous) वृक्षों के रम-दार (wood) को क्षत करने ने जो ओलिओरेजिन बाहर निकलता है उसका वाप्त आसवन करने में तारपीन का तेल मिलता है। यह रस (sap) क्षतभाग की रक्त करने के लिए निकलता है। तारपीन-तेल शब्द का कभी-कभी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है और इससे उम्र तेल का भी वोध होता है जो चीड़ के काष्ठ या उसके बुरादे से शुष्क आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस ओलिओरेजिन से २० प्रतिशत तारपीन-तेल मिलता है और अवशिष्ट ८० प्रतिशत 'कोलोफोनी' या रेजिन (राल) के नाम से काम में लाया जाता है। परिशोधित तेल, ओलियम टर्पिनिनी रेबिटिफिनेटम का वहुधा औप्यथ में उपयोग किया जाता है किन्तु इसकी मांग ज्यादा नहीं है। फिर भी उद्योग धोने में तारपीन का वहुत ज्यादा उपयोग होता है। परिमल उद्योग में तथा कृत्रिम कपूर बनाने में इसकी बड़ी खपत होती है। इसकी सबसे ज्यादा उपयोग चपड़ (shellac) का अपमिश्रण करने में, वार्निश बनाने में, कागज बनाने में सावुन-कारखानों आदि में की जाती है।

ये शकुधारी वृक्ष विश्व के सभी भागों में प्रचुर स्पष्ट से पाये जाते हैं। जो वृक्ष समशीतोष्ण या उष्ण प्रदेशों में उगते हैं उनसे सर्वोत्तम रेजिन मिलता है, पर जो अधिक शीत जलवायु वाले प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं उनसे कम मात्रा में रेजिन मिलता है और रेजिन की भी उपलब्धि कम अवधि तक होती है। अमेरिका में अटलाटिक महानागर तथा भैक्सिसको की याडी के टटबर्टी क्षेत्रों में चीड़ के बड़े विशाल बन हैं जिनका कुल विस्तार लगभग एक करोड़ एकड़ है। यहाँ वहुत बड़ी मात्रा में तारपीन के तेल का उत्पादन होता है और जनुमान है कि विश्व के कुल उत्पादन का ६७ प्रतिशत यहाँ में आता है। वहाँ चीड़ के बनों का बहुत ही सुव्यवस्थित उपयोग किया जाता है और उनके विदोहन की सभी क्षयकारी प्रणालियों पर कानूनी रोक है जिससे तेल वा सम्भरण समाप्त न हो जाय। चीड़ की ये जातियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती हैं। (१) अमेरिका के दक्षिणी और दक्षिणीपूर्वी भागों में उगने वाली चीड़

की जातियाँ पाइनस पैल्वस्ट्रिस (पाइनस आस्ट्रोलिस *P. austroalis* Michaux) जिसके पत्ते लम्बे होते हैं तथा पाइनस कैरीबीया (पाइनस हेटेरोफिला *P. heterophylla* Sudworth)। (२) फ्रास मे उगने वाला पाइनस मैरिटाइमा (*P. mertima* Lam) (पाइनस पिनेस्टर *P. pinaster* Solander), और (३) भारत मे उगने वाला पाइनस लॉंगिफोलिया (*P. longifolia* Roxb.)। तारपीन कितनी बड़ी मात्रा मे पैदा होता है, इसका पता इस तथ्य से लगेगा कि १९२५-२६ ई० मे पचास-पचास गैलन के ४८०,००० पीपे तथा पाँच-पाँच सौ पीण्ड रेजिन के १,५९९,००० पीपे कारखाने से बाजार मे भेजने के लिए निकाले गये थे। तारपीन के उत्पादो के लिए फ्रास का विश्व मे दूसरा स्थान है और विश्व के कुल उत्पादन का लगभग २२ प्रतिशत यहाँ होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह विश्वाल उद्योग विगत शताब्दी मे ही इतना विकसित हो गया है। इस उद्योग का केन्द्र बोर्डो मे है जो एक निभुजाकार क्षेत्र मे स्थित है जिसे 'लैण्डीज' (Landes) कहते हैं। इसका आधार अटलाटिक भृगासागर तट के किनारे-किनारे ४० मील तक फैला हुआ है। पहले 'लैण्डीज' ऊसर और बालुकामय मरुस्थल था जो जाडे में जलमग्न हो जाता था, गर्मियो मे सूखा रहता था और सर्वथा अनुपजाऊ और ऊसर प्रदेश था। चीड़ की खेती वहाँ १९ वी शताब्दी मे आरम्भ की गयी और सन् १८०३ से १८६४ ई० के बीच कृतिम वाँध बनाकर, जलोत्सारण की समुचित व्यवस्था करके तथा बालुवन्धक घास उगाकर भूमि को धीरै-धीरे कृषि-योग्य और समुन्नत बनाया गया। आज फ्रान्स के पास 'लैण्डीज' मे १० लाख हेक्टर से अधिक चीड़ के जगल हैं जिनमे मुख्यत पाइनस मैरिटाइमा तथा पाइनस सिल्वेस्ट्रिस (*P. sylvestris*) के वृक्ष हैं जिनसे अत्यधिक मात्रा मे तारपीन तेल और राल (कोलोफोनी) मिलता है। इस तारपीन क्षेत्र मे लगभग १८० तारपीन के कारखाने स्थित हैं और १९२६ ई० मे ७,६८१,००० फ्राक के मूल्य का तारपीन का तेल वहाँ से निर्यात किया गया। स्पेन, पुर्तगाल तथा शूतान मे भी तारपीन तेल और उसके उत्पादो के बडे समृद्ध उद्योग हैं।

भारत चीड़ के सासाधनो की दृष्टि से बड़ा सम्पन्न है। यहाँ चीड़ की पाँच जातियाँ पायी जाती हैं जिनमे तीन तारपीन के उत्पादन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये जातियाँ पाइनस लॉगिफोलिया, पाइनस एक्सेल्सा, (*P. excelsa*) और पाइनस खास्या (*P. khasya*) हैं। पाइनस एक्सेल्सा (कैल या नीला चीड़) हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश मे होता है और उत्तर प्रदेश तथा पंजाब मे साठ हजार एकड़ भूमि पर ये पेड़ उगे हुए हैं। इन पेड़ों तक पहुँचना कुछ दुर्गम है और इसमे सन्देह है कि वाणिज्यिक

दृष्टि से आसवन सम्भव होगा क्योंकि इनमें ओलिओरेजिन कम मिलता है। पाइनस खास्या (डिस्ट्रा या खासिया चीड़) खासिया पहाड़ियों में, लुसाई पहाड़ियों में, चटगाँव के पहाड़ी क्षेत्रों में, शान की पहाड़ियों में और वर्मा में मर्तवान की पहाड़ियों में पाया जाता है। बाजार में उपलब्ध भारतीय तारपीन, मुख्यतः पाइनस लॉगिफोलिया (चीड़) से प्राप्त किया जाता है जो यहाँ का एक महत्वपूर्ण वृक्ष है। हिमालय के ढालों पर २ हजार से ६ हजार फुट की ऊँचाई तक, अफगानिस्तान, कश्मीर, पजाव उत्तरप्रदेश में लेकर भूटान, असम और (अपर एण्ड लोवर) वर्मा तक लगभग २० लाख एकड़ भूमि में चीड़ के विस्तृत वन सर्वत्र फैले हुए हैं। मोटे तौर पर वनों का वितरण इन प्रकार है—उत्तरप्रदेश में १० लाख एकड़, पजाव में २,७०,००० एकड़, कश्मीर में ६,१२,००० एकड़ और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) में २३,००० एकड़।

आर्थिक पक्ष चीड़ के इन वनों से जो आर्थिक सम्भावनाएँ हैं उनके विषय में ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है। लगभग चालीन साल पहले चीड़ के पेड़ों से रेजिन निकालने की दिशा में ध्यान दिया गया था। आरम्भ में प्रयोगात्मक परीक्षण का काम वन विभाग के तत्त्वावधान में किया गया था और ज्योहो यह बात सिद्ध हुई कि कुमार्ये के वनों से मिलने वाले तारपीन और रेजिन (राल) की खपत तुरन्त ही बाजार में हो जायगी, नैनीताल के वनखण्ड में दस हजार पेड़ों को लेकर क्रमबद्ध कार्य शुरू किया गया और ५५०० फुट की ऊँचाई पर भवाली में एक आसवनी (distillery) स्थापित की गयी जहाँ जल-पूर्ति की अच्छी सुविधाएँ थीं। बाद में एक कारखाना (आसवनी) लाहीर के निकट जल्लो स्थान पर खोला गया और १९१४ ई० से ही वहाँ तारपीन और रेजिन बड़े पैमाने पर निकाला जा रहा है। १९२५ ई० में १,४७,००० गैलन तारपीन तेल और ४५,००० मन कोलोफोनी (राल) बेचा गया था। १९२० ई० में बरेली के निकट कलटरवक गज में आधुनिक उपकरणों से युक्त एक आसवनी खोली गयी और वह भी बड़े पैमाने पर तेल और राल तैयार कर रही है। उत्तर प्रदेश में पूर्वी तथा पश्चिमी अल्मोड़ा और नैनीताल में तथा पजाव में कतिपय स्थानों पर ओलिओरेजिन निकालने का कार्य हो रहा है। रेजिन (राल) और तारपीन के कारखाने जम्मू, कश्मीर और हिमाचल प्रदेश में भी स्थापित किये गये हैं जिससे वहाँ के ससाधनों से उत्पादन किया जा सके। रेल-मार्ग से दूर होने के कारण और इसके फलस्वरूप परिवहन-व्यय अधिक होने से सभी चीड़ के वनों से तारपीन और रेजिन प्राप्त करने का काम लाभप्रद नहीं हो सकता है। किन्तु इस असुविधा के बावजूद

भारतीय तारपीन का उत्पादन तेजी से बढ़ता जा रहा है। १९१३-१४ ई० में २८,३१९ पौण्ड के मूल्य का तारपीन और ३३,१५० पौण्ड के मूल्य का रेजिन भारत में आयात किया गया था। समुद्रपार व्यापार विभाग को रिपोर्ट के अनुसार १९१७-१८ ई० में, भारत में २,७६,००० गैलन तारपीन का उपयोग हुआ था जिसमें से १,४०,७७२ गैलन आयात किया गया था और १,३६,०५२ गैलन यहाँ देश में तैयार किया गया था। यह अनुमान भी व्यक्त किया गया था कि तब से १० साल की अवधि के अन्दर भारतीय तारपीन का उत्पादन बहुत बढ़ जायगा, रेजिन का उत्पादन ३ लाख मन तक और तारपीन का ८ लाख गैलन तक पहुँच जायगा। तारपीन उत्पादन की वृद्धि के सम्बन्ध में जो आशा व्यक्त की गयी थी वह पूरी हो गयी है। भारत अब विलकुल आत्म-निर्भर हो गया है और इस उत्पाद को विदेश में निर्यात भी करने लगा है। फिर भी, अभी कठिनाइयाँ हैं जिनको दूर करना होगा। अमेरिका और फ्रान्स की तारपीन में टर्पेन मुख्यत 'पाइनीन' रहता है किन्तु भारतीय तारपीन में मुख्यतया दो अन्य हाइड्रोकार्बन 'कैरीन' और 'लागिफोलीन' होते हैं। भारतीय तारपीन में पाइनीन के न होने से, कपूर उद्योग में उसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। आसानी से उसका ऑक्सीकरण हो जाता है और वाष्पित करने पर इसमें रेजिन की ऊँची प्रतिशत मात्रा रह जाती है, इसलिए उसे अन्य उत्पादों की अपेक्षा हीन समझा जाता है, किन्तु भारतीय तारपीन कई उद्योगों में अमेरिकी या फ्रेञ्च तारपीन की जगह काम में लायी जा सकता है, यद्यपि इसका सघटन कुछ हद तक भिन्न होता है।

तारपीन तेल का प्रति-क्षोभक और रक्तिमाकर ( rubefacient ) के रूप में वाह्य उपयोग किया जाता है। श्वसनीशोथ और यक्षमा में लघु मात्राओं में, तथा कृमिघ्न के रूप में बड़ी मात्राओं में तारपीन तेल का सेवन कराया जाता है। कभी-कभी श्वसनीशोथ में तारपीन तेल का 'अभिश्वसन कराया जाता है' किन्तु इस प्रयोजन के लिए 'टेरेबीन' को साधारणतया अधिक पसन्द किया जाता है। टेरेबीन, तारपीन तेल से शीत सल्फुरिक अम्ल की क्रिया द्वारा तैयार किया जाता है, इससे पाइनीन ध्रुवण-अद्यूर्णक ( optically inactive ) डी-एल-लाइमोनीन में बदल जाता है जो डाइपेण्टीन कहलाता है।

कोलोफोनी ( राल ) में अवीटिक अम्ल के ऐनहाइड्राइड के कई समावयवी यौगिक विद्यमान रहते हैं जिनकी मात्रा ८० प्रतिशत से ऊपर होती है। शिर्ख और स्टुडर ( Tschirch & Studer, १९०४ ई० ) ने इन ऐनहाइड्राइडों को ऐल्फा, बीटा, तथा गामा-एवीटिनिक अम्ल का नाम दिया था, किन्तु वहाँ इन सबको अवीटिक

अम्ल कहते हैं। जनक-अवीटिक अम्ल का, सूत्र  $C_{20}H_{30}O_2$  है और इस प्रकार यह पिमैरिक अम्ल का समावयवी है। कोलोफोनी को तनु एल्कोहॉल के साथ पकाकर वाणिज्यिक अवीटिक अम्ल तैयार किया जाता है। कोलोफोनी में एक रेजिन, तिक्त स्वाद वाले कोलोफोनिक अम्ल तथा वाष्पशील तेल के सूक्ष्म अश भी पाये जाते हैं। भेषजी (फार्मेसी) में प्लास्टर और भरहम बनाने के लिए इसकी जितनी मात्रा धृपती है, वह अपेक्षाकृत बहुत कम ही होती है। बी, सी, डी ग्रेड के कोलोफोनी का, जो अधिक काले रग के होते हैं, भजक आसवन करके रोजिन स्पिरिट और रोजिन तेल प्राप्त किया जाता है, या वे लिनोलियम या काले रग के वार्निश बनाने के काम में लाये जाते हैं। ई, एफ, जी ग्रेड वाले कोलोफोनी को सज्ज या चिक्कण (साइज) करने के काम में लाया जाता है। मध्यम ग्रेड वाले कोलोफोनी का सावृन बनाने के लिए बहुत उपयोग किया जाता है और हल्के ग्रेड वाले कोलोफोनी को मुहर लगाने की राज या हल्के वार्निश और भेषजी के लिए उपयोग में लाया जाता है।

### सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Gibson and Mason, 1927, *Ind For*, 53, 379, (3) Fowle G, 1928, *Capital Dec 13*, (4) Schimmel & Co, 1928, *Report*, (5) Simonsen, J L, 1920, *J C S Trans*, 570, (6) Simonsen and Pillay, 1928, *J C S Trans*, 355, (7) Trease, G E, 1952, *Treat Book of Pharmacognosy*, 125

### पाइपर क्युबेबा (पाइपरेसी)

*Piper cubeba Linn (Piperaceae)*

क्यूबेब्स, टेल्ड पिपर ( Cubeb, Tailed pepper )

नाम — स०—सुगन्ध मुरिच, हि०, ब० एव बम्ब०—कवाव-चीनी, - त०—  
वाल-मिलकु, तै०—चलवमिरियालु, फा०, अ०—किवावेह ।

यह एक आरोही काष्ठीय क्षुप है जो जावा, सुमात्रा और मलयाल द्वीप समूह का देशीय पादप है और इसको खेती भारत में थोड़ी मात्रा में होती है। इसके फल को आमतौर से कवाव-चीनी कहते हैं जिसे विशेषकर उष्ण प्रदेशों में व्याप्ति के

रूप मे काम मे लाया जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे अरब और ईरान के चिकित्सक इसके फल को जनन-मूत्रीय रोगो में देते थे। पाश्चात्य चिकित्सा मे इसका उपयोग मध्य-युग से होने लगा था। इसका अंग्रेजी नाम सम्भवत अरबी नाम 'किबावेह' से लिया गया है। इस फल की सक्रियता का कारण उसमे एक वाष्पशील तेल की विद्यमानता है जो उसमे १० से १५ प्रतिशत की मात्रा मे पाया जाता है। इस तेल की एक विशिष्ट सुखद गन्ध होती है और उसका रग हरा से लेकर नीला-हरा तक होता है। तेल का सीमित उपयोग मूत्राशयशोथ, गोनोरिया और ग्लीट जैसे जनन-मूत्रीय रोगो मे किया जाता है।

कवावचीनी के तेल के रसायन का पूरी तरह पता नही लगाया गया है, किन्तु निम्नलिखित स्थिराको का पता है—आपेक्षिक घनत्व, ० ९१० से ० ९३०, ध्रुवण-घूर्णन—२५° से —४०°, अपवर्तनाक १ ४८६ से १ ५००। ऐल्कोहॉल मे तेल की विलेयता मे बड़ी भिन्नता पायी जाती है, पर अधिकाश (तेल के) नमूनो की विलेयता ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के १० भाग मे १ भाग होता है। यद्यपि कवावचीनी का पीधा भारत का देशीय नही है किन्तु मैसूर मे यह उगाया गया है। वहाँ परीक्षणात्मक रूप से पैदा किये गये कवावचीनी को आसवित करके निकाले गये तेल का सडवरो और वाट्सन ने अध्ययन किया था (१९२५ई०)। उनको ११ ८५ प्रतिशत तेल मिला जिसके ये स्थिराक थे—आपेक्षिक घनत्व ० ९१६७, ध्रुवण-घूर्णन-२९ ९°, अपवर्तनाक १ ४८९४, साकुनीकरण मान ० ५ और एसिटिलेशन के उपरान्त साकुनीकरण मा २४ १।

### सारणी-१२

(६६५ मि. मि दाब पर प्रभाजित)

भारतीय कवावचीनी तेल

तापमान सेण्टीग्रेड	प्रतिशत
१४० से १७० के बीच	५
१७० से २२५ के बीच	२०
२२५ से २४५ के बीच	१५
२४५ से २६५ के बीच	४५
२६५ से २८० के बीच	१०
अवशेष तथा क्षति	५

निम्निश भेषजकोशीय

कवावचीनी तेल

तापमान सेण्टीग्रेड	प्रतिशत
२०० से नीचे	५
२०० से २३० के बीच	११
२३० से २४० के बीच	३
२४० से २५० के बीच	१५
२५० से २५५ के बीच	३१
२५५ से २५७ के बीच	२५

सारणी १२ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि असली तेल का ५६ प्रतिशत २५०° से० और २८०° से० के बीच आसुत हो जाता है, जबकि भारतीय तेल का ५५ प्रतिशत इसी तापमान के बीच आसुत हो पाता है, इसलिए इन दोनों तेलों में अन्तर नगण्य है और ऐसा सम्भव है कि औषधीय गुणों की दृष्टि से भारतीय तेल वाणिज्यिक तेल की तुलना में किसी तरह कम नहीं है। यदि यहाँ कवावचीनी और प्रचुरता से पैदा की जाय तो इसकी पर्याप्त सम्भावना है कि औषधीय तथा अन्य प्रयोजनों के लिए इसके तेल का समुचित उत्पादन यहाँ होने लगे।

ट्रीज के अनुसार कवावचीनी से १० से १८ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिलता है जिसमें टर्पीनों और सेस्किवटर्पीनों के अतिरिक्त एक क्रिस्टलीय गन्ध-शून्य पदार्थ क्यूबेविन, एक अक्रिस्टलीय इवेत पदार्थ क्यूबेविक अम्ल (१ प्रतिशत) और अक्रिस्टलीय रेजिन (३ प्रतिशत) होते हैं। सल्फूरिक अम्ल के मिलाने पर क्यूबेविन और क्यूबेविक अम्ल लाल रंग देते हैं। अच्छे किसी की कवावचीनी से अम्ल में अविलेय राख २ प्रतिशत से अधिक नहीं मिलती और १३ प्रतिशत से कम वाष्पशील तेल नहीं मिलता। पाश्चात्य चिकित्सा में इस भेषज का गोनोरिया और चिरकालिक श्वसनीशोथ में उपयोग किया जाता रहा है, किन्तु अब इसका बहुत कम उपयोग होता है। स्थानिक क्षेभक प्रभाव के कारण कवावचीनी का श्लेष्मकला पर उद्दीपक प्रभाव पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके सक्रिय तत्त्वों में अवशोषित हो जाने की और वृक्क द्वारा वहिंगत हो जाने की क्षमता होती है, और जनन-मूत्र भार्ग की श्लेष्मकला पर ये अपने विशिष्ट गुणों का प्रभाव डालते हैं। गोनोरिया में प्रतिरोधी और मूत्रल रूप में इसका सेवन किया जाता है, और श्वसनिका की श्लेष्म-कला के लिए उद्दीपक एवं प्रतिरोधी कफोत्सारक के रूप में इसका लाजेज बनाकर चूसा जाता है।

### सन्दर्भ :—

- (1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Rao, Sudborough and Watson 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 139, (3) Umney and Potter, 1912, *Perfumery and Essential Oil Records*, 3, 64, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 235, (5) Mukerji, B 1953, *Indian Pharmaceutical Codex*, 85

## पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम ( बर्बेरिडेसी )

*Podophyllum hexandrum* Royle (Berberidaceae)

पर्याय पोडोफिलम इमोडी *Podophyllum emodi* Wall

“भारतीय पोडोफिलम—Indian Podophyllum

नाम.—हिं०-पाप्रा, पाप्री, भवन-चका, चक्रा-चिम्याका, कश्मी०—बनवागन, प०—बन-कक्री, गुल-कक्रू, म०—पडवल।

भारतीय पोडोफिलम एक छोटा सा शाकीय पौधा है जो हिमालय के छायादार शीतोष्ण वनों में सिक्किम से लेकर कश्मीर तक सात हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। कश्मीर में यह ६ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है और विशेषकर पर्वत की उत्तरी ढलानों पर जहाँ सूर्य का ताप अधिक नहीं होता वहाँत पाया जाता है। शिमला की पूर्ववर्ती शलाई पहाड़ियों की ढलानों के बनों में भी प्रचुरता से पैदा होता है। कागड़ा, कुल्लू और चम्बा की अधिक ऊँची श्रेणियों में बहुत से समृद्ध वन हैं जहाँ के बन-गलियारे (glades) इसी शाकीय पौधे से भरे हुए हैं। इसकी बड़ी मात्रा विक्री के लिए वहाँ से एकत्र की जाती है। इस पौधे ने प्राचीन हिन्दू चिकित्सकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था और देशीय चिकित्सा में इसको जो ‘पाप्रा’ (पापडा) ‘निर्वाश’ और ‘भवन-चक्रा’ का नाम दिया गया है उससे यह प्रकट होता है कि इसके पित्तनाशक गुणों का उन्हें पूरा ज्ञान था।

एक विरेचक और पित्तोत्सारक औषधि के रूप में इसके रेजिन का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है। इसका रेजिन पोडोफिलम पेल्टेटम (*P. peltatum*) में ऐपुल या मैनड्रेक-बर्बेरिडेसी कुल के प्रकन्द से निकाला जाता है जो ब्रिटेन तथा अमेरिका दोनों ही देशों के भेषजकोशों में अधिकृत (official) है। यह अमेरिका में बहुत होता है। प्राय ३५ वर्ष पूर्व अमेरिकी ‘पोडोफिलम’ के प्रकन्द और ‘पोडोफिलिन’ रेजिन की बहुत विक्री इंग्लैण्ड में और यूरोप के अन्य देशों में होती थी। उस समय यह रेजिन भारत में भी बहुत आता था क्योंकि भारतीय भेषज पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम के सघ-टक और गुणों को पूर्णत मान्यता नहीं मिल पायी थी। अधिकृत भेषज का स्थानापन्न होने का जो इसका दावा था उसके सम्बन्ध में बहुत वर्ष पूर्व बॉट ने अनुसंधान किया था और उन्होंने यह पाया कि भारतीय पोडोफिलम में उससे तीन गुना अधिक रेजिन होता है जितना कि वाणिज्यिक अमेरीकी पोडोफिलम में होता है। डाइमॉक

\* इसे संस्कृत में ‘गिरिपर्णट’ या ‘वनवृत्ताक’ कहते हैं—अनु०

(Dymock) और हूपर (Hooper) ने (१८८८ई०) भारतीय पोडोफिलम में १० प्रतिशत रेजिन पाया था और उन्नी (Unneci) ने १२ प्रतिशत, जब कि पोडोफिलम पेल्टेटम के प्रकन्द के चार नमूनों में हेनरी एवं डन्स्टन (Henry and Dunstan) को (१८९८ई०) क्रमशः ४१७, ५०२, ५०४, और ५२ प्रतिशत रेजिन मिला था। इन अंकड़ों से यह आसानी से समझ में आ जाता है कि रेजिन प्राप्ति की दृष्टि से भारतीय पादप कितना अधिक मूल्यवान है। अमेरिकी पादप की अपेक्षा भारतीय पादप में एक और विशेषता यह है कि इसमें 'पोडोफिलोटॉक्सिन' जिसपर रेजिन का विरेचक गुण अशत निर्भर करता है अधिक मात्रा में होता है। सारणी सत्या १३ में भारतीय तथा अमेरिकी 'पोडोफिलम' के प्रकन्दों से मिलने वाले रेजिन तथा पोडोफिलोटॉक्सिन की प्रतिशत मात्रा वतायी गयी है और इस सारणी से यह पता चल जाता है कि भारतीय पोडोफिलम में कितना अधिक रेजिन और पोडोफिलोटॉक्सिन विद्यमान है।

### सारणी संख्या १३

जाति	उत्पत्ति स्थान उपयोग में लाये गये पाये गये प्राप्त रेजिन प्रकन्द की मात्रा	पोडोफिलो-	टॉक्सिन	प्रतिशतता की प्रतिशतता
------	--	-----------	---------	------------------------

पोडोफिलम हैक्सेप्ट्रम	कुल्हू (पंजाब)	११ ९२ ग्राम	२८	९५५
"	बशहर (पंजाब)	३२ ४६ "	३५	९०
"	चम्बा (पंजाब)	९८१ "	४७	१११२
"	हजारा (उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त)	११६ "	२०९	—

पोडोफिलम पेल्टेटम	अमेरिका	११०३५ "	०७७	५०२
(यू० एस० ए०)				

"	"	२३०५५ "	००९	४०१७
---	---	---------	-----	------

भारतीय पोडोफिलम के प्रकन्द का एक मूल्याकन १९२६ई० में किया गया था जिसमें उसके १०००२ प्रतिशत सक्रिय तत्व पाये गये थे और पहले के कार्यक्रमों ने जो निष्कर्ष निकाले थे उसकी पुष्टि इस मूल्याकन से हो जाती है।

चिकित्सीय दृष्टि से भारतीय जाति के प्रकन्दो से मिलने वाला रेजिन भी, यदि अधिक नहीं तो, उतना ही प्रभावी होता है जितना आयातित प्रकन्द का रेजिन होता है।

### सघटक :

ट्रोज के मतानुसार पोडोफिलम का सक्रिय तत्व उस रेजिनी मिश्रण में होता है जिसे पोडोफिलिन कहते हैं। इस भेषज के ऐल्कोहॉली निस्सार को जल में डालकर और प्राप्त अवक्षेप को सुखाकर यह पोडोफिलिन तैयार की जाती है। अमेरिकी पोडोफिलम में यह रेजिन ४ से ५ प्रतिशत तक मिलता है, जब कि भारतीय पोडोफिलम में यह ८ से १३ प्रतिशत तक मिलता है। पोडोफिलम रेजिन वी० पी० दोनों ही भेषजों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शारीरक्रियात्मक संपरीक्षणों से यह पता चलता है कि भारतीय रेजिन अमेरिकी रेजिन की अपेक्षा प्राय दुगुना प्रभावी होता है। विहोवर और मैक (Vichover and Mack) के मतानुसार (१९३८ ई०) अमेरिकी तथा भारतीय दोनों ही पोडोफिलम या पोडोफिलिन से जो एकमात्र सक्रिय क्रिस्टलीय पदार्थ अलग किया गया है वह पोडोफिलोटॉक्सिन है। सम्भव है कि यह इसका मुख्य विरेचक तत्व न हो और अभी उस मुख्य तत्व को निकालना चाकी हो। पाडविस्सोटास्की (Padwyssotaski) ने (१९८१ ई०) जो अपरिष्कृत पोडोफिलोटॉक्सिन अलग किया था, वह कोएस्ट्रॉन (१९९१ ई०) द्वारा क्रिस्टली रूप में पाया गया था। इसका सूत्र  $C_{22} H_{22} O_8$  है और यह एक जटिल त्रिचक्रीय (tricyclic) यौगिक है। यह बहुत ही विपालु होता है और जल में बड़ा ही अल्प विलेय है। यह जलीय या क्षारीय विलेय में अस्थिर होता है और इन विलेयों से पोडोफिलिक अम्ल ( $C_{22} H_{24} O_9$ ) तथा पिक्रोपोडोफिलिन (जो पोडोफिलोटॉक्सिन का समावयवी और पोडोफिलिक अम्ल का ऐनहाइड्राइड है) मिलते हैं। पिक्रोपोडोफिलिन एक जिलैटिनी अवक्षेप है यद्यपि यह हाल में क्रिस्टली रूप में तैयार किया गया है। पोडोफिलोटॉक्सिन पर क्षार की अभिक्रिया करने पर यह जिलैटिनी अवक्षेप बनता है, इस अभिक्रिया द्वारा अमेरिकी तथा भारतीय रेजिनों को अलग किया जा सकता है, क्योंकि भारतीय रेजिन में पोडोफिलोटॉक्सिन अधिक होता है। पोडोफिलोटॉक्सिन, पोडोफिलिक अम्ल तथा पिक्रोपोडोफिलिन का सरचना-सूत्र प्रस्तुत किया गया है। पोडोफिलम रेजिन में एक पीतवर्णी, क्रिस्टली फ्लैक्सेनॉल भी होता है जिसे क्वेर्सेटिन कहते हैं। इस भेषज में पर्याप्त स्टार्च, कैल्सियम ऑक्जलेट, तथा कुछ स्थिर तेल भी पाये जाते हैं।

सघटको की दृष्टि से भारतीय पोडोफिलम, अमेरिकी पोडोफिलम से बहुत मिलता जुलता है, किन्तु उसमें रेजिन को (८-१३ प्रतिशत) और पोडोफिलोटॉक्सिन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके रेजिन में, पोडोफिलम पेल्टेटम से तैयार किये रेजिन की अपेक्षा दुगुना पोडोफिलोटॉक्सिन होता है, और अमोनिया में घुलनशीलता या जलीय पोटैशियम हाइड्राक्साइड में जिलैटिनीकरण के आधार पर इन भेपजकोगीय परीक्षणों द्वारा उन दोनों रेजिनों में विभेद किया जा सकता है। दोनों रेजिनों से तैयार, छाने गये ऐल्कोहॉली निम्सार में काँपर ऐसीटेट के सान्द्र विलयन की कुछ बूदे डालकर इन भेपजों का रासायनिक विभेद भी किया जा सकता है। इस परीक्षण में पोडोफिलम पेल्टेटम से चमकीला हरा रग मिलता है, भूरे रग का जवक्षेप नहीं, किन्तु पोडोफिलम हैक्सैण्ड्रम से भूरे रग का अवक्षेप प्राप्त होता है।

### आर्थिक पक्ष

इन सब गुणों के द्वारा हुए भी भारतीय पोडोफिलम हैक्सैड्रम, अमेरिकी पोडोफिलम का मुकाबला नहीं कर सकता और भारत के बहुत से भेपज-निर्माता अपने कारखानों में अमेरिकी पोडोफिलम का उपयोग करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है, भारत में पोडोफिलम हैक्सैड्रम प्रचुरता से पैदा होता है, किन्तु उसका सग्रहण वैज्ञानिक ढग से नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह हुआ है कि भेपज की एक स्पृत्ता का कोई प्रभाव स्थिर नहीं रखा जा सका है। हमें मालूम हुआ है कि पोडोफिलम पहले हजारों में कृषि द्वारा पैदा किया जाता था किन्तु १९१३ई० से इसकी खेती बन्द हो गयी है। सभी स्थानों में सभी मीसमों में और सभी तरह की लैंचाइयों से सग्रहीत किये गये पोडोफिलम में रेजिन की मात्रा एक सी नहीं होती है और न पोडोफिलोटॉक्सिन तथा पोडोफिलो-रेजिन जो इसके सक्रिय तत्व हैं, की मात्रा भी सबमें एक सी होती है। इन सक्रिय तत्वों का ध्यान रखे विना बेढगे तीर से जो इसका सग्रहण किया जाता है उससे इस भेपज की व्याति को बहुत हानि पहुँची है। ढग से इसकी कृषि न होने से इसका नियमित सम्भरण नहीं होता इसलिये व्यापारियों से तथा सग्रहकर्ताओं से जो अपरिष्कृत भेपज मिलता है उस पर विश्वास करना निर्माताओं के लिए कठिन होता है।

इधर कुछ ही समय से भारती निर्माताओं ने यहाँ के पोडोफिलम से रेजिन तैयार करना आरम्भ कर दिया है। कश्मीर में उगाये पोडोफिलम से ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी द्वारा तैयार किया गया अधिकांश रेजिन जो बी० पी० के स्तर के पोडोफिलम रेजिन

की तुलना में ठीक पाया गया, विदेशी बाजार मे विक गया। पोडोफिलम की अधिकाश सम्पूर्ति वरजीनिया, उत्तरी कैरोलिना, केण्टुकी, डिंडियाना और टेनिसी से होती है। इसकी खेत अमेरिका मे बड़ी मात्रा मे होती है। जैसा बताया गया है कि यह भारत मे स्वतं पैदा होता है, यद्यपि छोटे पैमाने पर इसकी खेती का प्रयास कश्मीर और हिमाचल प्रदेश मे किया गया है। यह भेषज वसत या शरद ऋतु मे सग्रहीत किया जाता है। शरद काल मे सग्रहीत किये पोडोफिलम मे वसत काल मे सग्रहीत पोडोफिलम की अपेक्षा रेजिन की मात्रा कम होती है। प्रकान्द को खोदकर निकाला जाता है और उसे धोकर रम्भाकार छोटे-छोटे टुकड़ो मे काटकर सावधानी से सुखा लिया जाता है। युद्ध के दिनो मे जब विदेशो से इसका सम्भरण प्राय बन्द हो गया था तो भारतीय पोडोफिलम की विक्री बाजार मे बढ़ गयी थी, किन्तु अब स्थिति फिर बदल गयी है। जब तक समुचित ढग से सग्रहण करने और सुखाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जायगा अथवा उपयुक्त स्थानो मे इसकी ठीक ढग से खेती नहीं की जायगी, तब तक यह सभव नहीं है कि भारतीय पोडोफिलम का उपयोग भारत मे हो पाये, जहाँ अमेरिकी पोडोफिलम बहुत कम कीमत मे मिल जाता है। इसकी खेती कठिन नहीं है। ऊचे स्थानो मे जहाँ पर्याप्त आर्द्धता रहती है इसके अभिवृद्धि सतोषजनक रूप से होती है और दो से चार वर्षो के अन्दर ही इसके प्रकान्द सग्रह करने और बाजार भेजे जाने के योग्य हो जाते है। सम्भवत सिक्किम के हिमालयीय क्षेत्र मे इसकी खेती बड़ी सफल होगी। १००० से १४००० फुट की ऊचाई पर यह खूब पैदा होता है, किन्तु ६ हजार से ९ हजार फुट की ऊचाई पर भी इसकी खेती का प्रयास किया जा सकता है। सायादार जगलो की भूमि मे या जगल के खुले क्षेत्रो मे यह खूब उगता है।

### गुण-कर्म

यह आँखो को और साधारणत श्लेष्मकलाओ को बहुत क्षोभित करता है। अक्षत त्वचा पर रेजिन का प्रभाव नहीं पड़ता है, किन्तु क्षतिग्रस्त चर्म पर यह अवशोषित हो सकता है और रेचक प्रभाव पैदा कर सकता है। यह बहुत ही सक्रिय रेचक है और औसतन ००१ ग्राम की मात्रा मे इसका सेवन किया जाता है। विषालु मात्रा मे दिये जाने पर यह अत्यन्त तीव्र आन्त्रशोथ पैदा करता है जिससे मृत्यु भी हो सकती है। पॉड्विस्सोटस्की ( Podwyssotaski ) ने इसकी रेचक क्रिया का कारण एक मात्र पोडोफिलोटॉक्सिन को माना है। क्रिस्टलीय रूप से देने पर कुत्ते और बिल्लियो के लिए यह अत्यन्त ही विषालु होता है। ०००५ ग्राम की मात्रा मे

इसका अधत्वक् इजेक्शन देने से एक बिल्ली मर गयी थी। उन्हे कुत्ते को इसका अधत्वक् इजेक्शन देने पर ये लक्षण दिखाई दिये—इजेक्शन लगाते ही तथिकातन पर इसका सद्य प्रभाव प्रत्यक्ष हो गया और अधि अगो (posterior extremities) मे सम्बन्ध विक्षोभ (disturbances of co-ordination) पैदा हो गया, दौर्बल्य द्रुत गति से बढ़ता दिखायी देने लगा जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध जठरान्त्रीय लक्षणों की उग्रता से सर्वदा नहीं होता था, सास की गति बहुत तेज हो गयी और शरीर तापमान बहुत ही गिर गया, जानवर की मृत्यु साधारणत सन्यस्त (comatose) अवस्था मे हुई, मृत्यु के पहले कई तीव्र अवमोटन उद्घेष्ट (clonic cramps) परिलक्षित हुए। मृत्योपरान्त शब-परीक्षा मे आमाशय की इलेष्म-कला रक्तिम मिलती है, अंते सामान्यत बहुत ही सकुचित रहती है किन्तु इलेष्म-कला अपेक्षाकृत कम अतिरक्त (hyperaemic) मिलती है। यकृत कला हो जाता है, और रक्त से भरा रहता है, और पित्ताशय बहुधा फूल जाता है।

### सन्दर्भ :—

- ( 1 ) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, ( 2 ) Dunstan and Henry 1898, *J C S Trans*, 209, ( 3 ) Chopra, R. N., and Ghosh, N. N., 1926 *Ind Jour Med Res*, 66, 533, ( 4 ) Trease, G. E., 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 277, ( 5 ) Seshadri, T. R., and Subramanian, S. S., 1950, *Jour Sci Industr Res*, 9, ( 6 ) B, 137-141, ( 6 ) Dutta, S. C and Mukerjee, B., 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 30, ( 7 ) Chopra, R. N., Badhwar, R. L., and Ghosh, S., 1949, *Poisonous Plants of India*, I, 161, ( 8 ) Podwyssotski 1881-82, *Pharm*, *Jour.*, 12 ( III ) 217, 1011, *Arch Exp Path Pharmak*, 1880, 13, 29, *Pharm Z Russland*, 1881, 12, 44, *Ber*, 1882, 15, 377 *Vide J Amer Pharm Assoc*. 1938, 27 ( 8 ), 632, ( 9 ) Chopra, R. N., Kapoor, L. D., Handa, K. L., and Chopra, I. C., 1947, *Jour Sci Industr. Res*, 6, 12, ( 10 ) Handa, K. I. Kapoor, L. D and Chopra, I. C., 1951, *Ind Jour Pharm*, XIII, 5, 118

## सिकोट्रिया इपीकैकुआन्हा (रूबिएसी)

**Psychotria ipecacuanha Stokes (Rubiaceae)**

पर्याय—सेफेलिस इपीकैकुआन्हा

Syn —*Cephaelis ipecacuanha* (Brot.) A Rich.

नाम—इपीकैकुआन्हा, इपीकाक।

इपीकैकुआन्हा एक सुविज्ञात भेषज है जिसे बहुत से देशों की भेषजकोशों में अधिकृत रूप से मान्यता प्राप्त है। यह सिकोट्रिया इपीकैकुआन्हा (जिसे आजकल सेफेलिस इपीकैकुआन्हा कहते हैं) की सूखी जड़ होती है। सेफेलिस इपीकैकुआन्हा ग्राजील का देशीय पादप है और इसकी सूखी जड़ का रायो डी जानिअरो से विश्व के विभिन्न भागों में निर्यात होती है। इपीकैकुआन्हा की अन्य दो किस्मों को अर्थात् मिनास इपीकैकुआन्हा' को 'ग्राजील मे मिनास जिरेस' मे इसकी खेती होती है और जोहोर इपीकैकुआन्हा को (मलयेशिया मे जोहोर और सिलागोर नामक स्थानों मे इसकी खेती होती है) क्रिटिश भेषजकोश द्वारा मान्यता प्राप्त है। इसकी एक दूसरी जाति 'कार्थेजिना इपीकैकुआन्हा' है जो कोलम्बिया के सेफेलिस ऐक्यूमिनेटा (*C. acuminata* Karsten) से प्राप्त होती है और इसका भी व्यापार मे उपयोग होता है। इस जाति की जड़ अपेक्षाकृत अधिक मोटी और सावली होती है और ग्राजील की इपीकाक की तुलना में इसमे वलयन (annulation) कम सुस्पष्ट होते हैं। ग्राजील की इपीकाक की जड़ पतली और टेढ़ी-मेढ़ी (tortuous) होती है और इसका रग इंठ जैसा लाल से लेकर गहरा भूरा होता है। इपीकैकुआन्हा का पौधा ऊँचाई मे ३० सेण्टीमीटर तक वृद्धता है। इसके पतले प्रकन्दो और शयान (prostrate) स्तम्भों से जगह जगह नड़े निकलती है। इन जडों की छाल कभी कभी असामान्य रूप से मोटी हो जाती है और इन्ही मोटी छालों और जडों को व्यापार मे भेषज के रूप मे काम मे लाया जाता है। यह पौधा ग्राजील के अनेक भागों मे पाया जाता है और अपने आप पैदा होता है, किन्तु इस देश के कई प्रदेशों मे निर्यात के लिए इसकी खेती भी होती है। निर्यात किया हुआ इपीकैकुआन्हा ही भारतीय बाजारों मे बहुत विक्री है।

**इपीकैकुआन्हा का भारतीय स्थानापन्न।**

इपीकैकुआन्हा भारत का देशीय पादप नहीं है, किन्तु समय-समय पर कई स्थानीय पादपों के बारे मे यह कहा गया है कि उनमे भी इपीकैकुआन्हा के सदृश गुण वर्तमान हैं और उनको इसका स्थानापन्न बनाने का सुझाव दिया गया है।

नरेंगीमिया ऐलेटा (*Naregimia alata*-गोवा का इपीकाक) कुल-भीलिएसी, नाम-म०-तीनपाति, पित्तवेल, यह एक अरोमिल छोटी झाड़ी है जिसकी पत्तियाँ त्रिपर्णक (trifoliate) होती हैं। यह पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में पाया जाता है और इसमें इपीकाक के सदृश गुण की विद्यमानता वताई गई है। मद्रास में इसका परीक्षण तीव्र अतिसार में किया गया तथा वामक और कफोत्सारक के रूप में प्रयोग किया गया, पर परिणाम अनिश्चित मिले। इसमें नरेंगीमीन नामक ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है जिसका एमेटीन से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रिप्टोकोरीन स्पाइरलिस (*Cryptocoryne spiralis*), कुल-ऐरांयडी, जिसे तमिल में नत्तु-अति-वादथाम कहते हैं, एक छोटा एकबीजपत्री पौधा है जिसका प्रकान्द 'पूर्व भारतीय मूल' (East Indian root) के नाम से मद्रास से बाहर निर्यात किया गया है। पर न इसमें एमेटीन मिलता है, न सेफेलीन। टाइलोफोरा ऐस्थेटिका (*Tylophora asthmatica*-पर्याय टाइलोफोरा इन्डिका - (*Tylophora indica*)), कुल ऐस्कलीपियाडेसी, नाम-हि०-जगली पिकवन, ब०-अन्तमूल, त०-नाय-पालै, एक ऐसा पौधा है जो अभी भी स्थानापन्न के रूप में व्यवहृत हो रहा है और जिससे सन्तोषप्रद परिणाम मिले हैं। यह एक छोटी बल्लरी है जो पूरे पूर्वीय भारत बगाल, आसाम, काठार, चटगाँव, दक्षिणी भारत, और बर्मा के जगलों में पायी जाती है। अनेकों वर्ष पूर्व रॉक्सवर्ग ने पश्चिमी चिकित्सा में इस लता की ओर सर्व प्रथम ध्यान आकृष्ट कराया। ओशोआउच्नेसी (O'Shoughnessy) ने रॉक्सवर्ग की धारणा की पुष्टि की और कहा कि इसके मूल में वामक गुणों की उपस्थिति भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है और यह इपीकाक एक उत्कृष्ट स्थानापन्न है। इस पौधे के गुणों से आरम्भिक शोधकर्ता इतने प्रभावित हुए कि इसे बगाल फर्माकोपिया (१८४४ ई०) में मान्यता मिल गयी। जब १८६८ ई० में भारत के फर्माकोपिया (Pharmacopedia of India) का सकलन किया गया तो मूल के स्थान पर इसकी पत्तियों को उसमें मान्यता दी गयी, क्योंकि पत्तियों के प्रयोग से एक समान तथा निश्चित परिणाम मिलते थे। इसमें दो ऐल्केलॉयड टाइलोफोरीन तथा टाइलोफोरिनीन विद्यमान हैं। श्वसनीशोथ तथा अतिसार में इसका प्रयोग इपीकाक के स्थानापन्न के रूप में किया जाता है। ऐस्कलीपियाज कुरासैविका (*Asclepias curassavica*) भी एक अन्य पौधा है जो वेस्ट इन्डीज से भारत में लाया गया और अब यह पूर्ण रूप से यहाँ की प्रकृति के अनुकूल हो गया है। अब यह दक्षिण भारत के कई भागों में तथा बगाल में वन्य दशा में उगता है। इस पौधे की जड़ में वामक गुण पाये जाते हैं इसलिये वेस्ट इन्डीज के उपनिवेशी इसे 'नकली या जगली इपीकाक' की सज्जा प्रदान की। इसका सक्रिय तत्त्व 'ऐस्कलीपीन'

नामक एक ग्लाइकोसाइड है, ऐमेटीन ऐल्केलॉयड नहीं। इसके जड़ों में वामक गुण पाये जाते हैं। इन सब पौधों के अतिरिक्त, देशीय चिकित्सा पद्धति में कई अन्य बूटियाँ भी प्रयोग में लाई जाती हैं जिनको इपीकाक का स्थानापन माना जाता है। उदाहरण के लिए ऐनोडेन्ड्रॉन पैनिकुलेटम, कैलोट्रॉपिस जाडगैन्टिया, गिलेनिया स्टिपुलैंसिया, यूफॉविया डपीकाकुआन्हा, वूरहैचिया डिकम्बेन्स, साकोस्टेमा ग्लेन्ना आदे। यद्यपि इन भेषजों पर विस्तृत रासायनिक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी अध्ययन नहीं किया गया है, फिर भी यह देखा गया है कि इनमें से किसी में भी ऐमेटीन या सम्बद्ध ऐल्केलॉयड विद्यमान नहीं है, अपितु अधिकाण में क्षोभक पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण उनमें वामक गुण पाया जाता है। इनमें से कुछ का प्रयोग अमीवी अतिसार में किया गया, पर सफलता नहीं मिली।

भारत में अमीवी अतिसार की व्यापकता को देखते हुए इस देश के लिए डपीकैकुआन्हा बहुत ही महत्व का भेषज है। कलकत्ता के ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन के प्रोटोजुआ विज्ञान विभाग में बहुत से मलो (stools) के परीक्षण से यह पता चला कि १४ प्रतिशत लोग (इस व्याधि से पीड़ित थे), इससे इस बात का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस भेषज की कितनी अधिक मांग है। यह भेषज भारत में पैदा नहीं किया जाता था, इसलिए बड़ी मात्रा में अपरिष्कृत भेषज और ऐल्केलॉयड ऐमेटीन हरसाल बाहर से मंगाया जाता था। अच्छे किसी का डपीकैकुआन्हा भारत में उगाया जा सकता है और अपनी मांग की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त मात्रा में यहाँ पैदा किया जा सकता है। इस उपक्रम से भारत को लाभ मिल सकता है, इसको समझने में भारत सरकार ने शिथिलता नहीं दिखायी, और १९१६-१७ ई० में ही डपीकैकुआन्हा की खेती नीलगिरी और दार्जिलिंग के निकट मुंगपू में शुरू कर दी गयी थी। बाद में इसकी खेती वर्मा में भी आरम्भ की गयी। इसमें बीज अच्छे लगे और १९२० ई० के प्रतिवेदन से ऐसा पता चला कि यदि बोये गये बीज से पौधों-को उगाया जाय तो इसकी खेती के सफल होने की सर्वथा सम्भावना है। १९२२ ई० के प्रतिवेदन में बताया गया था कि डपीकैकुआन्हा के पौधे अच्छी तरह बढ़ रहे थे और उनकी सख्त्या में भी काफी वृद्धि हो गयी थी और वर्तमान रोपणियों को और विस्तृत करने की बात सोची जा रही थी। इसकी खेती के विस्तार की सम्भावना बहुत आशाप्रद है किन्तु कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। दैनिक तापमान में ज्यादा उतार-चढ़ाव का इसकी खेती पर बुरा प्रभाव पड़ता है और यदि इसके निराकरण के लिए समुचित व्यवस्था नहीं की जाती तो आशका इस बात

को है कि समूची खेती ही नष्ट हो जाय। इन कठिनाइयों के होते हुए भी मुँगपू में और अन्यत्र भी पौधों ने अब तक अच्छी प्रगति की है। ऐसा अनुमान है कि अकेले मुँगपू में ही २,२६,४९६ पौधे उपाये गये थे। वर्मा की रोपणियों में ६६८,८५१ पौधे उगाये गये थे। इनकी जड़ों की कोटि काफी सन्तोष प्रद है जैसा निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट होता है। इसमें वाजार में विकने वाली विभिन्न जड़ों में निहित कुल ऐल्केलॉयड और एमेटीन की मात्राओं का तुलनात्मक विवेचन दिया गया है—

	कुल ऐल्केलॉयड	एमेटीन
ब्राजील का जड	२ ७ प्रतिशत	१ ३५ प्रतिशत
ब्राजील का स्तम्भ	१ ८० „	१ १८ „
कोलम्बिया का जड	२ २० „	० ८९ „
भारतीय जड	१ ९६ „	१ ३९ „

उपरोक्त आँकड़ों को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राजील के जड़ की तुलना में भारतीय जड़ में एमेटीन की मात्रा अधिक रहती है यद्यपि इसमें कुल ऐल्केलॉयड कम होता है। कोलम्बिया की जड़ में कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा पर्याप्त होती है किन्तु वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए उसमें एमेटीन का अनुपात बहुत कम होता है। भारतीय इपीकैकुआन्हा से मिलने वाला एमेटीन शुद्ध स्प में अब वाजार में उपलब्ध है, किन्तु मार्ग की तुलना में यह मात्रा बहुत अपर्याप्त है। पश्चिमी बगाल के पहाड़ी प्रदेशों में इपीकैकुआन्हा की खेती अब वाणिज्यिक स्तर पर की जाती है।

### कृषि :

विश्व के अन्य भागों में इपीकैकुआन्हा को खेती का प्रयास अब किया गया है। जावा और श्रीलंका में इसकी कृषि सफल नहीं सिद्ध हो पायी है, किन्तु मलयेशिया में और स्ट्रेट सेट्लमेण्ट्स में इसकी खेती में अच्छी प्रगति हुई है विशेषतः रबर के बागानों में और अब वहाँ से इपीकैकुआन्हा की जड़ का, जो देखने में बहुत ही अच्छी होती है और ऐल्केलॉयड से सम्पन्न होती है, पर्याप्त मात्रा में निर्यात होता है। इस पादप की जलवायु विषयक एवं मृदीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भारत में सर्वेक्षण किया गया है जिससे यह पता चलता है कि इस पादप की खेती का परीक्षण सफलता के साथ जोरहाट (असम), चटगाँव (काँक्स वाजार, पूर्वी बगाल), सुन्दरखन (मोरालगज, कालीगज, बगाल), जिला जलपाइगुड़ी (बगाल), बालासोर (उडीसा) तथा भेघासिनी के पहाड़ी क्षेत्रों में किया जा सकता है। यह पाइप मुँगपू में १२ सौ से १५ सौ फुट की ऊँचाई पर उगायी जाती है जहाँ वार्षिक वृद्धि प्राय १२० इच्छ है और

अधिकतम ग्रीष्मकालीन तापमान  $100^{\circ}$  फारेनहाइट है और जाडे में कुहरा नहीं पड़ता है। इस पादप के लिए अच्छी बलुई, कछार वाली दुमट मिट्टी चाहिये जो बनावट में खुरदशी हो और जहाँ जलोत्सारण अच्छा हो। इस पादप की आवश्यकताओं के लिए निम्नांकित सरचना वाली मिट्टी सम्भवतः उपयुक्त होगी।

स्वच्छ धुला वालू १ भाग, भलीभाँति सड़ी पत्ती की खाद १ भाग, साधारण (चूर्णशील दुमट) मिट्टी १ भाग, चूना मिला कचरा १ भाग, चूर्णित इंटे २ भाग, तेल की खली तथा सूखी गाय के गोवर का खाद २ भाग। कैल्सियम फास्फेट, मैग्नीसिया और पोटैश लवण यदि ठीक ढग से दिया जाता रहे तो वह उस पौधे के लिए बड़ा लाभप्रद होता है।

इस पौधे को बीज से या कर्तन द्वारा (कलम रोपकर) उगाया जा सकता है, किन्तु कर्तन (कलम) द्वारा उगाये पौधे अधिक तेजी से बढ़ने वाले और स्वस्थ होते हैं। बीजों को अकुरित होने में बहुत समय लगता है, कभी-कभी इसमें ६ महीने लग जाते हैं और केवल ३० प्रतिशत बीज ही अकुरित हो पाते हैं। कलम लगाकर इसका जो प्रजनन किया जाता है वह जड़ या प्ररोह अथवा पर्ण के कर्तन लगाकर किया जा सकता है। जड़ की कर्तनों या टहनियों को ऐसे पात्र में रोपना चाहिये जो ३ इच से ज्यादा गहरा न हो और जिसमें महीन वालू भरा हो। वालू भरे पात्र को सदा आर्द्ध रखना चाहिये, किन्तु जलप्लावित नहीं होना चाहिये और उन्हें सायेदार स्थान में ही रखना चाहिये जहाँ मुक्तरूप से हवा मिलती रहे, किन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य की किरणें पौधों पर सीधी न पड़े। एक पक्ष या तीन सप्ताह में पत्तों में कैलस (callus) बन जाते हैं और फिर कैलस से पतली जड़ों का एक पुञ्ज निकलता है और एक, दो, तीन, या कभी-कभी चार नये अकुर जमीन के ऊपर आ जाते हैं। ये अकुर जब एक या डेढ़ इच ऊँचे हो जाते हैं तो उन्हें अलग करके पात्रों में रोपा जा सकता है। जड़ों की कतरने (कर्तन) आधी-आधी इच लम्बी काट ली जाती है और उन्हें ऐसी क्यारियों में जिनमें दो हिस्सा वालू और एक हिस्सा ह्यूमस (वनस्पति खाद) हो, रोप दिया जाता है। इन कर्तनों को सदा सीचते रहना चाहिये और इन्हें सायेदार स्थान में रखना चाहिये। जड़ों के कर्तनों की अपेक्षा प्ररोहों के कर्तनों में जलदी जड़ निकल आती है। जड़ों के कर्तनों से जड़ निकलने में प्रायः १ महीना लग जाता है। दो महीने वाद इन्हें दूसरी क्यारियों में रोपना चाहिये जिसमें बराबर-बराबर वालू और जगल की पत्तियों की खाद हो और उन्हें चार-चार फुट के अन्तर पर प्रति-रोपित करना चाहिये। चार महीने बाद इन पौधों को सायेदार स्थानों में स्थायी

व्यारियो में एक-एक फुट की दूरी पर लगाना चाहिये। ऐसा करने से पौधों का विकास अच्छी तरह हो पायेगा। साधारणत जड़ों की कटाई (लवाई) तीन साल पूरा होने पर की जाती है। कर्तन द्वारा उगाये गये पौधों के सम्बन्ध में इस तीन साल की गणना का आरम्भ तब से माना जाता है जब कलमों में जड़ निकल आती है और दीजजन्य पौधों के सम्बन्ध में आरम्भकाल तब से माना जाता है जब पौधों में पत्तियाँ निकल आती हैं। अभिलेखों से ज्ञात हुआ है कि जोहोर में उगाये २५४ वर्ष के पौधों से अधिकतम मात्रा में ऐल्केलॉयड मिला। जड़ों को जल्द से जल्द सुखाकर बाजार के लायक बनाया जाता है। जड़ों को सुखाने की प्रचलित प्रणाली यह है कि उन्हें धूप में सुखाया जाता है और रात को सायेदार स्थान में उन्हें रख दिया जाता है ताकि ओस से उनमें नमी न आये। द्वितीय ताप की प्रक्रिया से जड़ों को बहुत जल्दी सुखाया जा सकता है और इससे जड़ के गुण में कोई अन्तर नहीं आता। जड़ की औसत पैदावार लगभग ६०० पौण्ड प्रति एकड़ होती है।

**सघटक** इसकी जड़ों में एमेटीन, सेफेलीन, क्रिटोनीन तथा सिकोट्रीन ऐल्केलॉयड, आर्थोमेथिल सिकोट्रीन एवं एमेटामीन के साथ विद्यमान रहते हैं। उनमें इपेकामीन, हाइड्रोइपेकामीन, एक ग्लाइकोसाइड इपेकैकुआन्हिन, इपेकैकुआन्हिक अम्ल, स्टार्च, कैल्सियम ऑक्जलेट आदि भी पाये जाते हैं। सिकोट्रीन को आर्थोमेथिलसिकोट्रीन या सेफेलीन में स्पान्तरित किया जा सकता है, और इनका मेथिलीकरण करके एमेटीन प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि ब्राजील के पादपों की जड़ों में कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा २०५ प्रतिशत रहती है जिसमें लगभग ७० प्रतिशत एमेटीन होता है, जब कि कार्टेजिना के इपीकैकुआन्हा की जड़ों में २ प्रतिशत कुल ऐल्केलॉयड होता है जिसमें आधा से कम एमेटीन होता है। भारतीय इपीकैकुआन्हा की जड़ों से कुल ऐल्केलॉयड तथा अफिनोली (non-phenolic) ऐल्केलॉयड और राख की प्रतिशत मात्रा, जड़ों के शुष्क भार के आधार पर प्राप्त सारणी १४ में दिखायी गयी है।

#### सारणी १४

पौधे की उम्र	कुल ऐल्केलॉयड	अफिनोली ऐल्केलॉयड	राख प्रतिशत
वर्ष	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
१	१ ४५ से २०३० तक	१ ८१ से १०२० तक	२ ८९
२	१ ७० से २ ३३ तक	१ २१ से १ २४ तक	२ ००
३	२ ३३ से २ ५० तक	१ ३५ से १०४० तक	२ २५
४	२ १४ से २ ६० तक	१ २१ से १०३३ तक	१०६८
५	२ ४५ से २०५१ तक	१ ३० से १ ३४ तक	—

मलयेशिया मे डेरडाग नामक स्थान पर उगाये पौधो मे ऐल्केलॉयड की प्रतिशत मात्रा भारतीय पौधो की तुलना में बहुत अधिक है। वहाँ ( मलयेशिया ) के पौधो की जड़ो मे कुल ऐल्केलॉयड ३०१ प्रतिशत मिले, जिसमे एमेटीन की मात्रा १६ प्रतिशत पायी गयी।

### गुण-कर्म

इपीकैकुआन्हा के दो प्रमुख ऐल्केलॉयड एमेटीन तथा सेफेलीन हैं। इन दोनो ऐल्केलॉयडो के प्रभाव मे बहुत साम्य रहता है, फिर भी सेफेलीन की क्रिया अपेक्षाकृत अधिक क्षोभक होती है और कुछ लोगो मे यह क्षोभक प्रभाव बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। त्वचा पर लगाने से वे स्थानिक क्षोभ तथा शोथ पैदा करते हैं जिसके फलस्वरूप पूयस्फोटिका और जलस्फोट ( vesicles and pustules ) उभड आती हैं। जड़ो का चूर्ण बनाते समय, चूर्ण बनानेवाले को अपना मुख अवश्य ढंके रहना चाहिये, अन्यथा महीन चूर्ण उड़कर उसके अँखो मे बहुत क्षोभ पैदा करेगी तथा निश्वसन मे भीतर प्रवेश कर श्वसन-मार्ग की श्लेष्मकला पर उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी जिससे वह नासा-प्रतिश्याम ( nasal catarrh ), गले के भीतर क्षोभ तथा खाँसी आदि से बहुत पीड़ित हो जायगा। इन ऐल्केलॉयडो का वामक प्रभाव आमाशय पर उनकी क्षोभक क्रिया के कारण मुख्यत होता है, पर यह भी सम्भव है कि अधिक मात्रा मे जानवरो मे अन्त शिरा इन्जेक्शन देने से उनके अन्तस्था-केन्द्र ( medullary centre ) पर और अधिक क्रिया होती हो।

### सन्दर्भ :—

- (1) Report of the Government Cinchona Plantations, Bengal, 1919-20, 1922-23, 1923-24, (2) Carr, F H and Pyman, F L, 1914, J C S Trans, 1591, 15, (3) Pyman, F L, 1917, J C S Trans, 419, (4) Pyman, F L, 1918, J C S Trans, 222, (5) Chopra, R N, and Mukerjee, B, 1931, Ind Med Gaz, 66, 622, (6) Chopra, R N, Badhwar, R L, and Ghosh, S, 1949, Poisonous Plants of India, 550, (7) Dutt, S C, and Mukherji, B, 1950, Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs, 63, (8) Trease, G E, 1952, A Text Book of Pharmacognosy, 534, (9) Mukherji, B, 1953, Indian Pharmaceutical Codex, 122

## रीअम इमोडी ( पोलीगोनेसी )

Rheum emodi Wall. (Polygonaceae)

भारतीय रेवदचीनी ( Indian Rhubarb )

नाम—हि० और व०—रेवदचीनी, रुधीनी, बम्ब०—लहाकी रेवद-चीनी,  
प० रेवद-चीनी, त०—नट्टू-इरेवल-चिन्नी, ते०—नट्टू-रेवल-चिन्नी ।

रेवदचीनी का पाश्चात्य औषधि में अधिकाश प्रयोग रेचक के रूप में किया जाता है । बच्चों की बीमारी में यह विशेष लाभदायक होती है । यह वास्तव में छोटे बच्चों की प्रतिदिन की औषधियों में से एक है । चिकित्सा में इसका प्रयोग ४७०० बर्षों से या उससे भी पूर्वकाल से किया जा रहा है, जब से प्राचीन चीनी भेषज-संहिता 'शेन—नुग—पेण्टसाओ—किंग' ( Shen-Nung-Pentsao-King ) में २७०० बर्ष ई० पू० में इसका वर्णन किया गया है । व्यापारिक रेवदचीनी जो चीनी, रूसी एवं पूर्व भारतीय रेवदचीनी के नाम से विद्युत है, दक्षिण पूर्वी तिब्बत एवं उत्तरी अशिंसी चीन में पैदा होने वाले रीअम ऑफिसिनेल (*Rheum officinale*) तथा रीअम पाल्मेटम (*Rheum palmatum*) पौधों से प्राप्त किया जाता है । यह भारत-वर्ष में चीन से फारस होता हुआ आता है । लदन से भी थोड़ी मात्रा में इसका आयात किया जाता है । हिमालय पर्वत पर रीअम इमोडी (*Rheum emodi*) नेपाल और सिक्किम से लेकर कश्मीर तक ४००० फुट से १२००० फुट तक की ऊँचाई पर वहुत अधिक उपजता है । इसी के साथ इसके कुछ सजातीय पौधे जैसे रीअम मूरकैफिटेनम (*Rheum moorcroftianum*), रीअम वेविएनम (*Rheum webbianum*) एवं रीअम स्पिसिफार्म (*Rheum spiciforme*) भी उत्पन्न होते हैं ।

यद्यपि रीअम इमोडी एक ऐसी जाती है जिसका उल्लेख सर्वाधिक रूप से किया जाता है फिर भी यज्ञकेन ( Yongken ) महोदय के अनुसार जो रेवदचीनी भारत से सम्युक्त राज्य अमरीका को निर्यात की जाती है वह रीअम वेविएनम है । हिमालय पर पैदा होने वाली रेवदचीनी, चीन में होने वाली रेवदचीनी की अपेक्षा अधिक कुण्ड वर्ण की तथा गठन में अधिक खुरखुरी होती है । इसकी छाल नहीं उतारी जाती है । भारतीय रेवदचीनी का चूर्ण कुछ भूरे पीले रंग का होता है जब कि चीन में होने वाली रेवद चीनी का चूर्ण चमकीले पीले रंग का होता है । भारतीय रेवदचीनी व्यापार में कम महत्वपूर्ण समझा जाता था क्योंकि प्राय ऐसा विश्वास किया जाता था कि गुण में यह चीनी रेवदचीनी की अपेक्षा निम्न श्रेणी की होती है । देशी औषधियों में

प्रयोग करने के लिए यह काफी मात्रा में पजाव के कागड़ा जिले एवं कश्मीर से नीचे भागों में ले जायी जाती है। भारतीय रेवदचीनी का परीक्षण भारतीय भेषज समिति (Indigenous Drugs Committee) द्वारा किया गया था परन्तु उससे कोई सतोष-जनक परिणाम नहीं निकले। जो कारण समिति द्वारा बताये गये वे भी सतोषजनक एवं विश्वसनीय नहीं हैं। निम्न लिखित विश्लेषण जो एलबोर्न (Elborne) द्वारा किया गया है पूर्वीय भारतीय एवं अंगूल रेवदचीनी के विभिन्न नमूनों के प्रतिशत सघटन का द्योतक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय रेवदचीनी में रेचक तत्त्वों (ऐन्थ्राकिनोल व्युत्पन्नों) की कमी नहीं होती है जो विदेशी और अधीकृत (मान्यता प्राप्त) रेवदचीनी में पाया जाता है।

	रीअम इमोड़ी (निचले क्षेत्रों की कृषि से प्राप्त)	रीअम इमोड़ी (ऊँचे क्षेत्रों की कृषि से प्राप्त)	पूर्वीय भारतीय रेवदचीनी	रेवदचीनी
आद्रेता	६०६	७९	५४	१२६
राख	९३३	४९	९२८	६६३
जल-विलेय मूसिलेज	६५	४८	४०	५५
कैथार्टिक अम्ल	३५	३२	४५	३२
कार्बनिक अम्ल, जैसे गैलिक अम्ल, आदि	{ ३३	२२	३०	४५
ऐल्कोहॉल में विलेय रेजिनी पदार्थ	{ २६	२०	४०६	५२
पेट्रोलियम ईथर में विलेय वसा तथा मुक्त	{ ००४	०३	०७	१५
क्राइसोफेनिक अम्ल				

यह देखा गया है कि सावधानी पूर्वक उगायी गयी भारतीय रेवदचीनी, चौन से आयात की गयी रेवदचीनी के ही समान गुणकारी होती है। रयूमेक्स नेपालेसिस (*Rumex nepalensis*) भारत के कुछ भागों में प्रचुर मात्रा में उगता है। इसकी जड़ बगाल के वाजारों में रेवदचीनी के नाम से बेची जाती है। इसमें भी रेवदचीनी के ही समान रेचक तत्त्व पाये जाते हैं। इसे गृह-चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है, परन्तु ऐसी कोई भी सूचना नहीं मिली जिससे यह निश्चय किया जा सके कि यह भी व्यापारिक रेवदचीनी के ही समान लाभदायक है। भारत वर्ष में अच्छी रेवद-चीनी पैदा की जा सकती है और इसकी क्रम बढ़ कृषि से यथेष्ट लाभ होने की

कुभावना है। असम के कुछ भागों में रेवदचीनी पहने से ही सफलता पूर्वक उगायी जाती है, परन्तु यह स्थानों लारा घाने के उपयोग में लायी जाती है और बोधिम में इनका उपयोग नहीं होता।

### कृषि

इनका प्रजनन ओज में होता है अथवा इनके छाए (तने के ऊपरी भाग) को कई भागों में विभाजित कर, उत्तरों को दोषा जाता है, परन्तु पत्तेक कत्तन में एक जल्दी व्यवस्था होनी चाहिये। पौधों को दगत गृहु के प्रारम्भ में लगाया जाना चाहिये, इनके निए पाँको उर्ध्व-नूति होनी चाहिये जिसमें रात्रि याद अच्छी तरह मिलता रहा रहे। पौधों के भज्ज यी दूसरी प्रत्येक दिनों में ४ या ५ कुट होनी चाहिये और कत्तनों की पृष्ठी में चार इच्छ की गारार्ड में गाराना चाहिये। इनके प्रकार एवं शुद्ध जा नग्रह गृहु में परन्ता चाहिये। ८ एवं १० वर्ष की आयु वाले पौधों को जिनम्बर ते जनिम दिनों में धोया जाता है, प्रवार, मृस को जल में धोया जाता है। इनके छाए एवं टोटो-छाटी लाघातो को अनग कर दिया जाता है, तत्परतात् उनके लगर या छिनार प्रधिजलगत उतार दिया जाता है और फिर या तो उन्हें छोटे-छोटे दूबां में विभाजित कर, आखे में या पूर्ण में नुदाया जाता है अथवा सूखने के लिए छिद्रित करने और गम्भीर में गूदार उन्हें लटका दिया जाता है। रीअम ( *Rheum* ) की अन्य जातियों, विजेन रीअम ऐक्सिमिनेटम ( *Rheum cyprioticum* II f & T ), रीअम नोविने ( *Rheum novi* II f & T ) एवं नीअम चेविएनम ( *Rheum cyprioticum Rosyce* ) के प्रकार, रीअम इमोडी ( *Rheum emodi Will* ) के प्रकार के स्थान पर प्रयोग किये जाते हैं।

### सघटक

रेवदचीनी में ऐन्थाकिवनोन के व्युत्पन्न पाये जाते हैं जो गुण में रेचक माने जाते हैं और जो इनमें २० से ४५ प्रतिशत तक मिलते हैं। स्तम्भक गुण वाले सघटक प्रमुख स्वप ने ग्लूकोग्लूलिन में स्वप में जो गैलिक अम्ल का ग्लाइकोसाइड है पाया जाता है और उग्नि के साथ टैनिन एवं मध्यवर्त कैटेचिन की भी थोड़ी मात्रा विद्यमान रहती है। अन्य निपिल्य सघटक रिनालिक अम्ल, स्टार्च, वसा, डेवस्ट्रोज, लेव्यूनोज, पेकिटन और केल्सियम थ्रॉक्जलेट भी पाये जाते हैं। केल्सियम थ्रॉक्जलेट एवं इसी के कारण इसकी राख की माशाओं में वडी विभिन्नता पायी जाती है। राख की उपलब्धि ३.५ से ४३ ३ प्रतिशत होती है, जब कि चीन की अच्छी रेवदचीनी में यह ७ से १३ प्रतिशत तक पायी जाती है। राख को अम्ल में घुलाने पर

अविलेय अश बहुत ही कम बचता है जो १ प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये, इससे यह स्पष्ट है कि राख मे प्राय सम्पूर्णत कैल्सियम आँकजलेट ही होता है। ऐन्थ्राकिवनोन के जो व्युत्पन्न रेवदचीनी में पाये जाते हैं वे रीन, इमोडिन, ऐलो इमोडिन, इमोडिन मोनोमेथिल ईथर तथा क्राइसोफेनॉल हैं। ये अशत मुक्त पाये जाते हैं और अशत ग्लाइकोसाइड के रूप मे होते हैं एव सभवत अक्रिस्टलीय रेजिनी पिण्ड मे अनिर्धारित सयोगो मे भी ये अशत पाये जाते हैं। इस रेजिन को, जिसे ट्रूटिन एव क्लेवर ने रेवदचीनी से निस्सारित किया था, रीओनिग्रीन कहते हैं और जल-अपघटन करने पर इससे गैलिक और सिन्नामिक अम्ल एव उपर्युक्त ऐन्थ्राकिवनोन व्युत्पन्न उपलब्ध होते हैं। वालिस (१९४६ ई०) के अनुसार भारतीय रेवदचीनी रीमम इमोडी (*Rheum emodi* Wall.) के खण्ड अधिक सिकुडे और कोमल होते हैं तथा सरलतापूर्वक काटे जा सकते हैं। परावैगनी (ultra-violet) मे रखने से इसमे से नील प्रतिदीप्ति (fluorescence) निकलती है जिसमे कही-कही पर मखमली भूरा धब्बा दिखाई पड़ता है। इसमे रैपोण्टसिन नहीं पाया जाता है, परन्तु जांच करने पर ऐन्थ्राकिवनोन के व्युत्पन्न पाये जाते हैं।

इसका रेचक तथा स्तम्भक वल्य के रूप मे प्रयोग किया जाता है। प्रकन्द स्वाद मे तीक्ष्ण तिक्त होता है और आर्तवजनक एव मूत्रल माना जाता है। इसका प्रयोग पैत्तिकता, कटिवेदना (लम्बेगो), दीमाग की गर्मी, नेत्र-दाह, अर्श, जीर्ण श्वसनी-शोथ, जीर्ण ज्वर, दमा, प्रतिश्याम, दर्द तथा नील (bruises) मे किया जाता है।

वाणिज्य व्यापारिक रेवदचीनी रीमम ऑफिसिनेल (*Rheum officinale* Baill.) से प्राप्त की जाती है, इसकी पूर्ति अधिक मात्रा मे चीन से होती है। इसका सग्रह प्रमुख रूप से उस पर्वतीय प्रदेश मे होता है जो तिब्बत और जेचुआन (Szechuan) को एक दूसरे से अलग करता है तथा जिसका विस्तार पूर्व मे ह्यूपेह (Hupeh) तक है। चीन मे पैदा होने वाली रेवदचीनी को किस्मे शेन्सी (Shensi), कैण्टन (Canton) और हार्ड ड्राइड (High Dried) कहलाती है, जिसमे शेन्सी रेवदचीनी सर्वोत्तम समझी जाती है। भारतीय एव चीनी इन दोनो प्रकार की रेवदचीनी से निर्मित भैंसेजिक योगो को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ कि कुछ योग (विशेषकर मिस्चुरा रियाइ एट्सोडी और टिक्चुरा रियाइ ऐरोमेटिका) जो भारतीय रेवदचीनी से तैयार किये गये थे, चीन के रेवदचीनी से निर्मित योगो के सदृश दिखाई पड़े। कुछ योग अपेक्षाकृत कम सतोषजनक मिले जैसे—पुलविस रियाइ कम्पोजिटस (Pulvis Rhei Compositus) जिसमे रेवदचीनी का गध अल्पमात्रा मे

मिली। उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया कि बमली भारतीय रेवदचीनी, चीन से उपलब्ध रेवदचीनी के स्थान पर प्रयोग करने के लिए सर्वोत्तम है जो पहले बाजारों में सामान्यतः प्राप्त रहती थी। यद्यपि चीन से प्राप्त होने वाली रेवदचीनी का विरेचक गुण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होता है और अपनी एक विशिष्ट उग्र गन्ध के कारण अधिक आकर्षक होता है फिर भी भारतीय रेवदचीनी की कुछ अपनी विशेषताएँ एवं लाभ हैं और यह नगुण्ठ राज्य अमरीका एवं ग्रेट ब्रिटेन में व्यापार एवं चिकित्सा की दृष्टि से मतोपजनक पायी गयी है।

### सन्दर्भ :

(1) Treuer and Clewer, 1915, J C S Trans, 946, (2) Dutt, 1928, Commercial Drugs of India, (3) Willis, T E, 1946, Text Book of Pharmacy, 320, (4) Datta, S C and Mukerji, B 1950, Pharmacy of India, Roots and Resiniferous Drugs, 115, (5) Hocking G M 1945, Ind Jour Pharm, 3, VII, 89, (6) Youngson, H W, Mill, 1944, Amer Pharm Assoc ( 9c Ed )

### रिसिनस काम्फूनिस (यूफॉविएसी)

*Ricinus communis* Linn. (Euphorbiaceae)

एरण्ड बीज—Castor Seeds

नाम—म०—एरण्ड, हिं०—अरण्ड, एरण्ड, व०—भेरेण्डा, प०—अरण्ड, वम्ब०—  
एरेण्डी, त०—आमणकक्ष-चैडि ।

एरण्ड तेल प्रमुख रूप से एरण्ड (रिसिनस काम्फूनिस) के बीज से प्राप्त किया जाता है, परन्तु कुछ सम्बद्ध जातियाँ जैसे रिसिनस विरिडिस (*R. viridis*) इत्यादि के भी बीज लाभदायक होते हैं। यद्यपि स्पष्टतः यह अफ्रिका का देशीय भेषज है, फिर भी रिसिनस काम्फूनिस भारतवर्ष में इतना अधिक उपजाता है कि इस विषय पर लोगों को सन्देह हो जाता है कि भारतवर्ष ही इसकी वास्तविक जन्मभूमि तो नहीं है। इसकी कृपि भारतवर्ष में अनेक शताविदियों से की जा रही है। इसका पीढ़ा दो प्रकार का मिलता है (१) एक बहुवर्षी झाड़ीदार क्षुप अथवा छोटा वृक्ष है जो साधारणतः वृत्ति-क्षुप (hedge) के रूप में उगाया जाता है। इसका फल और बीज बड़ा होता है एवं बीज लाल रंग का होता है जिसमें तेल की उपलब्धि ४०% से भी अधिक होती है। तेल का प्रयोग दीपक में जलाने एवं उपस्तेहन (lubrication) के

लिए होता है। (२) दूसरे प्रकार का पौधा कुछ ज्यादा छोटा और वार्षिक होता है जो एक विशेष फसल के रूप में पैदा किया जाता है। इसके बीज श्वेत होते हैं जिन पर भूरे-भूरे दाग बने रहते हैं। इसमें ३७% तेल की उपलब्धि होती है। यह प्रमुख रूप से भैंडेजिक कार्यों में प्रयुक्त होता है। इसकी कृपि सम्पूर्ण भारतवर्ष में होती है, विशेषकर मद्रास, वर्माई तथा बगाल में। अण्ड बीजों को प्रचुर मात्रा में निर्यात किया जाता है।

### कृषि :

यज्ञ नारायण अग्न्यर के अनुसार जब एरण्ड की कृपि विगुद्ध फसल के रूप में की जाती है, तब अच्छे क्षेत्रों से प्रतिएकड़ १०० पौण्ड तक बीज प्राप्त होता है, वैसे औसतन ४०० से ५०० पौण्ड तक बीज प्रति एकड़ प्राप्त होता है। वहुत ही खराक फसल होने पर भी प्रति एकड़ २०० से ३०० पौण्ड तक बीज की उपज होती है। बीजों के आयतन और भार में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है जो उनके किस्म पर निर्भर करती है।

एरण्ड के बीज में छिलका या शल्क का अश २० प्रतिशत होता है और ८० प्रतिशत अश गिरी का होता है जिसमें तेल रहता है। छिलका-युक्त बीजों में तेल का अश ४० से ५३ प्रतिशत तक होता है, जब कि गिरी में तेल का अश ५८ से ६६ प्रतिशत तक होता है। छोटे बीजधारी पौधों के बीजों में बड़े बीज वाले पौधों के बीजों की अपेक्षा तेल की मात्रा अधिक होती है। एक ही वैराइटी के बीजों में तेल के उपलब्धि की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है जो बीजों के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से सग्रह किये जाने के कारण होता है। अति परिपक्व बीजों और उससे पूर्व सग्रह किये गये बीजों के तेल में ९५ प्रतिशत तक का अतर हो सकता है। वास्तव में बीजों की परिपक्वता के कारण तेल की उपलब्धि की मात्रा में जितना अतर पैदा हो जाता है उतना इसकी उपजातीय (varietal) विशेषताओं जैसे तने का रंग, समुटो की चिकनाहट अथवा इसके कटीले पन के कारण नहीं होता है।

बीजों से वाणिज्य के लिए तेल निकालने की दो विधियाँ हैं—

(१) शीत प्रक्रिया जब यह बिना गर्मी के ही निकाल लिया जाता है तब यह रंग विहीन होता है अथवा मद पीत। उस समय इसमें कोई सुगंधि नहीं होती, इसका स्वाद स्तिंगद्ध और कुछ तीक्ष्ण होता है।

(२) गर्म प्रक्रिया भारत वर्ष में यह प्रक्रिया बीज को पानी में उबाल कर की जाती है और तेल ऊपर से निथार लिया जाता है। गर्म प्रक्रिया साधारणतः इस देश

में प्रयुक्त की जाती है। जिस भिल से तेल निकाला जाता है उसके नीचे मद अग्नि जला दी जाती है जिससे तेल द्रव रूप में परिवर्तित हो जाता है और तेल की उपलब्धि की मात्रा अधिक हो जाती है। इसे धूप में खुला रख कर रंग हीन किया जाता है, तत्पश्चात पानी में उबाल कर इसे स्वच्छ किया जाता है। उबालने से प्रोटीन स्कदित (coagulated) हो जाते हैं और म्यूसिलेजी पदार्थ पानी में घुल जाते हैं।

बाजार में अनेक प्रकार के एरण्ड के तेल पाये जाते हैं। औषधीय उपयोग में लाने के लिए बीजों को हाथ से साफ किया जाता है और उनका छिलका भी उतारा जाता है, गिरी को धूप में सुखाया जाता है, फिर उसे दलने वाले यन्त्र में डाल कर दला जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इस समय अधिकाश तेल द्रवचालित दावक (hydraulic press) द्वारा कलकत्ता, बम्बई और दक्षिणी भारत में प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया से यह लाभ है कि यह अपेक्षाकृत कम जटिल होती है और साथ ही स्वाद की तीक्ष्णता और उत्क्लेशकता (nauseousness) जो इस तेल में साधारणतः पायी जाती है, भी नहीं रह जाती। प्राप्त तेल का केवल अर्ढांश ही प्रथम निपीड़न में निस्सारित किया जाता है। पुनः इसका निपीड़न द्वारा तेल निकाला जाता है जिसमें १६ प्रतिशत और तेल निकल आता है जिसका उपयोग उपस्नेहन के कार्य में किया जाता है।

**एरण्ड तेल का रसायन** इस तेल में मुख्यतः रिसिनोलियेट (ricinoleate) अथवा द्राइरिसिनोलेइन जिसके साथ पामिटिन और स्टीयरिन भी कुछ मात्रा में विद्यमान रहते हैं, पाये जाते हैं। तेल परिशुद्ध ऐल्कोहॉल और ग्लैशियल ऐसीटिक अम्ल में सभी अनुपातों में घुल जाता है। यह विशिष्ट गुण अधिकाश स्थिर तेलों में नहीं पाया जाता है। इस तेल का रेचक प्रभाव रिसीनोलाइक अम्ल, (OH)<sub>n</sub>COOH (जो एक हाइड्राक्सी अम्ल है) के ग्लिसराइडों के ऊपर मुख्यतः निर्भर करता है। एरण्ड तेल का आमयिक प्रयोग किये जाने पर इसका सावुनीकरण हो जाता है और वसीय अम्ल मुक्त हो जाते हैं जिनके कारण रेचक प्रभाव पड़ता है। गिरी में तेल के अतिरिक्त एक और विषाक्त पदार्थ भी पाया जाता है। यह विषाक्त सघटक एलब्यूमिनोयड (albuminoid) की प्रकृति का होता है और उसे रिसिन (ricin) कहते हैं। शरीर में यह प्रतिजीवविष (anti-toxin) पैदा करता है जो एण्टी-रिसिन कहलाता है, यह ऊर्मा द्वारा नष्ट हो जाता है। रिसिन, नमक के विलयन द्वारा निस्सारित किया जाता है, मैग्नीशियम या अन्य विद्युत अपघट्य द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और अपोहन (dialysis) द्वारा शुद्ध किया जाता है। यह बड़ा ही शक्ति-

शाली विष है और रक्त-स्कन्दन पर एक निश्चित प्रभाव डालता है। इसमें रेचक प्रभाव नहीं होता है परन्तु अधस्त्वक इनजेक्शन के द्वारा दिया जाने पर भी आमाशयात्र में रक्त-स्रावी-शोथ उत्पन्न कर देता है। तेल में यह सूक्ष्म मात्रा में विद्यमान रहता है। बीज में लाइपेज भी पाये जाते हैं जो उपयुक्त दशाओं में ग्लिसराइडों का जल-अपघटन करते हैं एवं कभी-कभी वाणिज्य में वसा और तेल से ग्लिसरिन निकालने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। एक क्रिस्टलोय ऐल्केलॉयड  $C_8H_8O_2N_2$ , जिसे रिसिनीन कहते हैं, इससे निकाला गया है और अब इसे सञ्जोषित भी किया गया है। यह अति विपालु नहीं होता है।

यज्ञ नारायण अथर के अनुसार एरण्ड के तेल में निम्नलिखित भौतिक और रसायनिक नियताक होते हैं।

आपेक्षिक घनत्व  $14.5^\circ$  से० पर  $0.959$  से  $0.969$  तक, अपवर्त्तनाक  $40^\circ$  से० पर  $1.4679$  से  $1.4723$  तक, श्यानता (viscosity)  $100^\circ$  फा० पर  $1160$  से  $1190$  तक, सावुनीकारण सख्ता  $175$  से  $175$  तक, आयोडिन सख्ता  $82$  से  $90$  तक, राइकर्ट-मिसेल सख्ता (Reichert-Miessel number)  $10$  से  $20$  तक। तेल में विकृतग्धिता (rancidity) नहीं पैदा होती है, परन्तु यदि छिलकारहित गिरी को अधिक समय तक यो ही रहने दिया जाय तो बीजों में लाइपेज क्रियाशील हो जाता है और वसा-अम्ल मुक्त हो जाते हैं। यदि ये बीज शीत प्रक्रिया द्वारा तेल निकालने में प्रयुक्त किये जायें तो वसा-अम्ल तेल में चला जायगा, उससे विकृतग्धिता उत्पन्न हो जायेगी। यदि तेल निकाले जाने वाले बीज सूखे न हों और उनमें पर्याप्त आर्द्धता विद्यमान हों तो इससे भी शीघ्र ही विकृतग्धिता उत्पन्न हो जायेगी।

### आर्थिक पक्ष

यद्यपि एरण्ड का कृषि-क्षेत्र सब से अधिक भारतवर्ष में ही है फिर भी एरण्ड के बीज परिवर्तनी द्वीप समूह के कई द्वीपों में एवं उत्तरी अमेरिका, अल्जियर्स और इटली में तेल निकालने के लिए प्रतिवर्ष पर्याप्त परिमाण में एकत्रित किये जाते हैं। प्राचीन मिश्र में एरण्ड का पौधा एक तेल-प्रदायक पादप समझा जाता था। और इस बात के स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध हैं कि लोग भारतवर्ष में इस तेल को बहुत प्राचीन समय से जानते रहे हैं। एरण्ड बीज एवं एरण्ड तेल दोनों को वाणिज्य की महत्त्व पूर्ण वस्तुओं में मान्यता दी गयी है। औषधि के रूप में सम्पूर्ण विश्व में इसका प्रयोग पर्याप्त परिमाण में किया जाता है। इस तेल का उपयोग चिकित्सोपयोगी परिमाण से कही अधिक भावा में सावुन, चमड़ा और तेल के निर्माण करने तथा परिमाण से कही अधिक भावा में सावुन, चमड़ा और तेल के निर्माण करने तथा

एवाई जहाजों के इंजिन में उपलब्ध हन के लिए और अन्य औद्योगिक कार्यों में  
क्रिया जाना है।

## उत्पादन एवं व्यापार .

सन् १९३७-३८ ई० मे भारत के सभी राज्यों को गिलाकर एरण्ड के उत्पादन का क्षेत्रफल १३ अरब एकड़ था। इन क्षेत्रफल का नवसे वडा भाग हैदरगढ़ाद में है जहाँ लगभग ७,३५,००० एकड़ मे खाली खेती की जाती है। मद्रास, बम्बई और मैसूर में यह क्षेत्र अमरा २,५०,०००, ४२,००० और ६६,००० एकड़ था। भारतवर्ष एरण्ड तेल एवं एरण्ड बीज री पूर्ति के क्षेत्र में सर्वान में रावसे आगे है। सन् १९३६-३७-३८ ई० मे एरण्ड बीज एवं एरण्ड तेल का निर्यात निम्न लिखित वा एरण्ड बीज ४०,४३७ टन जिसका मूल्य लगभग ३२ लाख रुपया तथा एरण्ड तेल १२,५३,७५० ग्रैन्ट जिसका मूल्य २३ लाख रुपया था। उनके अतिरिक्त अरण्ड की खली का भी निर्यात नगमग ३,००० टन प्रतिवर्ष किया जाता है। इतनी अधिक मात्रा में इसका उत्पादन होते हुए भी यह एक निर्गणाजनक तथा कि भारतवर्ष में चिकित्सोपयोगी उत्कृष्ट तेल का उत्पादन इतना भी नहीं किया जाता, जिसमे देण की अपनी ही आवश्यकनाओं की पूर्ति हो सके। वेवल जपरिष्टत तेल का ही उत्पादन किया जाता है जिसका प्रधान मुख्यत अंग्रेजिक कार्मों मे ही होता है। चिकित्सोपयोगी सर्वाच्चकोटि का तेल उत्तियन या फोन्च होता है जो शीत निर्पीड़न द्वारा तैयार किया जाता है। उत्तम कीट का तेल प्राप्त निर्पोड मे ही निकलता है और इसकी मात्रा ३३ प्रतिशत होती है जब कि अतिम निर्पीड़न मे ४० मे ४५ प्रतिशत तक तेन उपलब्ध होता है। इटीलियन और फ्रेन्च तेल अरण्ड के बीजों से (उन्हें शल्करहित करके) निकाला जाता है और इस्लिए भवाद मे भारतीय तेल की तुलना में अधिक मृदु होता है। भारतवर्ष मे चिकित्सोपयोगी उत्कृष्ट तेल का उत्पादन विना किसी विशेष कठिनाई के पर्याप्त परिमाण मे किया जा सकता है और ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार के तेल के उत्पादन से जारीक नाम अधिक होगा और साथ ही भारतवर्ष, नेपजकाश की एक सबसे महत्वपूर्ण और सबसे मस्ती रेचक पदार्थ की अपनी आवश्यकता की पूर्ति ग समर्थ हो सकेगा। तेल के शोधन मे भी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। येर्ता की उच्च रा शक्ति बढ़ाने के लिए एरण्ड की खली उत्तम मानी जाती है, परन्तु इसकी विपाक्तता के कारण यह पशुओं को खिलाने के योग्य नहीं है। शल्करहित और सशल्क बीजों की खली की सरचना मे अतर होता है। शल्करहित बीजों की खली में नाइट्रोजन की मात्रा ६ से ७ प्रतिशत और

फासफोरस पेण्टाओक्साइड ( $P_2O_5$ ) की मात्रा लगभग २ २५ प्रतिशत होती है, जब कि छिलकेसहित बीजों की खली मे नाइट्रोजन ४ प्रतिशत और फासफोरस | पेण्टाओक्साइड ( $P_2O_5$ ) लगभग १ ८ प्रतिशत होता है।

### सन्दर्भ :—

(1) Andes, L E , 1917, *Vegetable Fats and Oils*, (2) Trease, G E , 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 321 , (3) Yegna Narayan Aver, 1950 *Field Crops of India*, 675

### रोज़ा डैमेस्सना (रोजेसी)

*Rosa damascena* Mill (Rosaceae)

गुलाब—The Rose

नाम ——हि०—गुलाब का फूल, ब०—गोलाप फूल, वभ०—गुल, त०—गुलपु।

गुलाब जल एवं गुलाब के तेल (इत्र) या औटो का चिकित्सीय प्रयोग बहुत ही सीमित है। गुलाब का जल लोशन एवं आँख की औषधि के लिए प्रयोग किया जाता है और तेल का प्रयोग अरुचिकर योगों को स्वादिष्ट बनाने मे किया जाता है। देशीय औषधि मे गुलाब की पखुडियों का प्रयोग एक मृदु विरेचक योग के तैयार करने मे किया जाता है जिसे 'गुलकद' कहते हैं। गुलाब का प्रयोग परिमल के रूप मे अधिक किया जाता है और अपनी मृदु सुगन्ध के कारण बहुत से देशो मे इसे मूल्यवान समझा जाता है। गुलाब उद्योग का प्रमुख केन्द्र बुलारिया है जहाँ वात्कन पर्वत की दक्षिणी ढाल पर और धाटियों मे इसका बहुत विस्तृत रोपणी पायी जाती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसका उत्पादन क्षेत्र ८० मील लम्बा तथा ३० मील चौड़ा है और उत्पादन बहुत ही अधिक होता है। औसतन ८०,००,००० से ९०,००,००० किलो तक फूल प्रतिवर्ष प्राप्त किये जाते हैं जिनसे २०५० से ३००० किलो तक सुगंध तेल निकलता है। निम्नलिखित विवरण मे बुलारिया से गुलाब के निर्यात का पता चलता है, इससे स्पष्ट हो जायगा कि इस उद्योग का कितना महत्व है और विभिन्न देशो मे इसकी कितनी मांग है। फ्रान्स, १४५५ किलो, सयुक्त राज्य अमेरिका ९७५ किलो, जर्मनी ३११ किलो, इगलैण्ड ११० किलो, द्वासरे देश १७२ किलो, कुल योग ३१० ३ किलो। इसके अतिरिक्त गुलाब के फूल से एक बहुत बड़ी मात्रा मे सत्त्व निकाला जाता है जो आधुनिक भेषजी (फार्मेसी) मे उत्तरोत्तर अधिक महत्व प्राप्त

कर रहा है। गुलाब का तेल रोज़ा डमेस्सिना (*Rosa damascena*), रोज़ा गैलिका (*R. gallica*), रोज़ा बाल्वा (*R. alba*) और रोज़ा सेण्टीफोलिया (*R. centifolia*) के ताजे फूलों को आसुत करके प्राप्त किया जाता है। यूरोप के अन्य स्थानों जैसे फ्रान्स, इटली, ग्रीस एवं जर्मनी में भी गुलाब की कृपि होती है। पूर्व में फारस, शताब्दियों से गुलाब के ओटो (इत्र) के लिए प्रसिद्ध रहा है और ऐसा भी अनुभान किया जाता है कि गुलाब के आसवन की विधि का आरम्भ सर्वप्रथम इसी देश में हुआ। उस देश में उत्पन्न अधिकांश गुलाब का उपयोग वही की आवश्यकताओं की पूर्ति में होता है, परन्तु कभी-कभी गुलाब की शुष्क पखुड़ियों का निर्यात भारतवर्ष को गुलाबजल बनाने हेतु किया जाता है। यूरोप में गुलाब का तेल तावे के देशी भभकों में किसानों द्वारा या बड़े-बड़े कारखानों में वैज्ञानिक नियश्रण में तैयार किया जाता है। लगभग फूलों के ३००० भाग से तेल का एक भाग प्राप्त होता है। तेल बहुत ही महगा होता है तथा इसमें अपमिश्रण की बहुत आशका रहती है। किसानों द्वारा आसवित तेल का मूल्य बड़े बड़े कारखानों में तैयार किये गये तेलों के मूल्य की अपेक्षा कम होता है। तेल का निर्यात कुलोरियाई रग्नो में रगी नमत पट्टिकाओं (फैन्ट रिवन) से ढके धातु के सुन्दर वर्तनों में किया जाता है जिनके ऊपर सीमा-शुल्क (customs) की मुहर लगी रहती है। तेल अत्यन्त गाढ़ा (अर्द्धठोस) और हल्के पीले रग का होता है। तेल का वह भाग जो साधारण ताप पर ठोस होता है, गघहीन स्टियरोप्टीन (stearoptene) है जो १५ से २० प्रतिशत तक रहता है। द्रव अश ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल में घुलनशील होता है और यह विलयन बहुत स्वच्छ होता है, इसमें सेस्कवीटर्पीन ऐल्कोहॉल जो जिरैनिकोल और सिण्ट्रोनेलॉल है, पाये जाते हैं तथा एस्टर और अन्य गघयुक्त तत्वों की थोड़ी मात्रा भी पायी जाती है। यद्यपि इस तेल में ऐल्कोहॉल का अश लगभग ७० से ७५ प्रतिशत तक होना है फिर भी इसमें पाये जाने वाले अन्य सघटकों के प्रभाव से इसकी गघ ऐसी परिवर्तित होती है कि ज्ञात सघटकों का नकली मिश्रण, प्राकृतिक तेल जैसी गघ नहीं प्रदान कर सकता।

किसी समय भारतवर्ष में गुलाब की खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती थी। ऐसा कहा जाता है कि गाजीपुर में लगभग २५० बर्बों से गुलाब की खेती होती आ रही है और आज भी गाजीपुर भारतवर्ष में गुलाब के उत्पादन का सबसे बड़ा केन्द्र है। पजाव में लाहौर और अमृतसर में, उत्तरप्रदेश के कानपुर, अलीगढ़ और हाथरस जिलों में तथा विहार और उड़ीसा में पटना के निकट कुछ क्षेत्रों में इसकी खेती होती है। सम्प्रति इससे मुख्यतया गुलाबजल

तैयार किया जाता है, असली सगध-तेल बहुत कम निकलता है। भारतवर्ष में यह स्थिरोग वडी गिरी दशा में पहुँच गया है। इस देश में गुलाब जल और इत्र का जितना उत्पादन होता है उससे यहाँ की ही आवश्यकताएँ नहीं पूरी हो पाती, इसलिए इन वस्तुओं को बहुत वडी मात्रा में विदेशी से मेंगाया जाता है। भारतवर्ष में गुलाब उद्योग के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। १०० से १५०० फुट तक की ऊँचाई पर गुलाब की खेती अच्छी होती है, परन्तु यह २५०० से ३००० फुट की ऊँचाई पर भी उगाया जाता है। बुलारिया में गुलाब के उत्पादन की सफलता जिन तथ्यों पर निर्भर है, वे भारतवर्ष में कई स्थानों पर सरलता पूर्वक उपलब्ध हो सकते हैं, जैसे चर्षा की अधिकता, उवंर बलुई मिट्टी, जहाँ जलोत्सरण भली-भाँति होता हो, ढालू जमीन, और तेज हवाओं से गुलाब की झाड़ियों की रक्षा। बुलारिया में पैदा होने वाली गुलाब की जाति अर्थात् रोज़ा डेमेस्सना (लाल गुलाब) भारतवर्ष में भी स्थगायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जगली पहाड़ी गुलाब बहुत वडी मात्रा में उत्तरी पूर्वी हिमालय और कश्मीर में उपजते हैं, इनका सम्प्रति कोई उपयोग भी नहीं हो पाता है। इनका उपयोग भी उसी प्रणाली को अपना कर किया जा सकता है जो अन्य देशों में जहाँ जगली गुलाबों से डब्रा निकाला जाता है, प्रयुक्त हुई है और इससे काफी लाभ भी हो सकता है। साथ ही साथ भारतीय गुलाब के फूलों की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिये, क्योंकि इसमें सगध-तेल का अश वलोरिन और फैन्च गुलाब की अपेक्षा कम होता है। ऐसा जात हुआ है कि जाजे फूलों का उपयोग करके और अपव्ययी आसवन की पुरानी पद्धति को छोड़ कर सगध-तेल की उपलब्धि में ० ००४ से ० ०२५ प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है। यदि सगध-तेल की औसत उपलब्धि ० ०२५ और गुलाब के फूल का प्रति एकड़ औसत उत्पादन १५०० टन हो तो भारतीय गुलाब सहज ही बुलारिया के गुलाब की समता कर सकेगा।

सगध-तेल पर अपनी अन्वेषण-विज्ञप्ति में नारियलबाला तथा रक्षित ने निम्न-लिखित विचार प्रगट किये हैं —

“आज भी जो कुछ थोड़ी सी मात्रा में भारतवर्ष में गुलाब का तेल तैयार किया जाता है वह प्राय इतना ही अच्छा है जितना बुलारिया के गुलाब का तेल और भारतवर्ष के लिए यह अत्यधिक महत्त्व की वात है कि महाँ गुलाब के तेल का उत्पादन आज जिस स्तर पर किया जाता है इसमें अधिक अभिवृद्धि की जाय। जाजीपुर जो किसी समय सम्पूर्ण विश्व में भारतीय गुलाब के तेल के लिए विख्यात

था, बाज वहाँ बहुत कम गुलाब के तेल का उत्पादन होता है। इसका कारण गुलाब की जाति में निम्नता और जमीन की उर्वराशक्ति का कम हो जाना है। अब उत्तम तेल के उत्पादन का केन्द्र उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ जिले में वारवाना नामक स्थान हो गया है। गुलाब के उत्पादन का समय वारवाना में केवल ४. सप्ताह तक रहता है। ऐसा जात हुआ है कि इस अवधि में प्रतिदिन लगभग २०० मन गुलाब की पतुड़ियों का आसवन होता है और जब मौसम पूरे जोर पर रहता है, जो केवल एक सप्ताह तक ही रहता है, तब गुलाब की कलियों की आमदनी १००० मन तक पहुँच जाती है। अधिकांश गुलाब इत्र बनाने में प्रयुक्त होता है और प्रतिवर्ष केवल ५ से ६ पौण्ड तक ही शुद्ध इत्र तैयार हो पाता है। वारवाना में आसवन का कार्य कल्नौज के बानवको द्वारा पुरानी पद्धति के अनुसार किया जाता है और प्राप्त सूचनाओं से जात हुआ कि लगभग १३००० पौण्ड गुलाब की पतुड़ियों से केवल १ पौण्ड गुलाब का तेल निकलता है (दूसरे शब्दों में इन की उपलब्धि केवल ००००८ प्रतिशत होती है जो गुलाब-जल की उपलब्धि के अतिरिक्त है, क्योंकि गुलाब-जल इस आसवन क्रिया के अन्तर्गत ही प्राप्त होता है)। यदि आसवन की वैज्ञानिक प्रणाली अपनायी जाय तो उत्पादन की मात्रा में पर्याप्त बढ़ि हो सकती है। वर्तमान समय में प्रयुक्त प्रणाली से वारवाना में यदि नम्पूर्ण गुलाब की पतुड़ियों का उपयोग गुलाब के आटो (००१०) बनाने में किया जाय, अतर \* (After) बनाने के लिए नहीं, तो गुलाब के तेल का उत्पादन प्रतिवर्ष ५० पौण्ड तक ही जायगा। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से गुलाब के तेल के उत्पादन का क्रमबद्ध अध्ययन उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विभाग द्वारा किया गया है और उससे यह ज्ञात हुआ है कि आसवन के सुधरे हुए उपकरणों द्वारा तेल की उपलब्धि ००१५ प्रतिशत तक ही सकती है, अर्थात् हम वारवाना में गुलाब की सम्पूर्ण फसल से जितना तेल पुरानी पद्धति से प्राप्त करते हैं उससे दुगना और तेल इस नयी मुधरी हुई प्रक्रिया द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। हमारे विचार से गुलाब की अधिक विस्तृत सेती और गुलाब के इत्र का अधिक उत्पादन भारतवर्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। ऐसा विदित हुआ है कि दक्षिणी भारत में लगभग १२५ एकड़ भूमि पर गुलाब की गेती की गयी है परन्तु फूलों के आसवन के लिए अभी तक कोई प्रयास नहीं किया गया है। तेल के आसवन के लिए केवल रोजा

\* (गुलाब का अतर (इत्र) गुलाब के संगन्ध तेल को चन्दन के तेल या पैराफिन के तेल से विभिन्न अनुपातों में मिलाकर बनाया जाता है, जब कि आटो विशुद्ध गुलाब का संगन्ध तेल होता है। अनु०)

डैमेस्सिना ही उपयुक्त जाति समझी जाती है, परन्तु भारतवर्ष में पैदा होने वाली विभिन्न गुलाब की जातियों एवं उपजातियों के क्रमबद्ध अध्ययन से यह हो सकता है कि उनमें से और भी कोन सी उपजातियाँ आसवन के लिए उत्तमी ही उपयुक्त हो सकती हैं। भारतवर्ष में गुलाब की कृषि के विस्तार एवं उन्नति के लिए हम इससे अधिक क्या जोर दे सकते हैं, जब कि हम देखते हैं कि बाल्कन से आने वाले गुलाब के तेल का मूल्य प्रति पीण्ड ६०० रुपये से १००० रुपये तक है, इसी तथ्य से भारतीय अर्थव्यवस्था में गुलाब के तेल के महत्व को अंका सकता है।

इग्लैण्ड और यूरोप में गुलाब के तेल के अपरिक्त गुलाब के फल का भी प्रयोग किया जाता है क्यों कि इनमें विटामिन सी की मात्रा अधिक रहती है। इसे रोज़ हिप्स (Rose hips) कहते हैं जो गुलाब की विभिन्न जातियों, जैसे सामान्य डॉग गुलाब (*R. canina*) और रोमिल पर्णवाले रोज़ा मोर्लिस (*R. mollis*) के अपरिक्त फल होते हैं। इनको उस समय सग्रह करते हैं जब इनका रग बदलने लगता है और पूर्णरूप से लाल होने के पहले ही उन्हें एकद कर लेते हैं। सग्रह के पश्चात् यथा शीघ्र मैथजिक्योग (Galenicals) तैयार करने में उनका उपयोग किया जाता है जिससे विटामिन नष्ट नहीं होने पावे। इन अपरिक्त फलों (रोज़ हिप्स) का उपयोग निटेन मे, इनमें विटामिन सी मात्रा अधिक होने के कारण बहुत अधिक होने लगा है। विटामिन सी की इतनी अधिक मात्रा जो गुलाब के इन अपरिक्त फलों में रहती है उसका पता सन् १९३८ ई० में गोल्डबर्ग और बाल्या द्वारा लगाया गया था। वोक्स (Wocks) तथा उनके सहयोगियों के मतानुसार रोज़ हिप्स में विटामिन "पी" और कैरोटिन भी पर्याप्त परिमाम में उपलब्ध होता है। इन अपरिक्त फलों से निर्मित शर्करा में विटामिन स्थिर नहीं रहता, परन्तु शुष्क सत्त्व में स्थिरता चाही रहती है। विटामिन सी अनेक फलों और सब्जियों में विद्यमान रहता है, परन्तु विटामिन पी जो कई फलों में पाया जाता है, सब्जियों में साधारणत अल्प मात्रा में पाया जाता है। रोज़ हिप्स में लगभग ३ प्रतिशत मैलिक और साइट्रिक अम्ल पाये जाते हैं और शकरा का अश लगभग ३० प्रतिशत होता है। रोज़ हिप्स का उपयोग औषधि निर्माण के लिए पाक के रूप में बहुत समय से होता था रहा है परन्तु विटामिन के लिए इसके महत्व को अभी कुछ समय से ही जाना गया है।

### सन्दर्भ :

(1) (Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Dutt, 1928, *The Commercial Drugs of India*, (3) Schimmel & Co, 1928, *Report*, (4)

McIlvile, R., and Pyke, M., 1947, *Proc Linn Soc Lond*, 159, 5, (5)  
 Trease, G E, 152, *Text Book of Pharmacognosy*, 334, (6) Nariciwala,  
 P A and Rakshit, J N, 1949, *Essential Oils Advisory Committee,  
 Report, C S I R Monograph*

### सैण्टेलम ऐल्बम (सेण्टेलेसी)

**Santalum album Linn (Santalaceae)**

चन्दन-काष्ठ (सैन्डलवुड)

नाम—स०—श्वेत चन्दन, हि०—सफेद चन्दन, व०—सादा चन्दन, त०—  
 शन्दनक कट्टूई।

सैण्टेलम ऐल्बम (*Santalum album*) (श्वेत चन्दन) का काष्ठ चीन और भारतवर्ष में अपने विशिष्ट गध के कारण प्राचीन समय में अत्यधिक मूल्यवान समझा जाता था। हिन्दुओं के धार्मिक उत्सवों में इसको विशेष मान्यता दी गयी है। आह्वाण लोग इसका प्रयोग तिलक के रूप में करते रहे हैं तथा पारसी लोग इसका प्रयोग अपने मदिरों में अग्नि में जलाने हेतु करते रहे हैं। चन्दन-काष्ठ बहुत अधिक टिकाऊ माना जाता है क्योंकि दीमक चन्दन-काष्ठ को छूते तक नहीं, जबकि वे अन्य लकड़ियों के लट्ठों को नष्ट कर देते हैं। अत्यन्त प्राचीन चीनी और सस्कृत ग्रन्थों में चन्दन के नाम का उल्लेख किया गया है। मिश्र वाले इसे १७वीं शताब्दी ई० पू० से ही जानते थे। इसका वृक्ष छोटा होता है तथा सदाहरित रहता है। यह सभवत देशीय (भारतीय) पादप है, यद्यपि वनस्पतिज्ञ इसके विषय में एकमत नहीं है कि इसका मूल उत्पत्ति-स्थान कहाँ है (किव-Kew-बुलेटिन न ५) मैसूर राज्य, कुर्ग, कोयम्बूढ़र और मद्रास के दक्षिणी भागों में या तो यह वन्य अवस्था में उगता है या इसकी कृषि की जाती है। भारतवर्ष में वह क्षेत्र जहाँ से अधिकांश चन्दन-काष्ठ प्राप्त किया जाता है, लम्बाई में लंगभग २४० मील तथा चौड़ाई में १६ मील है जो नीलगिरि पहाड़ियों से आरम्भ होकर उत्तर में उत्तरी पश्चिमी मैसूर तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में समुद्र धरातल से लंगभग ४००० फुट तक की ऊँचाई पर इसके पेड़ उगते हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि चन्दन रोपणी का सम्पूर्ण क्षेत्र लंगभग ६००० वर्गमील है जिसका ८५ प्रतिशत भाग मैसूर और कुर्ग में स्थित है।

श्वेत चन्दन का वृक्ष पराश्रयी होता है। अकुरित होने के कुछ मास बाद ही चन्दन के मूल से चूषकाग (haustoria) निकलते हैं जो प्रथम धान और शाक के

मूल में घुसते हैं, फिर छोटी-छोटी झाड़ियों तथा क्षुप में और अन्त में बड़े-बड़े वृक्षों के मूल में प्रवेश कर जाते हैं। चन्दन के नव पादप अन्य वृक्षों के नव पादपों के साथ वाँस की पत्तियों की बनी हुई टोकरियों में लगाया जाता है। ये छोटे-छोटे वृक्ष चन्दन के वृक्ष के लिए पर्योधी होते हैं। इसके बीज या तो क्यारियों में बोये जाते हैं या दोन्तीन बीजों को साथ ही छोटे-छोटे गड्ढों में लाल मिर्च के एक बीज के साथ रखकर बोया जाता है। लाल मिर्च के बीज बहुत शीघ्र ही अकृतिहोते हैं और बढ़कर चदन के नवोद्धिद को छाया और भोजन दोनों प्रदान करते हैं। चदन का वृक्ष बहुत ही कोमल होता है और प्रतिरोपण की क्रिया में आघात पड़ने से इन्हें बहुत क्षति उठानी पड़ती है। स्पाइक (spike) नामक व्याधि से ग्रसित होने की सभावना भी इसे अधिक रहती है जो बहुत ही सक्रामक होती है और जो विस्तृत क्षेत्र में विनाशकात्मी प्रभाव डालती है, विशेषकर वहाँ जहाँ पर वृक्ष बहुत समीप उगे होते हैं। इसलिये चन्दन की कृषि में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। चन्दन के वृक्ष की वृद्धि पर मिट्टी का विशेष प्रभाव पड़ता है। जब यह अपने प्राकृतवास से दूर उगाया जाता है तो इसकी सगन्ध तेल का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। इस तेल का औषधि में बड़ा महत्व है। उर्वर भूमि पर उगनेवाले पौधों की अपेक्षा कड़ी चट्टानी और लोहित भूमि पर उगनेवाले पौधे में तेल का अश अधिक होता है। वस्तुत जो वृक्ष अनुर्वर भूमि में धीरे-धीरे उगाये जाते हैं उनमें अन्त-काण्ठ (heartwood) का भाग सबसे अधिक होता है और तेल भी सर्वाधिक उपलब्ध होता है। मैसूर के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य स्थानों पर भी चन्दन के वृक्षों के उत्पादन और तेल के आसवन के लिये प्रयास किये गये हैं, परन्तु इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। अभिलेखों से ज्ञात हुआ है कि उत्तरप्रदेश में कन्नौज में कुछ समय पूर्व चन्दन-तेल का आसवन किया जाता था, परन्तु इस विषय में और ज्यादा कुछ नहीं सुना गया और यह सम्भव है कि इस क्षेत्र में श्वेत चन्दन के अभाव के कारण यह उच्चोग स्वभावत समाप्त हो गया हो। चन्दन के वृक्ष १८-२० वर्षों की अवस्था में प्रौढ हो जाते हैं तब इसके अंत काण्ठ की मोटाई इतनी अधिक हो जाती है कि बाहरी सतह दो इच्छ से भी कम रह जाती है। तब वह उखाड़ने योग्य माना जाता है। पूर्ण विकसित वृक्ष जिनकी अवस्था २७ और ३० वर्ष के लगभग होती है, समूल उखाड़ दिये जाते प्रथम इसका छाल उत्तार दिया जाता है, तत्पश्चात वाह्य श्वेत रसन्दारु wood ) और शाखाये, गधहीन होने के कारण, अलग कर दिये जाते हैं।

स्वच्छ किये गये अन्तःकाष्ठ आरो से २५ फीट लम्बे टुकड़ों में काट दिये जाते हैं और समाकृत्तन के पश्चात् इन्हें बन्द कोष्ठागार (warehouse) में सूखने के लिये रख दिया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रक्रिया से काष्ठ की सुरभि बढ़ जाती है। भार में अन्त काष्ठ सम्पूर्ण वृक्ष का तिहाई भाग होता है।

### वाणिज्योपयोगी श्वेत चन्दन तेल .

केवल भारतवर्ष ऐसा देश नहीं है जहाँ श्वेत चन्दन पाया जाता हो। पूर्वी जावा द्वीप में श्वेत चन्दन धोड़ी भाँता में प्राप्त होता है। काष्ठ और कभी-कभी श्वेत चन्दन तेल का वाणिज्य भी होता है जो मैकासर (जो सेलीबीस द्वीप में है) होकर आता है, यह 'मैकासर श्वेत चन्दन तेल' के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि यह तेल सैण्टेलम ऐल्बम से ही आसुत किया जाता है, फिर भी यह भारतीय चन्दन तेल जितना सुरभि-दायक नहीं होता। समय २ पर अन्य वृक्षों के काष्ठ भी असली चन्दन के स्थान पर प्रयुक्त किये गये हैं, और इस प्रकार चन्दन के तेल में एक भम पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है, क्योंकि वाणिज्य में ये सभी तेल असली चन्दन तेल के नाम से ही चलते हैं। तथा-कथित 'पश्चिम भारतीय श्वेत चन्दन तेल' असली श्वेत चन्दन तेल नहीं है क्योंकि यह सैण्टेलम ऐल्बम से नहीं उपलब्ध किया जाता है, अपितु यह पश्चिमेनस ऐक्यू-मिनेटस (*Fuscaus acuminatus*—पर्याय-सैण्टेलम प्राइसिएनम *Scutellum priscianum*) से प्राप्त किया जाता है। 'पूर्व अफ्रीकी श्वेत चन्दन तेल' आँसिरिस की एक जाति सम्भवत आँसिरिस टेनुइफोलिया (*Osjris tenuifolia*) से प्राप्त किया जाता है। 'पश्चिम आस्ट्रेलियाई श्वेत चन्दन तेल' यद्यपि पश्चिमेनस स्पिकेटस (*Fissumis spicatus*) से प्राप्त किया जाता है, फिर भी यह भारतीय चन्दन तेल के सदृश ही होता है, इस लिये इधर कुछ वर्षों से वाणिज्य और चिकित्सा क्षेत्र में इसने पूर्वी भारतीय श्वेत चन्दन तेल के लिये न्यर्धक हीने के नाते एक गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।

### रसायन .

श्वेत चन्दन का सुगंध तेल वृक्ष के अत — काष्ठ के छोटे-छोटे टुकड़ों और बुरादे से प्राप्त किया जाता है। इसके मूल का भी उपयोग होता है और ऐसा समझा जाता है कि इससे अपेक्षाकृत अधिक और अच्छे तेल की उपलब्धि होती है। तेल की उपलब्धि २ ५ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक होती है। काष्ठ के घनिष्ठ-व्यन (closed grained) हीने के कारण और तेल की मन्द वाष्पशीलता के कारण आसवन की क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है और इसी से व्यवसाध्य होती है। तेल अत्यन्त श्यान (गाढ़ा) और पीताम्बर रंग का होता है और इसकी विशिष्ट गुलाबी और अत-प्रवेशी

गध होती है। इसका स्वाद कुछ तिक्क और उम्र होता है। यह २० सें. पर ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल में अपने आयतन के ३ से ६ गुने भाग में विलेय होता है। इसमें निम्न लिखित नियताङ्क और विशिष्टताएँ पाई जाती हैं —

आपेक्षिक घनत्व, ०.९७३ से ०.९८५ तक, प्रकाशीय घूणन—१४° से—२१°, अपवर्तनाक १.५०४० से १.५१०० तक, अम्लमान, ०.५ से ६ तक, एस्टर-मान ३ से १७ तक, सेस्किवटर्पीन ऐल्कोहॉल (अधिकतर सैन्टेलॉल) ९० से ९६ प्रतिशत तक।

तेल में प्रमुख रूप से कई ऐल्कोहॉल और उनसे सम्बन्धित ऐल्डिहाइड विद्यमान रहते हैं। तेल के प्रमुख सघटक सैन्टेलॉल में या तो एक पदार्थ या समावयवियों का मिश्रण विद्यमान रहता है। तेल में सैन्टेलॉल का अश ९० प्रतिशत या उससे भी अधिक रहता है। यह दो समावयवियों का मिश्रण है जिन्हें अल्फा-सैन्टेलॉल और बीटा-सैन्टेलॉल कहा जाता है। शेष अश के घटक ऐल्डिहाइड और कीटोन जैसे आइसोबैलेरिक ऐल्डिहाइड, सैन्टिनोन, (santenone), सैन्टेलोन (santalone) इत्यादि होते हैं।

**अपमिश्रक** —वाणिज्योपयोगी तेल में लगभग १० प्रतिशत देवदार का तेल प्राय मिलाया रहता है। भारतवर्ष में एरण्ड तेल का भी प्रयोग अपमिश्रक के रूप में होता है। अपमिश्रण के कारण तेल के भौतिक स्वरूप में परिवर्तन हो जाने से दोनों अपमिश्रकों का पता सरलता पूर्वक लगाया जा सकता है। देवदार के अपमिश्रण से ऐल्कोहॉल में चन्दन तेल की विलेयता कम हो जाती है और एरण्ड तेल के अपमिश्रण से एस्टर-मान (ester value) में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। ग्लसरिल ऐसिटेट, वेन्जिल ऐल्कोहॉल, टेपिनिओल इत्यादि कुछ अन्य अपमिश्रक भी प्रयोग में लाये जाते हैं।

**चिकित्सीय उपयोग** —चन्दन के काष्ठ और इससे आसुत तेल दोनों का उपयोग अनेक शताव्दियों से भारतीय चिकित्सा में किया गया है। चन्दन काष्ठ का उल्लेख भारतीय निधटुओं में किया गया है, यह तिक्क, शीतल, स्तम्भक माना जाता है एवं पौत्रिकता, ज्वर एवं प्यास में लाभदायक माना जाता है। इवेत चन्दन को पानी के साथ घिसकर और लेप बनाकर विसर्प (erysipelas), प्रूरिगो (prurigo) और स्वेदराजिका (syndromia) में त्वचा पर शोतलता लाने के लिये लगाया जाता है। पिसे चन्दन और जल के लेप का प्रयोग साधरणतया स्थानिक शोथ में किया जाता है और ज्वर एवं आधासीसी में कनपटी (temples) पर इसका प्रलेप किया जाता है। त्वचा पर इसका लेप खुजली एवं शोथ को शमन करने के लिये होता है। इसका

प्रयोग स्वेद-जनक एव वाजीकर रूप मे भी किया गया है। भलासगो के डा० हेन्डरसन ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने धूरोपोथ चिकित्सको का ध्यान सुजाक मे चन्दन के प्रयोग करने की ओर आकर्षित किया। और उन्ही के समय से इसका आन्तरिक प्रयोग होने लगा है जहाँ पर कोपेवा और कवावचीनी असफल सिद्ध हुए हैं। यह कोपेवा की अपेक्षा अधिक पसद किया जाता है, क्योंकि चन्दन तेल मूत्र मे किसी प्रकार की दुर्गंधि नहीं पैदा करता और न ही इससे कोई कुप्रभाव शोध पड़ता है।

### आर्थिक सभावनाये .—

मैसूर और मुर्गे मे श्वेत चन्दन के वृक्ष राज्य की सम्पत्ति भाने जाते हैं जब कि कोयम्बटूर और मद्रास के सालेम जिले मे श्वेत चन्दन का जगल बन विभाग के द्वारा परिवर्तित होता है तथा उसी के द्वारा इसका प्रबंध भी होता है, यद्यपि पूर्णाधिकार उसका नहीं है। ग्रिटिश तरकार द्वारा टीपू सुल्तान के हराये जाने के पूर्व मैसूर के शासको का श्वेत चन्दन के वृक्षों पर अपना अधिकार था और विना किसी समुचित अधिकारी की आज्ञा के किसी को भी इनका विदोहन (exploitation) नहीं करने दिया जाता था, इसके उपयोग के लिये बहुत कडे नियम बना रखे थे। वस्तुत चन्दन का वृक्ष जहाँ भी पाया जाता था, चाहे उगाया गया हो या चाहे स्वयं जात हो, वह शासक की सम्पत्ति समझी जाती थी, न कि उस भूमि पर अधिकार रखने वाले भूमि-धर की। इन नियमणों के प्रयोग मे जाये जाने का मूल्याकान तब किया जा सकता है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि बहुत बर्बाद तक चन्दन-काठ का निर्यात प्रभुर परिमाण मे होता रहा। १८२५ ई० मे भारतवर्ष के सामुद्रिक व्यापार के विवरण (coastal trade returns) और विदेशी व्यापारिक आकटो (statistics of foreign trade) मे चन्दन-काठ के निर्यात का उल्लेख किया गया है। १८८५-९० ई० के आयात आकड़ो को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इससे कितना राजस्व प्राप्त होता रहा होगा। इन पांच बर्बादों मे अौसतन ६ लाख रुपये के मूल्य का चन्दन-काठ भारत से दूसरे देशों द्वारा खरीदा गया था। मैसूर इस व्यापार का प्रभुज केन्द्र था और ऐसा कहा जाता था कि श्वेत चन्दन के विक्रय से प्राप्त होनेवाला राजरव मैसूर के सम्पूर्ण बन-राजस्व का एक मुख्य अश होता था। जब हम वर्तमान समय से कुछ पहले की ओर ध्यान देते हैं तो हम यह देखते हैं कि प्रथम महायुद्ध के पूर्व श्वेत चन्दन-काठ का वार्षिक उत्पादन लगभग २,५०० से ३,००० टन तक था जिसमे से ५०० से ६०० टन की खपत तो देश मे ही हो जाती थी और शेष निर्यात किया जाता था। यह क्रम १९१६ के मई तक चलता

रहा जब कि बगलोर मे श्वेत चन्दन का कारखाना खोला गया। बगलोर का कारखाना भारतीय दृष्टिकोण से निश्चित ही एक सफल प्रयास सिद्ध हुआ है। आरम्भ मे तेल का उत्पादन शीघ्र ही प्रतिमास २,००० पौण्ड हो गया और १९२१ ई० मे ५५,६४१ पौण्ड तेल का निर्यात निम्नलिखित देशों मे किया गया —

ग्रेट विटेन, २६,१३१ पौण्ड, जापान, १२,२३६ पौण्ड, फ्रान्स, ७,८१८ पौण्ड, स्ट्रेट्स सेटेलमेण्ट्स १,९८६ पौण्ड, हाँगकांग, १,९७४ पौण्ड, अंगल मिश्र सूडान, १,५५५ पौण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका १,००० पौण्ड, अन्य देश, ७०१ पौण्ड, कुल ५४,३०१ पौण्ड।

१९२२ ई० और १९२३ ई० के निर्यात आकडे क्रमशः १,२१,६०२ पौण्ड और १,४९,४६४ पौण्ड थे। बंगलोर मे कारखाना खुल जाने से भारत मे श्वेत चन्दन तेल के व्यापार मे एक प्रगति आ गयी है। यह ध्यान मे रख कर कि एक टन चन्दन काष्ठ से औसतन लगभग १०५ से ११० पौण्ड तक तेल निकलता है विदेशी ग्राहक तेल का आयात करने लगे हैं, क्योंकि इससे उन्हें अधिक लाभ होता है और चन्दन काष्ठ के भाडे मे अधिक व्यय करने से बच जाते हैं। यूरोपीय भाग मे वृद्धि होने से उसकी पूर्ति के लिये मैसूर सरकार ने मैसूर मे एक और कारखाना खोल दी है जिसकी उत्पादनक्षमता प्रति भास २०,००० पौण्ड है। मैसूर से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण श्वेत चन्दन-काष्ठ का आसवन वहाँ की सरकार द्वारा सचालित कारखानों मे ही नहीं किया जाता। आर्थिक कारणो से चन्दन-काष्ठ का कुछ भाग का आसवन न्यूयार्क मे होता है। १९२७-२८ के आकडो को देखने से पता चल जायगा कि वहाँ कितने चन्दन काष्ठ का आसवन किया गया।

	आसवन के लिये प्रयुक्त चन्दन-काष्ठ का परिमाण	उपलब्ध तेल का परिमाण		
	टन	हॅण्डरवेट	पौण्ड	
बगलोर	७९६	२	९६	१,६७,२६०
मैसूर	८४९	१८	०	४५,८४०
न्यूयार्क	३७५	०	०	
कुल योग	२,०२१	०	९६	२,१३,१००

मैसूर और बगलोर मे सरकार द्वारा सचालित कारखानो मे आसुत तेल के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत कारखानो मे भी थोड़ी मात्रा मे तेल का आसवन किया जाता है। इसका अधिकांश भाग भारतीय गवियों द्वारा उपयोग मे लाया जाता है जो अनुमानत प्रतिवर्ष १०,००० से १५,००० पौण्ड तक होता है।

वर्तमान समय में विश्व में अमेरिका ही श्वेत चन्दन का सर्वाधिक उपभोग करने वाला देश है जहाँ चन्दन तेल का प्रमुख उपयोग स्नान करने का सावुन बनाने में किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में चन्दन तेल के आयात के अध्ययन में ज्ञात होता है कि इसकी मात्रा १९२४ ई० में ५०,००० पौण्ड से कम होकर १९२७ ई० में ५,००० पौण्ड हो गयी और पुनः १९२८ ई० में बढ़कर १२,००० पौण्ड हो गयी। यह पता लगाना कठिन है कि आयात में इतनी बड़ी गिरावट क्यों आ गयी। ऐसा कहा जाता है कि चन्दन-काष्ठ की उपलब्धि में ७० प्रतिशत कमी हो गयी क्योंकि अविवेक पूर्ण टग से चन्दन वृक्षों को उद्यानों से जगलों में चन्दन वृक्ष की कमी होती जा रही है। अमेरिका में श्वेत चन्दन की कमी का तीव्र अनुभव किया जा रहा है जो इस बात से सुन्पष्ट है कि वहाँ तेल को दूसरे स्रोतों से प्राप्त करने वा प्रयास किया जा रहा है। आस्ट्रेलियाई तेल पश्चिमी आस्ट्रेलिया में उगने वाले यूकैरिया स्पिरेटा (*Eucarya spirata*) नामक छोटे पेड़ के काष्ठ के आसवन एवं परिशोधन द्वारा प्राप्त किया जाता है, यह तेल अब बाजारों में स्थायी रूप से विक्री है। रासायनिक विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि आस्ट्रेलियाई तेल में लगभग १५ प्रतिशत सैन्टेलॉल पाया जाता है। इसमें भारतीय तेल की भाँति मीठी सुगंधि नहीं पायी जाती है और इसके घूबण-घूणन (optical rotation) में भारतीय चन्दन तेल से यथेष्ठ अतर आपा जाता है। आस्ट्रेलियाई श्वेत चन्दन तेल के प्रभाजी आसवन से तेल का वह अप्ता प्राप्त किया जाता है जिसकी सुगंधि श्वेत चन्दन के तेल के समान होती है और इसे इस प्रकार से समायोजित किया जा सकता है जिससे यह विटिश भेपजकोश की मन्यता के अदर आ जाय। [विटिश भेपज-कोश की मान्यता के अन्तर्गत न्यूनतम घूणन-१३° होना चाहिये, जब कि भैसूर के चन्दन तेल का घूणन कम से कम-१७° है, यदि आस्ट्रेलियाई तेल का प्रभाजी आसवन किया जाय और उसमें सैन्टेलम लैन्सिक्लोलेटम (*S lancicollatum*) से उपलब्ध तेल जिसका घूणन-४०° है, मिला दिया जाय तो वह विटिश भेपज में निर्धारित सीमा के अन्तर्गत आ सकता है।]

इसमें कई सेस्विवर्पीन ऐल्कोहॉल जिसे पश्चात्नाल कहते हैं विद्यमान रहते हैं। इन ऐल्कोहॉलों में उचित परिशोधन करके चन्दन तेल को प्राप्त किया जाता है जिसमें मुक्त ऐल्कोहॉल ९० प्रतिशत से कम नहीं रहते। इन मुक्त ऐल्कोहॉलों का परिकलन  $C_{15}H_{34}O$  के रूप में किया जाता है। भारतीय एवं आस्ट्रेलियाई दोनों प्रकार के तेलों को परिमल कार्य में प्रयुक्त किया जाता है। इनका प्रयोग मूँग-

प्रजनन-पथ में निस्सकामक के रूप में और श्वसनी शोष में कफोत्सारक के रूप में किया जाता है। श्वेत चन्दन तेल सन् १९३७-३८ ई० तथा १९३८-३९ ई० में क्रमशः १३,२५९ गैलन तथा ९,६९५ गैलन जिसका मूल्य क्रमशः १३,८६,२१६ रु० तथा ९,४७,३१८ रु० था, भारत से निर्यात किया गया। इसी अवधि में १,००२ टन चन्दन काष्ठ जिसका मूल्य १०,०८,८६७ रु० था और ६४७ टन जिसका मूल्य ६,५३,७४३ रु० था, भारत से निर्यात किया गया। 'सगध तेल सलाहकार समिति' ने सूचना दी कि सम्पूर्ण विश्व के श्वेत चन्दन का वार्षिक उत्पादन ११२ टन है इसमें से ६० से ८० मैसूर (भारत वर्ष) में उत्पादन होता है जिसका मूल्य ३५,१२,३०० रु० है।

'सगध तेल सलाहकार समिति' का निम्नलिखित प्रतिवेदन ध्यान देने योग्य है। "श्वेत चन्दन तेल का उत्पादन प्रमुख रूप से मैसूर में होता है और साधारण रूप से कुप्पम, मेटूर, बम्बई, कल्नीज और कारकल (दक्षिणी कर्नाटक) में भी कुछ उत्पादन होता है। अधिकतर कारखाने आधुनिक भभको से वाष्प के द्वारा श्वेत चन्दन तेल का आसवन करते हैं जो उच्चकोटि का होता है और इसलिये भारतीय श्वेत चन्दन तेल को विश्व भर में मान्यता मिली है। फिर भी भगलौर में कुछ ऐसे कारखाने हैं जो अब भी प्राचीन ढंग से तेल का आसवन करते हैं परन्तु उनका उत्पादन नगण्य है और इसलिये उनका कोई महत्व नहीं है। मैसूर के राजकीय चन्दन तेल कारखाने के एस० जी० शास्त्री के कथनानुसार द्वितीय महायुद्ध काल में जब यूरोप में चन्दन काष्ठ का निर्यात अवरुद्ध हो गया था, मैसूर राज्य की सरकार ने मैसूर में चन्दन तेल का उत्पादन निर्यात करने के उद्देश्य से प्रारंभ किया। जिससे चन्दन-काष्ठ का निर्यात कम हो गया। इस प्रकार गत महायुद्ध में भारत में चन्दन तेल के उद्योग की पर्याप्ति प्रगति हुई और परिणामस्वरूप आज भारतवर्ष चन्दन तेल में स्वावलम्बी ही नहीं रहा, अपितु इसका निर्यात भी पर्याप्त रूप में करने लगा है। ज्यों ज्यों तेल के निर्यात में वृद्धि होती गयी चन्दन-काष्ठ का निर्यात कम होता गया। फिर भी अभी मैसूर से चन्दन-काष्ठ का पर्याप्त निर्यात संयुक्त राज्य अमेरिका को किया जाता है जहाँ तेल का आसवन किया जाता है, इसका कारण यह है कि वहाँ आयातित तेल पर अमेरिका की सरकार ने अत्यधिक कर लगा दिया है जिससे आयातित तेल अत्यन्त महगा पड़ता है। अनुमानत भारतवर्ष में श्वेत चन्दन का उत्पादन १०० टन प्रति वर्ष होता है जिसका मूल्य आज १० रु० प्रति पौण्ड के दर से २२.५ लाख रु० होता है। भारतवर्ष में साबुन सौन्दर्य प्रसाधन एवं परिमल उद्योगों के विकास तथा औषधीय पदार्थों के निर्माण में वृद्धि के साथ ही साथ ऐसा विश्वास किया जा

सकता है कि भारतीय चन्दन तेल के उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी। हमें यह भी मालूम है कि ब्रिटिश भैषज-कोश में चन्दन तेल के लिये अब एक विशिष्टता और जोड़ दी गयी है, वह यह है कि इसमें कम से कम २०० प्रतिशत सैण्टेलिल ऐस्टिटट भी होना चाहिये। इस अतिरिक्त विशिष्टता के कारण भारतीय चन्दन तेल के विक्रय में रुकावट आ सकती है, इसलिये हम चन्दन तेल के उत्पादकों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं जिससे इस भैषजकोश के अनुसार चन्दन तेल की जहाँ मांग हो वहाँ उसकी पूर्ति के समुचित ढंग से कर सकें।

### सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Parry E J, 1931, *Sandalwood Oil*, Published by the Govt of Mysore, (3) Parry, E. J *Chemistry of Essential Oils*, 4th Ed, 1; (4) Venkatasaiya and Watson, 1928, *Jour Soc Chem Ind*, 44, (5) Trease, G E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 217, (6) Essential Oil Advisory Committee Report (Exploratory), 1946, C. S. I. R., New Delhi

## स्ट्रोफैन्थस (ऐपोसाइनेसी) *Strophanthus (Apocynaceae)*

ब्रिटिश भैषजकोश में मान्य स्ट्रोफैन्थस में स्ट्रोफैन्थस कोम्बे (*Strophanthus kombe*) के शूक-रहित, सूखे परिषक्त बीज होते हैं। स्ट्रोफैन्थस कोम्बे अफ्रीका में पाये जाने वाले स्ट्रोफैन्थस की तीस जातियों में से एक है। यह पूर्वी अफ्रीका के झीलों (नियाजा, टर्गेनिका, न्यासा) तथा शायर (Shire) नदी के पास के क्षेत्रों में उपजता है। इसके बीजों का निर्यात जोम्बा (न्यासालैण्ड) और पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका के वन्दरगाहो (विवलीमेन, इन्हैम्बेन और चिण्डे) से किया जाता है। ओवावेन जो एक क्रिस्टलीय ग्लोइकोसाइड है, स्ट्रोफैन्थस ग्रेट्स के बीजों से या एकोकैन्थेरा ओवावेनी (*Acocanthera ovabaso*) या एकोकैन्थेरा शिम्पेराइ (*A. schimperi*) के काष्ठ से प्राप्त किया जाता है।

स्ट्रोफैन्थस की इन जातियों के बीजों का प्रयोग पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकावासी तीरों को विषाक्त बनाने के लिए बहुत दिनों से करते रहे हैं। इनमें से एक जाति का नाम कोम्बी (*kombi*) शायर नदी के निकटवर्ती देश के निवासियों को बहुत पहले से था, सन् १८६१ में लविगस्टोन ने इसका पता लगाया था। सन् १८८५ में इसके बीज और उसके सारे दोनों के नमूने इंग्लैण्ड भेजे गये। फैजार ने सन्

१८८५ ई० में स्ट्रोफैन्थिन को अलग किया और चिकित्साहेतु बीज के प्रयोग की सिफारिश की। इसका पौधा काष्ठारोही है जो स्वयं जात होता है और जिसकी कृषि भी की जाती है। प्रत्येक फूल से दो अपसारी फॉलिक्लिस (divergent follicles) फलिया उत्पन्न होती हैं, जो पकने पर २० से० से ३५ से० तक लम्बी तथा २ से २५ से० तक चौड़ी होती है। ब्रिटिश भेषजकोश में केवल स्ट्रोफैन्थस कोम्बे के बीज को ही मान्यता मिली है, किन्तु अन्य देशों की भेषजकोशों में स्ट्रोफैन्थस हिस्पिडस (*S. hispidus*) और स्ट्रोफैन्थस ग्रेट्स (*S. gratus*) इन दोनों जातियों के बीजों को भी मान्यता मिली है। ऐल्कोहॉली फरफुराँल एवं सल्फूरिक अम्ल के द्वारा स्ट्रोफैन्थस की विभिन्न जातियों को विभेद करने की विधि इकेट्ट ने १९३१ ई० में तथा ड्यूमोण्ट एवं थामसन ने १९३९ ई० में बतायी। भारतवर्ष में स्ट्रोफैन्थस कोम्बे नहीं पाया जाता परन्तु स्ट्रोफैन्थस की अन्य वहूत-सी जातियाँ भारत तथा भलाया प्रायद्वीप के उष्ण कटिवन्धीय प्रदेशों में पायी जाती हैं। फिर भी अभी तक ऐसा कोई भी प्रयास नहीं किया गया जिससे इनमें स्ट्रोफैन्थिन की उपलब्धि का ज्ञान हो सके, तथा जिससे यह जाना जा सके कि कौन सी जातियों के बीज आयातित बीजों के स्थान पर चिकित्सा में प्रयुक्त हो सकते हैं। भारत में प्रति वर्ष स्ट्रोफैन्थस के बीजों तथा इससे निर्मित योगों का एक बड़ी मात्रा में आयात किया जाता है। असम, उडीसा और दक्षिणी भारत में स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस (*S. wightianus* Wall.) स्ट्रोफैन्थस वालिचाइ (*S. walliechii* DC.) तथा स्ट्रोफैन्थस डाइकॉटैमस (*S. dichotomus*) वन्य अवस्था में उगते पाये जाते हैं। हाण्डा ने स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस (जो मालावार में आरोही के रूप में पाया जाता है) के बीजों का अध्ययन किया। बीज में २ १ प्रतिशत ग्लाइकोसाइड पाया गया है जिसको अस्थायी रूप से स्ट्रोफैन्थिन डब्ल्यू, (Strophanthin-W) की सज्जा दी गयी है। प्रारम्भिक अध्ययन से यह सकेत मिलता है कि स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस के बीजों से निर्मित टिक्कर, भेषजकोशीय स्ट्रोफैन्थस कोम्बे के बीजों से निर्मित टिक्कर के प्राय समान ही रक्त-दाव तथा हृदय पर प्रभाव डालता है। स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस के बीजों से तैयार किये गए टिक्कर की औसत शक्ति (potency), स्ट्रोफैन्थस कोम्बे से निर्मित टिक्कर की अपेक्षा अधिक होती है। स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस से अलग किये गये ग्लाइकोसाइडों में जैव-सक्रियता उतनी ही पायी जाती है जितनी स्ट्रोफैन्थिन-के बी० पी० (Strophanthin-k B P) तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप के ओवाबेन (Ouabain) में पायी जाती है।

## कृषि :

स्ट्रोफैन्थस की कुछ जातियों के पादप सुन्दर होते हैं, जो किसी भी उद्यान की शोभा बढ़ा सकते हैं। भारत में स्ट्रोफैन्थस कोम्बे की कृषि वर्तमान परिस्थितियों में कठिन नहीं है कलकत्ता के वोटैनिकल गाडेन में इसका परीक्षण भी किया गया है, जिसमें कुछ सफलता भी मिली है। भारतवर्ष में इसकी कृषि की सभावनाओं की ओर औषध-निर्माताओं की दृष्टि उत्सुकता पूर्वक लगी हुई है।

## सघटक

स्ट्रोफैन्थस में ग्लाइकोसाइडों का एक मिश्रण जिसे स्ट्रोफैन्थिन अथवा के-स्ट्रोफैन्थिन (*k-strophanthin*) कहते हैं, लगभग ८ से १० प्रतिशत तक की मात्रा में पाया जाता है। वीजों में लगभग ३० प्रतिशत तक स्थिर तेल, नाइट्रोजनी क्षारक (bases) ट्रिगोनेलीन तथा कोलीन, रेजिन तथा म्यूसिलेज विद्यमान होते हैं। स्ट्रोफैन्थस एक महत्वपूर्ण औषधि है तथा हृदयवल्य एवं मूत्रल के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। यह बहुत अधिक विपैला होता है और डिजिटैलिस की अपेक्षा आठ-दस गुना अधिक विपैला होता है। डिजिटैलिस की भाँति यह भी हृदय पर कार्य करता है परन्तु स्ट्रोफैन्थस का प्रभाव तन्त्रिका-तन्त्र पर अपेक्षाकृत कम होता है। इसके तथा-कथित शुद्ध तत्व का सेवन मुँह के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये। अक्रिस्टलीय स्ट्रोफैन्थिन को ही भेषजकोष में मान्यता प्राप्त है। जब शुद्ध रूप में इसका मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है तो पोषणनाल (*alimentary canal*) में यह अपशिष्ट हो जाता है। मुख द्वारा प्रयुक्त होने पर यह प्राप्त कुसल्ह होता है और इसके विपैले प्रभाव को दूर करने के लिये स्ट्रिक्नीन का प्रयोग सर्वोत्तम प्रतिविष के रूप में किया जाता है। अधिक मात्रा में सेवन करने से सिर दर्द, वक्ष एवं पुरोहृद (*praecordium*) में सक्रुचन की अनुभूति, नाड़ी की गति में सुस्पष्ट मन्दता अथवा सयोजित हृद-स्पन्द, रक्त दाव में अति वृद्धि, हृद-अतालता, अनिद्रा तथा उत्क्लेश (मतली) पैदा हो जाते हैं। अन्त शिरा इन्जेक्शन द्वारा इस औषधि के प्रवेश कराने पर उपरोक्त लक्षण सर्वाधिक प्रगट होते हैं।

विपाक्तता की अवस्था में आमाशय को किसी वास्क की सहायता से अथवा आमाशय-नली द्वारा खाली करा देना चाहिये। फिर इसे टैनिक अम्ल के तनु धोल द्वारा साफ किया जाना चाहिये। उद्दीपक औषधि जैसे नान्डी या ऐरोमैटिक स्पिरिट आफ अमोनिया दिया जा सकता है।

### सन्दर्भ :

- (1) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 475;  
 (2) Chopra, R N, Badhwar, R L and Ghosh, 1949, *Poisonous Plants of India*, 664, (3) Handa, K L, Chopra, I C and Kartar Singh, 1951, *Ind Jour Med Res*, 39, 3

### स्ट्रिक्नांस नक्स-वोमिका (लोगैनिएसी)

*Strychnos nux-vomica* Linn. (Loganiaceae)

नक्स वोमिका—*Nux Vomica*

नाम—हिं—कुचला, ब०—कुचिला, बम्ब०—काजरा, त०—येट्टि, येट्टि-कोट्टे।

कुचला भारतवर्ष के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में समुद्रतट से ४००० फुट की ऊँचाई तक वन्य अवस्था में और प्रचुर रूप से उपजता है। बगाल में यदा-कदा पाया जाता है। दक्षिणी भारत, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, कोचीन, त्रावणकोर, और कारोमण्डल तट पर बहुत अधिक उपजता है। यह गोरखपुर, बिहार, उडीसा, कोकण, उत्तरी कर्नाटक, दक्षिणी महाराष्ट्र और कर्नाटक के जगलों में भी पाया जाता है। स्ट्रिक्नांस की एक अन्य जाति जिसे स्ट्रिक्नांस नक्स-ब्लैंडा (*Strychnos nux-blanda*) कहते हैं, भी पैदा होती है परन्तु इसका कोई औषधीय महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें स्ट्रिक्नीन या ब्रूसीन नहीं पाया जाता। उडीसा तथा इसके समीपस्थ प्रदेशों में भी रोपण प्रारम्भ हो गया है। यद्यपि उडीसा में इसके कृषि के क्षेत्रफल का कोई निश्चित आंकड़ा नहीं प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके बीजों का निर्यात आरम्भ हो गया है और ऐसी सूचना मिली है कि देश के निजी उपयोग के लिए बीजों की कुछ मात्रा उपलब्ध हुई है। इससे ऐसी आशा की जाती है कि इन रोपणस्थलियों में वृक्षों को सफलतापूर्वक पैदा किया जा रहा है।

कुचला एक अत्यन्त चिकित्सोपयोगी महत्वपूर्ण भेषज है। बीजों को चूर्ण करके या कभी-कभी उनका क्वाथ बनाकर इसका प्रयोग हिन्दू चिकित्सकों द्वारा मदानि तथा तन्त्रिका-तन्त्र के रोगों में किया गया है। देशीय चिकित्सा में कुचला का प्रयोग वल्य, उद्दीपक तथा ज्वरशामक के रूप में किया जाता है, एवं चर्म रोगों में, विशेषकर ऐसे ब्रणों में जिनमें कीड़े पड़ गये हों, उसका प्रयोग होता है। ऐसा कहा गया है कि भारत के कुछ भागों में वाजीकरण के उद्देश्य से इसका सेवन किया जाता है। बीजों के चूर्ण को भोजन में मिलाकर घोड़ों को वल्य के रूप में दिया जाता है। फलों के श्वेताभ गूदे में भी स्ट्रिक्नीन पाया जाता है।

फिर भी यह पक्षियों, बन्दरों, गायों और कदाचित् अन्य जानवरों के द्वारा भी खाया जाता है, ऐसा कहा जाता है कि कुछ स्थानों में इसे मनुष्य भी खाते हैं। ज्ञातव्य है कि गायों को इसकी पत्तियों को खिलाने से उनके दूध में कुछ कटुता आ जाती है (जो स्ट्रिक्नीन के कारण होता है), और उम स्थान के लोग ऐसा समझते हैं कि इस प्रकार के दूध से पाचन-शक्ति में वृद्धि होती है तथा वल्य प्रभाव पड़ता है, उनके ऐसा समझने का कारण भी है। गैम्बुल के अनुसार इस वृक्ष की लकड़ी को दीमक नहीं खाते हैं। वाट (Wall) ने वर्णन किया है कि देशी शराब बनाने वाले इसके बीजों का कुछ भाग 'धर्रक' (Track) शराब में मिलाते हैं जिससे वह बांद अधिक मादक बन जाय। वे यह भी उल्लेख करते हैं कि नीलगिरि की पर्वतीय जनजातियों द्वारा बीज का प्रयोग विष के रूप में मछलियों को मारने के लिए किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में स्ट्रिक्नॉस का प्रयोग साधारणत सत्त्व टिचर तथा ऐल्केलॉयड के रूप में किया जाता है।

### संघटक

स्ट्रिक्नीन जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस वृक्ष में पाया जाना वाला सबसे महत्वपूर्ण ऐल्केलॉयड है। इसके अतिरिक्त इसमें बूसीन तथा अन्य सघटक भी पाये जाते हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है। ये यांगिक केवल इसके बीज, जो कि इसका सबसे महत्वपूर्ण अग है, में ही नहीं पाये जाते, अपिनु इसके मूल, काढ़, छाल, पत्ती तथा फल के गूदे आदि में भी पाये जाते हैं। बीजों में कुल ऐल्केलॉयड १.५३ से ३.२४ प्रतिशत पाया जाता है, जिसका लगभग अधिक स्ट्रिक्नीन होता है। इनमें लोगेनिन ग्लाइकोसाइड भी पाया जाता है। हाल के शोधकार्यों में यह ज्ञात हुआ है कि बूसीन और स्ट्रिक्नीन के अतिरिक्त बीजों में अन्य ऐल्केलॉयड भी पाये जाते हैं जैसे बोमिसीन, ऐल्फा-कोल्युक्रीन, बीटाकोल्युक्रीन, स्यूडो-स्ट्रिक्नीन इत्यादि। फल के गूदे में ग्लाइकोसाइड लोगेनिन तथा बूसीन और स्ट्रिक्नीन पाये जाते हैं। पत्तियों में बूसीन, स्ट्रिक्नीन तथा स्ट्रिक्निसीन ऐल्केलॉयड पाये गये हैं। छाल में मुख्यत बूसीन पाया जाता है, स्ट्रिक्नीन केवल लेश मात्र और स्ट्रिक्निसीन तो विल्युत ही नहीं पाया जाता है। कम आयु के छाल में बूसीन की मात्रा ३१ प्रतिशत तथा पुराने छाल में १६८ प्रतिशत होती है। काढ़ में बूसीन तथा स्ट्रिक्नीन दोनों पाये जाते हैं। पुरानी मूलों में कुल ऐल्कोलॉयड ०.९९ प्रतिशत पाया जाता है, जिसमें बूसीन का अश ०.७१ प्रतिशत होता है। भारत में इसके विस्तृत प्रयोग तथा इसकी अत्यधिक उपज के हीते हुए भी स्थानीय लोगों

का ध्यान इस कच्चे माल (कुचले) की उपयोगिता की ओर बहुत ही कम गया है। विदेशी निर्माताओं ने भारतवर्ष में उपजनेवाले बीजों का यथेष्ट मूल्याङ्कन किया है और स्थानीय एजेण्टों ने प्रचुर परिमाण में क्रमवद्वस्तु से इसका निर्यात किया है। दक्षिणी भारत में कोचीन निर्यात का प्रमुख बन्दरगाह है, यद्यपि मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई जैसे बन्दरगाहों से भी पर्याप्त मात्रा में निर्यात होता है। भारतवर्ष का कुल वार्षिक निर्यात लगभग ४५,००० से ५०,००० हण्डरेट है, जिसका मूल्य लगभग ३,००,००० रु० होता है। यह कुल निर्यात प्राया ग्रेटनिटेन को ही किया जाता है। स्ट्रिक्नीन का निर्माण भारतवर्ष (कलकत्ता) में विशाल पैमाने पर होने लगा है और १५,००० पौण्ड तक इसका उत्पादन होता है जो चूहों को मारने के लिए आस्ट्रेलिया को निर्यात किया जाता है। कलकत्ता के उत्पादकों के सामने बड़ी कठिनाई बीजों का अधिक ऊँचे मूल्य पर प्राप्त होना है, कारण दुलाई में रेल का भाड़ा अधिक पड़ जाता है। (कलकत्ता में बीज का मूल्य प्रति ८२ पौण्ड वाले मन का ६ रु० है जब कि उड़ीसा के बन्दरगाह पर १०५ पौण्ड वाले प्रति भन का मूल्य १ रु० ४ आने है)। यूरोप के निर्माता बहुत कम मूल्य पर बीजों को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि जहाज़ी कम्पनियाँ इसे स्वीकृत भार (ballast) के रूप में बहुत कम भाड़े में ही ढो देती हैं। वर्तमान मूल्य पर भी आस्ट्रेलिया में इसका आयात पर्याप्त मात्रा में कृन्तको (चूहों आदि) को मारने के लिए किया जाता है, क्योंकि मैं वहाँ बहुत अधिक पाये जाते हैं। कुचला के व्यापार पर वस्तुतः भारत और श्रीलंका का एकाधिकार है। यद्यपि स्ट्रिक्नीन की अन्य जातियों में भी ऐल्केलांयड पाये जाते हैं तथापि उनकी उपलब्धि इतनी अधिक नहीं होती कि वे (जातियाँ) व्यापार के लिए उपयोग में आ सकें। स्ट्रिक्नीन कोल्युब्रिना (*S. colubrina* Linn), जो दक्षिणी भारत में पाया जाता है तथा जिसमें स्ट्रिक्नीन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है, ऐल्केलांयडों की उपलब्धि का एक और स्रोत है। एक अन्य स्पर्धक स्ट्रिक्नीन इग्नेशार्ड (*S. ignatii*) है जो फिलीपाइन्स द्वीपों में एक आरोही पादप के रूप में उगता है तथा जिसके फलों को 'सेण्ट इग्नेशियस' फली (*St Ignatius beans*) कहते हैं। इन फलियों में स्ट्रिक्नीन तथा ब्रूसीन की मात्रा पर्याप्त होती है और वाणिज्य स्तर पर इनसे सफलता पूर्वक ऐल्केलांयड निकाला जा सकता है। बीजों में कुल ऐल्केलांयड २०५ से ३०० प्रतिशत पाया जाता है, जिसमें स्ट्रिक्नीन का अश ४६ से ६२ प्रतिशत तक रहता है। इन बीजों का प्रयोग प्रमुख रूप से स्ट्रिक्नीन और ब्रूसीन तैयार करने में होता है।

रे। स्निक्टीन की मांग धीरे-धीरे बढ़ रही है, क्योंकि इसका प्रयोग कीठों तथा अन्य जानवरों को मारने के लिए बहुत अधिक होने लगा है। यदि (कुचला के) वृक्षों के समुचित ढग से उगाने (फुथि करने) तथा धीजों के समहृ फरने की अच्छी प्रणाली की ओर अधिक ध्यान दिया जाय तो देश को पर्याप्त आर्थिक लाभ होगा।

### सन्दर्भ :—

(1) Thorpe, *Dictionary of Applied Chemistry*, (2) Dull, 1928, *Commercial Drugs of India*, (3) Wilson and Son, 1926, *Proc. Ind. Chem. Soc.*, 3, 397, (4) Trease, G. E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 465, (5) Chopra, R. N., Bridgewar, R. I. and Ghosh, S., 1949, *Prominent Plants of India*, 698.

### स्वसिया चिराता (जेन्शिएनेसी)

*Swertia chirata* Buch-Ham (Gentianaceae)

चिरेता (Chireta)

नाम—स०=चिरात-तिकत, भूनिम्ब, हि०—चिरायता, व०—चिरेता, वम्ब०—  
चिराइता, किराइता, त०—निल-वेम्बु।

चिरायता एक शाकीय पादप है, जो फीतोण हिमालय में कश्मीर से भूटान और यसिया पर्वत-श्रेणी तक, समुद्र तल से लगभग ४,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई तक बहुत अधिक उपजता है। इनका प्रयोग हिन्दू चिकित्सकों द्वारा प्राचीन समय से ही तिक्त वस्त्र, शुधावर्धक, ज्वरसामक एवं गृहिनाणक के रूप में किया गया है। साधारणत इस पौधे के फ्लाट (infusion) का प्रयोग किया जाता है, परन्तु यह अनेक मैपजिक योगों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। मुसलमान चिकित्सक (हकीम) भी इसे विस्तृत रूप में प्रयोग करते हैं। प्रारम्भ में यूरोपीय चिकित्सकों ने जो भारत वर्ष में चिकित्सा व्यवसाय में लगे थे, चिरायता के महत्त्व को समझा और प्राय अधिकृत (official) जेन्शियन (Gentian) के स्थान पर चिरायता का प्रयोग करते थे। फ्लेमिझ की रिपोर्ट जिसको वाट ने अपने 'डिक्शनरी ऑफ इकोनॉमिक प्रॉट्टक्स ऑफ इण्डिया' में उद्धृत किया है) से चिरायता की तत्कालीन प्रसिद्धि का यथोच्च ज्ञान प्राप्त होता है। उनके कथनानुसार चिरायता में शुधावर्धक, वस्त्र, ज्वरसामक एवं अतिसाररोधी वे सभी गुण जो जेन्शियन में पाये जाते हैं, विद्यमान हैं।

इन गुणों की मात्रा धूरोप से आये हुए जेनूशियन में उतनी नहीं प्राप्त होती जितना यहाँ के चिरायते में पायी जाती है। स्वशिया चिराता के रासानिक सघटन सम्बन्धी परीक्षणों से जो यहाँ भारत में किये गये हैं, ऐसा ज्ञात हुआ है कि यह भेषजकोशीय जेनूशियन के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। भारतीय बाजारों में प्राय साधारण चिरायता का आमापन उसकी तिक्तता के लिए जेल्नर (Zellner) द्वारा बतायी गयी विधि से किया गया है।

इस विधि द्वारा इसमें जो तिक्त तत्व पाये गये उनकी मात्रा १४२ से १५२ प्रतिशत तक थी। गैथरकोल तथा वर्थ (Gathercoal and Wirth) के अनुसार चिरायता में चिराटिन नाम का एक तिक्त ग्लाइकोसाइड पाया जाता है जो टैनिन के द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और जल अपघटन करने पर उससे दो तिक्त तत्व निकलते हैं जिन्हे ओफेलिक अम्ल और चिरैटोजेनिन कहा जाता है। चिरैटोजेनिन जल में अविलेय होता है। इस भेषज में रेजिन, टैनिन तथा ४ से ८ प्रतिशत राख भी पाये जाते हैं।

बाजारों में कई प्रकार का नकली चिरायता भी पाया जाता है। दक्षिणी भारत में स्वशिया अगुस्टिफोलिया (*S angustifolia*), स्वशिया डिक्सैटा, (*S decussata*) स्वशिया कोरिम्बोसा (*S corimbosea*) और स्वशिया पुलचेला (*S pulchella*) देशी चिकित्सा में प्रयोग किये जाते हैं। इनमें से कुछ विल्कुल ही तिक्त नहीं होते, इसी लिए चिकित्सीय गुणों से रहित होते हैं। असली चिरायता अर्थात् स्वशिया चिराता (*S chirata*) को अब निटिश एवं अमेरिकी भेषजकोशों में मान्यता मिली है। यह भारतीय बाजारों में बहुत मधिक मात्रा में पाया जाता है। जापानी चिरायता स्वशिया चाइनेन्सिस (*S chinensis* Franchet) नामक पौधे से प्राप्त होता है जो अधिक छोटा होता है। इसमें ऐल्कोहॉली सत्त्व स्वशिया चिराटा की अपेक्षा अधिक उपलब्ध होता है तथा यह उससे अधिक तिक्त भी होता है। इसमें एक क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड स्वशियामैर्सन विद्यमान रहता है जिससे इमल्सिन द्वारा जल-अपघटन करने पर एरिथ्रोसेण्टोरिन तथा ग्लूकोज उपलब्ध होते हैं। इसमें क्रिस्टलीय स्वादहीन स्वर्टिक अम्ल भी पाया जाता है। चिरायता तिक्त वत्य है। यह अग्निमाद्य तथा उल्लाघ (convalescence) की दुर्बलता में दिया जाता है। सामान्यतया इसका प्रयोग वल्य के रूप में (स्फूर्ति लाने के लिए) किया जाता है। चूर्ण, आक्वाथ, टिक्कर अथवा तरल सत्त्व के रूप में इसको दिया जा सकता है। यह गाउट (गठिया) से पीड़ित रोगियों में वल्य के रूप में प्रयुक्त होता है।

## सन्दर्भः

(1) Chopra, R. N., Ghosh, N. N., and Ratnagiriwaran, 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770, (2) Wallis, T. E., 1946, *Text Book of Pharmacognosy*, 278, (3) Gathercoal, F. N. and With E. H., 1936, *Pharmacognosy*, 573, (4) Mukerji, B., 1953, *Indian Pharmaceutical Codex*.

## अर्जिनिया इण्डिका (लिलिएसी)

*Urginea indica* Kunth. (Liliaceae)

भारतीय स्किवल (Indian Squill)

नाम—स०—वन-पलाण्डु, कोलकन्द, हिं० और व०—काण्डा, जगली प्याज, प०—

फफोर, कचवस्सल, वम्ब०—जगली कादा, त०—नैरि-वेगायम।

सिला इण्डिका (लिलिएसी)—*Scilla indica* Roxb (Liliaceae)

नाम—हिं० एव व०—सुफेदी खस, वम्ब०—भुइकादा, त०—शिर्ल-नैरि वेगायम।

इसे वाणिज्य में श्वेत स्किवल के नाम से पुकारा जाता है। इसका पौधा भूमध्य सागरीय टट पर वलुई जमीन में स्पेन, फान्स, इटली, सिसली, माल्टा, ग्रीष्म, अल्जीयर्सं तथा मोरक्को में उपजता है। शल्क कन्दो (bulbs) का सग्रह अगस्त मास में किया जाता है, यह ऐसा महीना होता है जिसमें पीछे पर्ण-विहीन रहते हैं। शल्क कन्द के ऊपर के शुष्क शल्कपत्रों को अलग कर दिया जाता है। तब शल्क कन्दो को छोटे-छोटे अनुप्रस्थ टुकड़ों में काटा जाता है जिन्हें धूप में या स्टोव की गर्मी में सुखाया जाता है। सूखने पर उनका भार द० प्रतिशत कम हो जाता है। सूखे टुकड़ों को बोरों में (जिसमें लगभग एक हृण्डरवेट होता है) या पीपों में भर कर बन्द कर दिया जाता है। यूनान के प्राचीन चिकित्सकों तथा मिश्रवासियों को स्किवल का ज्ञान भली भाँति था। इसके सिरके का ज्ञान डायस्कोराइडेस को तथा चुक्र मधु (oxymel) का ज्ञान अरब के चिकित्सकों को था। स्किवल के दो किस्म माने जाते हैं। (१) श्वेत स्किवल (इटली का अथवा मादा स्किवल), इसका ऊपरी सतह श्वेत या पीत रंग का होता है और इसकी कृषि माल्टा, सिसली तथा इटली में होती है, और (२) लाल स्किवल (स्पेन का अथवा नर स्किवल), इसके स्किवल की ऊपरी सतह लाल रंग का होती है तथा इसकी कृषि अल्जीरिया में होती है।

भूमध्य-सागरीय देशों से इसके शल्क कन्दो (bulbs) तथा इनसे निर्मित योगों का आयात भारत में किया जाता था और अब भी किया जाता है और इनके लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है। भारतवर्ष में स्किवल की अनेक जातियाँ प्रचुरता

से उगती है जिनमें अधीकृत (official)\* स्किल के ही समान गुण होते हैं। सिला इण्डिका (*S. indica* Baker) प्राय रेतीले स्थानों में विशेष कर समुद्र के किनारे तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में कोकण और नागपुर के दक्षिण के भागों में बहुत अधिक उपजता है। इससे सम्बद्ध एक अन्य जाति सिला होहेनाकेराई (*S. hohenackeri* Fisch et Mey.) पञ्जाब में पायी जाती है। इसका कन्द फ्लेताभ-भूरे रंग का शल्क होता है जिसका आकार जायफल की भाँति होता है तथा जिसका शल्क बहुत ही चिकना एवं मासल तथा अतर्ग्रथित (imbricated) होता है। यदि सावधानी से निरीक्षण न किया जाय तो ये शल्क भूल से शल्क कन्द के ऊपरी छोल (coat) समझे जायेंगे। ये गोल तथा लट्टाकार होते हैं तथा कभी-कभी चपटे पाश्वंदाले होते हैं। अर्जिनिया इण्डिका (*U. indica* Kunth) बलुई जमीन पर उपजता है, विशेष रूप से भारत के समुद्री तटों पर। यह हिमालय की निचले भागों की शुष्क पहाड़ियों पर, पञ्जाब के साल्ट रेन्ज तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी २,००० फुट की ऊँचाई पर उपजता है। इसके शल्क कन्द आकार में मीठा नीबू के बराबर तथा कचुकित (tunicated) होते हैं, बाहरी शल्क अक्रिय (inert) होते हैं। भारतीय बाजारों में विकने वाले स्किल इन्हीं दोनों जातियों का मिश्रण है। किसी भी सामान्य भेषज विक्रेता की दूकान पर साधारणत समूचे बल्ब ही विक्रय होता है, किन्तु इधर कुछ समय से चटगाँव, बम्बई और जौनपुर (उ० प्र०) से जो स्किल भेषज निर्माताओं को उपलब्ध हो रहा है वह छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित रूप में भी प्राप्य हो रहा है। दोनों जातियों के स्किल में एक ही प्रकार की क्रियाशीलता पायी जाती है, और उनका विभेद इस तथ्य से किया जा सकता है कि अर्जिनिया के बल्ब कचुकित (tunicated) होते हैं जब कि सिला के बल्ब अतर्गसित (imbricated) होते हैं। भारतीय शल्क कन्द यद्यपि आयातित शल्क कन्द से छोटा होता है फिर भी समान रूप से ही उत्कलेशी एवं तिकत होता है। वाणिज्योपयोगी स्किल को तैयार करने के लिए विभाजित शल्ककन्द के सुखाने पर विशेष ध्यान दिया जाता है, अन्यथा परिवहन में उन पर फफूँदी लग सकती है, जिससे इनकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है।

सिला के कपोत्सारक, हृदयोदीपक तथा मूत्रल गुणों की ओर इधर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यह लाभदायक एवं शक्तिशाली भेषज है, पर इसका आम-शायान्त्र पथ पर बड़ा ही क्षोभक प्रभाव पड़ता है। इसलिये चिकित्सा में हृदवल्प्य

\* बी० पी० अर्जिनिया मेरीटिमा या अर्जिनिया मिला अधिकृत थे और आइ० पी० में अर्जिनिया इण्डिका मान्य है —अनु०

के रूप में इसका अधिक प्रयोग भी तक नहीं हो पाया है। अत इसके सक्रिय तत्वों को अलग करने के लिए गत कुछ वर्षों से प्रयास किये गये हैं तथा यह पता लगाने का भी प्रयास किया गया है कि बल्ब में पाये जाने वाले क्षोभक-तत्वों को उनके सक्रियतत्वों से अलग किया जा सकता है अथवा नहीं। दो यौगिक अलग किये जा सकते हैं। (१) सिलारेन-ए, जो स्पष्टत एक विशुद्ध क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड है, और (२) मिलारेन-बी, जो एक अक्रिस्टलीय जटिल सघटक है तथा जो सभवतः दो ग्लाइकोसाइडों का मिश्रण है। यह दूसरा सघटक जल में भरतता पूर्वक विलय हो जाता है, जब कि प्रथम सघटक (सिलारेन-ए) प्राय अविलेय होता है। इस भेषज पर किये गए प्रयोगों से एवं रोगों पर जाँच सम्बन्धी अनुभवों से यह ज्ञात हुआ है कि मिलारेन की क्रियाशीलता स्ट्रोफॉन्थिन के ही समान है और इसका भी मुख्य के द्वारा भेवन नहीं किया जा सकता है। स्टोल तथा रेझ्ज ने सिला मेरीटिमा (*S. mertima*) की लाल उपजाति से एक नये क्रिस्टलीय हृदयग्लाइकोसाइड सिलारो-माइड का पता लगाया है, जो चूहों को मारने के लिए विष के रूप में प्रयोग किया जाता है। स्थिवल की दो दक्षिण अफ्रीकी जातियाँ—अजिनिया रुवेला (*U. ruvela*) तथा अजिनिया हुर्काइ (*U. hirsuta*) से लोउ (*Louw*) ने क्रमशः रुवेलिन तथा ट्रान्सवालिन नायक ग्लाइकोसाइटों को विलग किया है। हाल ही में शेपाद्वी और सुम्मण्णन ने परिलक्षित किया है कि भारतीय स्थिवल अजिनिया इण्डिका (*U. indica*) और सिला इण्डिका (*S. indica*) जो छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में वाजारों में विक्री हैं, में दो ग्लाइकोसाइडों प्रभाज पाये जाते हैं—(१) जल-अविलेय प्रभाज यह ग्लाइकोसाइडों का एक मिश्रण है जिसे अम्ल द्वारा जल अपघटन करने पर ग्लूकोज तथा रैम्नोज के अतिरिक्त सिलारिडिन ए (*Scillaridin A*) सबसे अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। सिलारिडिनए एक नया ऐलूकोन है जिसका गलनाहूँ २६५—२६७° से० और जिसका अणु सूत्र  $C_{26}H_{32}O_4$  है। सिलारेन इस प्रभाज का सबसे प्रमुख ग्लाइकोसाइड समझा जा सकता है, (२) जल-विलेय प्रभाज जो सिलारेन वी से मिलता जुलता है तथा जिसका जल-अपघटन करने पर एक क्रिस्टलीय ऐग्लूकोन जिसका गलनाहूँ २२७—२३०° से० है तथा ग्लूकोज प्राप्त होता है। डे (१९२७ई०) ने बतलाया कि सिलारेन हृदय पर डिजिटॉनिस के समान ही प्रभाव डालता है और आहार (पोपण) नालपर इसकी क्षोभक क्रिया अत्य होती है और यह पोपण पथ द्वारा अवशोषित हो जाता है। स्टेह्ले, रॉस तथा ड्रेयर ने १९३१ई० में यह ज्ञात किया कि सिलारेनवी जानवरों के रक्त-द्वाव

में वृद्धि करता है जो उसके वाहिका-सकोचक प्रभाव के कारण होता है। इससे निलय स्पदन के आयाम में और हृद्दनिकास किया में भी वृद्धि हो जाती है। अनेक वर्षों से बम्बई के सरकारी मेडिकल स्टोर डीपो द्वारा अधिकृत ( official ) स्किवल के स्थान पर भारतीय स्किवल को अधिकारीय योगों के निर्माण के लिये उपयोग में लाया जा रहा है और इनका परीक्षण रोगियों पर किया गया है जिसका परिणाम सन्तोपजनक रहा है। ब्रिटिश भेषजकोश ( १९१४ ई० ) में भारतीय स्किवल को मान्यता भी मिल गयी थी। ऐसा कहा जाता है कि अर्जिनिया इण्डिका अर्जिनिया मैरिटिमा की अपेक्षा सस्ता होता है, और यदि इसकी कृपि तथा कटाई में सुधार किया जाय और इसे बड़े पैमाने पर उत्तराया जाय तो यूरोप के बाजारों में यह सफलता पूर्वक वेचा जा सकेगा। कलकत्ता में कुछ भेषज निर्माणकर्ता चट-गाँव के पहाड़ी क्षेत्रों से उपलब्ध सिला इण्डिका तथा अर्जिनिया इण्डिका के शल्क कन्दों का प्रयोग टिक्कर आदि तैयार करने में कर रहे हैं और देश के इस भाग में इस भेषज का अच्छा व्यापार होने लगा है। नीचे लिखी सारणी में हमने विदेशों से आयातित तथा भारतीय स्किवल से निर्मित टिक्करों को बायोएसे (bioassay) का परिणाम सक्षिप्त रूप से दर्शाया है। ये बायोएसे हैचर की बिल्ली विधि द्वारा, जिसे चोपडा और डे ने सशोधित किया था, किया गया और इससे हृदय पर अच्छा प्रभाव दिखायी दिया।

बायोएसे के नमूनों की संख्या	बी पी (नियन्त्रित से नीचे)	बी पी मानक मानक तक	बी पी मानक से अधिक शक्तिवाला
चटगाँव से प्राप्त	७३	६४ (८७.६ प्रतिशत)	८ (१०.९६ प्रतिशत)
अर्जिनिया इण्डिका तथा सिला इण्डिका			(१.४४ प्रतिशत)
भूमध्यसागर का तटीय अर्जिनिया सिला (आयातित)	२८	१९ (६७.९ प्रतिशत)	३ (१०.७ प्रतिशत)
			६ (२१.४ प्रतिशत)

उपर्युक्त सारणी के अध्ययन से ज्ञात हो जायगा कि भारतीय स्किवल आयातित अर्जिनिया सिला ( *U. scilla* ) और अर्जिनिया मैरिटिमा से किसी भी दशा में निम्न कोटि का नहीं है।

## सन्दर्भः

- (1) Chopra, R N , and De, P , 1926 *Ind Jerr. Med Res*, 13,781,
- (2) De, P , 1927, *Jour Pharm. Exp Therap* 31, 6, (3) Sichle, R I , Ross, J and Dryer, M D , 1930, *Jour Pharm. Exp Therap.* 42, 1, 45, (4) Chopra, R N , De, P and Mukerjee, B, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 666,
- (5) Fordeke, J L , and Meek, H O , 1946, *J Pharm Pharmacol* 340,
- (6) Seshadri T R and Subramanian, S S , 1950, *Jour Sci Industr Res*, 9, 114, (7) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 164

## वैलेरियाना वालिचाइ (वैलेरिएनेसी)

**Valeriana wallichii DC. (Valerianaceae)**

भारतीय तगर (Indian Valerian)

नाम — स०—तगर, हि० और व०—तगर, नहानी, शुमिओ, असाहन, वम्ब० तगर-न्योडा।

तगर एक बहुत प्राचीन औपधि है। यूनानी चिकित्सक डायेस्कोरिडेस को इसका ज्ञान 'फू' (Phu) के नाम से था तथा १५४२ई० मे फूक्स ने इसे 'फू जर्मनिकम' (Phu Germanicum) की सज्जा दी थी। मध्ययुग मे इसका प्रयोग परिमल पदार्थ तथा (spice) के रूप मे होता था और इसके औपधीय नाम 'निर्धन मनुष्य का शीरा' (Poor man's treacle) का तात्पर्य बहुत मूल्यवान वस्तु से था। इसके 'वैलेरियन' नाम का प्रयोग १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हैलर (Haller) के द्वारा किया गया और तत्पश्चात आगल बनस्पतिज्ञो ने भी यही नाम प्रयोग किया। जर्मनी, रस, यूनान तथा एशिया माझनर मे इस भेपज का ज्ञान बहुत प्राचीनकाल से था। आँग्ल वैलेरियन की दो उपजातियाँ होती हैं—(१) वैलेरियाना आफिसिनैलिस वैराइटी मिकानिआड (*V officinalis var mikans* (Syme) तथा (२) वैराइटी साम्बुसिफोलिया (*V sambucifolia* (Mih.)। इम दूसरी उपजाति की चौड़ी दीर्घायित प्रासवत (oblong lanceolate) पत्तियाँ होती हैं, जब कि प्रथम उपजाति का पौधा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट होता है, तथा इसकी जड़ें अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और सुगन्धयुक्त होती हैं। ये पौधे साधारणत डरवीशायर मे पैदा होते हैं और इसकी गुणित उस जिले मे तथा इगलैण्ड के अन्य भागों मे थोड़ी होती है। ब्रिटिश भेषजकोश मे मान्य मूल भूरे रंग का होता है और उससे ८ से १० प्रतिशत तक राख की मात्रा

उपलब्ध होती है जिसमें मैगनीज का अवधिक रहता है। फ्रेंच-वेल्जियन मूल पीले तृण (पुआल) के रंग का होता है और सम्प्रति यही वाणिज्य का प्रमुख स्रोत है। वेल्जियम में तथा फ्रान्स के नॉर्ड (Nord) विभाग में इसकी वैज्ञानिक ढग से कृषि होती है, परन्तु चन्य अवस्था में उगने वाले पौधे जो आर्डेनेस (Ardennes) और वोस्जीज (Vosges) पहाड़ियों की सूखी मिट्टी पर पाये जाते हैं गुण (प्रभाव) में अधिक क्रियाशील बताये जाते हैं। वैलेरियन की एक उपजाति स्काटलैण्ड और डर्विशायर में उगायी जाती थी, इसकी माँग अमेरिका में बहुत अधिक थी परन्तु अब यह उद्योग समाप्त ही है। स्कालिन्सका (१९४७ई०) ने यह बताया है कि वैलेरियाना आफिसिनैलिस में बहुगुणिता (Polypoidy) पायी जाती है जिसके अन्तर्गत द्विगुणित, चतुर्गुणित अथवा अष्टगुणित सभी प्रकार के पादप पाये जाते हैं। कृषि द्वारा उत्पन्न अँगल तगर प्राय अष्टगुणित होते हैं जब कि मध्य यूरोपीय तगर चतुर्गुणित होते हैं।

तगर की माँग विगत कुछ वर्षों से विश्वभर में बढ़ गयी है। सन् १९१८ई० में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तगर का मूल्य इसके साधारण मूल्य से तीन गुना बढ़ गया था। इसका कारण सम्भवत यह था कि वम विस्फोट के आघात से व्रस्त लोगों के लिए इसका प्रयोग बहुत होता था। यद्यपि गुणों से तगर का प्रयोग हिस्टीरिया और स्त्रियों की तन्त्रिका सम्बन्धी विकारों को दूर करने में किया गया है तथापि इधर कुछ वर्षों में किये गये अनुसन्धानों से इसका महत्व और अधिक बढ़ गया है, क्योंकि इसमें विक्षिप्त (न्यूरोसिस) तथा अपस्मार के लिए लाभदायक गुण पाये गये हैं। इसकी उपयोगिता के कारण भारतवर्ष में तगर के स्रोतों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। भारतवर्ष में वाणिज्योपयोगी तगर अधिकाशत वैलेरियाना वालिचाई के प्रकारों से प्राप्त होता है जिसका अफगानिस्तान और पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रों से आयात किया जाता है। हिमालय की श्रेणियों में तगर की कई जातियाँ चन्य अवस्था में उपजती हैं। वैलेरियाना हार्डविकाई (*V. hardwickii* Wall) और वैलेरियाना वालिचाई (*V. wallacii* DC) दोनों काश्मीर से भूटान तक फैली हुई पर्वत श्रेणियों पर समुद्र तट से ४,००० फुट से १२,००० फुट की ऊँचाई तक बहुत अधिक उपजती है। क्रिटिश भेषजकोशीय वैलेरियाना आफिसिनैलिस (*V. officinalis*) भी काश्मीर में सोनमर्ग में ८,००० से ९,००० फुट तक की ऊँचाई पर उगता है परन्तु यह वैलेरियन की अन्य जातियों की अपेक्षा कम पाया जाता है। तगर का उद्घटरोधी एवं उद्धीपक गुण देशीय चिकित्सा में भलीभांति विदित है और निघट्टुओं और आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इनका वर्णन भी किया गया है।

### कृषि

तगर का पौधा सभी प्रकार की साधारण मिट्टियों में उपजता है, परन्तु उर्वर और भारी द्रुमट मिट्टी में जहाँ भली-भाँति आद्रंता होती है, वहाँ इसकी वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह छायादार स्थानों तथा आद्रं भूमि में अच्छी तरह उपजता है। इसके जलाभावसह (drought resistant) प्रस्तुप (form) चाकमय (chukk) तथा चूने के पत्थरवाली पहाड़ियों पर भी पाये जाते हैं। पौधों का प्रजनन वसत या पतझड़ में इनके पुराने भूलों को छोटे २ टुकड़ों में विभाजित करके और उनको दो में तीन फुट तक की दूरी वाली क्यारियों में एक-एक फुट की दूरी पर लगा कर सरलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि टुकड़ों को पतझड़ के आरम्भ में ही लगा दिया जाय, जिससे तुपार-पात होने के पहले ही वे भली-भाँति लग जाय तो दूसरी पतझड़ में अच्छी फसल उपलब्ध हो सकती है। ग्रीष्म में इसकी क्यारियों को निराया जाता है और तने के आधार पर पत्तियों को बढ़ाने के लिए पुष्प-वृत्तों को तोड़ दिया जाता है, इससे इसका मूल स्तम्भ भी बड़ा हो जाता है। बीजों से भी पौधों का प्रजनन किया जा सकता है। बीज को साधारणत क्यारियों में बो दिया जाता है। अकुरित बीजों का प्रतिरोपण ७-८ इन्च की दूरी पर पक्कियों में किया जाता है। पक्किया १२ इच की दूरी पर बनायी जाती है। वसन्त कृत्तु के प्रारम्भ में ही इन नवपादपो का प्रतिरोपण खेतों में किया जा सकता है तथा जितनी दूरी पर मूलकर्तन लगाये जाते हैं उतनी ही दूरी पर इन्हें भी रोपित किया जाता है। मिट्टी में खेत की (फार्मयाड़) खाद अच्छी तरह मिला देने से पौधा अच्छा बढ़ता है। खाद को पौध लगाने से पहले ही भली-भाँति मिट्टी में मिला देना चाहिये। पौधों की जड़ के चारों ओर मिट्टी का एक छोटा-सा ढूहा बना दिया जाता है, जिससे प्रकद पर्याप्त बड़ा हो सके।

मूल-कर्तन के द्वारा प्रजनित पौधों के मूल का सग्रह १ वर्ष के बाद पतझड़ में किया जा सकता है, यद्यपि उस समय प्रकद कम परिमाण में प्राप्त होता है। बीजों द्वारा प्रजनित पौधे विना दो वर्षों के उचित वृद्धि नहीं कर पाते। सितवर या अक्टूबर में उनके प्ररोह हँसुये से जमीन के बराबर काट दिये जाते हैं और प्रकद खोद लिये जाते हैं। प्रकदों को बहते हुये पानी में छिद्रित पेटियों या टोकरियों में रख कर धोया जाता है। इन्हें किसी सकिर (rake) की सहायता से हिलाकर शीघ्र ही स्वच्छ कर लेते हैं। तत्पश्चात् भट्ठों की आंच में सुखा लेते हैं। बड़े-बड़े प्रकदों को आधे-आधे और छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर दिया जाता है, जिससे वे सरलतापूर्वक सुखाये जा सके। इनको बहुत अच्छी तरह सुखाया जाना चाहिये। स्वीडेन के तगर

जब वसत क्षत्रु में सग्रहीत किये जाते हैं तो उसमें पतझड़ में सग्रहीत प्रकन्दो की अपेक्षा तेल की मात्रा अधिक पायी जाती है।

तगर में मृत्युवान सगन्ध तेल के विद्यमान रहने से इसको औषधि में इतना अधिक महृत्व दिया जाता है। इसके औसत नमूने में तेल की मात्रा ०.५ से ०.९ प्रतिशत पायी जाती है, परन्तु स्थान और सग्रह-काल के अनुसार तेल की उपलब्धि में अन्तर पाया जाता है। उच्च प्रकन्द से १ प्रतिशत तेल उपलब्ध होता है जब कि स्वीडिश प्रकन्द से अपेक्षाकृत अधिक तेल की उपलब्धि होती है। वसन्त क्षत्रु में सग्रहीत ताजे प्रकन्दो से २.१२ प्रतिशत से भी अधिक यह वाप्पशील तेल प्राप्त हुआ था, पतझड़ क्षत्रु में सग्रहीत प्रकन्दो से इससे अल्पमात्रा में तेल निकाला गया। भारतीय तगर मूल जो वैलेरियाना वालिचाइ से प्राप्त किया जाता है, का विश्लेषण बुलॉक (Bullock) के द्वारा किया गया, इन्होंने १९२५-२६ ई० में सूचित किया कि इसमें वाप्पशील तेल की मात्रा ०.३ में १.० प्रतिशत है जिसमें बाइसो-चैलेरिएनिक तथा फॉर्मिक अम्ल के एस्टर विद्यमान रहते हैं। कश्मीर से प्राप्त तगर-मूलों का परीक्षण स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडीसिन कलकत्ता में किया गया, जिसका परिणाम वस्तुत वही निकला। इसका कारण शायद यह है कि प्रकन्दो का सगह उचित समय पर नहीं किया गया और न उनका भण्डारण हो ठीक ठग से किया गया। कपूर (१९५३) ने यह ज्ञात किया कि चम्वा में सग्रहीत वैलेरियाना वालिचाइ में १.२ सगन्ध तेल पाया जाता है। उपरोक्त स्कूल में परीक्षण के लिए आयी हुई मूलों में अधिकतर सूखी हुई थी जिससे सगन्ध तेल का अधिकांश भाग उड़ गया था। सावधानी से सग्रह और भण्डारण करने पर निस्सदेह इसके गुणों में अभिवृद्धि की जा सकती है जैसा कि विदेशी अन्वेषकों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। भारतीय तगर को निटिश भेषजकोश में १९१४ ई० में तथा १९३२ ई० के चौथे अडेण्डम में मान्यता प्राप्त हुई थी। भारतवर्ष तथा पूर्वो उपनिवेशों में भारतीय तगर का प्रयोग बातनुलोमक एवं उद्घेष्टरोधी के रूप में किया जाता है। अमोनियेटेड वैलेरियन टिक्चर में वैलेरियाना आफिसिनैलिस के ही समान गुण पाये जाते हैं।

#### सन्दर्भ :

- (1) Chopra, R N 1926, *Ind Jourr Med Res* 13, 533, (2) Bullock 1925-26, *Pharm Jourr*, 115, 122, 117, 152, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) Kapoor, L D, 1953, *Ind For*, 79, 4, 239, (5) Trease G E 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 546, (6) Dutta, S C and Mukerji, B, 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 71

## जिजिबर आफिसिनेल ( जिजिबरेसी )

Zingiber officinale Rosc. (Zingiberaceae)

अदरक ( जिजर—Ginger )

नाम—व०—आदा, वस्व०—आदु, हि०—आदा, अदरक, म०—आले, स०—  
आद्रकम्, ते०—अल्लमु, आद्रंकमु, सोटि, स्निगवेरमु, त०—अल्लम,  
अत्तिरादम, मारुप्प, सगाई, सिरम, सुक्कु, सुन्डी, उवुगल्लम, उ०—  
आद्रोका, ओदा ।

अदरक का इतिहास मनोरजक है । ऐसा प्रतीत होता है कि मसाला एवं  
औषधि के रूप में उसका उपयोग चीन एवं भारत के लोग बहुत प्राचीनकाल से  
करते आये हैं, चीन के चिकित्सीय ग्रन्थों में तथा सस्कृत साहित्य में इसके अनेक  
उल्लेख मिलते हैं । प्राचीनकाल के ग्रीक और रोमन भी इस मसाले की उत्पत्ति  
अरब से मानते थे । इसका कारण सम्भवत यह था कि उन्हे इसका सम्भरण  
लालसागर के रास्ते से होता था । मसाला एवं औषधि के रूप में अदरक का इतना  
विस्तृत उपयोग होता रहा है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी बताना अनावश्यक है ।  
किसी समय वीयर (पेय) को मसालायुक्त बनाने के लिए अदरक का वडा उपयोग  
किया जाता था और उसी का आधुनिक सस्करण है जिजर वीयर, जिसे बहुमूल्य  
समझा जाता है । शीतकृतु के लिए यह अत्यन्त लाभकर पेय समझा जाता है ।  
अदरक का स्वाद ऐरोमेटिक और रुचिकर तीर्थण होता है, इसलिए रसदार व्यञ्जन  
से लेकर जिजर ब्रेड तक के विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनों को तैयार करने में मसाले के  
रूप में इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है । जठरान्त्र-मार्ण पर वातानुलोमक  
तथा उद्दीपक प्रभाव ढालने के कारण भेयजी ( फारमेसी ) में अदरक का वडा  
महत्वपूर्ण स्थान है । आध्मान ( flatulence ) के इलाज के लिए अदरक एक  
घरेलू औषधि के रूप में व्यापक रूप से व्यवहृत होता है । व्रिटिश तथा अन्य  
औषधकोशों में से अनेक औषधियाँ हैं जिनमें अदरक शामिल रहता है ।

जिजिबर आफिसिनेल एक बहुवर्षीय शाकीय पादप है जिसके पर्युक्त प्रटोह  
१ से ३ फीट ऊँचे होते हैं । फूलों के झड़ जाने और तनों के मुख्जा जाने पर अदरक  
सप्रहण के लिए परिपक्व हो जाता है । प्रकदों को खोदकर निकाल लिया जाता है  
और उन्हें विभिन्न रूपों में तैयार करके बाजार भेजा जाता है ।

जमैका में जिजर की कृषि और उसको तैयार करने की विधि हैरिस ने निम्न-  
लिखित रूप से बतायी है “सर्वोत्तम अदरक जगल की अक्षत भूमि से पैदा होता है,

किन्तु इसके लिए अच्छी तरह से जलोत्सारित चिकनी मिट्टी उपयुक्त होती है। वर्षा पर्याप्त अर्थात् ८० इच्च वार्षिक या इससे अधिक होनी चाहिये और जलवायु समशीतोष्ण होनी चाहिये। प्रकान्द के हर टुकड़े को जिसमें आंख या कली हो, छिद्र या खाइयों में जमीन से कुछ इच्च गहरा, मार्च या अप्रैल के महीने में रोप दिया जाता है। अदरक की लतवाई या सग्रह दिसम्बर और जनवरी के महीनों में किया जाता है, किन्तु पूर्व-मूलाकुरो (100g) का मार्च से दिसम्बर तक सग्रह किया जा सकता है। तनों के मुझ्जा जाने पर प्रकदों को खोदकर निकाला जाता है। पुष्पण के तुरत बाद ही यह काम किया जाता है। प्रकदों को खोदकर निकाल लेने पर उन्हें एक ऐसे चाकू से छीला जाता है जो विशिष्ट रूप से इसी काम के लिए बनाये जाते हैं। छीलने की क्रिया में बड़ी सावधानी और अनुभव की अपेक्षा रहती है प्रकदों के 'अगुलियो' (शाखाओं) के बीच की छिलाई अनुभवी कर्मियों द्वारा की जाती है और अन्य भागों की छिलाई कम अनुभवी कर्मियों द्वारा भी कराई जा सकती है। यह काम बहुधा स्त्रियाँ और बच्चे ही करते हैं। प्रकदों को छीलने के तुरत बाद उन्हें पानी में डालकर खूब धो दिया जाता है। जितना ही शुद्ध जल होगा और जितना अधिक यह धोया जायगा, उतना ही साफ उत्पाद प्राप्त होगा। दिन में छीले गये अदरक को रात भर पानी में रखने दिया जाता है। धो लेने के बाद प्रकदों को सबेरा होते ही साफ फर्स (barbecues) या चटाइयों पर फैलाकर धूप में सुखाया जाता है। दिन के समय उनको उलट-पलट दिया जाता है और बादल एवं वर्षा के मौसम में तथा रात के समय उन्हें छायादार स्थान में रख दिया जाता है, क्योंकि नमी आने पर फफूदी लग जाती है। सुखाने की प्रक्रिया में ५ से ६ दिन लग जाते हैं और इस अवधि में अदरक का वजन ७० प्रतिशत घट जाता है। सुखाने के बाद इसे धोकर विरजित किया जाता है और तब किरदार दो दिनों तक सुखाया जाता है और तब यह जहाज में लादे जाने के लायक होता है।"

वाणिज्य में ऐसा अदरक भी व्यवहार में आता है जो छिला हुआ नहीं या बहुत कम छिला होता है। इन बिना छिले अदरकों को भी कभी सल्फ्युरस ऐसिड या क्लोरिन जैसे रसायनों के माध्यम से सफेद बना दिया जाता है, अथवा उनपर कैलसियम कार्बो-नेट या सल्फेट पाउडर छिड़क दिया जाता है, ताकि देखने में और अच्छे लगें। धूरोप में तथा लन्दन में भी जिजर पर चूना लगा दिया जाता है, ताकि कीड़े-मकोड़े छराव न करे। किन्तु जमीका में जिजर धूप में विरजित किया जाता है, क्योंकि ऐसे नमूनों में जिन पर चूना अधिक लगा रहता है राख की प्रतिशत मात्रा उससे अधिक रहती है रजितनी कि अधिकृत रूप से मात्र है। दत्त एवं मुकर्जी के अनुसार भारत में इस पादप की

कृषि वासानी से हो जाती है। उसन्त ब्रह्मतु में प्रकदो के टुकडे करके इसका प्रवर्धन किया जाता है। इन टुकडो को ऐसे गमलो में रोपना चाहिये जिसमें दुमट मिट्टी हो और उसमें एक तिहाई ऐसी खाद पड़ी हो, यो खूब सड़ा गोवर या भेड़ की लेंडी से बनी हो। जब तक प्ररोह अच्छो तरह न निकल आये तब तक उसमें पानी कम देना चाहिये, और प्ररोहों के विकसित हो जाने पर खूब पानी देना चाहिये। जब-तब हल्की खाद वाला पानी देने से भी इनको लाभ पहुँचता है। ग्रीष्म ब्रह्मतु का अन्त आने के तमय प्ररोह प्रोढ़ होने लगते हैं और तब इनमें पानी देना गम कर देना चाहिये। ज्योही पादप परिष्कर्त हो जाये तो गमलों को पीधा धरने में या अन्य सुविधाप्रद स्थानों में रख देना चाहिये और गीतकाल भर उनको प्राय सूखा रखना चाहिये।

जिजर को तैयार करने की विधियों के अनुनार, तथा जहाँ यह उत्पन्न होता है उन देशों के अनुकूल, सूर्ये जिजर की अन्य कई विस्तों को मान्यता दी गयी है। “लैंटेशन जिजर” उन प्रदो को पहते हैं जो गीतकाल में पैदा होते हैं और प्रकदों के ऐसे टुकडो को रोपने से तैयार होते हैं जिनमें जांय हों और जिन्हें पूर्ववर्ती उसन्त ब्रह्मतु में रोप दिया गया हो। “रेन्टन जिजर” (rainon finger) ऐसे नये प्रकदो को पहते हैं जो लैंटेशन जिजर की लवाई के समय उसकी पहली फगल के पुछ अश को जमीन के अन्दर ही छोड़ देने पर उनमें तैयार होते हैं। भारत में जिजर (अदरक) की खेती कई स्थानों पर होती है। खेती की विधि भी उसी तरह की है जैसी जमीना में है। भारतीय अदरकों में कोचीन अदरक सबसे अच्छा माना जाता है, किन्तु बगात के रामपुर, मिदनापुर और हुगली जिले, वस्त्रई में धाना और सूखत तथा उत्तर प्रदेश में कुमाऊं क्षेत्र अच्छे अदरक के लिए प्रसिद्ध हैं।

### रासायनिक सघटन :

अदरक में ० २५ से ३ प्रतिशत की मात्रा में एक वाष्पशील तेल होता है जो हल्के भूरे रंग का होता है और जिसमें एक विशिष्ट गन्ध होती है। जमैकी अदरक से लगभग १ प्रतिशत, अफीकी से २ से ३ प्रतिशत और भारती अदरक से लगभग ३ ५ प्रतिशत तंत्र प्राप्त होता है। अदरक के तेल में, जिसके कारण ही अदरक में सुवास रहती है, टर्पिन (डी-कैम्फीन तथा वीटा-फिलेन्ड्रीन) एक सेस्किवटर्पिन (जिजिवेरीन) सिनिमोल, साइट्रल तथा वोनिङ्गॉल होते हैं। अदरक में जो तीखापन है वह “ओलियो-रेजिन” जिजेरैल के कारण है, यह एक तंत्रीय द्रव है जिसमें फिनॉल के सजातीय होते हैं। २ प्रतिशत पोटेशियम हाइड्रॉक्साइड में उबालने से जिजेरैल की तीक्ष्णता जाती रहती है। वैरिटा पानी में उबालने से यह अपघटित हो जाता है और इसमें

एक फिनाँली कीटोन जिसे जिजेरोन कहते हैं, तथा ऐलिफैटिक ऐल्डहाइड जिसमें मुख्यतः नार्मल हैंप्रैलिड्हाइड होता है), प्राप्त होते हैं। जिजेरॉल की तरह जिजेरोन भी तीक्ष्ण होता है, किन्तु उसमें एक मधुर गन्ध भी होती है। यह एक क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल में अल्प विलेय होता है किन्तु तनुक्षारों में तथा अधिकाश कार्बनिक विलायकों में मुक्त रूप से विलेय होता है। ५० प्रतिशत सोडियम हाइड्रॉक्साइड में कुछ काल तक रखने से इसकी तीक्ष्णता नष्ट हो जाती है। जिजेरोन वैनिलिन से सम्बन्धित है और उसी से यह सश्लेषण ढारा तैयार किया गया है। जिजर (अदरक) में रेजिनो पदार्थ, स्टार्च या मण्ड तथा म्युसिलेज भी होते हैं। इससे लगभग ३ से ५ प्रतिशत भस्म और १२ से १५ प्रतिशत जल-विलेय सा प्राप्त होते हैं।

**आर्थिक पक्ष** —बाजार में जमैकी जिजर बहुत उत्तम समझा जाता है और अधिकतम मूल्य पर विक्री है। भारत में पैदा होने वाला जिजर भी काफी विक्री है तथा अधिक व्यापार देने से इसे और व्यापक मान्यता प्राप्त ही सकती है। जमैकी जिजर बलुई दुमट भूमि में पैदा होता है, जहाँ अपर्याप्त वृष्टि होने पर अच्छी तरह सिंचाई की जा सकती हो। जमैका में प्रति एकड़ औसत उत्पादन (सूखा जिजर) १००० पौड़ से १५०० पौड़ तक होता है और कभी यह २००० पौड़ तक पहुंच जाता है। बगाल में इसका प्रतिएकड़ उत्पादन १००० से १५०० पौड़ है, पजाव में २१०० पौड़ तथा त्रावणकोर में २५०० पौड़ है। इन आकड़ों से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक उत्पादन की मात्रा का सम्बन्ध है भारत जमैका के समकक्ष है और अगर वैज्ञानिक ढग से इसकी कृषि की जाय तो विश्वास पूर्वक इस बात की आशा की जा सकती है कि यहाँ का उत्पादन बढ़ जायेगा।

वाणिज्य में जिजर की कई किस्में हैं जिनके विशिष्ट स्वरूप नीचे दर्शाये गये हैं।

(१) अफ्रीकी जिजर —प्रकदो के चिपटे तरफ का कॉर्क (छिलका) अशत छिला हुआ रहता है, बिना कॉर्क वाली सतह चिकनी और हल्के भूरे रंग की होती है। जो भाग कॉर्क वाला होता है वह धूसर भूरे रंग का होता है जिस पर जालिं का रूपी या अनुदैर्घ्य झुरिया पड़ी रहती है। विभग (fracture) लघु अथवा लघु एवं रेशोदार होता है। भीतरी भाग हल्के पीत रंग से भूरे रंग का होता है जिसमें अनेक पीत तेल कोशिकाये और रक्ताभ व भूरे रंग के रेजिन कोशिकाये होती हैं। गन्ध तीव्र सुवासयुक्त होता है और स्वाद सुवासयुक्त और बड़ा तीक्ष्ण होता है।

(२) कोचीन जिजर —प्रकदो के चिपटे भाग की कॉर्क वाली परत अधिकाशत या विलकुल ही छोल दी गयी रहती है। ऊपरी भाग अत्यन्त हल्के भूरे रंग

से लेकर पीताभ धूसर रग का होता है। भीतरी भाग हल्के पीले रग से लेकर मद्दिम पीले रग का होता है जिसमें अनेक पीताभ तेल कोशिकाये तथा भूरा-लाल से लेकर भूरा काले रग की रेजिन कोशिकाये होती हैं।

इसकी गन्ध ऐरोमेटिक होती है, स्वाद बड़ा सुवासपूर्ण तथा कड़वा तीखा होता है। विभग लघु और मड्युक्त (mealy) होता है या शृणी (horny) होता है।

(३) कलकर्ता जिजर (रेस जिजर) इसके प्रकद अफीकी जिजर के प्रकद के सदृश होते हैं। शाखाये साधारणत अपेक्षाकृत अधिक लम्बी होती है जिनका अधिक भाग सिकुड़ा हुआ होता है। रग आधूसर (greyish) भूरे से आधूसर नीला होता है, विभग लघु और भगुर होता है, या मड्युक्त या शृणी होता है। इसका भीतरी भाग हल्के पीत या आवभ्रुपीत रग का होता है जिसमें अनेक पिताभ रग की तेल कोशिकाये तथा पीताभ धूसर रग की रेजिन कोशिकाये होती हैं। इसकी गन्ध सुवासयुक्त होती है, स्वाद मड (स्टार्च) जैसा खूब सुवासयुक्त एवं तीखा होता है।

(४) कालीकट जिजर (लेमन जिजर) इसके प्रकद अफीकी जिजर के प्रकद के सदृश होते हैं, किन्तु वाहृत्वक् अधिकाशत छीला हुआ रहता है। वाहरी भाग गहरा पीला, नारंगी या आवभ्रुपीत रग का होता है। विभग भगुर तथा असम और मड्युक्त होता है। भीतरी भाग हल्का पीला रग का या आवभ्रु पीत रग का होता है जिसमें रभ (Elele) बड़ा, तथा पीत रग की अनेक तेल या रेजिन कोशिकाये पायी जाती हैं। गन्ध सुवासयुक्त, स्वाद अत्यन्त सुवासयुक्त और तीखा होता है।

(५) जापानी जिजर (*Zingiber mioga Rosc.*) इसके प्रकद पर साधारणत चूना की एक पतली परत रहती है, बाहर से यह प्राय चिकना और श्वेत होता है, इसके विभग लघु, भगुर एवं अत्यन्त मड्युक्त होते हैं। भीतरी भाग पीताभ श्वेत से लेकर आवभ्रु पीत रग का होता है, जिसमें अनेक आवभ्रु लाल रग की रेजिन कोशिकाये होती हैं, गन्ध सुवासयुक्त होती है। स्वाद में यह बहुत ही सुवास पूर्ण और तीखा होता है।

भारतीय जिजर के लिए दीर्घकाल तक ग्रेट ब्रिटेन ही सर्वोत्तम बाजार रहा है। जैसा कि नीचे दिये गये निर्यात विवरण से प्रत्यक्ष है। यह विवरण प्रथम विश्वयुद्ध से पहले १९१२ई० में ग्रेट ब्रिटेन को भेजे गये निर्यात से सम्बन्ध रखता है।

## विभिन्न देशों से भेजे गये निर्यात

मात्रा हॉडरवेट में

मूल्य पौंड में

भारत	६५,५४४	१०७,४६४
जमैका	२०,०९६	३७,१८०
सियरालीओन (अफ्रीका)	२१,८६०	३३,२८०

इस व्यवसाय में भारत की जो सुविधामूलक स्थिति थी उसपर ऐसा लगता है कि अतीत में जमैका तथा अफ्रीका के उत्पादों के कारण बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। इस तरह १९२३ई० में जमैका ने १२०० टन के ऊपर (२४,०००-हॉडरवेट) जिजर निर्यात किया, सियरा लीओन (अफ्रीका) भी इस सम्बन्ध में प्रगति का निश्चित सकेत दे रहा है। उसने इस वर्ष १४०० टन (२८,०००-हॉडरवेट) जिजर निर्यात किया। भारतीय जिजर का निर्यात निश्चित रूप से गिर गया है, जैसा कि वर्ष १९२८-२९ ई० के मार्च ३१ तक हुए निर्यात के आकड़ों से प्रत्यक्ष है। यह निर्यात २,३०० टन (४६,००० हॉडरवेट) का था, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि जिजर की बड़ी मात्रा भारत में ही रसदार व्यजन बनाने में तथा औषधीय प्रयोजनों के लिए व्यवहृत हो जाती है। अन्तत यदि हम यहाँ की खपत को ध्यान में रखें, तो जिजर के उत्पादन की मात्रा उससे कही अधिक होगी जो कि आकड़ों में दिखायी गयी है।

## सन्दर्भ :

- (1) Nomura, H., 1917, *J. C. S. Trans.*, 769, (2) Lapworth, Pearson and Royle, 1917 *J. C. S. Trans.*, 777, (3) Lapworth and Wykes, 1917 *J. C. S. Trans.*, 790, (4) Moudgill, 1925, *Jour. Ind. Chem. Soc.*, 5, 251; (5) Rao, Sudborough and Waston, 1925, *J. Ind. Inst. Sci.*, 8A, 151, (6) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (7) Trease, G. E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, (8) Dutta, S. C. and Mukerji, B. *Pharmacognosy of Indian Root and Rhizome Drugs*, 124.



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

Icreator of  
hinduism  
server!

 KAPWING



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

Icreator of  
hinduism  
server!

 KAPWING

